# THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_192182

UNIVERSAL
LIBRARY

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. M 922 G 92 T Accession No. M 2738

Author ठोंबरे, कृ. ना.

Title गौरांग प्रभुचांचे चरित्र १९४० भाग. २

This book should be returned on or before the date last marked below.

श्रीहरिः

वंगदेशीय महान् सन्त

# श्रीगौराङ्गप्रभु यांचे चरित्र

## उत्तरार्ध

रथारुढस्यारादधिपदवि नीलाचलपते-
रदभ्रप्रेमौर्मिस्फुरितनटनोल्लासविवशः ।
सहर्ष गायद्भिः परिवृततनुर्वैष्णवजनैः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ॥

कृष्ण कृष्णेति भाषन्तं सुस्वरं सुमनोहरम् ।
यतिवेषधरं सौम्यं श्रीचैतन्यं नमाम्यहम् ॥

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः ॥

अनुवादक व प्रकाशक,
कृष्णराव नारायण ठोंबरे
ब्रह्मपुरी, बडोदें.

☆

किंमत तीन रुपये

अनुवादक व प्रकाशक,
कृष्णराव नारायण ठोंबरे
ब्रह्मपुरी, बडोदें.

सर्व हक्क लेखकाने स्वाधीन ठेविले आहेत.

मुद्रक
धोंडो नारायण विद्वांस
श्रीरामविजय छापखाना,
मुजुमदारांचा वाडा, रावपुरा, बडोदें.
ता. १५ माहे ऑगस्ट १९४०.

श्रीहरिः

# विषय-सूची

| | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १ | समर्पण ... ... ... | १ |
| २ | अन्तिम निवेदन ... ... | १–४ |
| ३ | मंगलाचरण ... ... | १ |


---

विषय


| | | |
|---|---|---|
| १ | भक्त वृन्द व गौरहरि ... ... | १–८ |
| २ | शचीमाता व गौरहरि ... ... | ९–१४ |
| ३ | विष्णुप्रिया व गौरहरि .... ... | १५–२० |
| ४ | परम सहृदय निमाईची निर्दयता ... | २१–२८ |
| ५ | हाहाकार ... ... ... | २९–३१ |
| ६ | गौरहरिचा संन्यासासाठी आग्रह ... | ३२–३८ |
| ७ | संन्यास-दीक्षा ... ... | ३९–४९ |
| ८ | श्रीकृष्ण-चैतन्य ... ... | ५०–५४ |
| ९ | राढ-देशांत उन्मत्त भ्रमण ... ... | ५५–६१ |
| १० | शान्तिपुरास अद्वैताचार्यांचे घरीं ... | ६२–६८ |
| ११ | मातेस संन्यासी पुत्राचे दर्शन ... ... | ६९–७६ |
| १२ | शचीमातेचा संन्यासी पुत्राप्रति मातृ-स्नेह ... | ७७–७९ |
| १३ | पुरी-गमनाचे पूर्वी ... ... | ८०–८६ |
| १४ | पुरीचे पथांत ... ... | ८७–९४ |
| १५ | महाप्रभुचा प्रेमोन्माद व नित्यानन्दद्वारा दण्ड-भंग | ९५–१०३ |

| | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १६ | श्रीगोपीनाथ क्षीरचोर ... | ... १०४–११४ |
| १७ | श्रीसाक्षी गोपाल ... | ... ११५–१२१ |
| १८ | श्रीभुवनेश्वर महादेव ... | ... १२२–१२७ |
| १९ | श्रीजगन्नाथाचे दर्शनाने मूर्छा ... | ... १२८–१३३ |
| २० | आचार्य वासुदेव सार्वभौम ... | ... १३४–१४१ |
| २१ | सार्वभौम व गोपीनाथाचार्य ... | ... १४२–१४९ |
| २२ | सार्वभौम भक्त झाले ... | ... १५०–१५९ |
| २३ | सार्वभौमाचा भगवत्-प्रसादी विश्वास | ... १६०–१६४ |
| २४ | सार्वभौमाचा भक्तिभाव ... | ... १६५–१७० |
| २५ | दक्षिण-यात्रेचा विचार ... | ... १७१–१७६ |
| २६ | दक्षिण-यात्रेचे प्रस्थान ... | ... १७७–१८१ |
| २७ | वासुदेव कुष्टिचा उद्धार ... | ... १८२–१८७ |
| २८ | राजे रामानन्द राय ... | .. १८८–१९३ |
| २९ | राय रामानन्दद्वारा साध्यतत्व प्रकाश | ... १९४–२०३ |
| ३० | राय रामानन्दाना साधनसंबंधी प्रश्न | ... २०४–२११ |
| ३१ | दक्षिणेंतील तीर्थांत भ्रमण ... | ... २१२–२१४ |
| ३२ | धनी (लक्ष्मीपुत्र) तीर्थरामास प्रेमदान व वेश्यांचा उद्धार | २१५–२१९ |
| ३३ | दक्षिण-तीर्थभ्रमण-चालू ... | ... २२०–२२३ |
| ३४ | दक्षिणेंतील शेषतीर्थी भ्रमण ... | ... २२४–२२९ |
| ३५ | नौरोजी डाकूचा उद्धार ... | ... २३०–२३३ |
| ३६ | नीलाचल येथे प्रभुचे प्रत्यागमन | ... २३४–२३६ |
| ३७ | प्रेम-रस-लोलुप भ्रमर-भक्तांचे आगमन | ... २३७–२४६ |
| ३८ | महाराज प्रतापरुद्र प्रभु दर्शनास आतुर | ... २४७–२५२ |
| ३९ | गौर भक्तांचे पुरींत अपूर्व सम्मिलन | ... २५३–२५७ |

| | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| ४० | भक्तांची प्रभुशी भेट ... ... | २५८–२६१ |
| ४१ | राजपुत्रास प्रेमदान ... ... | २६२–२६४ |
| ४२ | गुंटिचा (उद्यान-मन्दीर) मार्जन (साफ सूफ) करणे | २६५–२६८ |
| ४३ | श्रीजगन्नाथाची यात्रा ... ... | २६९–२७९ |
| ४४ | महाराजा प्रतापरुद्रास प्रेम-दान ... | २८०–२८३ |
| ४५ | पुरीमध्ये भक्तांसहित आनन्द-विहार ... | २८४–२८७ |
| ४६ | भक्तांची विदाई (बोळवण) ... ... | २८८–२९० |
| ४७ | सार्वभौमांचे घरीं भिक्षा व अमोघ-उद्धार ... | २९१–२९५ |
| ४८ | नित्यानन्दांचे गौड-देशांत भगवन्नाम-वितरण ... | २९६–३०० |
| ४९ | नित्यानन्दांचा ग्रहस्थाश्रमी प्रवेश ... | ३०१–३०७ |
| ५० | प्रकाशानन्दांचे बरोबर पत्र-व्यवहार ... | ३०८–३१६ |
| ५१ | पुरींत गौडीय-भक्तांचे पुनरागमन ... | ३१७–३१९ |
| ५२ | प्रभुच्या वृन्दावन जाण्याने भक्तांचा विरह ... | ३२०–३२२ |
| ५३ | जननीचे दर्शन ... ... | ३२३–३२८ |
| ५४ | विष्णुप्रियांना संन्यासी स्वामीचे दर्शन ... | ३२९–३३४ |
| ५५ | वृन्दावनाचे मार्गांत ... ... | ३३५–३३९ |
| ५६ | श्रीरूप आणि सनातन ... ... | ३४०–३४४ |
| ५७ | रघुनाथदासजींना प्रभुचे दर्शन... ... | ३४५–३५० |
| ५८ | पुरीस प्रत्यागमन व वृन्दावनाची पुन्हा यात्रा ... | ३५१–३५५ |
| ५९ | श्रीवृन्दावन आदि तीर्थांचे दर्शन ... | ३५७–३६१ |
| ६० | पठाणास प्रेम-दान व प्रयागास प्रत्यागमन .. | ३६२–३६५ |
| ६१ | श्रीरूपास प्रयागांत महाप्रभुंचे दर्शन ... | ३६६–३६९ |
| ६२ | महाप्रभु वल्लभाचार्य ... ... | ३७०–३७५ |
| ६३ | महाप्रभु वल्लभाचार्य व महाप्रभु गौराङ्गदेव ... | ३७६–३८१ |

| | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| ६४ | रूपाची बिदाई व प्रभुंचे काशी आगमन ... | ३८२–३९४ |
| ६५ | श्रीसनातनाची कारागृहांतून मुक्तता इत्यादि ... | ३९५–३९९ |
| ६६ | श्रीसनातनाचे अद्भुत वैराग्य... ... | ४००–४०२ |
| ६७ | श्रीसनातनास शास्त्रीय शिक्षा ( उपदेश ) ... | ४०३–४१५ |
| ६८ | स्वामी प्रकाशानन्दजी मनाने भक्त झाले ... | ४१६–४३२ |
| ६९ | श्रीप्रकाशानन्दजींचे आत्मसमर्पण ... | ४३३–४४१ |
| ७० | श्रीसनातन वृन्दावनास व प्रभु ( जगन्नाथ ) पुरीस | ४४२–४४५ |
| ७१ | प्रभुंचे पुरींत भक्तांशीं पुनर्मिलन ... | ४४६–४५३ |
| ७२ | नीलाचलांत श्रीसनातन ... ... | ४५४–४५९ |
| ७३ | श्रीरघुनाथदासाचा गृहत्याग .... ... | ४६०–४६८ |
| ७४ | श्रीरघुनाथदासाचे उत्कठ वैराग्य ... | ४६९–४८० |
| ७५ | छोटे हरिदासास स्त्रीदर्शन दण्ड ... | ४८१–४८७ |
| ७६ | धन मागणारे भृत्यास दण्ड ... ... | ४८८–४९१ |
| ७७ | गोपीनाथ पट्टनायक शूलापासून बचावले ... | ४९२–४९७ |
| ७८ | श्रीशिवानन्द सेनाची सहनशीलता ... | ४९८–५०० |
| ७९ | पुरीदास या कवि कर्णपूर ... ... | ५०१–५०४ |
| ८० | महाप्रभुंची अलौकिक क्षमा ... ... | ५०५–५०७ |
| ८१ | निन्दकाचे प्रतिहि सन्मानाचे भाव .... | ५०८–५१६ |
| ८२ | महात्मा हरिदासाचे गोलोक गमन .... | ५१७–५२६ |
| ८३ | भक्त कालीदासावर प्रभुची परमकृपा ... | ५२७–५३२ |
| ८४ | जगदानन्दांच्या बरोबर प्रेम-कलह ... | ५३३–५३७ |
| ८५ | जगदानन्दांची एकनिष्ठा ... ... | ५३८–५४४ |
| ८६ | श्रीरघुनाथ भटास प्रभुंची आज्ञा ... | ५४५–५५० |
| ८७ | गंभीरा मन्दिरांत श्रीगौराङ्ग ... ... | ५५१–५६१ |

| | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| ८८ | प्रेमाच्या अवस्थांचा संक्षिप्त परिचय | ... ५६२–५८१ |
| ८९ | महाप्रभुंचा दिव्योन्माद ... | ... ५८२–५८६ |
| ९० | गोवर्धनाच्या भ्रमाने चटकगिरीकडेस गमन | ... ५८७–५९० |
| ९१ | श्रीकृष्णान्वेषण ... | ... ५९१–५९९ |
| ९२ | उन्मादावस्थेची अद्‌भुत आकृति | ... ६००–६०५ |
| ९३ | लोकातीत दिव्योन्माद ... | ... ६०६–६०९ |
| ९४ | शारदीय निशीथेमध्ये दिव्य-गन्धाचे अनुसरण | ... ६१०–६१४ |
| ९५ | श्रीअद्वैताचार्यांची पहेली (सन्देश-पत्रिका) | ... ६१५–६१९ |
| ९६ | समुद्रपतन व मृत्युदशा ... | ... ६२०–६२६ |
| ९७ | महाप्रभुंचे अदर्शन अथवा लीलासंवरण | ... ६२७–६३५ |
| ९८ | श्रीमती विष्णुप्रियादेवी ... | ... ६३६–६४० |
| ९९ | श्रीचैतन्य-शिक्षाष्टकात्मक उपसंहार | ... ६४१–६४७ |


## चित्र-सूची


| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | अनन्त प्रेमार्णव श्रीकृष्ण ... | ... | ८१ |
| २ | मातृ दर्शन ... | ... | ६९ |
| ३ | श्रीमहाप्रभुस श्रीजगन्नाथाचे दर्शनाने मूर्छा | ... | १२८ |
| ४ | महाराजा प्रतापरुद्रास प्रेमदान | ... | २८० |
| ५ | श्रीविष्णुप्रियेस पादुका-दान ... | ... | ३३४ |
| ६ | प्रकाशानन्दांनी प्रभुचे पाय धरले | ... | ४३५ |
| ७ | भक्त रघुनाथदास व श्रीचैतन्य | ... | ४७९ |
| ८ | श्रीचैतन्यांचे समुद्र-पतन ... | ... | ६२० |
| ९ | प्रभुंनी श्रीजगन्नाथाचे विग्रहाचे आलिंगन केले | ... | ६३३ |

श्रीहरिः

# समर्पण

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम ।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥

पूर्वार्धाच्या समर्पणांत सांगीतल्याप्रमाणे आमचे काका-काकींच्या स्मरणार्थ आम्ही हा चैतन्य–चरितावलीचा उत्तरार्ध भगवत्-भक्तांस भक्तियुक्त अन्तःकरणाने अर्पण करतो.

ॐ तत्सत् श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

श्रावण शुक्ल ५ शके १८६२
ब्रह्मपुरी–बडोदें

कृ. ना. ठोंबरे

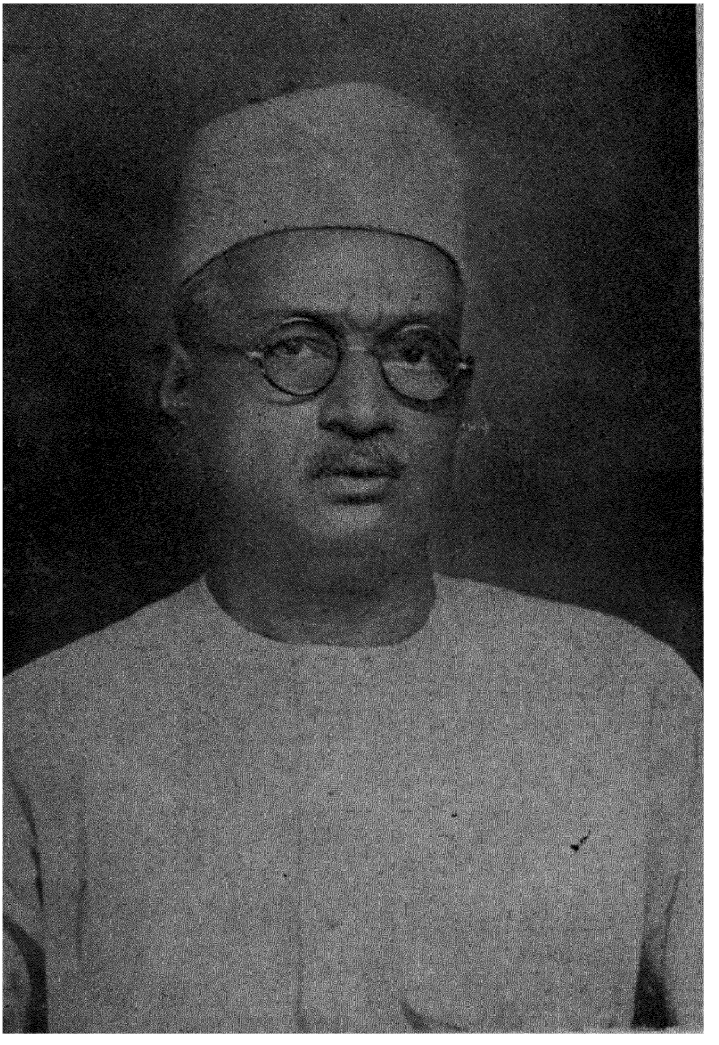

कृष्णराव नारायण ठोंबरे, अनुवादक व प्रकाशक.

जन्मनिमित्ति आषाढ शुद्ध ४ शके १७९५ (तारीख २६ जून १८७३)

# अन्तिम निवेदन

भ्रमन् वनान्ते नवमंजरीषु
न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत् ।
सा किं न रम्या स च किं न रन्ता
'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' ॥

ह्या अन्तिम निवेदनांत प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिहितात—

खरोखर पुन्हा परत येऊन लिहिण्याचे काम करावे लागेल अशी कल्पना नव्हती, परन्तु प्रभुची तशी इच्छा नव्हती. श्रावणांतच हिमालयांतून परत फिरून येथे यावे लागले व जे कांही झाले ते पाठकांच्या सन्मुख आहेच. मार्गशीर्षाच्या (सवंत १९८८) पौर्णिमेस श्रीचैतन्य-चरितावलि लिहिण्यास प्रारंभ केला व आज वैशाखी (सवंत १९८९) पौर्णिमेस त्याची परिसमाप्ती झाली. मध्यंतरी शारीरिक क्लेश झाले ह्याचा उल्लेख करणे विषयान्तर होईल. ही माझी नित्याची रडकथा आहे.

मला माझे ह्या खाली येण्याचे दुःख होत नाही वा माझे पूर्वीचे लक्ष्यांत कोणत्याहि प्रकाराने परिवर्तनहि झालेले नाही. हे आताहि मला मान्य आहे कीं, सर्वस्वाचा त्याग केल्यावाचून श्रीकृष्ण-प्रेमप्राप्ति अत्यन्त कठीणच नाही, किन्तु असंभव आहे. जीवन त्यागमय होण्यास (१) भक्त व भगवल्लीलांचे श्रवण (२) नाम-जप (३) महात्म्यांचे पादोदक-पान ही तीन प्रधान व सर्वश्रेष्ठ साधने आहेत. यायोगे त्यागमय-जीवन आपोआपच होते व तसे झाल्यावर श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्ती होणे अनिवार्य आहे. ज्यांना ह्यांत श्रद्धा नाही ते ह्यास अधिकारी होऊच शकत नाहीत.

ह्या पांच महिन्यांत निरन्तर चैतन्य-चरित्राचेच चिन्तन होत होते.

उठता-बसता, जागेपणी, निद्रित असता, स्नान, भजन-ध्यान पाठ-पूजा, जप, तप, भोजन करते समयीं चैतन्यच अगदी बरोबरचे बरोबरच असत. मी त्यांना शचीमातेच्या मांडीवर बालरूपाने पाहिले व गंभीरा मंदिरांत रुदन करतानाहि मी त्यांचे दर्शन केले. प्रियसख्याप्रमाणे ते छायेसारखे माझे सदैव साथीदार असत. मी हे कांही अभिमानाच्या भावनेने म्हणत नसून सत्य सत्य घटनाच सांगत आहे कीं, लिहिताना मला कांहीच कळले नाही कीं, मी काय लिहित आहे व कोठे लिहीत आहे ? हात कांही लिहीत होते व मी ती घटना प्रत्यक्ष माझे नेत्रां-सन्मुख घडत आहेसे पाहात होतो. असेच म्हणाना, कोणी लिहविणारी व्यक्ति निराळीच आहे व मी त्या लीलांचा द्रष्टा मात्र आहे. हा ग्रन्थ इतका लवकर कसा लिहिला गेला हे स्वयं मलाच सांगता येणे शक्य नाही. काय लिहिले, हे तर मी जेव्हा ग्रन्थ छापून माझे हातीं येईल तेव्हा तो वाचून पाहिल्यावर मला समजणार आहे. हा वेळपावेतो लिहिताना असेच प्रतीत होत होते कीं, कोणी लिहवीत आहे, हात लिहित आहे. मी त्या घटनांचा आनन्द लुटीत आहे. म्हणण्याचा हेतू हाच कीं, छापून आल्यावर पुस्तक पाठकास जसे नवीन तसेच मलाहि असणार.

हे येथे स्पष्ट सांगीतले पाहिजे कीं, 'चैतन्य भागवत' व 'चैतन्य-चरितामृत' यांतून त्यांतील कथानक-घटनाच घेतलेल्या आहेत, बाकी हा सर्व ग्रन्थ नानापुराणनिगमागमसम्मत जे ज्ञान त्याच आधारावर लिहिलेला आहे. 'अमिय निमाईचरित' ह्याची केवल मी सूचीच पाहिली होती. 'चैतन्य मंगल' हा भावीकांसाठी आहे. मजसारखे शुष्क चरित्रलेखकास त्यांचा विशेष उपयोग नाही. घटना-क्रम पाहण्या-साठी पुस्तके पाहात होतो, नाही तर रात्रंदिवस चिन्तनांतच व्यतीत होत असत.

प्रथम इच्छा होती कीं, चैतन्यसाम्प्रदायाचे सिद्धान्ताचे विस्तार-

पूर्वक वर्णन करावे. चैतन्यजीवनाचेपासून काय शिकावे, ह्या गोष्टी लहान मोठ्या भूमिकांच्या उल्लेखाने दाखवाव्या–पुन्हा विचार केला– 'ह्याचा चैतन्यचरित्राशी काय संबंध? तुम्ही यथाशक्ति घटनांचा उल्लेख करा, पाठक स्वयं निर्णय करून घेतील'–ह्याप्रमाणे निश्चिय झाला. चैतन्य–चरित्रापासून आम्ही काय शिकावे, चैतन्यदेवांचे भाव कसे होते, त्यांचे जीवन किती विशुद्ध, प्रेममय, विरहमय होते, ह्या गोष्टी पाठक पुस्तकाचे पठणाने स्वयं समजतीलच. त्यांही लेखकाचे बुद्धिवर अवलंबित राहू नये.

माझेंत न तर विद्या आहे, न बुद्धि. चैतन्य-चरित्र लिहिण्यास जितकी क्षमता, दक्षता, पटुता, सच्चरितता, एकनिष्ठा, सहनशीलता, भक्ति, श्रद्धा व प्रेमाची आवश्यकता आहे, त्यांचा शतांशहि माझेंत नाही, तरीहि हे कार्य करण्यास मलाच निमित्त करण्यांत आले, ही त्या चैतन्याचीच इच्छा. तो तर मुक्यासमुद्धा वाचाल करतो व पंगूकडून पर्वत उल्लंघन करवितो. तेव्हा आपणा सर्व प्रेमी बन्धुंना माझी हीच प्रार्थना आहे कीं, त्यांही माझे कुल–शील, विद्या–बुद्धि ह्यांचेकडेस ध्यान न देता, चैतन्यरूपीं मधूर-मधूचे रसास्वादनानेच आपले रसनांना आनन्दमय करावे.

श्रीस्वामी विष्णुपुरी नामक एका परमहंसाने आपले 'भक्ति-रत्नावली' नामक पुस्तकामध्ये जो अन्तीं श्लोक लिहिला आहे तोच उद्धृत करून हे अन्तिम वक्तव्य समाप्त करतो—

एतस्यामहमल्पबुद्धिविभवोऽप्येकोऽपि कुत्र ध्रुवं
मध्ये भक्तजनस्य मे कृतिरियं न स्यादवज्ञास्पदम् ।
किं विद्याः शरघाः किमुज्ज्वलकुलाः किंपौरुषाः किंगुणा
स्तत् किं सुन्दरमादरेण रसिकैर्नापीयते तन्मधु ॥

हाच विनय ह्या क्षुद्र हीन-दीन गरीब लेखकाचाहि आहे.

**श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे ! हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !**

आता अनुवादक ह्या नात्याने मीहि माझे अन्तिम निवेदन पाठकांच्या सन्मुख ठेवितो—

आज पाठकांच्या हातांत हा 'श्रीगौराङ्गप्रभु चरित्राचा उत्तरार्ध' देताना मला जो आनन्द होत आहे, त्याचे यथार्थ वर्णनच होणे शक्य नाही. माझेसारख्या अल्पाचे जीवनांत आजचा हा दिवस अपूर्वच म्हटला पाहिजे.

पूर्वार्धाचे उपक्रमांत व प्रस्तावनेंत ह्या ग्रन्थाच्या स्वरूपाचे वर्णन दिलेले आहेच; त्याची पुनरुक्ति करण्याचे प्रयोजन दिसत नाही. ह्या उत्तरार्धात त्या पुढील संन्यासापासून अदर्शन वा तिरोभावापर्यन्त संपूर्ण चरित्र आलेले आहे.

पूर्वार्धाप्रमाणेच ह्या उत्तरार्धाचेहि काम कल्पनेपेक्षा फारच वाढले. हा उत्तरार्ध दोन भागांत काढावा असाहि कांहीचा सल्ला मिळाला. अगोदरच लांबलेले हे काम केव्हा एकदा हाता वेगळे होईल असे मला झाले होते. तेव्हा ते प्रभु-कृपेने पुरे झाल्याने उपरोक्त प्रभुदत्त ब्रह्मचाऱ्यांचे विनयांतच माझा विनय मिळवून हा ग्रन्थ मी वाचकांचे हातीं मोठ्या आनंदाने देतो.

पूर्वार्धाप्रमाणेच माझे गुरुजनास, सुहृदास व बन्धुजनास ह्या उत्तरार्धाचेहि समीक्षण करून दोन शब्द लिहिण्यास विनवित आहे. श्रीहरिः

'अदौ मध्ये तथाचान्ते हरिः सर्वत्र गीयते'.

श्रावण शुद्ध ५ शके १८६२
ब्रह्मपुरी–बडोदें

कृ. ना. ठोंबरे

॥ श्री ॥

# ॥ मंगलानुशासनम् ॥

नमस्ते गौरभक्ताय प्रभुदत्ताय वर्णिने
कृष्णचैतन्यलीलाब्धेरमृतं निर्ममंथ यः ॥ १ ॥

श्रीप्रेमावतार गौरांगप्रभुंच्या कृपेनें श्रीयुत कृष्णरावजी ह्यांच्या हातून भाषान्तराचें विराट कार्य पार पडलेलें पाहून कोणास आनंद होणार नाहीं बरें ! पूर्वभागापेक्षां उत्तर भागांत चरित्र नायकाचें चरित्र जसें अत्यंत मधुर आणि सरस आहे तसेंच भाषान्तर पण सरस वठलेलें दिसतें.

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी ह्यांनी चैतन्यचरितसिंधूचें मंथन करून जें नवनीत प्रगट केलें आहे त्याचेंच हें लोणकढें तूप श्री. ठोंबरे ह्यांनी महाराष्ट्र जनतेला वाढण्याचा प्रयत्न केला आहे व तो प्रयत्न त्यांचा सफल झाला आहे.

श्रीगौराङ्गप्रभु अशीच जनसेवा करण्यास त्यांना दीर्घायु करो होच प्रभूचरणीं प्रार्थना.

श्रीकृष्ण मन्दिर,
ज्युबिली बाग, बडोदें.

आपला,
**नरहरि बाळकृष्ण अकोलकर.**

# पुरस्कार

श्रीयुत ठोंबरे यांनीं वङ्गदेशीय सन्त गौराङ्गप्रभु यांच्या चरित्राचा पहिला खंड यापूर्वीच प्रसिद्ध केला आहे. त्या नंतर हा दुसरा खंड प्रकाशून त्यांनीं तें चरित्र संपूर्ण केलें आहे. या चरित्रासंबंधानें पहिल्या खंडाच्या प्रस्तावनेंत माझें मन्तव्य मी दर्शविलेंच असल्यानें त्या विषयासंबंधानें आतां विशेष उल्लेखण्यासारखें असें कांहीं नाहीं. तथापि या खंडांतील माहिती ही गौराङ्गप्रभुच्या परिणतप्रज्ञ स्थितिसंबंधाची असल्यानें त्यांच्या कार्याचा परिपाक या खंडांत विशेष आस्वादितां येतो. श्रीगौरांगानी अखेर संन्यासदीक्षा घेतली. यापूर्वी त्यांनीं मुमुक्षूंच्या लाभासाठीं स्वतः ग्रंथप्रणयन केलें, पण नंतर ते निरंतर आनंदमय स्थितींतच मग्न असल्यानें व्यावहारिक गोष्टींकडे त्यांचें लक्षच नसे. तथापि या दोनहि स्थितींत त्यांनीं जें कार्य केलें त्याचें वर्णन रा. ठोंबरे यांनीं केलें आहे त्याप्रमाणें—

'समयाचे प्रभावानें ज्ञानमार्गांत जी शुष्कता आली होती व जगतास असार म्हणतां म्हणतां ज्याचें हृदयहि सारहीन व शुष्क झालें होतें त्यांची ती शुष्कता घालवून त्यागाबरोबर सरलतेचेंहि संमिश्रण केलें. त्या त्यागमय प्रेमाने सोन्यांत सुहागीचें कार्य केलें'.

हें त्यांचें कार्य बहुजनगम्य असल्यानें तें विस्तृत प्रमाणावर होऊं शकलें.

सांप्रतच्या खंडांत गौराङ्गाच्या संन्यासदीक्षेपासून सुरुवात झाली असून त्या नंतर त्यांचें राढ देशांत उन्मत्तावस्थेंत झालेलें भ्रमण, पुरीची यात्रा, त्या नजीकच्या भुवनेश्वराचें भुवनेश्वरक्षेत्रीं दर्शन, दक्षिणेकडील

यात्रा, पुष्टिमार्गाचार्य श्रीवल्लभाचार्यांची व त्यांची भेट–त्यानंतर त्यांची वृन्दावनाची यात्रा व अनेक भक्तांना उपदेश केल्यावर अखेरचें समुद्र-पतन व निर्याण इत्यादि सर्व प्रसंग ग्रंथकर्त्यानें अत्यंत प्रेमळपणानें वर्णिले आहेत. ते वाचतांना श्रीमद्भागवतांतील श्लोकाची प्रतीति होते कीं भगवंतांनीं स्वतः वर्णिल्याप्रमाणें—

**नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽथवा ।**
**मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥**

परमेश्वर वैकुंठांतहि नसतो, फार काय ध्यानधारणासमाधि वगैरे योग साधन करणाऱ्या योग्यांच्या हृदयांतहि तो निरंतर वास करीत नसून जेव्हां त्याची स्थिति तुरयावस्थामय होते तेव्हांच तो तेथें प्रकट होतो; पण जेथें भगवंताचे गुणगान चालतें तेथें मात्र त्याचा निरंतर वास असतो, म्हणूनच तुकोबारायांनीं अखेरची प्रार्थना अशी केली आहे कीं—

**नलगे मुक्ति धनसंपदा । संत संग देई सदा ॥**

अशा संतसंगाचें प्रतीक रा. ठोंबरे यांनीं वाचकांपुढें उभे केलें आहे हें त्यांचें कार्य अभिनंदनीय आहे. त्यांची ही सेवा गोड करून घेणें वाचकवर्गाचें हातीं आहे.

बडोदें. दाजी नागेश आपटे.

# प्रस्तावना

माझे परमप्रिय सन्माननीय स्नेही श्रीयुत कृष्णराव नारायण ठोंबरे यांनीं मी श्रीगौरांग महाप्रभुच्या पूर्वार्धातील प्रस्तावनेंत केलेल्या विनंतीला मान देऊन महाप्रभुंच्या रसाळ व प्रेमरसानें ओथंबलेल्या चरित्राचा उत्तरार्ध महाराष्ट्रजनतेच्या हातांत दिला हें पाहून मनाला अत्यंत आनंद होतो. हें भक्तिरसानें ओतप्रोत भरलेलें महाप्रभु चरित्र वाचतांना वारंवार महाराष्ट्रीय संत नामदेव, तुकाराम व ज्ञानेश्वर यांच्या चरित्रांचे स्मरण झाल्यावांचून रहात नाहीं.

हल्लींचे युग आधिभौतिक शास्त्रांतील विविध चमत्कारांचे होय. इंद्रियजन्य ज्ञानावर आधिभौतिक शास्त्रांचा पाया रचलेला आहे. वेदांतांतील तत्वज्ञान इंद्रियजन्य ज्ञानापलीकडील असून तें केवल स्वानुभवानेंच प्राप्त होणारे शब्दातीत असें आहे. "अर्थ प्राप्ति" हेंच आधुनिक कालांतील मनुष्य प्राण्याचें ध्येय होऊन बसलें आहे. अशा वेळीं या निरुपयोगी दिसणाऱ्या ब्रह्मज्ञानाकडे कोणाचें लक्ष जाणार? पण अत्यंत आनंदाची गोष्ट ही कीं अशाही वेळीं महाप्रभुंच्या चरित्रासारखा संसारांतील विविध तापांचा क्षणभर कां होईना विसर पाडणारा ग्रंथ श्री. ठोंबरे यांनीं लिहून तो महाराष्ट्र जनतेस सादर केला ही गोष्ट त्यांना खरोखर अत्यंत भूषणास्पद आहे. विशेषतः त्यांची वृद्धावस्था व आर्थिक स्थिति व हल्लींची महर्गता लक्षांत घेतली असतां त्यांच्या या कृतीचें जितकें कौतुक करावें तितकें थोडेच आहे.

ग्रंथाची भाषा सोपी असल्यामुळें सर्वांस सहज समजेल अशी आहे. ग्रंथाचा मुख्य विषय म्हटला म्हणजे (भक्तशिरोमणींचें जीवन चरित्र असल्यामुळें) "भक्ती" होय. भक्तीचें खरें स्वरूप (जी गोष्ट विद्वत्ता

परिपूर्ण अशा अनेक व्याख्यांनींहि स्पष्ट करणें शक्य नाहीं) या जीवन चरित्रांत पदोपदीं आढळतें. शुष्क ब्रह्मज्ञानापेक्षां भक्तियोग किती पटीनें श्रेष्ठ आहे या गोष्टीचा अनुभव हा ग्रंथ वाचतांना पदोपदीं येतो. थोरांचे अन्तःकरण कसें असतें हेंही या ग्रंथाच्या वाचनानें वाचकांनां स्पष्टपणें समजतें. त्याचप्रमाणें वैराग्याचें व त्यागाचेंहि खरे स्वरूप कोणतें त्याचीहि यथार्थ कल्पना वाचकांना या ग्रंथ वाचनानें सहज येऊं शकतें. चित्रांची निवडहि उत्तम प्रकारें केलेली आढळून येते.

मानवाचे सर्व प्रयत्न केवल सुखप्राप्तीसाठींच होत. परंतु आटोकाट प्रयत्न व श्रम करून, इष्ट वस्तूंची प्राप्ती करूनही, मनुष्यास चिरंतन सुखाची प्राप्ती होऊं शकत नाहीं. असा सर्वमान्य अनुभव आहे. तें सुख केवल अद्वैतानेंच प्राप्त होणारें असून त्या अद्वैत वृत्तीचें खरें साधन परमभक्ति हेंच होय व त्या परम भक्तीचें खरें स्वरूप गौरांग-महाप्रभूंच्या या चरित्रांत पदोपदीं दिसून येते, हाच या ग्रंथाचा विशेष होय.

असो! श्रीयुत ठोंबरे यांनीं प्रतिकूल परिस्थितीशीं टक्कर देऊन हें ग्रंथरत्न जनतेच्या हातांत दिले, याबद्दल त्यांचे जितके आभार मानावे तितके थोडेच आहे. महाराष्ट्रीय जनताही, आपल्या संस्कृतीचें खरें स्वरूप लक्षांत ठेऊन, या भक्तिरसप्रधान कृतीचें योग्य चीज करील अशी मला बळकट आशा आहे. महाराष्ट्र जनतेनें या कृतीचें योग्य चीज करावें अशी पुनः एकदां अंतःकरणपूर्वक विनंती करून ही छोटीशी प्रस्तावना पुरी करितो.

श्रावण कृष्ण ५ शके १८६२
बाबाजीपुरा, बडोदें.

व्यंकटेश गुजाजी चाकणकर

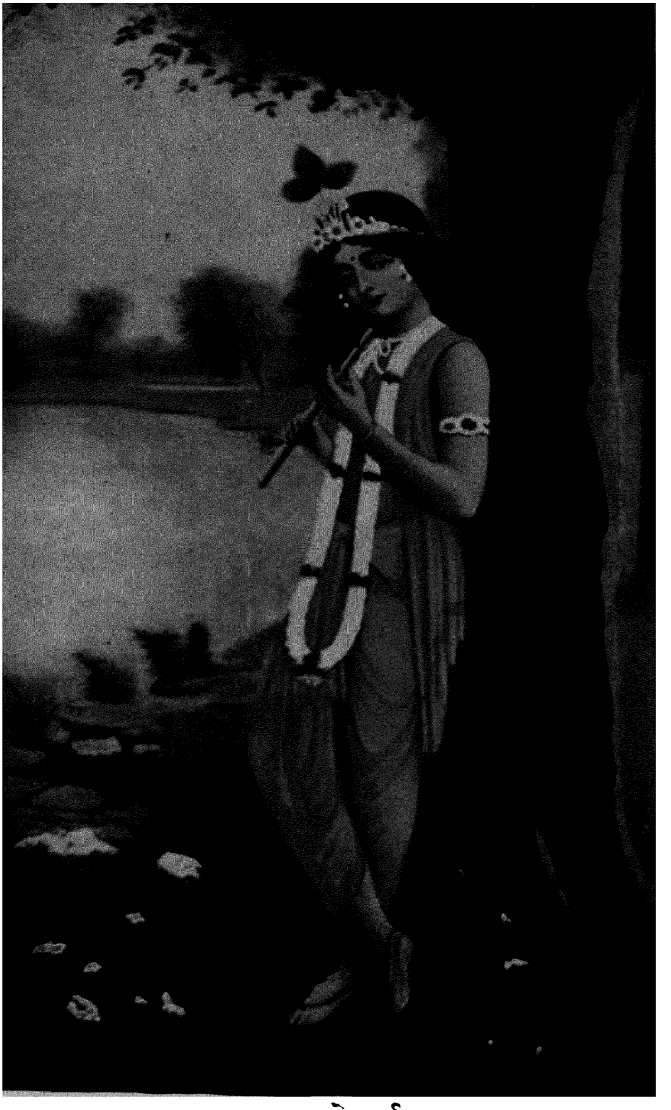

अनन्त-प्रेमार्णव

THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

श्रीहरिः

# मंगलाचरण

वंशीविभुषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

मधूर मुरलीरव करण्यांत जो प्रवीण आहे, ज्याने पीताम्बर परिधान केला आहे, ज्याचे अधरोष्ठ बिम्बफलासारखे आरक्त आहेत, ज्याचे सुन्दर, शीतल, सुखद, सौम्य व पूर्णचन्द्राप्रमाणे शोभणारे मुखारविन्द आहे, सदासर्वकाल मन्द-मन्द हास्य ज्याचे मुखावर विलसत आहे, ज्याचे नेत्र कमलासारखे उमलेले आहेत, अशा कृष्णावाचून परतत्त्व आम्ही जाणतच नाही. तेव्हा त्याचीच पदधूलि आम्ही आमचे मस्तकावर धारण करतो.

वंगदेशीय महान् सन्त

# श्रीगौराङ्गप्रभु यांचे चरित्र

## उत्तरार्ध

### भक्तवृन्द व गौरहरि

निवारयामः समुपेत्य माधवं
किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः ।
मुकुन्दसंगान्निमिषार्द्ध दुस्त्यजाद्
दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥

महाप्रभुचे वैराग्य दिवसानुदिवस वाढतच होते. तिकडे विरोधी लोकांचे भावही उत्तेजित होत होते. दुष्टबुद्धिचे कांही प्रभुवर प्रहार करण्याचा सुयोग धुंडीत होते. प्रभुच्या हे सर्व ऐकण्यांत आले, व अन्तःकरणांत ह्या लोकांबद्दल त्यांना दया उत्पन्न झाली. ते विचार करू लागले, 'हे इतके वाट चुकलेले जीव कोणते उपायाने बरे, वाटेवर येतील? ह्यांचे उद्धाराचा उपाय काय? कोणते उपायाने हे श्रीहरीला शरण येतील?'

एके दिवशीं महाप्रभु भक्तासह गंगास्नानास जात होते. रस्त्यांत

दोनचार विरोधी आपलेवर दांतओंठ खात आहेत, असे प्रभुनी पाहिले. तेव्हा ते हंसत म्हणाले, 'पिंपळीचे तुकडे अशासाठी केले होते कीं, त्या योगे कफाची निवृत्ति व्हावी; परन्तु झाले अगदी उलट! त्या योगाने कफाची निवृत्ति न होता, तो अधिकच वाढला'. इतके बोलून पुन्हा प्रभु मोठ्याने हंसू लागले. भक्तांपैकीं कोणालाही ह्या गूढ वचनाचा अर्थ समजला नाही. फक्त नित्यानन्दानी ताडले कीं, प्रभु आम्हा सर्वांना सोडून अन्यत्र कोठे तरी जाण्याचे विचारांत आहेत. तेव्हा त्यांनी ही गोष्ट एकान्तांत प्रभुस विचारली.

कांहीसे सद्गदित कण्ठाने प्रभुनी सांगण्यास सुरवात केली, 'श्रीपाद! तुम्हापासून लपविण्याचे काय आहे? तुम्ही तर आमचे बाह्यचर प्राणच आहा. तुम्हापासून मी माझ्या मनाची दशा चोरून कशी ठेवणार? मला सांगण्याला दुःख होत आहे, माझे मन आता येथे लागत नाही, माझे स्वाधीन मी आता नाही. जीवांचे दुःख आता माझ्याच्याने पाहवत नाही. जीवांच्या कल्याणासाठी मी आपले सर्वस्वांचा आता परित्याग करीन. गार्हस्थजीवनांत माझे मन आता लागत नाही. आता मी परिव्राजकाचा धर्म स्वीकारीन. माझे उत्तरोत्तर वाढत असणाऱ्या कीर्तीने जे माझा हेवा करतात, भक्तांसहीत आनंदविहार मी करीत असताना जे सारखे जळतात, भक्तांनी केलेली माझी पूजा पाहून जे मनाने माझा द्वेष करीत आहेत, त्या मंडळींना, जेव्हा मी मुंडमुंडवून दारोदारी भिक्षा मागत फिरेन, तेव्हा आपले वाईट भावनेचा पश्चाताप होईल. अशा पश्चातापानेच ते कल्याणपथाचे पथिक होतील. हे माझे आकडेदार काळेकुळकुळीत केस भक्तांनी धुवून व सुगंधित तेलाने माखलेले पाहून ते ह्या द्वेषी व अज्ञानी पुरुषांचे हृदयांत द्वेषाग्नि भडकावितात. तेव्हा माझे हे काळे कुळकुळीत आंकडेदार केस मी नष्ट करून टाकीन, शिखा सूत्रांचा

त्याग करून मी वितराग संन्याशी होईन, माझे अन्तःकरण आता संन्याशी होण्यासाठी सारखे तळमळत आहे. वर्तमान अवस्थेंत मला शान्ति नाही, खरे सुख नाही. मी अपरिग्रही संन्याशी होऊन सर्व प्रकारच्या परिग्रहाचा त्याग करीन. श्रीपाद ! तुम्ही स्वयं त्यागी आहा, मला पूज्य आहा, मोठे आहा, माझे ह्या कार्यांत आडवे येऊ नका'.

ही गोष्ट ऐकून नित्यानन्द अगदी अधीर झाले. त्यांना शरीराचेही भान राहिले नाही. प्रेमामुळे त्यांच्या नेत्रांतून अश्रु वाहू लागले. त्यांचा गळा दाटून आला. सद्गदित कण्ठाने ते म्हणाले, 'प्रभो ! आपण सर्वसमर्थ आहा, सर्व कांही करू शकाल. माझी काय शक्ति आहे कीं, मी आपले कार्यांत आडकाठी करू शकेन? परन्तु प्रभो ! हे भक्त आपलेवाचून कसे जीवन्त राहू शकतील? हाय ! हाय ! विष्णुप्रीयेची काय दशा होईल? वृद्ध माता जगणार नाही. आपलेवांचून ती प्राणत्याग करील. प्रभो ! त्यांची अन्तीम अभिलाषासुद्धा परिपूर्ण होणार नाही. आपले प्रिय पुत्राचे हाताने आपले शरीरास अग्निसंस्कार व्हावा, ही तिची इच्छा, हे सौभाग्य तिला लाभणार नाही. प्रभो ! सत्य सांगतो, मातोश्री आपलेविना जीवन्त राहणारच नाही.

प्रभुनी कांहीसे गंभीरतेने म्हटले, 'श्रीपाद ! आपण तर ज्ञानी आहा, सर्व कांही समजत आहा, सर्व प्राणी आपआपले कर्माधिन आहेत. जितके दिवस ज्याचा ज्याचेशी संबंध असतो तितकेच दिवस तो त्याचे बरोबर राहतो. सर्व प्रारब्धकर्म विवश आहेत.

प्रभुचे म्हणणे ऐकून नित्यानन्द चुप झाले. प्रभु उठून मुकुन्दाच्या घरीं आले. मुकुन्ददत्ताचा कण्ठ फार सुरेला होता. प्रभु त्यांचेकडून भक्तिरसपूर्ण अपूर्व पद गाववून घेऊन आपले मनांस सन्तुष्ट करून घेत असत. प्रभु आलेले पाहताच मुकुन्ददत्त त्यांचे पाया पडले व त्यांना

बसण्यासाठी एक सुन्दर आसन दिले. बसल्यावर कांही पद म्हणण्यास प्रभुनी सांगितले व त्यानी ते अत्यन्त सुन्दर म्हटले. पद ऐकल्यावर हर्षभरीत होऊन व मुकुन्ददत्तास आलिंगन देत प्रभु सद्गदित कण्ठाने म्हणाले, 'मुकुन्द ! आता पाहावे, तुमची पदे कोठे ऐकण्यास मिळतील ते ?'

मुकुन्द कांहीसे आश्चर्याने व सम्भ्रमाने म्हणाले, 'कां, कां, प्रभो ! मी तर सेवकच आहे, आज्ञा होताच मी गाण्यास तयार आहे.'

अश्रुयुक्त नेत्राने प्रभु म्हणाले, 'मुकुन्द ! आम्ही आता ह्या नवद्वीपाचा त्याग करू, शिर मुंडवून काषायवस्त्र परिधान करू, भिक्षेने भुकेचे शमन करू व नगराच्या बाहेरील सुने घरांत, मोडक्या-तोडक्या झोपडींत, अथवा देवस्थानांत निवास करू. आम्ही आता गृहत्यागी वैरागी होणार आहोत'.

मुकुन्ददत्तावर जणु वज्राघातच झाला व ही गोष्ट ऐकताच त्यांना चक्कर आल्यासारखे झाले. सर्व शरीर घामाने ओलेचिंब झाले व अगदी कापऱ्या व अडखळत स्वरांत ते म्हणाले, 'प्रभो ! अन्तःकरणाचा भेद करणारी ही आपण काय गोष्ट करीत आहात. ह्याचसाठी इतका हा स्नेह वृद्धिंगत केला होता कां ? असेच करावयाचे होते तर, आमच्यासारख्यांना ह्या प्रकारे आलिंगन देऊन, जवळ बसवून, प्रेमाने भोजन करवून, एकान्तांत रहस्यमय गोष्टी करून, असे आपण आम्हास आपले प्रेमांत बांधून घेण्याचेच काय कारण होते ? हे आमचे जीवनाचे एकमात्र आधार ! आपणावाचून आम्ही आता नवद्वीपांत कोणाचे होऊन राहावे ? आम्हास कोण प्रेमाच्या गोष्टी ऐकवील ? कोण संकीर्तनाची पद्धति शिकवील ? कोण आम्हा सर्वांना भगवन्नामाचा पाठ पढवील ? आपले कमलमुखाचे दर्शनावाचून पाहा बरे, आम्ही

जीवन्तच राहू शकणार नाही. हा आपण काय निश्चय केला आहे ? हे आमचे जीवनदाता ! आमचेवर दया करा !'

प्रभुनी अश्रु ढाळीत मुकुन्दास मिठी मारली. आपले कमलकराने त्याचे अश्रु पुशीत प्रभु म्हणाले, 'मुकुन्द ! तुम्ही इतके अधीर होऊ नका, तुम्हास रडताना पाहून माझे हृदय फाटत आहे. तुम्हापासून आम्ही कधीही पृथक् होणार नाही.'

मुकुन्दाना ह्याप्रमाणे समजावून प्रभु गदाधराकडेस आले. प्रभु भल-त्याच वेळीं आलेले पाहून गदाधरानाहि आश्चर्य वाटले व प्रभुना प्रणि-पात करून त्यांही त्यांना बसण्यासाठी आसन दिले. आज ही प्रभुची अशी दशा पाहून त्यांना भीतीच वाटली. अशी अवस्था त्यांनी कधीच पाहिली नव्हती. त्यावेळीं दृढता, ममता, वेदना व त्याग, वैराग्य, उपरति व आणखी न जाणो काय काय भावना प्रभुमध्ये दिसत होत्या. गदाधर कांहीच बोलू शकले नाहीत. तेव्हा प्रभुनी आपण होऊनच बोलण्यास सुरूवात केली, 'गदाधर ! तुम्हास एक दुःखाची गोष्ट सांगण्यास मी आलो आहे. वाईट वाटू देऊ नका, काय, नाही तसे वाटू देणार ना ?

गदाधरावर जणु काय दुसरा प्रहारच झाला. ते तसेच गुप राहिले. तेव्हा प्रभु सांगू लागले, 'मी आता तुम्हांतून पृथक् होणार आहे. आता मी ह्या संसारी भोगांचा परित्याग करून यतिधर्माचा स्वीकार करणार आहे.'

गदाधर तर पुतळ्याप्रमाणे स्तब्दच झाले. इतके बरे झाले कीं, त्यांचे चेतनाशून्य शरीर मागे भिंतीस टेकले गेले. प्रभु समीपच बसले होते. थोड्याच वेळांत गदाधराने आपले मस्तक प्रभुच्या चरणावर टेकिले. त्यांच्या नेत्रांतून वाहणारा अश्रुप्रवाह प्रभुचे पादपद्म प्रक्षालित होता. प्रभुनी गदाधराचे मस्तक आपले मांडीवर घेतले व त्यांचे आसु

पुशीत प्रभु म्हणाले 'गदाधर! तुम्ही इतके अधीर झाला तर मी माझा स्वतःचा धर्म कसा पालन करू शकणार? तुम्ही असे शोकाकुल झालेले माझ्याच्याने पहावत नाही. महान् प्रेमाच्या प्राप्तिसाठीच मी हा निश्चय केला आहे. तुम्ही हे अशा प्रकारे त्यांत विघ्न उपस्थित करीत असाल तर मी हे काम करणार नाही. तुम्हास दुःखात लोटून मी शाश्वत सुखाचीही इच्छा करणार नाही. काय सांगता? बोलत कां नाही?

कण्ठ दाटून आला आहे, तोंडांतून पुरा शब्दही उमटत नाही, अशा स्थितींत अडखळतच गदाधराने उत्तर दिले, 'प्रभो! मी सांगणारच काय? आपले इच्छेविरुद्ध सांगण्याचे कोणांत सामर्थ्य आहे? आपण स्वतंत्र ईश्वरच आहा.'

प्रभुने म्हटले, 'मी तुमची आज्ञा मागतो.'

गदाधराच्याने आता जास्त वेळ आपला आवेग आवरून धरवला नाहीं. ते जोरजोराने हुंदके देऊन रडू लागले. प्रभुहि अगदी अधीर झाले. त्यावेळचे दृश्य फारच करुणापूर्व होते. प्रभुच्या प्रेममय मांडीवर पडल्या पडल्या गदाधराच्या नेत्रांतून अश्रुप्रवाह सुरू होता, प्रभु आपले वस्त्राच्या छेड्याने त्यांचे नेत्र पुशीत होते, व त्यांना धीर देत प्रभु म्हणाले, 'गदाधर! तुम्ही माझेपासून पृथक् राहू शकणार नाही. मी राहीन तेथे तुम्हासही बरोबर नेईन. तुम्ही इतके अधीर होऊ नका. तुमचेवाचून मजला वैकुंठाचे सिंहासनहि आवडणार नाही. मंगलमय प्रभु सर्व ठीकच करील.' ह्याप्रमाणे म्हणत म्हणत प्रभु गदाधराचा हात धरून श्रीवासाचे घरीं आले. गदाधराचे दोन्ही नेत्र लाल झाले होते, नाकांतून पाणी वाहात होते, शरीर झोके खात होते. प्रभुच्या आधाराने, ते मन्त्रमुग्धाप्रमाणे चालत होते. प्रभु त्यावेळीं सावधान होते. श्रीवास सर्व काही समजून चुकले. नित्यानन्दानी जाऊन त्यांना त्यांनी प्रथम

पासूनच हे सर्व सांगून ठेवलेले होते. प्रभुना पाहताच त्यांचे नेत्रांतून अश्रुपात होऊ लागला. प्रभुने म्हटले, 'आपण माझे पित्यासमान आहा. आपणच जर ह्याप्रमाणे मला हतोत्साहित कराल तर, मग मी माझे धर्माचे पालनच कसे करू शकणार? मी काही वाईट काम तर करण्यास जात नाहीं. एकादे महाजन सावकारांचे नांवाचा लौकिक पुष्कळ दूरवर फैलवावा, परन्तु जवळ मात्र एक पैसासुद्धा नसावा, त्यासारखी माझी स्थिती झालेली आहे. माझेजवळ प्रेमाचा अभाव आहे. आपण सर्व भक्त मंडळी संसारी भोग्य पदार्थांची इच्छाहि करीत नाही व आपणास त्याची कमतरताहि नाही. आपण सर्व प्रेमाचे भुकेले आहात. सावकार ज्याप्रमाणे परदेशांत जाऊन धन कमावून आणतो, त्याप्रमाणे मीहि प्रेमरूपी धन आपणा सर्वांसाठी घेऊन येईन, व आम्ही सर्वजण मिळून त्याचा उपभोग घेऊ.'

कांहीसे क्षीण स्वरांत श्रीवासांनी उत्तर दिले, 'प्रभो! जो मोठा भाग्यवान् भक्त आपण परत येईतो जीवन्त राहील, तो आपले कमाईचा उपभोग घेईल. आम्ही तर आपलेवांचून जीवन्तच राहू शकणार नाही.'

प्रभुनी म्हटले, 'पंडितजी! आपणच आम्हा सर्वांचे पूज्य आहा. मला सांगण्याला काहीसा संकोच वाटतो, परन्तु प्रसंगामुळे सांगणे भागच आहे कीं, आपलेच द्वारा आम्ही सर्व भक्तमंडळी इतके दिवस पावेतो, प्रेमपूर्वक संकीर्तन भक्तिरसाचे आस्वादन करीत आहोत. आता आपण असाच आशिर्वाद द्या कीं, आम्ही आमचे व्रताचे पूर्णरीत्या पालन करू शकू.'

इतक्यांत मुरारी गुप्तही तेथे आले, ते तर हे ऐकताच मूर्छितच झाले. कांही वेळाने चेतना लाभल्यावर ते म्हणतात 'प्रभो! आपण सर्व समर्थ आहात. कोणाचे ऐकणार थोडेच आहात. ज्यायोगे जीवांचे

कल्याण होईल, ती आपले प्रिय जनांस कितीही अप्रिय गोष्ट वाटली तरी, आपण करणारच. परन्तु, आम्हा पतितांचे एकमात्र आधार! आम्हास विसरू नका. आम्हास आपले श्रीचरणाचेच सदैव स्मरण राहील असाच आशिर्वाद द्या.'

मुरारीस आलिंगन देत प्रभु म्हणाले, 'तुम्ही तर माझे जन्म-जन्मान्तरीचे सोबती आहा, अशा तुम्हा सर्वांनाच विसरलो तर मग, स्मृति ठेविण्याचेच प्रयोजन काय? तुम्हा प्रेमी बन्धुच्या चिन्तनासाठीच स्मृति ठेविलेली आहे.' ह्याप्रमाणे सर्व भक्तांना समजावून आश्वासन देत प्रभु आपले घरी निघून गेले.

इकडे ही गोष्ट प्रभुच्या सर्व अन्तरङ्ग भक्तांमध्ये विद्युद्वेगाने पसरली. जो बिचारा ही गोष्ट ऐके, तो उर्ध्वश्वास सोडी व हात चोळीत म्हणे, आता ही, आम्हांला आनन्द देणारी मूर्ति, आमचे पुन्हा दृष्टीस पडणार नाही.' कोणी म्हणे, 'ज्यावर हा कृष्णवर्ण सुन्दर केशकलाप आहे ते शीर ह्या नन्तर मुंडलेले पाहण्याने कोणास बरे, बरे वाटेल?' कोणी म्हणे, 'हातांत भगवी झोळी घेऊन प्रभु भिक्षा मागत कसे फिरू शकतील? काय आज आमचे पुण्याईचा अन्त झाला? काय आता नवद्वीपाचा सौभाग्यसूर्य मावळण्याचा वेळ आला आहे? काय नदिया नागर ही आपली लीलाभूमि सोडून दुसरा सौभाग्यशाली प्रदेश पावन करतील? काय आता नवद्वीपावर क्रूर ग्रहांची वक्रदृष्टि फिरली? काय हा भक्ताचा एकमात्र प्रेमदाता आता सर्वांना असेंच दुःखांत टाकून चालता होणार? काय, आम्ही सर्व अनाथासारखे दुःख करीत आमचे शेषजीवित व्यतित करणार? काय, आम्ही हे सर्व जागेपणीच ऐकतो आहोत वा आम्हास हा स्वप्न-भ्रम तर होत नाहीना? वाटते तर स्वप्नवतच' ह्या प्रमाणे सर्व भक्तगण भावी-वियोगजन्य दुःखाचे स्मरण करून नाना प्रकारे विलाप करू लागले.

# शचीमाता व गौरहरि

अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाकृतार्थान्वियुनंक्ष्यपार्थकं
विक्रीडिते तेऽर्भकचेष्टितं यथा॥

भक्तांच्या तोंडून निमाईच्या संन्यासाची हकीकत समजताच शचीमातेच्या दुःखास पारावारच राहिला नाही. त्या किंकर्तव्य मूढशा होऊन एकाद्या वेड्या बावळ्यासारख्या चहुकडेस टकमका पाहू लागल्या. त्या कधी पुढे पाही, कधी मागे पाही, केव्हा आकाशाकडेस वर पाही, जणू काय त्या दिशाविदिशांजवळ सहाय्यतेची भिक्षा मागत आहे लोकांच्या तोंडाने ही गोष्ट ऐकताच त्यांचे धैर्य अगदी गळून पडले. त्या रडत, दुःखी मनाने, पुत्रवियोगरूपी दावानलाने होरपळलेल्या महाप्रभुकडेस आल्या व अन्तःकरण अगदीं मोठ्या धीराने घट्ट करून आपले मर्माहत वाणीने परन्तु दृढतेने त्यांही प्रभुना विचारले. 'बाळा निमाई! मी जे हे सर्व ऐकत आहे, ते खरे आहे काय?'

पुत्र-वियोग अशुभ समजण्याऱ्या मातेच्या मुखांतून ही दारूण गोष्ट निघू शकली नाही, त्यांही अस्पष्टरीतीनेच हा प्रश्न केला. लक्ष नाहीसे दाखवित प्रभुनी विचारले 'कोणती गोष्ट?'

हाय! हाय! त्यावेळी मातेचे हृदय सर्व बाजूंनी विदीर्ण झाले. अन्तःकरण हालवून सोडणारी ती गोष्ट त्या आपले मुखानेच कशा सांगू शकणार? जीव मुठींत धरून त्यांनी सांगीतले 'बाळ! कसें बोलूं' ह्या दुःखी विधवेच्याच कपाळीं विधात्याने सर्व आपत्ति लिहून ठेविलेल्या आहेत काय? माझे अन्तःकरणाचा मोठा तुकडा-विश्वरूप घर सोडून निघून

गेला, व ह्याप्रमाणे आघात करून आज पावेतोहि तो परत आला नाही. तुझे वडीलही मध्येच धोका देऊन चालते झाले. ते पति-वियोगरूपी पहाडासारखे दुःख, मी केवल तुझ्याच मुखाकडे पाहून सहन केले. तुझे कमलासारखे मूख पाहून मी सर्व संकटे विवरून जाते. कधी मनास दुःख वाटले तरी तुला चोरून मी त्या दुःखाने रडत असे. हेतु हा कीं, तुझे चन्द्रमा समान मुख, माझे ह्या रडण्याने मलीन न व्हावे. तुझे चन्द्रासमान शीतल मुख हेच ह्या अनाश्रित व दुःखी विधवेचा, एकमात्र आश्रय होते. त्याच्या शीतलतेंत मी माझा ताप शान्त करीत असे. आता भक्तांच्या तोंडाने ऐकले आहे कीं, तूंहि मला दुःखांत लोटून जाण्याचे तयारीत आहेस. बेटा ! काय हे खरे आहे कां ?'

मातेची अशी करणायुक्त व कातरवाणी ऐकून प्रभुच्याने कांहीच उत्तर देववले नाही. त्यांचे डोळे पाण्याने डबडबले व ते खाली मान घालून जमीनीकडे पाहात राहिले. त्यांचे मुख म्लान झाले व भावी -वियोग-जन्य दुःखामुळे ते कांहीसे विपण्ण झाले.

माता जास्तच आधीर झाल्या. भयभीत होऊन अगदी आर्तस्वरांत त्यांही विचारले-'निमाई ! बेटा, सत्य, सत्य काय आहे, ते मला सांग, काय, हे सर्व खरे आहेना ? चुप राहून कसे समजणार ? मौन धरून मला आणखी क्लेश देण्यांत काय अर्थ आहे ? वास्तवीक काय आहे, ते मला सांग ?'

सरळपणाने प्रभुने स्वीकार करून म्हटले कीं, मातोश्री जे कांहीं ऐकले ते सर्व यथार्थ आहे.

हे श्रवण करताच मातेस किती अपरंपार दुःख झाले असेल ह्याचे वर्णन कोणा कवीची निर्जीव लेखणी करू शकेल ? मातेच्या नेत्रांतून सारखा अश्रु प्रवाह सुरू होता. ते अश्रु, ते सुरकुतलेले मुख भिजवून

मातेचे वस्त्रहि ओलेचिंब करीत होते. रडतरडतच मातेने म्हटले–' बेटा ! तुला जाण्याला मना केले तर, तूं ऐकणार नाही, तेव्हा तुला मला हेच सांगावयाचे आहे कीं, माझेसाठी थोडेसे विष विकत आणून दे. मला मागे पुढे कोणीही नाही. तूं गेल्यावर मी मरण्यासाठी विष कोणाजवळून आणवू ? बिचारी विष्णुप्रिया अद्याप अबोध बालिका आहे. तिला अद्याप संसाराची कांहीच माहिती नाही. ही भक्त मंडळीहि तुझ्यामुळेच येतात. तूं गेल्यावर तेहि येणार नाहीत. माझे सुने घराचा तूंच एक मात्र दीपक आहेस. तूं आहेस म्हणून अंधःकारांतही माझे हे घर आलोकित होत आहे. मला अर्धकच्ची जळतच टाकून जात आहे. जा बेटा, सुखाने जा, परन्तु तुला मी नऊ महिने पोटांत वागविले आहे,तेव्हा त्या नात्याने माझे येवढे काम करून जा. माझेसारखे दुःखीतास विषाशिवाय दुसरा आश्रयच नाही. गंगाजींत उडी घेऊन प्राण जातात, परन्तु न जाणो, अशी भीती वाटते कीं, कोणी एकादा सहृदय पुरुष मला बाहेर ओढून काढील. तेव्हा मजसारखी आश्रयहिन, दुःखित, अभागिनीस विषावाचून दुसरा आधारच नाही' असे म्हणता म्हणता ती वृद्धा मूर्छित होउन जमीनीवर पडली.

प्रभुनी आपले हाताने आपले त्या दुःखी मातोश्रीस उठविले व तिच्या शरीरास लागलेली माती आपले वस्त्राने पुसून टाकली व मातोश्रीस धैर्य देत प्रभु म्हणतात '—मातोश्री, आई ! तुम्ही मला गर्भांत धारण केले. माझे मलमूत्र धुतले, मला खाऊ पिऊ घालून व लिहिणे वाचणे शिकवून इतका मोठा केला, तुमचे ऋणांतून मी मुक्तच कसा होणार ? खरोखर आई ! माझे शरीराचे चामडे काढून त्याचा तुमचे पायांत जन्मभरपर्यंत जोडा करुन घातला तरीहि ह्या मोठे ऋणाची फेड होणे शक्य नाही. जन्म–जन्मान्तरांचा मी तुझा ऋणी आहे, पुढेही तसाच

राहीन. मातोश्री ! मी सत्य, सत्य, सांगतो, माझे चालू शकते तर मी माझे प्राणाहि पणास लावून तुला प्रसन्न केले असते, परन्तु मी काय करू ? माझे मन माझे स्वाधीन नाही. मी विवश आहे'.

तुम्ही वीर जननी आहा. विश्वरूपासारख्या महापुरुषाची माता होण्याचे सौभाग्य तुम्हास लाभले आहे. तुम्हास अशा प्रकारचा विलाप शोभत नाही. ध्रुवाची माता सुमतीने आपले प्राणापेक्षाहि एकुलत्या एक प्रिय पुत्रास तपश्चर्या करण्यासाठी वनांत जाण्याची आज्ञा दिली. भगवान् श्रीरामचन्द्राच्या मातोश्रींनी आपले एकुलते एक पुत्रास सुनेसह वनास जाण्याची अनुमति दिली. सुमित्रेने दृढनिश्चयाने सून घरीं ठेवून लक्ष्मणास आग्रहपूर्वक श्रीरामचन्द्राबरोबर वनांत पाठविले. मदालसेने आपले सर्व पुत्रांना संन्यास दीक्षा दिली. तुम्ही काय त्या मातांपेक्षा कमी आहा ? हे जननि ! तुम्हास कोटिशः प्रणाम करून विनवितो कीं, तुम्ही पुत्र स्नेहाने माझे ह्या कार्यांत विघ्न आणू नका. मला प्रसन्न मनाने संन्यास ग्रहण करण्याची अनुमति द्या व असा आशिर्वादहि द्या कीं, मी माझे हे व्रत उत्तम प्रकारे चालवू शकेन.'

अश्रु पदराने पुशीत माता म्हणाली–'बेटा ! आज पर्यन्त मी तुझे कोणतेही कामांत हस्त–क्षेप केला नाही. ज्या योगे तूं प्रसन्न, त्यांतच मीहि प्रसन्न असे. मी पाहिजे तर उपाशी राहिले असेन, परन्तु तुला, प्रसंगी दुसरे ठिकाणाहून मागून, तुझे रुचि समान असे भोजन करविले. तुझे इच्छे विरुद्ध कोणतीहि गोष्ट मी करीत नसे. काय, घरांत बसून भगवत्–भजन होऊ शकत नाही? येथेच, श्रीवास, गदाधर, मुकुन्द, अद्वैताचार्य ह्या सर्व भक्तांसह नेहमी भजन करीत रहाना, मी तुला केव्हाही अडचण करणार नाही. बाळा ! तूं विचार तर कर; ह्या अबोध बालिका विष्णुप्रियेची काय दशा होईल ! तिने अद्याप संसाराचे सुख

कांहीच पाहिले नाही. तुझे वाचून तीं जीवन्त कशी राहू शकेल? माझे हृदय तर विधात्याने वज्राचे घडविले आहे! वाटते कीं, तूं निघून गेल्यावरसुद्धा ह्याचे तुकडे होणार नाहीत. रोज ऐकते कीं, अमुक गेला, तो अमुक सुटला; कोणास ठाऊक, माझे आयुष्य विधात्याने किती घातले आहे कीं, अद्याप त्याची त्याला शुद्धच नाही. विष्णुप्रियेस पुढीलसाठी कांही आधार झाला व मी मेले म्हणजे तूं सुखाने संन्यास घे. मी जीवन्त असताना व या बालिकेस तूं जीवन्त असताना विधवेसारखी करून, तुझे घरांतून जाणं योग्य म्हणता येणार नाही. मी तुझी जन्मदात्रि आहे, माझे दुःखाकडेस तूं थोडेसे तरी पाहिले पाहिजे. तूं जगताच्या उद्धाराचे कार्य करीत आहेस, काय मी जगतामध्ये नाही? मला अशाच रीतीने दुःखांत लोटून तूं निघून गेलास तर, मातोश्रीस दुःख दिल्याचे पातक तुझे माथीं पडेल.'

प्रभुने धीराने म्हटले, 'आई तूं इतकी अधीर होऊ नको. भाग्याला हात देण्याचे सामर्थ्य माझेंत नाही. विधात्याने माझा तुमचा संयोग इतकेच दिवसांचा लिहिलेला होता. ह्या पुढे लाख प्रयत्नांनीहि तो टिकणे शक्य नाही. भगवान् वासुदेव सर्वांचे संरक्षण करीतो आहे, त्याचे नांवच **विश्वम्भर** आहे. जगताचे भरणपोषणाचा भार त्याचेवर आहे. तुम्ही हा अन्तःकरणांतून अज्ञानजन्य मोह काढून टाका, व मला अगदी मनापासून यतिधर्म ग्रहण करण्याची अनुमति प्रदान करा.'

रडत रडत माता म्हणाली, 'बेटा! मी लहानपणापासूनच तुझा स्वभाव जाणून आहे. तुला जी गोष्ट बरी वाटते, तोच तूं करीत असतो. ब्रम्हदेव आला तरी तूं ते करण्यापासून चलित होणार नाहीस. ठीक आहे, ज्याने तुझे अन्तःकरण प्रसन्न राहील, तेच कर. तुझे प्रसन्नतेंतच

माझी प्रसन्नता आहे. कोठेही सुखाने राहा. मग वाटेल तर गाहस्थ्य-धर्माने वा यति धर्माने राहा. मी तर तुला कधी विसरणेच शक्य नाही. भगवान् तुझे कल्याण करो! परन्तु तुला जाणेच असेल तेव्हा, मला सांगितल्यावाचून जाऊ नको, प्रथम मला सूचना दे.

महाप्रभुनी ह्या प्रमाणे मातेची अनुमति घेऊन त्याचे चरणावर मस्तक ठेविले व त्यांना अश्वासन देत प्रभु म्हणाले. 'मातोश्री! तुमचे बद्दल माझी अशीच अपेक्षा होती व तुम्हाहि योग्यमातेस अनुकूल असेच वर्तन केले. मी तुम्हास वचन देतो की, तुम्हास सांगितल्यावाचून मी जाणार नाही. तुम्हास प्रथम सूचित करून ठेवीन. ह्या प्रमाणे मातेला समजाऊन-उमजाऊन प्रभुनी मातोश्रीची आज्ञा मिळविली. विष्णुप्रियेस समजाविणे कांहीसे कठीणच होते. त्या अद्याप आपले पितृगृहींच होत्या, म्हणून त्यांच्यापुढे हा प्रश्नच नव्हता. परन्तु प्रभुच्या संन्यास ग्रहणाची वार्ता सर्व नवद्वीपांत पसरली तेव्हा विष्णुप्रियेसहि ही गोष्ट आपले पित्याचे घरींच समजली. त्याचवेळीं त्या आपले पतिदेवाचे घरीं आल्या.

# विष्णुप्रिया व गौरहरि

**यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र—**
**लीलाऽवलोक परिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ।**
**नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं**
**गोप्यः कथं न्यतितरेम तमो दुरन्तम् ॥**

विष्णुप्रिया माहेराहून ज्या दिवशी सासरी आल्या त्या दिवशी बरेच उशीराने प्रभु भक्तांसह गंगास्नान करून परत आले. आल्यावर सर्वांसह त्यांनी भोजन केले. भोजनोत्तर सर्व भक्त आपआपले घरी निघून गेले. प्रभुही शयन-गृहात जाऊन शय्येवर आडवे झाले.

इकडे विष्णुप्रियेचे हृदय सारखे धड-धड करीत होते. त्यांच्या हृदय-सागरांत चिन्ता व शोकाचा मोठे धुमाकुळ माजून राहिला होता. एकामागून एक विचारलहरी उठत होत्या व विष्णुप्रिया त्यांच्या स्मृति मात्रे करून कंपीत होत होत्या. अशा दशेंत भूकतहानेचे काय भान? जणु काय, शोक व चिन्तेच्या भीतीने त्यांही आपले स्थान सोडून पलायन केले होते. प्रातःकाल पासून त्यांनी कांहीहि खाल्ले नव्हते. कांही खाल्ल्या-वाचूनच पतिसंन्निध जाणे योग्य नाही म्हणून मातेच्या आग्रहाने आनेच्छा-पूर्वक त्यांनी पतिच्या उच्छिष्टांतील चार घास घेतले. त्यांच्या तोंडांत वास्तवीक तर घास शिरतच नव्हता. कसेतरी दोन चार घास खाल्ल्यावर त्या हळूहळू पति-देवाच्या शय्येसमीप पोचल्या. त्यावेळीं प्रभुना थोडीशी निद्रा येत होती. सुकोमल गादीवर शुभ्रवस्त्र टाकले होते. दोन शुभ्रउशा, प्रभुच्या मस्तकाखाली होत्या. एक हात त्या उशीवर होता, कमलासमान दोनी नेत्र मिटलेले होते. मस्तकावर काळे कुळकुळीत आकडेदार केश काहीसे विखुरलेले होते. प्रभुच्या त्या अर्ध-निद्रित स्थितींतील मुखाचीशोभा

पाहण्यांत विष्णुप्रिया तशाच थांबल्या व कांहीवेळ पावेतो त्या अनिर्वचनीय अनुपम आननाची अद्भुत आभा पाहातच राहिल्या. त्यांची अधीरता सारखी वाढतच होती. हळूच त्या प्रभुंच्या पायाशी बसल्या व आपले कोमल कराने हळूहळू प्रभुच्या पाद-पद्माचे तळवे चोळू लागल्या. त्या चरणांची कोमलता, अरुणता, व सौकुमार्य पाहताच विष्णुप्रियेचे हृदय तुटू लागले. त्या विचार करू लागल्या-'हाय, प्राणप्रिया! ह्या सुकोमल चरणांनी कंटकाकीर्ण पृथ्वीवर उघड्या पायांनी कसे चालू शकणार? तप्त-सुवर्णाच्या रंगाचे हे राजकुमारासारखे शरीर सन्यासाचे कठोर नियम कसे पाळू शकेल? हे विचार येताच विष्णुप्रियेच्या नेत्रांतून मोत्यासारखे अश्रुबिन्दु झरपू लागले. पायावर गरम बिन्दु पडताच प्रभुंनी नेत्र उघडले व जरा डोके उंच करून त्याही पायाकडेस पाहिले. समोर विष्णुप्रियेस पाहताच ते थोडेसे उठून बसले व प्रभुनी म्हटले, 'तू कां रडस आहेस? तुम्ही इतके अधीर कां होऊन राहिला आहात? तुम्हाला हे काय होत आहे?

रडत रडत व हुंदके देत क्षीण स्वरांत विष्णुप्रिया म्हणाल्या-'माझे भाग्यास मी रडत आहे, कीं, विधात्याने मला इतके सौभाग्यशालिनी कां केले?'

प्रभुने कांहीसे प्रेम--विस्मित अधीरतेने म्हटले-'काय आहे, ते तर सांगत नाही, उगीच हुंदके देऊन रडत आहेस. समजले तर पाहिजे ना कीं, काय गोष्ट आहे?

तशाच रडत रडत विष्णु-प्रिया म्हणाल्या-'काय ऐकले आहे कीं, आपण घर-दारांचा परित्याग करून संन्यास घेणार आहा, म्हणून?'

प्रभुनी हसत हसत म्हटले-'तुम्हास ही निराधार गोष्ट सांगीतली कोणी?'

विष्णुप्रियानी आपले म्हणण्यावर कांहीसा जोर देत व आपला पत्नी–अधिकार साचवीत म्हटले–'कोणी कां सांगीतले असेना, आपण सांगाना, काय ही गोष्ट खरी नाही?'

प्रभुनी तोंड मुरडीत म्हटले–'हो, कांहीसे बरोबर आहे.'

विष्णुप्रीयेवर वज्राघातच झाला. ती अधीर होऊन प्रभुचरणावर पडून सारखी रडू लागली. प्रभुंनी तिजला हाताने धरून उठविले व प्रेमाने अलिंगन देऊन ते म्हणाले–'म्हणून तर मी कोणतीहि गोष्ट सांगत नाही. तुम्ही एकदम अगदी अधीर होऊन जाता.'

हाय! हाय! विष्णुप्रियेच्या त्यावेळच्या मनोवेदनांचा अनुभव कोण करू शकणार आहे? त्यांच्या नेत्रांतून सारखा अश्रुप्रवाह सुरू होता. तशाच वेदनायुक्त आवेशांत त्या म्हणाल्या–'प्राणनाथ! काय, खरोखरच आपण मला निराधार सोडून चालते होणार? काय, ह्या भाग्यहीनेस दुःखांत लोटून हिजला अनाथ करणार काय? अररे! मला माझे भाग्याचा किती मोठा गर्व होता. असे त्रैलोक्य-सुंदर जगद्वन्द्य पति प्राप्त करून घेऊन मी स्वतास सर्वश्रेष्ठ सौभाग्यशालिनी समजत होते. ज्यांचे रूप-लावण्य पाहून स्वर्गातील अप्सरा सुद्धा माझा हेवा करीत होत्या. नवद्वीपांतील नारीसुद्धा ज्या माझे सौभाग्यसुखाची फारफार प्रशंसा करीत होत्या, त्याच स्त्रिया कालान्तराने भाग्यहीन स्थितींत मी दारोदारी भटकत आहेसे पाहून माझे बद्दल करुणा भाकतील! मी अनाथ आता कोणास शरण जाऊ? पति हेच स्त्रियांचे एकमात्र आश्रय-स्थान आहे, पति हीच त्यांची गति!'

विष्णुप्रियेस समजावीत प्रभु म्हणाले–'हे पाहा! जगतांत सर्व जीव प्रारब्ध कर्माचे आधीन आहेत. जितके दिवस, ज्याचा ज्याचेशी संबंध निगडित झाला असेल, तितकेच दिवस राहणार! सर्वांचा आश्रयदाता

तर तो एक श्रीहरीच आहे. तुम्ही सदा सर्वकाळ श्रीकृष्णाचे चिन्तन करीत राहाल तर माझे जाण्याने तुम्हास यत्किंचितहि दुःख होणार नाही.'

रडत रडतच विष्णुप्रिया म्हणतात, 'देवा! आपणा अतिरिक्त कोणी दुसरे श्रीकृष्ण आहेत, हे मला आजपर्यंत माहीत नाही व पुढे ते माहीत व्हावे अशी माझी इच्छाहि नाही. माझे तर ईश्वर, हरि व परमात्मा जे कोणी आहेत ते आपणच आहात. आपले श्रीचरणाचे अतिरिक्त दुसरा चिन्तनीय पदार्थ माझे दृष्टीने कोणताच नाही. मी आपले चरण सेवेंतच आपले जीवन व्यतीत करण्याची इच्छा करीत आहे. मला दुसरे कोणतेही संसारी सुखाची तिळमात्र इच्छा नाही?'

प्रभुनी कांहीसे उतावीळ होऊन म्हटले–'प्रिये! मी सदैव तुमचाच आहे व तुमचाच सदैव राहीन. तुमचे हे निस्वार्थि प्रेम कधी विसरणे शक्य आहे कां? कोण असा भाग्यहीन असेल कीं, जो तुमचे सारखी सर्वगुणसंपन्न सहचरीचा परित्याग करण्याची मनांत कल्पना तरी आणील? परन्तु विष्णुप्रिये! मी अगदी सत्य सत्य सांगतो, माझे मन आता माझे वश नाही. जीवांचे दुःख आता माझ्याच्याने पाहवत नाही. मी संसारी होऊन व घरांत राहून जीवांचे विशेष कल्याण करू शकणार नाही. जीवांच्या कल्याणासाठी मला तुमचा शरीराने त्यागच केला पाहिजे. मनाने तर तुमचे प्रेम कधी विसरणे शक्यच नाही. तुम्ही सदैव विष्णुचिन्तन करीत आपले नांव सार्थकरा व आपले जीवन सफळ करा.'

फारच अधीर होऊन विष्णुप्रिया म्हणतात, 'हे माझे देवता, जर जीवाचे कल्याणामध्ये मीच बाधक रूप होत असेन तर, मी आपले श्रीचरणांना स्पर्श करून सांगते कीं 'मी माहेरी, माझे पित्याचे घरींच राहीन, जेंव्हा आपण गंगास्नानास जाल तेंव्हा मी आपले आड्डून दर्शन

घेत जाईन; मातेला तर आधार राहील ! असो ! मी तर माझे मन वज्रासारखे कठीण करून हे पर्वत–प्राय दुःख सहन करून घेईन परन्तु त्या वृद्ध मातेची काय दशा होणार ? त्यांना तर मागेपुढे कोणीहि नाही. त्यांचे जीविताचा आपले एकट्यावरच निर्भर आहे. त्या आपलेवाचून जीवन्त कशा राहतील ? खात्रीने वाटते कीं, त्या आत्मघाताने प्राणत्याग करतील !'

प्रभुचा कण्ठ अगदी दाटून आला, ते अडखळत अडखळत म्हणाले–'सर्वांना मागे पुढे तोच श्रीहरी आहे. त्याच्या शिवाय प्राण्यांना दुसरा आश्रय असूच शकत नाही. त्याच्याच स्मरणमात्राने प्राणीमात्राचे कल्याण होते. प्रिये ! मी अगदी विवश आहे. नवद्वीप सोडून मला दुसरे ठिकाणीं गेलेच पाहिजे. संन्यासाविना दुसरे कशांतही मला सुख नाही. मला सुख व्हावे म्हणून तुम्ही स्वताची सर्व सुखे तुच्छ लेखून, मी प्रसन्न राहीन तेच करण्याचा प्रयत्न करीत आलेला आहा, तेव्हा आता मला दुःखी कां करता ? येथे राहाण्याचाच तुम्ही आग्रह धरल्यास त्यांत मला सुख लाभणार नाही. राहता राहीली मातोश्रीची गोष्ट, त्यांची मी अनुमति घेतलीहि आहे व त्यांनी मला संन्यास घेण्याची आज्ञाहि दिली आहे. आता तुमचीच अनुमति घेणे शेष आहे. मला निश्चित ठाऊक आहे कीं, तुम्ही माझे ह्या शुभकार्यात अडकाठी न घालता, मला अन्तःकरणपूर्वक प्रसन्नपणे अनुमति द्याल.

कठोर हृदय करून व आपला दुःखावेग मोठ्या कष्टाने दाबून विष्णुप्रियानी म्हटले–'मातोश्रींनी आपणास संन्यास घेण्याची ज्या अर्थी आज्ञा दिली आहे, त्या अर्थी मी आपले कार्यात विघ्न आणणार नाही. आपले आनन्दातच मला आनन्द. आपणास ज्या दशेंत राहून आनन्द होईल, ते मला मान्य आहे, परन्तु प्राणेश्वरा ! मला अन्तःकरणाने विसरू

नका. आपले श्रीचरणाचे चिन्तनांत मी सदा निमग्न राहावे असा मला आशीर्वाद द्या. आपण समर्थ आहा, माझे स्वामी आहा, स्वतन्त्र आहा, पतितांचे उद्धारक आहा, मी तर आपले चरणाची दासी आहे. स्वामीचें सुखानिमित्त दासी सर्व कांही सहन करते. परन्तु मला केव्हाहि विसरू नका हीच प्रार्थना आहे.'

प्रभुंनी विष्णुप्रियेस प्रेम पूर्वक अलिंगन देऊन म्हटले–'धन्य आहे ! एका वीर पत्निस शोभण्यासारखीच गोष्ट तुम्ही ही केली आहे. इतके साहस तुमचे सारख्या पति–परायण सती–साध्वी स्त्रियाच करू शकतात. तुम्ही सदैव माझे हृदयांतच वास करणार. आताच मी कोठे जाण्यास निघालो आहे ? जाईन तेव्हा सांगेनच'.

ह्याप्रमाणे गोष्टी करण्यांत ती रात्र वितून गेली. प्रातःकालीं प्रभु उठून नित्य कर्मास लागले.

# परम सहृदय निमाईची निर्दयता

वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमीश्वरः॥

कोणास माहित, भगवन्ताने विषमतेतच महानता लपवून ठेविली आहे कीं काय? 'महतो महियान्' भगवान् 'अणोरणीयान्' हि म्हणवितात. निराकार असताहि प्रभु साकारवत् दिसतात. अकर्ता असूनहि सर्व विश्वाचे उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयाचे एकमात्र कारण हेच म्हणविले जातात. अजन्मा असताहि शास्त्रांत ह्यांचे जन्म सांगीतलेले ऐकतो. अशा प्रकारच्या वैषम्यांत कोठे ईश्वरता छपून थोडीच राहू शकणार आहे? महापुरुषाचे जीवनांत विशेषतः अशी विषमता आढळून येते. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्राचे संपूर्ण चरित्र अवलोकन करून पहा. त्यांत ठिकठिकाणीं विषमताच भरलेली सापडेल. श्रीमद्रामायण हे विषमतेचे भाण्डारच आहे. अत्यन्त सुकुमार असूनहि श्रीरामचन्द्र बोलता बोलता भयंकर राक्षसाचा वध करून टाकतात. तपस्वी म्हणवूनही हातांतील धनुष्य-बाण सोडीत नाही. मैत्री करूनही सुग्रीवास भय दाखवितात. सम्पूर्ण जीवनच ह्यांचे विषमतामय आहे. जे राम आपल्या मातांना प्राणापेक्षाही प्रिय होते, जे पित्याची आज्ञा केव्हाही उल्लंघन करीत नसत, ज्यांचे कोमल हृदय कोणाचेही दुःख देखू सकत नव्हते, तेच रामचन्द्र वनांत जाताना इतके कठोर झाले कीं, त्यांचे मनावर मातांच्या वाग्बाणांचा, त्यांच्या अविरत अश्रुप्रवाहाचा, पित्याने दीनपणाने केलेल्या विनवणीचा, नगरवासी जनांचे करुण-क्रन्दनाचा, वृद्ध, तपसी ऋत्विजांचे सांगण्याचा राजकर्मचारी, व भगवान् वशिष्ठाचा नानाप्रकारे नगरांत ठेवून घेण्याचे युक्तिचा, यत्किन्चितही परिणाम झाला नाही. ह्या सर्वांना रडत ओरडतच

सोडून, सर्वांना शोकसागरांत बुडवून, आपले अन्तःकरण वज्रासारखे कठीण करून ते वनांत निघून गेले. ह्यायोगाने त्यांची कठोरता प्रत्ययास येते.

सीतेचे हरण झाल्यावर त्यांना आलेल्या कोपाचे वर्णन वाचून काळीज कापू लागते. जणु काय, ते आपले प्राणाहून प्रिय पत्निसाठी सर्व ब्रह्माण्ड आपले अमोघ बाणांनी नष्ट करू पहात आहेत. स्फटिक-शिलेवर बसून त्यांही आपले प्रियेसाठी केलेल्या शोकाने पथरासही पाझर फुटेल. लंकेवर चढाई करण्याचे पूर्वी हनुमन्ताशी बोलताना ते सीतेच्या साठी किती व्याकुळ झालेले दिसत होते. सीतेच्या लहानलहान गोष्टी आठवूनहि ते दुःखाने अश्रुपात करीत होते. त्यावेळीं कोणास असे वाटले नसेल कीं, हे सितेस पाहताच तिच्या गळ्यांत पडून रुदन करणार नाही, व तिला अत्यन्त प्रेमाने आपले अंकावर बसविणार नाहीत? परन्तु रावण-वधानन्तर त्यांचा रंग पालटला. सीता समोर येताच, त्यांनी ज्या कठोर व अकथनीय गोष्टी बोलून दाखविल्या, त्या ऐकल्यावर कोण ह्यांना सहृदय व प्रेमी म्हणू शकेल? यथार्थ पाहिल्यास तेच त्यांच्या महानतेचे द्योतक आहे. ज्यास आम्ही प्राणाहूनहि विशेष प्रिय मानतो, प्रसंगवशात् त्याचा परित्याग करण्याची वेळ आल्यास हसता हसता सहज त्याचा त्याग करणे, ह्याचेच नांव तर यथार्थ प्रेम आहे. दृढतेने 'स्वीकार' करण्याचे सामर्थ्य ज्यांच्यांत असते, त्यांच्यांत त्यागाचीहि शक्ति तितकीच अधिक असते.

भक्तांवरील महाप्रभुचे असे प्रेम पाहून कोणास अशी कल्पना आली नसती कीं, हे एके दिवशीं ह्या सर्वांचा त्याग करून चालते होतील. ते भक्तांना अगदी मोकळ्या मनाने भेटत, त्यांच्याशी ते अगदी एकजीव होत; त्यांचे आलिंगनांत, नृत्यांत, नगरभ्रमणांत, ऐश्वर्यांत, भक्तांच्या बरोबर भोजन करण्यांत, सर्वत्र ओत-प्रोत प्रेमच-प्रेम भरलेले असे.

विष्णुप्रियेसहि असेच वाटे कीं, हे माझेवरच सर्वांपेक्षा अधीक प्रेम करतात, व ते माझे प्रेमपाशांत अगदी बद्ध आहेत. मातेची अशी खात्री होती कीं, निमाई मला सोडून कधीच कोठे जाणार नाही. माझे वाचून तो कधीच कोठे राहणार नाही. असे प्रकारे सर्वजण आपले प्रेम–रज्जूत प्रभु दृढतेने बांधले गेले आहेत असे मानीत. परन्तु ते महापुरुष होते. त्यांना ह्या सर्व लीला होत्या. त्यांचा कोण प्रिय व कोण अप्रिय ? त्यांना तर चराचर विश्वांत प्रेमच भरलेले दिसत होते. प्रेमच त्यांचे आराध्य होते. ते प्रेमरूपच होते. त्यांही एकदम संन्यास ग्रहणाचा निश्चय केला. आज पर्यन्त ज्यास आम्ही आमचा मानीत होतो, तो तर प्राणिमात्राचा ठरला. त्याच्यावर आम्हाप्रमाणे सर्व प्राणिमात्रांचा समानभावनेचा अधिकार आहे. सर्व ह्यांचे द्वारा प्रेमपीयुष पान करून प्रसन्न होऊ शकतात.

महाप्रभुचे संन्यास ग्रहणाचा समाचार सर्व नवद्वीपांत पसरला. पुष्कळ लोक प्रभुचे दर्शनासाठी येऊ लागले. महाप्रभु आता भक्तांच्याबरोबर संकीर्तनांत सम्मिलित होत नसत. भक्तमंडळी आपणच संकीर्तन करीत व दोन्हीवेळीं प्रभुच्या दर्शनास त्यांचे घरीं जात.

ज्या दिवशीं महामहिम श्रीस्वामी केशव भारती प्रभुच्या घरीं आले होते त्याच दिवशीं प्रभुनी संन्यास घेण्याची तिथि निश्चत केली होती. त्या वेळीं दक्षिणायन होते. दक्षिणायनांत शुभ संस्कार व अशाच प्रकारचे वैदिक कृत्य व अनुष्ठान केले जात नाही, म्हणून प्रभु उत्तरायणाची मार्गप्रतिक्षा करीत बसले. समय वितण्यास कांही अवकाश लागत नाही. हळू हळू हा भक्तांना व प्रभुंच्या आप्तस्वकीयांना शोक–सागरांत बुडवून देणारा दिवस जवळ येऊन ठेपला. प्रभुनी नित्यानन्दाना गृह–परित्याग करण्याच्या त्या तिथीची सूचना दिली व बजावले कीं, 'आमची माता' आमचे मावसे चन्द्रशेखर आचार्य, गदाधर, मुकुन्द व ब्रम्हानन्द ह्या

पांचा शिवाय कोणासहि ही गोष्ट सांगू नका.' नित्यानन्द तर प्रभुचे स्वरूपच होते. त्यांनी ह्यांची आज्ञा शिरोधार्य केली, व दुःखाने त्या भाग्यहीन दिवसाची प्रतीक्षा करीत राहिले.

महाप्रभुंचा आजचा दिवसच नवद्वीपांतील अन्तिम दिवस आहे. उद्या हे न तर निमाई पंडित राहतील व न शचीपुत्र. ते एकट्याच विष्णुप्रियाचे पति न राहता प्राणिमात्राचे प्रिय होतील. हे उद्या भक्तांचेच वन्दनीय न राहता जगद्वंदनीय होतील. कोणास कोठे माहीत होते कीं, आता नवद्वीप नदियानागरावाचून शून्य होऊन जाईल ?

प्रातःकाल झाला, प्रभु नित्यकर्मांतून निवृत्त होऊन भक्तांसहीत श्रीवास पंडिताच्या घरीं गेले. तेथे सर्व भक्त एकत्रित झाले. सर्वांनी प्रभुच्या सहीत संकीर्तन केले. नन्तर ही सर्व मंडळी गंगा किनारी गेली व तेथेही पुष्कळ वेळ पावेतो श्रीकृष्ण-कथा-रसास्वादन करीत राहिले. नन्तर हे सर्वांसह आपले घरी आले. कोणास ठाऊक सर्वांच्या मनांत कशी प्रेरणा झाली व सर्वजण त्या रात्रीं प्रभुंचे सर्व अन्तरङ्ग भक्त एकत्रित झाले. खोल (केळीचा आंतील मृदु गाभा) विकणारे श्रीधरांनीही कोठूनसे थोडे पोहे आणून प्रभुंना भेट आर्पण केले. आपले अकिंचन भक्तांकडून अन्तिम समयीं असा अपूर्व उपहार आलेला पाहून प्रभु फार प्रसन्न झाले व हसत म्हणाले-'श्रीधर! हे असे सुन्दर पोहे तुम्ही कोठून आणले?' इतके म्हणून प्रभुंनी ते मातोश्रीस दिले. ह्याच वेळीं एक भक्त दूध घेऊन आला. दूध पाहताच प्रभुंस हसू कोसळले व अत्यन्त प्रसन्नतेने प्रभु सांगू लागले.-'श्रीधर! तुम्ही फार चांगल्या मुहूर्तावर पोहे आणले, हे पाहा! दूध पण आले? असे म्हणून त्यांची खीर करण्यास प्रभुंनी मातोश्रीस सांगीतले. मातेने भोजन तयार केले. प्रभुंनी भक्तांसहीत भोजन केले. तेच त्यांचे शची मातेच्या हातचे शेवटचे भोजन झाले. भोजनोत्तर

सर्व भक्त मंडळी आप-आपले घरीं निघून गेली व प्रभुहि आपले शयन-गृहांत येऊन निजले.

वियोगजन्य दुःखाचे आशंकेने भयभीत हरिणीप्रमाणे भीत-भीत विष्णुप्रिया शयन-गृहांत आली, नेत्रांतून अविरत अश्रु-प्रवाह सुरू होता.

प्रभुनी हसत म्हटले-'प्रिये! तुमचे हसत असलेले मुख-कमळ एकवेळ पाहण्याची माझी इच्छा आहे. तुम्ही एकदा सुप्रसन्नतेने मजकडेस पाहा.'

विष्णुप्रिया अगदी चुप राहिल्या, त्यांनी प्रभुंच्या म्हणण्याचे कांहीच उत्तर दिले नाही. तेव्हा प्रभु आग्रहाने म्हणतात-'विष्णुप्रिये! तुम्ही बोलत कां नाही, काय विचारांत पडला आहात?'

अश्रु पुशीत विष्णुप्रिया म्हणतात-'कोणास ठाऊक, आज माझे अन्तःकरण कां धडधडत आहे, जणु काय ते फाटत आहे. कोण जाणे, काय, आहे ते?'

गोष्ट टाळीत प्रभु म्हणतात-'तुम्ही नेहेमीच विनाकारण विचार करीत बसता, त्याचा हा परिणाम आहे. ठीक आहे, तुम्ही हसा, आता, तुमचा शोक मोह दूर होतो कां नाही, ते पाहा?'

विष्णुप्रियेने कांहीसे रागांत परन्तु प्रेमपूर्ण-स्वरांत म्हटले-'जाऊ द्या ह्या गोष्टी, तुम्ही असेच कांहीतरी बोलून माझी समजूत करण्याचा प्रयत्न करता. अशा वेळीं तर तुमचे सारख्यासच हसू येईल, माझे मन तर दुःखाने रुदन करीत आहे, तेव्हा मी कशी हसणार? हसणे तर आंतील प्रसन्नतेवर अवलंबून असते.'

विष्णुप्रियेस समजून चुकले कीं, पतिदेव आज मला अनाथ करून गृहत्याग करतील, परन्तु ती हे प्रभुच्या सन्मुख उघड बोलली नाही. ती

रात्रभर प्रभुचे पाय चेपीत बसली. प्रभुनीही आज मोठ्या प्रेमाने त्यांना अनेक वेळा गाढालिंगन दिले व सन्तुष्ट व सुखी केले. परन्तु विष्णुप्रियेस आजच्या ह्या अलिंगनच्या योगाने सुख समाधान वाटेना. शूलावर चढविले जाणारास ज्याप्रमाणे नानाप्रकारचे पदार्थ रुचकर वाटत नाही, त्या प्रमाणे विष्णुप्रियेस ते पतिचे अधिक प्रेम अधिक दुःखद वाटू लागले. मातेस तर प्रथम पासूनच माहीत होते कीं, आज निमाई गृह-सोडून जाईल. ती घरांत पडूनच रात्रभर उसासे टाकीत होती. विष्णुप्रिया प्रभुचे चरण धरून रात्रभर जशीच्या तशीच बसली होती.

माघाचा महिना होता, शुक्लपक्षांतील चन्द्रमाचा अस्त झाला होता, दोन घटका रात्र शेष होती. संपूर्ण नवद्वीपांतील नरनारी सुखनिद्रा अनुभवित होते. परन्तु प्रभुंना झोप कोठली? ते तर संन्यास दीक्षेच्या विचारांत क्षुधा, तृष्णा, सुख-निद्रा आदि सर्व विसरले होते. विष्णुप्रिया त्यांचे पाय धरून बसली होती. तिच्यापासून सोडवून प्रभु निसटण्याचा सुअवसर शोधीत होते. भावी-भवितव्यता अति बलवत्तर असते. जे होणार असेल त्या साठी साधनेही तशीच जुळवून येतात. रात्रभर जागत बसलेल्या विष्णुप्रियेस निद्रा आली. ती प्रभुच्या शय्येवरच त्यांचे चरण धरून निजली. जागलेली असल्याने लागलीच तिजला गाढ निद्रा लागली.

प्रभु हाच सुअवसर समजले. हळूच विष्णुप्रियेच्या मांडीवरून आपले चरण उचलून घेतले. पाय उचलताच विष्णुप्रिया कांहीशा हलल्या. त्याच वेळी प्रभुंनी आपला दुसरा पाय विष्णुप्रियेच्या वक्षस्थलावर जसाचे तसाच ठेवला. थोड्या अवकाशाने त्यांही तोही पाय हलकेच उचलून घेतला. ह्या वेळीं विष्णुप्रियेस कांहीच समजले नाही. प्रभु अगदी हलकेच शय्येवरून खाली उतरले. जवळच खुंटीवर असलेली आपली

वस्त्रे परिधान केली व पुन्हा एकदा आपले प्राणप्रियेकडेस दृष्टिपात केला. समोर एक लहान दीपक अंधुक प्रकाश देत होता. जणुकाय तोही प्रभुच्या वियोगजन्य दुःखाने दुःखी होऊन राहिला आहे. दिव्याचा मन्दप्रकाश विष्णुप्रियेच्या मुखावर पडला होता, त्यायोगे त्यांचे मुखाची कान्ति विशेषच शोभायमान दिसत होती, ह्याप्रमाणे गाढ निद्रेत पडलेल्या आपले प्राणप्रियेचे चन्द्रासमान उमलले मुखाकडेस पाहून एकवेळ प्रभु कांहीसे थबकले.

ते विचार करू लागले–'मी ह्या अज्ञान बालिकेवर हा काय अनर्थ गुदरवित आहे! हिला सूचित केल्यावाचून, ती निद्रावशस्थितीत सावधान नसताना मी हिचा सर्वकाल सर्वस्वी त्याग करीत आहे. हे अत्यन्त कठोर व निन्दनीय आहे.' पुन्हा सावधान होऊन प्रभु विचार करतात–'जीवाचे कल्याणासाठी अशी कठोरता मला करणे भागच आहे. ह्या बाजूने कठोर न झाल्यास जगाचे कल्याण कसे होणार? माझे ह्या कार्याने तर लोकास त्याग–वैराग्याचे शासन मिळणार आहे.' ह्या प्रमाणे विचार करून मनाने विष्णुप्रियेस आशिर्वाद देते होत्साते ते शयन-गृहाच्या बाहेर पडले. घराच्या दरवाजांत शचीमाता मूर्छितशा स्थितींत पडून रडत होती. तिला बरे निद्रा कोठली? ती तर पुत्र-विरह-रूपी दुःखसागरांत बुडून गेली होती. प्रभुनी तशा स्थितींत पडलेले मातोश्रीचे चरणांस मनानेच प्रणाम केला. हळूच त्यांची चरण-धूली उचलून स्वताच्या मस्तकावर ठेविली, नन्तर त्यांना प्रदक्षणा केली व मनानेच प्रार्थना केली–'हे माते! तुम्ही माझे साठी अत्यन्त कष्ट सोसले. मला खाऊ, पिऊ घालून, इतके रीतीने शिकवून सवरून, इतका मोठा केले, तरीपण हे माते! मी तुमची कांहीच सेवा करू शकलो नाही. मातोश्री! मी तुमचा जन्म-जन्मांतरीचा ऋणीच राहीन, त्यांतून माझी मुक्तता होणे शक्य

नाही' इतके म्हणून ते झटकन दरवाजाच्या बाहेर पडले व धावतच गंगा किनाऱ्यावर पोचले.

ज्या दिवसांत प्रभुचे अग्रज विश्वरूप घर सोडून गेले, तसेच हेही थंडीचे दिवस होते. तीच वेळ व तोच घाट, त्यावेळी नांवही कोठून मिळणार ? ते पोहूनच गंगापार गेले. प्रभुंनीहि आपले वडील भावाचे अनुकरण करण्याचा निश्चय केला.

घाटावर उभे राहून त्यानी एकदा नवद्वीपाचे मागे वळून शेवटचे दर्शन घेतले. ते हात जोडून सद्गदित कण्ठाने म्हणाले–'हे तारामंडळानी भरलेले रात्रि ! तूं माझे ह्या गूढ त्यागाची साक्षी आहेस. हे दशदिशांनो ! तुम्ही मी घराच्या बाहेर पडत असलेला मला पाहात आहा ! हे धर्मा ! तुम्ही माझी सर्व कृत्ये अवलोकन करीत आहा. मी जीवाच्या कल्याणा-साठी घर–दाराचा त्याग करीत आहे. हे विश्व–ब्रह्माण्डाचे पालनकर्ता ! मी माझे वृद्ध मातेस व युवान् पत्नीस तुमचेच आश्रयावर सोडीत आहे. तुमचे नाव विश्वंभर आहे. तुम्ही सर्व प्राण्यांचे पालन करीत आहा व करालहि, व म्हणुनच मी निश्चिन्त होऊन जात आहे.' असे म्हणून प्रभुंनी पुन्हा एकवेळ नवद्वीपनगरीस व भगवती भागीरथीस प्रणाम केला व गंगेच्या शितल जल–प्रवाहांत ते कुदून पडले व तरून पलिकडील किनाऱ्यास पोचले व तशाच ओल्या वस्त्रांनी ते कटवा (कण्टक-नगर) येथील गंगा-किनाऱ्यावरील केशव भारतीच्या आश्रमांत आले.

ज्या निर्दय घाटाने विश्वरूप व विश्वम्भर ह्या दोघा बन्धुंना पार करून सदा सर्वकाल त्यांची व नवद्वीपांतील नर-नारींची ताटातूट केली, तो अद्यापही 'निर्दयघाट' ह्या नावाने प्रसिद्धी पाऊन आपले लोक–प्रसिद्ध निर्दयतेची साक्ष पटवीत आहे.

# हाहाकार

हा नाथ रमण श्रेष्ठ कासि कासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥

झोपेंत असलेल्या विष्णुप्रियांनी कुस बदलली, त्या एकदम चकीत झाल्या व लागलीच उठून बसल्या. जणुकाय, त्यांचेवर एका मोठ्या मैदानांत वीज कोसळून पडली अथवा झोपेंत त्यांचे सर्वस्व कोणी हरण केले. त्या एकाद्या वेड्याबागड्या, भ्रमिष्टासारख्या, चहुकडे डोळे चोळीत पाहू लागल्या. चांगल्या जागत असता त्यांना स्वप्नाचा भास वाटू लागला. त्या आपले हाताने प्रभुची शय्या धुंडाळू लागल्या, परन्तु तेथे आता होतेच काय? शुकाने तर पिंजऱ्याचा त्याग करून तो वनवासी झाला. आपले प्राणनाथ पलंगावर नाहीत हे पाहताच त्यांही एक जोराने किंकाळी मारली व 'हा नाथ! हा प्राणप्रिय! मला दुःखिताला अशा प्रकारे फसवून आपण चालते झालात!' असे म्हणत म्हणत त्या जमीनीवर धाडकन् पडल्या व लागलीच मूर्च्छित झाल्या. ह्यांच्या आक्रोशाचा ध्वनि शचीमातेच्या कानीं पडला; त्या ह्या क्रन्दनाने भानावर आल्या. तेथे पडल्या पडल्याच त्या म्हणाल्या बेटा! बेटा! खरोखर मी लुटले गेले काय? काय माझा एकुलता एक मुलगा मला दगा देऊन निघून गेला? माझे आता दोन्हीहि नेत्र गेले. मी आता आंधळी झाले. आता ह्या वृद्धावस्थेत माझे सारख्या आंधळीची काय दशा होणार! बेटा! विष्णुप्रिया! बोलत कां नाहीस? खरोखरच निमाई निघून गेला? विष्णुप्रियेस भान नव्हते. त्यांच्या तोंडून अक्षरच निघत नव्हते. त्यांना सासुचे बोलणे ऐकूच आले नाही त्यांचे नेत्रांतून सारखा आश्रुप्रवाह सुरू होता. ती दुःखी माता उठली व तशीच

लथडत लथडत प्रभुच्या निजण्याच्या खोलींत आली. तेथे त्यांना प्रभुचा पलंग सूना दिसला. विष्णुप्रिया खाली पडून रडत होती. मातेस कांही सूचेना, त्याही जोराने रडू लागल्या. 'बेटा निमाई! तूं कोठे गेलास? आपले वृद्ध मातेस अशा प्रकारे दगा देऊ नकोस. बेटा! तूं कोठे लपून बसला आहेस कां? मला तुझे तोंड तर दाखीव. बेटा! तूं रोज प्रातःकाळीं उठताच मला प्रणाम करीत होतास ना? आज मी केव्हा पासून तुझी वाट पाहात उभी आहे, तूं उठून येऊन मला नमस्कार कां करीत नाहीस?' इतके म्हणून मातेने दिवा हातांत घेतला व ती घराचे चारी कोपरे पाहू लागली. तिला वाटले, माझा निमाई येथेच कोठे लपून बसला असेल. मातेने पलंगाच्या खाली शोधले, बिछाना वारंवार चाचपून पाहिला. इतक्यांत त्या वृद्ध मातेच्या कांपणाऱ्या हातांतून दिवा खाली पडला व त्याही विष्णुप्रियेच्या जवळ भानरहित होऊन पडल्या. पुन्हा उठून चालू लागल्या व म्हणतात–'मी तर जेथे माझा निमाई असेल, तेथेच जाईन. मी माझे निमाईस धुंडाळीन, तो सांपडल्यास त्याचे बरोबरच राहीन, नाही तर, गंगेंत उडी टाकून जीव देईन.' असे म्हणून त्या दरवाजाकडेस जाऊ लागल्या. विष्णुप्रियाहि कांहींशा भानावर आल्या व त्याही त्या वृद्धेचा पदर धरून त्यांच्या मागून जाऊ लागल्या. जणु काय, गाईच्या मागून तिचा वत्स जात आहे. वृद्धमाता दारापावेतों पोचली नाही तोच, त्यांना मूर्छा आली व त्या जमीनीवर पडल्या.

इतक्यांत कांहीं भक्त प्रातःस्नान करून प्रभुच्या दर्शनास आले. दाराच्याजवळच मातोश्री मूर्छित पडलेल्या पाहताच, त्यांना कळून चुकले कीं, प्रभु आज निघून गेले. इतक्यांत नित्यानन्द, गदाधर, मुकुन्द, चन्द्रशेखर व श्रीनिवास आदि सर्व भक्त तेथे आले. माता व विष्णुप्रियाना ह्या प्रमाणे शोक करताना पाहून ते त्यांना नानाप्रकारे आश्वासन देऊ लागले.

श्रीवासाने मातेस म्हटले–'माता! तुम्ही शोक करू नका. तुमचा निमाई तुम्हास अवश्यमेव भेटेल. तुमचा पुत्र इतका कठोर नाही.'

माता संज्ञाशून्य अवस्थेत पडली होती. नित्यानन्दानी मातेस आपले हाताने उठविले. त्यांच्या सर्व शरीरास लागलेली धूळ त्यांही आपले वस्त्राने पुसून टाकली व त्यांना धैर्य देत ते म्हणाले–'मातोश्री! तुम्ही इतका शोक करू नका. आमचे अन्तःकरण फाटत आहे. मी तुमचा दुसरा पुत्रच आहे. मी तुम्हास शपथपूर्वक सांगतो कीं, तुमचा निमाई जेथे असेल तेथून त्यास आणून आम्ही तुम्हास भेटवू, हे आम्ही आताच निघालो.' नित्यानन्दाचे म्हणणे ऐकून मातेने कांहीसे धैर्य धरले. त्यांनी रडत रडतच म्हटले–'बेटा! मी निमाईवाचून जिवन्त राहू शकणार नाही. तू कोठूनही त्यास शोधून घेऊन ये. नाहीतर विष पिऊन वा गंगेत उडी घेऊन माझे प्राणाचा मी त्याग करीन.'

नित्यानन्दानी म्हटले–'तुमचे ह्या प्रकारचे रुदन ऐकून आमचे अन्तःकरण विदीर्ण होत आहे. तुम्ही धैर्य धरा आम्ही आता येतो.'

असे म्हणून नित्यानन्दांनी श्रीवासास मातोश्री व विष्णुप्रिया ह्यांचे देखरेखेसाठी तेथेच ठेविले. त्यांना माहीत होते कीं, प्रभु कटवा येथील स्वामी केशव भारती ह्यांचेकडून संन्यास दीक्षा घेण्याचे म्हणत होते. अतः नित्यानन्दानी आपले बरोबर वक्रेश्वर, गदाधर, मुकुन्द व चन्द्रशेखर आचार्य ह्यांना घेऊन, ते गंगापार होऊन कटवा येथे जाण्यास निघाले.

# गौरहरिचा संन्यासासाठी आग्रह

कुलंच मानंच मनोरमांश्च
दारांश्च भक्तान् रुदतींच मातरम् ।
त्यक्त्वा गतः प्रेमप्रकाशनार्थं
स मे सदा गौरहरिः प्रसदितु ॥

गंगा उतरून प्रभु मत्तगजाप्रमाणे द्रुतगतीने महामहिम केशव भारतीच्या कुटीकडेस जाण्यासाठी कटवा गावाचे रस्त्यास लागले. कटवा वा कण्टक नगर गंगेच्या पलीकडील किनारी एक छोटेसे गांव होते. गांवापासून थोडे अन्तरावर श्रीगंगाजीच्या अगदी किनाऱ्यावर एक फार भारी वटवृक्ष होता. ह्याच वृक्षाच्या छायेंत एक झोपडी करून संन्यासीप्रवर केशव भारती निवास करीत असत. भारती महाराज विरक्त व भगवत्भक्त होते. गांवांतील सर्व लोक ह्यांचा फार आदर करीत होते. ह्यांच्या कुटीच्या खालच्या बाजुसच एक गंगेचा सुन्दर घाट होता. ग्राम-निवासी ह्याच घाटावर स्नानास व जल घेऊन जाण्यासाठी येत. भारतींच्या झोपडीच्या चहूबाजूस आम्रवृक्षाचा बगीचा होता.

भारती महाराज आपले आश्रमापुढील स्वच्छ ओट्यावर उन्हात आसन टाकून बसले होते. चहूबाजूंनी आंब्याच्या मोहोराचा सुगन्ध दरवळलेला होता. दुरूनच ह्यांनी प्रभु आपले आश्रमाकडेस येत असलेले पाहिले. त्यांची ती उन्मत्त चाल पाहताच हे विस्मितच झाले व विचार करतात–'अद्भुत रूपलावण्ययुक्त युवक कोण आहे? ह्याच्या मुख-मण्डलावर दिव्यप्रकाश आलोकित होऊन राहिला आहे. असे वाटते, साक्षात् देवेन्द्र युवक–रूपाने माझे आश्रमाकडेस येत आहे, वा अश्विनी-

कुमारापैकी हा एक आपले दुसरे बन्धुस शोधण्यासाठी येथे येत आहे? अथवा हे श्रीमन्नारायण मला आपले दर्शनाने कृतार्थ करण्यासाठी इकडेस येत आहेत?' भारती ह्या प्रमाणे विचार करीत आहेत तोच, प्रभुंनी ओले वस्त्रांनीच भारतीच्या चरणीं साष्टांग प्रणिपात केला. भारती सम्भ्रमाने 'नारायण, नारायण' म्हणाले.

बराच वेळ पावेतो प्रभु तसेच पडून राहिले. प्रेमाने त्यांचे सर्व शरीर रोमांचित झाले होते. नेत्रांतून अश्रु-धारा सुरू होत्या, लांबलांब श्वास सोडीत प्रभु जोराने श्वास घेत होते. भारतीनी त्यांना उठवित म्हटले- 'भाई, तुम्ही कोण आहा? कोठून आलात? इतके व्याकुळ कां झालेले आहात? काय दुःख आहे सांगा?'

भारतीचे प्रश्न ऐकून प्रभु उठून बसले व हळू हळू सांगू लागले- 'भगवान्! आपण मला ओळखले नाही? माझे नांव निमाई पंडित. मी नवद्वीपांत राहातो. आपण एकवेळ नवद्वीपास येऊन, माझे येथे भिक्षा करून मला पावन केले होते. मी प्रार्थना केल्यावर मला संन्यास दीक्षा देण्याचेही वचन आपण दिले होते, आता मी त्यासाटीच आपणास शरण आलो आहे. मला संसार दुःखांतून मुक्त करा. माझे संसारी-बन्धन छिन्न-भिन्न करून मला संन्यासी करा, हीच माझी आपले चरणांजवळ सविनय प्रार्थना आहे.'

भारतीना मागल्या गोष्टीचे स्मरण झाले. निमाईचे नांव ऐकताच त्यांही त्याना आलिंगन दिले व ते मनांत विचार करू लागले-'अरेरे! ह्यांचे सुवर्ण समान कान्तियुक्त शरीर, किती अलौकिक रूप-लावण्य, प्रभुच्या ठायी किती प्रगाढ प्रेम व किती भारी विद्वत्ता आहे, असे असताही हे माझे जवळ संन्यासदीक्षा घेण्यासाठी आलेले आहेत! ह्यांना मी संन्यास दीक्षा कशी देऊ? घरांत निराधार वृद्ध माता, तिचे

हेच एकमात्र सन्तान, परम रूपवती युवती स्त्री, अद्याप तिला सन्तानही झालेले नाही, कीं, ज्या योगे वंश कायम राहील. ह्या अशा स्थितींत मी ह्यांना संन्यास दीक्षा दिली तर मी पापाचा भागी तर होणार नाही?' ह्या प्रमाणे भारतींच्या मनांत विचार आले व ते प्रभुस म्हणू लागले, 'निमाई पंडित! तुम्ही स्वयं बुद्धिवान् आहात, शास्त्राचे मर्म तुम्हास अविदित नाही. युवावस्थेंत विषय-भोगापासून वास्तविक उपरति होत नाही, म्हणून ह्या आवस्थेंत संन्यास-ग्रहण निषिद्ध आहे. पन्नाशी नन्तर विषय-भोग-विराग उत्पन्न झाल्यावर संन्यासाचे विधान आहे. अतः अद्याप तुमची संन्यास ग्रहणाची अवस्था झालेली नाही. अद्याप तुम्ही घरांत राहुनच भगवत् भजन करा. काय घरांत राहुन भगवत भजन होऊ शकत नाही? आम्हास तर असे वाटते कीं, दारोदारी भिक्षा मागण्यापेक्षा घरांत राहुनच भगवत्-भजन चांगले होऊ शकते. पोट तर कोणत्याही स्थितींत भरावेच लागणार. राहण्याचेही स्थान कोठे तरी शोधावेच लागणार. तेव्हा आहे हे घर कां त्यागावे. दहावीस घरीं भिक्षा न मागता एकाच घरीं भिक्षा केली. तेव्हा आमच्या मताप्रमाणे तुम्ही घरीं परत जावे हे ठीक.'

अत्यन्त दीनवाणीने प्रभु म्हणतात-'भगवन्! आपण प्रत्यक्ष ईश्वर आहात, आपण शरीरधारी नारायणच आहात. ह्या संसार गर्तेत फसलेल्या जीवाचा उद्धार करा. मला अशा रीतीने परावृत्त करू नका. आपण मला वचन देऊन चुकला आहात, ते आता पुरे करा. मनुष्याचे आयुष्य क्षणभंगुर आहे. पन्नास वर्षे कोणी पाहिली आहेत? आपण सर्व समर्थ आहा, मला संसार-बन्धांतून मुक्त करावे.'

भारती प्रभुना कांही उत्तर देऊ शकले नाहींत. थोडावेळ ते अगदी गुप बसले. इतक्यांत नित्यानन्दहि चन्द्रशेखर आचार्य आदि भक्तासह

तेथे येऊन पोंचले. त्याही एकीकडे गुडघ्यात डोके घालून प्रभु एका बाजूस बसलेले पाहिले. प्रभुना पाहताच सर्व अगदी आतुरसे झाले. त्याही भारतीना नन्तर प्रणिपात केला व तेही एका बाजूस बसले. श्रीपाद नित्यानन्दांना पाहून प्रभु म्हणाले–'श्रीपाद! बरे झाले, तुम्ही अगदी वेळेवर आलात. झाले, आचार्यावाचून हे संस्कार कार्य कोण करविणार ? आपले येण्याने हे सर्व यथास्थित होईल.' नित्यानन्दानी प्रभुना कांही उत्तर दिले नाही व तेहि एकाबाजूस खाली दृष्टि करून बसले.

इतक्यांत गावांतील दहापांच मंडळी भारतीच्या आश्रमांत आली. त्यांनी पाहिले कीं, एक देव–तुल्य अत्यन्त सुकुमार युवक संन्यास ग्रहण करण्यासाठी बसलेला असून त्याचे आसपास कांही सद्गृहस्थ बसलेले आहेत. ही सर्व मंडळी शोकाकुळ स्थितींत आहे असे त्यांना दिसून आले. भारतीहि दुःखीत अन्तःकरणाने विचारांत पडलेले दिसले. महाप्रभुचे ते अद्भुत–लावण्य पाहून ग्रामवासी अगदी विस्मय चकित झाले. त्याही मानवांत इतके अलौकिक व इतके भारी तेज अद्याप पर्यंत कधीहि पाहिले नव्हते. थोडेच वेळांत ही वार्ता चहूकडेस पसरली व कटवांतीलच नाही पण आसपासच्या गांवांतील स्त्रीपुरुषहि ह्यांचे दर्शनासाठी येऊ लागले.

प्रभु एकाबाजूस अगदी गुपचुप बसलेले होते. त्यांचे कृष्णवर्ण व कुरूळे केश इकडे तिकडे विखुरलेले होते, त्याकारणाने त्यामुखास विशेषच शोभा आली होती. प्रभुचे दोन्ही नेत्र वर चढलेले होते. शरीरावरील ओले वस्त्र शरीरावरच सुकून गेले होते. नेत्रांच्या कोरांतून अश्रु वाहात होते. मागेच नित्यानन्द आदि भक्त बसलेले असून त्यांच्याहि नेत्रांतून अश्रु प्रवाह सुरू होता.

नगरवासी स्त्रियांनी ह्यांचे रूपलावण्य पाहताच त्या अगदी विस्मित होऊन आप–आपसांत बोलू लागल्या–'अरेरे ! मातोश्री कशा जिवन्त

राहतील ? जिचा असा हा सुन्दर व सुशील एकुलता एक पुत्र घरांतून संन्यास घेण्यासाठी निघून आला, तिचे प्राणधारणच कसे होणार ! आम्ही अपरिचित असताही आमचे अन्तःकरण अगदी तुटत आहे, तेव्हा ज्यांनी ह्यांना नऊ महिने गर्भांत धारण केले, त्यांच्या वेदनांचे अनुमानहि करवत नाही. धिक्कार आहे त्या विधात्यास, कीं, ज्याने ह्यांची अशी घटना लिहिली ! हाय ! हाय ! ह्यांचे युवति स्त्रीची काय दशा झाली असेल ! '

त्या स्त्रियांच्या अशा गोष्टी ऐकून प्रभु अत्यन्त लीनतेने त्यांना म्हणाले–' मातोश्री ! तुम्ही मला असा आशीर्वाद द्या कीं, मला श्रीकृष्णपदाची प्राप्ति होईल. हे मनुष्य जीवन क्षणभंगुर आहे, त्यांतही श्रीकृष्ण-भक्ति तर अत्यन्त दुर्लभ आहे. त्याहीपेक्षा दुर्लभ महात्मा व सत्पुरूष संगती आहे. महापुरुषाच्या संगतीनेच जीवन सफल होते. मी संन्यास ग्रहण करून आपले प्रिय श्रीकृष्णास वृन्दावनांत भेटू शकेन असा आशीर्वाद द्या. '

ह्या प्रमाणे सर्वजण बसून राहण्यांत संध्याकाळ झाली. कोणाच्याहि मुखांत अन्नाचा कणहि गेला नव्हता. भारतीहि गुपचुप बसले होते. कोणत्या रीतीने निषेध करून ह्यांना परत पाठवावे ह्याचा ते विचार करीत होते. पुष्कळ विचार केल्यावर त्यांना एक गोष्ट सुचली. त्यांना वाटले–' ह्यांचे घरांत ह्याची एकटीच वृद्ध मातोश्री आहे, व युवती स्त्री आहे. खात्रीने हे त्यांना विचारल्या वाचूनच येथे निघून आलेले आहेत. तेव्हा मी ह्यांना स्पष्ट सांगतो कीं, जो पावेतो, तुम्ही तुमचे घरांतील मंडळींची अनुमति घेऊन येणार नाही, तो पावेतो मी आपणास संन्यास दीक्षा देणार नाही. ह्यांची माता व स्त्री ह्यांना सम्मति देणारच कशी ? सम्भव आहे, ह्यांचे फारच आग्रहाने त्यांही संमति दिलीच तर, हे घरा

जाऊन संमति घेऊन येतात तो पावेतो येथून मी अन्यत्र निघून जाईन. ह्या अशा युवकास संन्यास देऊन कोण संन्यासी अपकीर्तीचा भाजन होण्यास तयार होईल?' ह्या प्रमाणे विचार करून भारती म्हणतात– 'पंडित! असे दिसते कीं, आपण आपले मातोश्री व स्त्रीची संमति घेतल्या वाचूनच येथे पळून आलेले आहा, तेव्हा त्यांची आज्ञा घेऊन येणार नाही तो पावेतो, मी आपणास संन्यास दीक्षा देणार नाही.

प्रभुने म्हटले–'भगवान्! मी माता तथा स्त्री ह्याची सम्मति घेऊन चुकलो आहे.'

भारती कांहीसे विस्मयाने म्हणाले–'केव्हा मिळविली आहे?'

प्रभुने सांगितले–'पुष्कळ दिवसांपूर्वीच मी ह्यांना नीट सर्व गोष्टी समजावून त्या राजी झाल्यावरच मी त्यांची सम्मति घेतली व नन्तरच मी संन्यास घेण्यास तयार झालो आहे.'

भारतीनी सांगितले–'असे नाही चालणार, पुष्कळ दिवसांच्या गोष्टी विसरल्याहि गेल्या. आज तर तुम्ही त्यांची अनुमति घेतल्या वाचूनच आलेले आहात, त्यांच्या सम्मति वाचून मी तुम्हास केव्हाहि संन्यास देणार नाही.'

इतके ऐकताच प्रभु एकदम उठून उभे झाले व म्हणाले–'बरे आहे, ही पाहा मी त्यांची संमति घेऊन येतो,' व लागलीच ते नवद्वीपाकडेस धावत सुटले. आश्रमापासून बरेच दूर गेल्यावर, भारतीच्या मनांत पुन्हा विचार आला कीं,–'ह्यांचे इच्छे विरुद्ध जाण्याची कोणाची छाती आहे! हे निर्दय काम मजकडूनच करवावे असेच ह्यांचे मनांत असल्यास, व ह्यांचे लोक-विख्यात गुरु–पद मलाच प्रदान करण्याचीच ह्यांची इच्छा असेल तर, माझे वाटेल तितक्या आढेवेढे घेण्याने ते थोडेच टळणार आहे? मला ते करावेच लागणार आहे; ठीक आहे, जशी ईश्वरी इच्छा!' हा

विचार करून त्यांनी प्रभुना आवाज दिला–'पंडित! पंडित! परत फिरा तुम्ही सांगाल त्याप्रमाणे करू, तुम्हास ना म्हणण्याचे कोणांत सामर्थ्य आहे!'

इतके ऐकताच प्रभु तात्काळ परत आले व त्यांनी भारतीस साष्टांग प्रणाम केला, व मुकुन्दास कांही पद गाण्यास सांगीतले. मुकुन्दहि अश्रु ढाळीत करुणभावाने पद गाऊ लागले. मुकुन्दाचे पद ऐकून प्रभु अगदी प्रेम-भावांत तल्लीन झाले. ह्या नन्तर संकीर्तनास सुरूवात झाली. गावांतील मंडळीहि ह्यांत सम्मिलित झाली व वाद्यासहीत—

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

ह्या पदाचे कीर्तन--भजन सुरू झाले. प्रभुहि हात उंच करून नृत्य करू लागले. प्रभुच्या नृत्याने सर्व ग्रामवासी प्रेक्षक मन्त्र–मुग्धाप्रमाणे स्तब्ध झाले. भारतींच्या शरीरांत सर्व सात्विक--भावांचा उदय होऊन तेहि आत्म-विस्मृत होऊन वेड्यासारखे संकीर्तनांत नाचू लागले. ह्या प्रमाणे ती सर्व रात्र कथा-कीर्तन व भगवत चर्चेत व्यतीत झाली.

# संन्यास-दीक्षा

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥

वैराग्यांत किती मौज आहे, हे तेच पुरुष जाणू शकतात कीं, ज्यांचे हृदयात प्रभूच्या पादपद्मांच्या ठिकाणी प्रीति उत्पन्न झाली आहे, ज्यास संसारी विषय चाखण्यास दवडतात, तेच वैराग्यांत महान् सुख अनुभवितात. ज्याची इंद्रिये सदैव विषय-भोगांचीच इच्छा करीतात, ज्याचे मन नेहमी संसारी पदार्थांचेच चिन्तन करीते, तो, बरे, वैराग्यांत काय सुख आहे, हे समजूच कसे शकणार? मन जेव्हा संसारी भोगापासून विरक्त होऊन महान् त्यागासाठी सारखे तळमळत असते, ज्याचे वैराग्य पाण्याचे बुडबुड्या प्रमाणे क्षणिक नसून स्थायी आहे, तोच त्यागाचे सुखाचा खरा अनुभव घेण्यास सर्वोत्तम अधिकारी समजावा. जो कांही आवेशांत येऊन वैराग्य-पथाचे अनुसरण करू लागतो, त्याचे शेवटी यतनच होते. यासाठीच म्हटले कीं, 'त्याग वैराग्याचून टिकत नाही. जो वैराग्य-राग-रसिक झाला नाही, तो भगवत्-राग-रसाचा पूर्ण रसिक भक्तिनिष्ठ भागवत होऊच शकत नाही. अन्तःकरणांत त्यागासाठी इतकी व्याकुलता उत्पन्न झाली पाहिजे कीं, ज्या प्रमाणे जलांत बराच वेळ पावेतो बुडी मारून बसल्यावर प्राण श्वास घेण्यासाठी व्याकुळ होऊ लागतात.

महाप्रभुंना संन्यास-दीक्षा देण्यास भारती महाराज तयार झाल्याकारणाने, प्रभुंना अत्यन्त आनन्द झाला. ते रात्रभर प्रेमावेशांत येऊन

संकीर्तन करीत होते, व मधून मधून उठून नृत्यहि करीत होते. त्यांना त्या रात्रीं क्षणभरहि निद्रा आली नाही. एकादा अनुरागी युवक नवागत वधूस भेटण्यासाठी रात्र होण्याची मार्ग प्रतिक्षा अतुरतेने करीत असतो, त्या प्रमाणे महाप्रभु संन्यास-धर्माची दीक्षा घेण्यासाठी ही रात्र केव्हा संपते व केव्हा प्रातःकाल होतो, ह्याची प्रतीक्षा करीत होते. रात्रभरच्या संकीर्तनाने प्रभुचे नेत्र आपोआपच मिटू लागले. तोंच आम्रवृक्षांच्या खांद्यावर बसून पक्ष्यांनी आपले कोमल कण्ठाने नाना प्रकारचे गायन सुरू केले. जणु काय, प्रभुंच्या संन्यास-दीक्षेच्या उपलक्ष्यांत प्रथम-पासूनच त्यांही मंगलाचरणास प्रारंभ केला.

पक्षांचा कलरव ऐकून प्रभुंची तन्द्रा दूर झाली व ते आसनावर उठून बसले. जवळच पडलेल्या आचार्यरत्न, नित्यानन्द आदिना त्याही जागे केले. नित्यकृत्यांतून निवृत्त झाल्यावर, आपले सर्व साथीदारांसह गंगास्नानास जाण्यासाठी आपले भावी गुरू-देवांना वन्दन केले व अत्यन्त नम्रतेने दोन्ही हाताची अंजली करून त्याही त्यांना निवेदन केले-'भगवन्! मी उपस्थित आहे, आपण आज्ञा द्या कीं, मी आता काय काय केले पाहिजे.'

कांहीसे विवशतेनेच भारती म्हणाले-'आता संन्यास-दीक्षेसाठी जी जी सामग्री पाहिजे, ती एकत्रित केली पाहिजे. ती व्यवस्था मी आताच करतो' असे म्हणून एक मनुष्य त्यांही लागलीच त्यासाठी कटव्यास पाठविला.

कालपावेतो कंटक-नगरांतील स्त्री-पुरुषांची अशीच कल्पना होती कीं, भारती त्या युवकास संन्यास देण्यास सहमत न होता, त्यास आपले घरीं परत पाठवितील, परन्तु आज प्रातःकालींच त्यांना समजले कीं, त्या युवकास संन्यास-दीक्षा देण्यास भारती राजी झाले व आजच त्यास

शिखा-सूत्र रहीत करून घरोघरीं भिक्षा मागणारा, गृह-त्यागी, वितरागी बनवितील, हे ऐकून, तर त्यांचे दुःखाचा ठिकाणाच राहिला नाही. कोणास ठाऊक त्या ग्रामवासी जनांचे प्रभुंच्या ठायीं दर्शनमात्रेकरूनच इतके प्रेम कां जडले होते. थोडेच वेळांत पुष्कळ स्त्रीपुरुष आश्रमांत एकत्रित झाले व स्त्रिया एका बाजूस उभ्या राहून अश्रुपात करीत होत्या व पुरुष आपसांत हळूहळू गोष्टी करीत होते.

कोणी म्हणत-'अहो, ह्या युवकासच हरप्रयत्नाने समजावून त्यास त्याचे मातेच्या समीप पोचविले पाहिजे.' त्यावर दुसरा म्हणतो-'अहो, तो समजेल तेव्हा ना. त्याचे आप्त-स्वकीय त्यास समजावू शकले नाहीत, तेव्हा तुम्ही आम्ही काय करू शकणार आहोत?'

इतक्यांत एक म्हातारेबुवा बोलले-'अरे, आपण इतके सर्वजण आहोत, संन्यासच देऊ देणार नाही, म्हणजे सर्वच आटोपले.'

ह्याजवर एक विचारवान् म्हणाला-'आहो बुवा! हे कसे होणार? आम्ही अशा शुभकार्यात जबरदस्ती कशी करणार? अशा पुण्य-कार्यात आपण कांही साह्यता न करू शकलो तर निदान विघ्न तरी करू नये. आपण तोंडाने समजावण्याचा प्रयत्न करा, जबरदस्ती करणे आपला धर्म नाही.'

ह्यावर एक उद्धत स्वभावाचा युवक जोराने खवळून म्हणाला-'अहो, धर्म गेला केरांत. अशा धर्मास तर तेल टाकून आग लावून दिली पाहिजे. आले आहेत, मोठे धर्मात्मा! जर असेच आहे तर, तुम्हीच कां संन्यास घेत नाही? कां दिवसभर हे आण, ते आण, हे उचल, ते पलीकडे ठेव करीत असता?' इतके बोलून तो लोकांकडे पाहात तितकेच आवेशाने म्हणू लागला-'पाहा, भाई, ह्यांना वाटेल ते बडबडू द्या, ह्यांची बुद्धि साठी झाली आहे. विचार करा, ज्याचे घरांत युवति स्त्री

आहे, वृद्ध विधवा मातेस दुसरे सन्तान नाही, असे चोवीस वर्षांचे युवानास भिकारी करणे कोणते धर्म-शास्त्रांत लिहिले आहे. आणि एकादे ठिकाणीं लिहिलेहि असेल तर असे धर्म-शास्त्रास मी दुरूनच दण्डवत करतो. असे शास्त्र ह्या बाबांनाच लखलाभ होवो. ह्यांनी आपले वडील मुलास संन्यास द्यावा, वा आपण स्वताच तो घ्यावा. आम्ही आमचे देखत तर या युवकास संन्यास-दीक्षा नाही देऊ देणार. भारती महाराज, सरळरीतीने ऐकतील तर ठीकच, नाहीतर मी ह्यांची मानगुटी धरून ह्यांना ह्या गांवाबाहेर हाकून देईन. आपण ह्या युवकास नावेंत बसवून त्याचे घरीं पोचवा, भारतीचे मन वळविण्याचे आम्ही आमचे शिरावर घेतो.'

त्या युवकाच्या अशा आवेशयुक्त गोष्टी ऐकून ऐकणाराना पुष्कळसा जोर चढला, व ठीक आहे, ठीक आहे, असेच केले पाहिजे, असे म्हणून त्याचे समर्थन करू लागले. ह्यावर तोच विचारी वृद्ध म्हणतो-- 'बाबांनो! धर्माने आम्ही न आचरण करू शकलो तर काय, आम्ही दुसरे तसे आचरण करीत असल्यास ते पाहूहि शकत नाही? ह्या सर्व आवेशाच्या बाता मात्र आहेत. आम्ही इतके करू शकू कीं, भारतींना समजावून त्या युवकास संन्यास देण्याचे थांबवू.' त्या वृद्धाची ही गोष्ट सर्वांना पसंत झाली व सर्वजण भारती महाराजांच्या समीप जाऊन त्याना प्रणाम करून बसले. दुसरे बाजुस महाप्रभु नतमस्तक बसले असून त्यांच्याच जवळ आचार्य चन्द्रशेखर व नित्यानन्द आदि एका जुन्या फाटक्या चटईवर बसले होते. त्याच वृद्धाने हात जोडून म्हटले-' महाराज! आपणास कांही निवेदन करण्याची आमची इच्छा आहे.'

भारतींनी तात्काल आनन्दाने त्यांना उत्तर दिले-' हो, हो, अवश्य सांगा. जे सांगावयाचे असेल ते, अगदी निस्संकोचपणाने सांगा.'

वृद्धाने म्हटले-' महाराज! आपण सर्व कांही जाणतच आहा,

आम्हास ह्या ब्राह्मणकुमारावद्दल फार दया देते. ह्यांचे घरांत वृद्ध माता, युवती स्त्री, याप्रमाणे असून त्यांना निर्वाहाचे कांहीच साधन नाही. स्त्रीस संतति झालेली नाही. हे आवेशांत येऊन संन्यास-दीक्षा घेण्यास तयार झाले आहे, या योगाने आम्हा सर्वांना फार वाईट वाटत आहे. या सर्व गोष्टी आम्ही ह्यांचे आप्त-स्वकीयांच्या मुखानेहि ऐकल्या आहेत. आपणासहि ह्या गोष्टी विदित नसतील असे होणार नाही, तेव्हा आमची अशी प्रार्थना आहे कीं, त्याने कितीहि आग्रह केला तरी आपण ह्यांना संन्यास-दीक्षा देऊ नये.'

ह्याप्रमाणे ह्या मंडळींचे म्हणणे ऐकल्यावर भारती अती दुःखित व विवश होऊन म्हणतात-'बान्धव हो! तुम्ही ज्या गोष्टी आता सांगितल्या त्या सर्व मला प्रथम पासूनच विदित आहेत. मी स्वतः ह्यांना संन्यास देण्याचे पक्षांत नाही, व मी मोठ्या प्रसन्नतेने ह्यांना संन्यास देण्यास तयार झालेलो नाही. एकतर ह्यांची इच्छा अवमानण्याचे माझ्यांत सामर्थ्य नाही. दुसरे धर्म-तत्व ह्यांना कोण समजाऊ शकणार! हे फार मोठे पंडित आहेत. जर कोणी एकादा मूर्ख असता तर तुम्ही असेहि म्हटले असते कीं, त्यास कोणी बहकाविले असेल. ह्यांना धर्मतत्व उत्तम प्रकारे विदित आहे. गृहस्थपणांत राहून, वर्णाश्रम धर्माचे पालन करून, वेदांत सांगितलेले कर्माचे द्वारा आपले धर्माचे आचरण हे करतात, परन्तु आता तर हे महान् त्यागास तयार झाले आहेत. तेव्हा ह्यांना सांगणे माझे शक्तिच्या बाहेर आहे. आपण स्वताच ह्यांना पाहिजे तर सागून पाहा. आपले सांगण्याने हे घरीं परत जाण्यास तयार झाल्यास मलाहि त्यांत आनन्दच होणार आहे. मी होऊन ह्यांना दीक्षा देण्यास सिद्ध झालो आहे, असे आपणास वाटत असल्यास ते आपण आपले अन्तःकरणांतून काढून टाका. हे पाहा! ह्यांचे समोर हे आचार्य बसले आहेत,

ते ह्यांचे प्रत्यक्ष मावशे आहेत, तेहि ह्यांना समजाविण्यास समर्थ होऊ शकले नाहीत, उलट ह्यांचे आज्ञेनुसार ह्यांना संन्यास--दीक्षा देण्याचे कर्म चालविण्यास हे स्वतः तयार झाले आहेत, तेव्हा तुमची माझी तर गोष्टच कशाला?'

भारतींच्या ह्या प्रमाणे युक्ति--युक्त गोष्टी ऐकून सर्वजण प्रभुंच्या तोंडाकडेस आतुरतेने पाहू लागले. कांहींच्या नेत्रांतून तर अश्रु--प्रवाह सुरू होता. आपणांसाठी ही ग्राम-वासी मंडळी इतकी दुःखित होत असलेली पाहून महाप्रभु अत्यन्त नम्रपणाने म्हणाले--'बान्धव हो! आपण माझे आत्मीय आहा, सखे आहा, आपले मजवर इतके विशेष प्रेम असलेले पाहून माझे अन्तःकरण अगदी भरून आले आहे. आपण जे सांगता ते सर्व मला स्वताला समजते आहे; परन्तु, बान्धव हो! माझा उपाय नाही, मी माझे स्वाधीन नाही. श्रीकृष्ण मला पकडून घेऊन आले आहेत. आपण सर्व बांधवांनी मला असा आशीर्वाद द्या कीं, मी माझे प्यारे श्रीकृष्णास भेटू शकेन. मी वृन्दावनांत जाईन, वृजांत घरोघरीं भिक्षा मागून उदर भरीन, वृन्दावनाचे बाहेर कदम्ब--वृक्षातळीं पडून राहीन, यमुनेचे श्याम-सुन्दर जलपान करीन व श्रीकृष्णनाम संकीर्तन अहर्निष करीत राहीन. जो पावेतो माझे प्यारे श्रीकृष्ण मला भेटणार नाहीत, तो-पावेतो मी सुखी होणार नाही, मला शान्ति लाभणार नाही, श्रीकृष्ण-विरहाने माझे हृदय जळत आहे, ते श्रीकृष्णाचे सुन्दर सुशीतल-सम्मेल-नानेच शान्त होणार आहे. आपण सर्व मिळून अनाःकरण पूर्वक एक-वेळ तसा आशीर्वाद द्या'. ह्याप्रमाणे बोलता बोलता प्रभुंनी जोरजोराने भगवन्नाम उच्चारण करीत अत्यन्त करुण स्वराने क्रन्दन सुरू केले. सर्व मंडळी मन्त्र-मुग्धसे झाले व पुढे कांही बोलण्याचे कोणाचेच साहस झाले नाही.

जेव्हा सर्वांनी पाहिले की, प्रभु संन्यास घेतल्यावाचून राहणार नाही, तेव्हा सर्वांनी त्यांचे त्या शुभ कार्यात सहायता करण्याचा निश्चय केला. भारतीना विचारून कोणी आसपासच्या संन्याशांना बोलावण्यास गेले. कोणी पूजा साहित्य आणण्यास दवडले, कोणी केळी व आम्रपल्लव आणले, कोणी दूधच घेऊन आला, तर कोणी पुष्कळशी मेवामिठाई घेऊन आला. ह्याप्रमाणे बोलता बोलता भारतींचा आश्रम पूजा-साहित्याने व मेवा-मिठाई आदिने अगदी भरून गेला. ज्याचे घरांत जे कांही होते ते तो घेऊन आश्रमांत पोचला. एकीकडेस भण्डाऱ्यासाठी, स्वयंपाकाची व पक्काने पाडण्याची तयारी होत होती, व दुसरीकडे संन्यास-दीक्षे निमित्त वेदि आदिची तयारी होऊ लागली.

आश्रमाच्या समोरच आम्रवृक्षांच्या बगीच्यांत हवनाच्या वेदी तयार करण्यांत आल्या. ठिकठिकाणीं कदली-स्तम्भ उभे करण्यांत आले. महाप्रभुंनी आचार्य चन्द्रशेखर ह्यांना ऋत्विजत्वाची सुपारी दिली, व त्याही ती डोळ्यांत अश्रु आणून मोठ्या दुःखाने स्वीकारली. महाप्रभुंनी गंगास्नान करून प्रथम देवता ऋषिंना तृप्त करून नन्तर शास्त्र-मर्यादानुसार श्राद्ध-तर्पण द्वारा आपले पितरांना संतुष्ट केले. प्रभुंनी प्रत्यक्ष पाहिले की, पितृलोकांतून त्यांचे पिता-पितामह आदि पूर्वजांनी स्वता येऊन त्यांही दिलेले पिण्ड ग्रहण केले व सुप्रसन्न होऊन त्यांही ह्यांना शुभाशिर्वाद दिला.

वेदीच्या चहूबाजूस निरनिराळ्या प्रकारच्या समिधा, नानाप्रकारची सुगंधी पुष्पें, माला, अक्षत्, धूप, दीप, नैवेद्य, पुगीफल, नारिकेल, ताम्बुल व पुष्कळ प्रकारची मिठाई, तिळ, जव, तांदुळ, घृत आदि साहित्य मांडून ठेविले होते. वेदीला घेरून पुष्कळसे ऋत्विज ब्राह्मण व सन्याशी बसले होते, इतक्यांतच एकजण हारिदास नावाचे नापितास

घेऊन तेथे आला. हरिदासास पाहताच भारती म्हणाले–'फार वेळ झाला आहे, पुष्कळसे कृत्य शेष आहे, आपण लवकर क्षौर उरकून घ्यावा.'

प्रभु वेदीजवळून उठून क्षौर करविण्यासाठी एकाबाजूस चटईवर जाऊन बसले. हरिदासहि आपले सामानासह समोर येऊन बसला. तसे पाहिले तर हरिदास जातीने नापित होता, परन्तु कटवा ग्रामांत त्याचा मोठा प्रभाव होता. तो भगवत्-भक्त असून जातिचा पंच होता.

त्या नापिताने प्रथम चहुकडे पाहिले व नन्तर महाप्रभुकडेस ध्यान देऊन पाहू लागला. महाप्रभुंच्या दर्शनाने त्याची तृप्तिच होईना. जसजसे तो प्रभुंचे मुखकमल निहाळी तसतसे त्याचे हृदय प्रभुकडेस अधिकाधिक आकर्षित होऊ लागले. तो टक लावून अविचल भावाने प्रभुच्या मुखाकडे पाहातच राहिला. प्रभुनी पाहिले कीं, हा तर काष्ट मूर्तिच झाला आहे, ते त्यास उद्देशून म्हणाले–'अरे, बाबा, उगीच वेळ कां करीत आहेस? उशीर झाला आहे. लवकर आटप.'

नापिताने कांहीसे अन्यमनस्क भावानेच म्हटले–'काय करू महाराज!'

प्रभुनी म्हटले–'क्षौर कर, आणखी काय करणार, त्यासाठी तर तुला बोलाविले आहे.'

नापिताने म्हटले–'आपले केश तर फार लांब लांब आहेत, आपण कधी केश कापवितच नव्हता!'

प्रभुने म्हटले–'ते असु दे, परन्तु संन्यास घ्यावयाचे वेळीं सर्व केश काढून टाकावे लागतात.'

नापिताने उत्तर दिले–'तर महाराज! मी आपणास स्पष्टच सांगतो,

आपणास बरे वाटो या वाईट वाटो, माझेच्याने हे निर्दय काम होणे शक्य नाही. आपण आज्ञा कराल तर मी माझे ह्या वस्त्याने प्रत्यक्ष माझे पुत्राचा गळा कापून टाकीन, परन्तु हे कुरुलकुन्तल केश कापण्याचे माझे मध्ये सामर्थ्य नाही. प्रभो ! ह्या रेशमासारख्या केशांवर माझा वस्त्रा चालणार नाही, तो निसटून जाईल. हे काम माझे शक्तिच्या बाहेर आहे. कटव्यांत आणखीहि पुष्कळ नाव्ही आहेत, त्यांतून कोणासहि बोलावून घ्यावे. हे काम माझेकडून होण्याची स्वप्नांतहि आशा ठेवू नका.'

कांहीशा अधीरतेने प्रभु म्हणतात-'हरिदास ! तुम्ही कां विनाकारण माझे ह्या कार्यास विलम्ब करीत आहा. मी श्रीकृष्णास भेटण्यास अगदी व्याकुळ होऊन राहीलो आहे. तुम्हीहि माझे ह्या कार्यांत सहायता करून माझे अक्षय्य सुखांत भागीदार व्हा. त्या योगे तुमचे कल्याण होईल. तुम्हास ईश्वर यथेच्छ धन-सम्पत्ति प्रदान करील व माझे आशीर्वादाने तुम्ही सदाहि सुखी व्हाल.'

हरीदासाने हंसत हंसत म्हटले--'धन तर मजजवळ नाही. सन्तान माझे आजच नष्ठ होऊन माझे सर्व शरीरास गलितकुष्ठ झाले तरी हरकत नाही, परन्तु माझे हांतून हे कार्य होणार नाही. धन, सम्पत्ति, स्वर्ग आदिचा लोभ दुसरे एकाद्यास दाखवून भुलवा, मला त्यांची इच्छा नाही. आपण गांवांतून दुसरा न्हावी कां बोलावित नाही.!'

प्रभुने म्हटले--'तसे नाही, हरिदास! हे तुम्हासच करावे लागेल. तुम्हास काय भिती वाटते ते सांगा?'

पाण्याने भरून आलेल्या नेत्राने नापित म्हणाला-'प्रथम तर मोठे भय हे वाटते कीं, असा सुन्दर केशकलाप कसा काढावा. दुसरी भीति माझे स्वतःच्या व्यवसायाची. ज्या वस्त्याने आपले हे सुन्दर केश काढीन तोच वस्त्रा इतर साधारण लोकांच्या डोक्यावर कसा चालवू?

ज्या हाताने एकदा ह्या शिराचा स्पर्श करीन त्याने पुन्हा इतरांच्या मस्तकाचा स्पर्श होणे शक्य नाही. न्हाव्याच्या धंद्यावरच मी माझे परिवाराचे भरणपोषण करतो, तेव्हा ते माझे काम कसे चालणार?'

प्रभुने म्हटले-'हरिदास! तुम्ही आजपासून हा नापिताचा धंदा सोडून दुसरा एकादा लहान मोठा धंदा करा. तुम्हास ह्या माझे संन्यास-दीक्षेच्या प्रधान कार्यात सहायक व्हावेच लागेल.'

हा वेळ पावेतो हरिदासाने स्वतःस पुष्कळ आवरुन धरले होते, परन्तु आता त्याच्याच्याने राहावले नाही. तो मोठ्याने रडू लागला व म्हणाला-'प्रभो! हे काम माझेच्याने होणार नाही, मी अगदी असमर्थ आहे.'

प्रभुंनी जेव्हां पाहिले कीं, हा कोणत्याही तऱ्हेने तयार होत नाही, तेव्हा त्यांही आपले ऐश्वर्य प्रकटवून त्यास क्षौर करण्यास आज्ञा देत प्रभु म्हणाले-'हं, हरिदास! आता अवकाश करण्याचे कारण नाही, लौकर क्षौर करा.'

हरिदास आता विवश होता. त्याने प्रभुच्या केशास स्पर्श केला. त्याचे नेत्रांतून अश्रुपात सुरू होता व तो क्षौरही करीत होता. केव्हा केव्हा मध्येच थांबून जोरजोराने भगवन्नामोच्चारण करू लागे. जेव्हा प्रभु पुन्हा सांगत तेव्हा पुन्हा सुरू करी. मध्यन्तरी उठून तो नृत्य करण्याचे सुरू करी. अशा रीतीने क्षौर करताना तो केव्हा गाणे म्हणे, तर केव्हा नाचू लागे, तर केव्हा रुदन करी, तर केव्हा हंसे. ह्या प्रमाणे सायंकालचे सुमारास त्याने हे क्षौराचे काम संपविले.

क्षौर-कर्म समाप्त होताच प्रभुंनी हरिदासास प्रेमाने आलिंगन दिले. आलिंगन होताच तो पृथ्वीवर अचेतन होऊन पडला व बराच वेळ पावेतो तो तसाच पडून राहिला. चैतन्य प्राप्त झाल्यावर तो उठून बसला

व त्याने आपले क्षौराचे सर्व साहित्य त्याच वेळीं कलिमल हारिणी भागीरथीच्या प्रवाहांत प्रवाहीत करून दिले, व तो मोठमोठ्याने हरिनामाचा गजर करू लागला. या प्रमाणे हा नापित क्षणेक प्रभुचे संसर्गात येताच सदा सर्वकाल अमरत्व पावला. आजहि कटव्याचे नजीक 'मधुमोदक' ह्या नावाने त्या क्षौर केलेल्या केशांची व त्या परमभाग्यशालि नापिताची, या प्रमाणे दोन समाधि, लोकास त्याग, वैराग्य व प्रेमाचा पाठ पढवित, त्या हरिदासाचे अपूर्व अनुरागाची घोषणा करीत आहेत. गौर-भक्त त्या समाधीच्या दर्शनाने आपले नेत्राचे साफल्य करून घेतात व तेथील पावनरज आपले मस्तकावर धारण करून, झालेले घटनेच्या स्मरणाने अश्रुपात करीत अद्यापहि घेरी येऊन पडतात. धन्य आहे ! म्हणून तर म्हटले आहे—

**पारसमे अरु संतमे, संत अधिक कर मान।**
**यह लोहा सुबरन करे, वह करे आप समान ॥**

महाप्रभुंच्या गुणांबरोबर हरिदासाची अहैतुकि भक्तिहि अमर झाली! गौर-भक्तांत हरिदास सुद्धा पूज्य झाला.

---

# श्रीकृष्ण-चैतन्य

वैराग्यविद्या निजभक्ति योग—
शिक्षार्थमेकः पुरापः पुराणः ।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी
कृपाम्बुधीयेस्तमहं प्रपद्ये ॥

संन्यास म्हणजे अग्निमय जीवन समजण्यांत येते. गत जन्मांतील सर्व गोष्टींचा ज्ञानाग्नित स्वाहाकार करून स्वयं अग्निमय होणे, हाच ह्या महान् व्रताचा आदर्श आहे. संसाराची आत्यन्तिक उपेक्षा, जीवमात्राचे ठिकाणीं मैत्री, सर्व संसारी संबंधाचा व परिग्रहाचा परित्याग करून व भगवन्नामनिष्ठ होऊन वैराग्यरागरसिक झाले पाहिजे. संसारी सर्व गोष्टी हृदयांतून पार झुगारून द्या. सत्वगुण स्वरूप शुभ वस्त्रांचा परित्याग करा; व रज, तम, सत्वाचेहि वर जाऊन, त्रिगुणातीत होऊन, महान् सत्वांत सदा स्थिर व्हावे, ह्याचसाठी संन्यासाची वस्त्रे अग्निवर्णाची असतात, कारण जीवन्त असूनहि त्याने आपले शरीर अग्निस सोपलेले असते. तो 'नारायणा' चे अतिरिक्त दुसरे कोणासहि पाहात नाही. ह्याच कारणाने संन्यासाचे समयीं पूर्वाश्रमीचे नावाचाही त्याग करून गुरुदत्त महाप्रकाशरूपीं नवीन नावाने त्या शरीराचा संकेत करण्यांत येतो. वास्तविक म्हटले तर संन्यासी नामरूपांतीतच झालेला असतो.

महाप्रभुचे क्षौर-कर्म समाप्त झाले. आता ते शिखा-सूत्रहीन झाले. क्षौरानन्तर त्यांही सुरसरितेचे शीतल जलांत स्नान करून वस्त्रे बदलली, व ते वेदीचे समीप उपस्थित झाले. विजयाहवन आदि संन्यासोचित कृत्ये उरकल्यावर प्रभुंना मन्त्रदीक्षा देण्याचा भारतींनी विचार केला. हात

जोडून विनीत-भावाने प्रभुंनी संन्यासमन्त्र ग्रहण करण्याची जिज्ञासा केली. भारतींनी ह्यांना आपले समीप वसण्यास सांगीतले. गुरुदेवाच्या आज्ञेनुसार ते समोर बसले.

भारती कांहीसे विचारांत पडलेले पाहताच प्रभु उत्सुकतेने त्यांना म्हणतात–'भगवन्! मी असे ऐकले आहे कीं, संन्यास-मन्त्र कोणाच्याहि समोर सांगू नये'.

भारतींनी सांगीतले–'हो, संन्यास-मन्त्र अति गुप्त ठेवावा अशी शास्त्राज्ञा आहे. गुरुजनाचे अतिरिक्त तो कोणाचे समोर प्रकाशित करीत नाहीत'.

हे ऐकून प्रभुंनी म्हटले–'मला आपणास एक गोष्ट सांगावयाची आहे, परन्तु ती गुप्त असल्याने कानांतच सांगेन'.

भारतींनी आपला डावा कान प्रभुच्या जवळ नेत म्हटले–'हो, हो, अवश्य सांगा, काय गोष्ट आहे?'

प्रभुंनी आपले मुख भारतीच्या कानाजवळ नेले व हळू हळू ते सांगू लागले–'एके दिवशीं स्वप्नांत मी एका ब्राह्मणास पाहिले होते. ते पण संन्यासीच होते व त्यांचे स्वरूप पुष्कळसे आपणासारखेच होते. स्वप्नांतच त्यांही मला संन्यास घेण्याचा आदेश दिला, व त्यांहीच मला माझे कानांत संन्यास मन्त्र सांगीतला. तो मन्त्र अद्याप मला जसाचे तसाच स्मरतो आहे. आपण तो प्रथम ऐका कीं, तो चूक आहे वा बरोबर आहे?' असे म्हणून प्रभुंनी तो मन्त्र भारतींचे कानांत म्हणून दाखविला. असेच म्हणाना कीं, त्यांही प्रथम प्रकारान्तराने स्वतः भारतींना आपला शिष्य करून घेतले असावे. प्रभुचे मुखाने यथावत् शुद्धमन्त्र ऐकून भारती कांहीसे आश्चर्य प्रकटवित मोठ्या प्रेमाने सद्गदित कण्ठाने म्हणतात–'तुम्हास श्रीकृष्ण प्रेम प्राप्ती झालेलीच आहे, तेव्हा तुम्हास अगम्य असा

कोणता विषय राहून जाणे शक्य आहे ? श्रीकृष्ण-प्रेम हेच तर सार आहे. जप तप, पूजा-पाठ, वानप्रस्थ-संन्यस्त आदि सर्व धर्म, त्याचेच प्राप्तिसाठी आहेत. ज्यास श्रीकृष्ण-प्रेमाची प्राप्ति झालेली आहे, त्याचे मन्त्र-ग्रहण, संन्यास-दीक्षा, केवल लोक शिक्षणार्थच म्हटल्या पाहिजेत. मर्यादा रक्षणा-साठीच तुम्ही संन्यास घेत आहा, हे मी पूर्णपणे जाणून आहे. कृष्ण-कीर्तन तर तुम्ही घरांत बसूनहि करू शकला असता, परन्तु हे दाखविण्या-साठी कीं, शास्त्रांत सांगीतलेल्या विधानाप्रमाणे गृहस्थींत राहून लौकिक तथा वैदिक कर्म अवश्य करीत राहिले पाहिजे. तुमच्याच्याने आता ते स्मृतींत सांगीतलेले धर्म पाळले जात नाहीत, म्हणून तुम्ही संन्यास धर्माचे अनुसरण करीत आहा. जो पावेतो ज्ञान प्राप्त होणार नाही, जो पावेतो भगवन्नामाचे ठायीं रति उत्पन्न होणार नाही, तो पावेतो स्मृतींत ऋषिंनी सांगीतल्याप्रमाणे धर्माचे पालन करीत राहिलेच पाहिजे. ह्याचसाठी गृहस्थाश्रमांत राहून तुम्ही वैदिक धर्माचे यथावत् पालन केले व आता सर्व-कर्म परित्यागांबरोबरच पूर्वाश्रमाचाहि परित्याग करीत आहा व संन्यास धर्माचे अनुसार दण्ड धारण करून संन्यास धर्माची कठोरताहि प्रकट कराल. तुमची ही सर्व कर्मे लोक शिक्षणार्थच आहेत.' ह्या प्रमाणे भारतींनी प्रभुची नानाप्रकारे स्तुति करून ते त्यांना मन्त्र-दीक्षा देण्यास तयार झाले.

एक छोटेसे वस्त्र आड करून भारतींनी प्रभुच्या कानांत संन्यास-मन्त्र सांगीतला. मन्त्र कानांत पडताच हे पृथ्वीवर व्याकुल होऊन पडले व 'हे कृष्ण ! हे कृष्ण !' असे जोराने म्हणत म्हणत हे आक्रंदन करू लागले. जवळच बसलेल्या नित्यानन्दांनी ह्यांना सावरून धरून स्थीर करण्याचा प्रयत्न चालविला होता.

प्रभुंना आता अग्निवर्णाची काषाय-वस्त्रे धारण करण्यास दिली. ती त्यांना

फारच शोभत होती. खांद्यावर कंथा होती, लहान वस्त्र डोक्यास गुंडाळले होते. एका हातांत काष्टाचा कमंडलू शोभा देत होता, व दुसरे हातांत हे आपला संन्यास दण्ड धारण करून मुखाने-'श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण!' म्हणत नेत्रांतून अश्रु ढाळीत हे उभे होते. प्रभुचे हे त्रैलोक्य-पावन सुन्दर स्वरूप पाहून सर्व उपस्थित दर्शकवृन्द अवाक्से झाले. प्रभुंचा हा रूप-लावण्ययुक्त श्रीविग्रह पाहून सर्वांचे मन आपले आपुणच प्रेमानन्दात गढून जाऊन नृत्य करीत होते. सर्वांच्या नेत्रांतून प्रेमाश्रु-प्रवाह सुरू होता. प्रभु कांहीसे कलते उभे असून, भारती समोरच उच्च आसनावर विराजमान झालेले होते.

कोणी त्यावेळीं श्वास घेतला असता तर तोहि ऐकू आला असता. पक्षांनी सुद्धा त्यावेळीं बोलणे, जणु काय बन्द केले होते व वाराही थांबून प्रभुंच्या अद्भुत शोभेस वशीभूत होऊन त्यांचे रूपलावण्यरूपी रसाचे पान करीत होते.

भारती त्यावेळीं महाप्रभुंचे संन्यास-दीक्षेचे नावाचा विचार करीत होते. प्रभुंच्या प्रकृतीचे अनुसार आपले परमप्रिय शिष्याचे सार्थनाव ठेविण्याची त्यांची इच्छा होती. एकादे सुन्दर नाव त्यांना सुचेना. इतक्यांत साक्षात् सरस्वती देवीने त्यांना त्यांचे कामांत सहायता दिली. सरस्वती-देवीने जणु काय, असे सुचविले कीं, ह्यांनी श्रीकृष्ण-भक्ति-विहीन अशा जीवास चैतन्य प्रदान केलेले आहे. ज्या जीवनांत श्रीकृष्ण-भक्ति नाही ते जीवन अचेतनच म्हणावे. ह्यांनी भगवन्नामद्वारा अचेतन प्राण्यास चेतन केले आहे, अतः ह्यांचे नाव 'श्रीकृष्ण-चैतन्य-भारती' योग्य म्हणता येईल.

भारतींना आनन्द झाला. ते त्या निस्तब्धतेचा भंग करीत लोकांना उद्देशून म्हणाले-'ह्यांनी श्रीकृष्णाचे सुमधुर नाम-द्वारा लोकांत चैतन्याचा संचार केला आहे, व पुढेही करीत राहतील, अतः आजपासून

ह्यांचे नांव 'श्रीकृष्ण-चैतन्य' झाले. 'भारती' ही आमची गुरुपरंपरेची संज्ञा आहे, तेव्हा दण्डी संन्याशांत हे 'स्वामी श्रीकृष्ण चैतन्य भारती' म्हटले जातील. हे ऐकताच प्रभु भावावेशांत येऊन असे म्हणू लागले की–'मी तर आपले प्यारे श्रीकृष्णास भेटण्यासाठी वृन्दावनास जाईन,' व असे म्हणत ते एकदम धावत सुटले. त्यावेळीं पळताना त्या दण्डावरील ते फडकणारे काषाय-वस्त्र व हातांतील काळा कमण्डलु मोठा गमतीचा दिसत होता. 'हरि, हरि', जोराने म्हणत प्रभु पळत होते. हे पाहून पुष्कळांनी पुढे होऊन प्रभुचा मार्ग आडवून धरला. असे पाहताच प्रभु अश्रुपात करीत म्हणू लागले–'बांधव हो! तुम्ही मला वृन्दावनाची वाट दाखवा. मी माझे प्यारे श्रीकृष्णाचे दर्शनासाठी व्याकुल होऊन राहिलो आहे, जो पावेतो मला माझे श्रीकृष्णाचे दर्शन होणार नाही, तो पावेतो मला शान्ति लाभणार नाही. तुम्ही सर्व जण माझी वाट सोडा, व मला असा आशिर्वाद द्या कीं, मी माझे आवडत्यास भेटेन.'

नित्यानन्दानी सागीतले–'प्रभो! आपण प्रथम आपले गुरुदेवाची चरण-वन्दना करून या. नन्तर ते ज्याप्रमाणे आज्ञा करतील तसे करावे. गुरूची आज्ञा घेतल्यावाचून कोठेहि जाणे बरोबर म्हणता येणार नाही.' हे ऐकून प्रभु कांहीसे विचारांत पडले व कांहीहि उत्तर न देता आश्रमाकडेस परत आले. तेथे आल्यावर त्यांही गुरूदेवास दीक्षेस अनुसरून साष्टांग प्रणिपात केला, व भारतींच्या आदेशानुसार ती रात्र तेथेच गुरूदेवांच्या सेवेंत घालविली. संकीर्तनासहि आज कालचे पेक्षा पुष्कळ रंग चढलेला होता. ह्याप्रमाणे लोक-शिक्षेसाठी संन्यास घेऊन गुरू-सेवेचे महात्म्यहि त्यांनी दाखविले. प्रभुंची ती रात्रहि श्रीकृष्ण-कीर्तन व भगवत्-चरित्राचे चिन्तनांतच व्यतीत झाली.

# राढ-देशांत उन्मत्त--भ्रमण

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रि निषेवयैव

निशा संपली, पूर्वेस अरुणाचो लालिमा पसरली, भगवान् भुवन-भास्कर नवीन संन्यासी श्रीकृष्ण-चैतन्य ह्यांचे दर्शनास उताविळ झालेसे दिसले, ते आकाशांत द्रुत-गतीने गमन करीत होते. नित्यकर्मांतून निवृत्त होऊन प्रभुंनी आपले गुरूदेवाचे चरणीं प्रणाम केला व त्यांचे जवळ वृन्दावनास जाण्याची आज्ञा मागीतली. प्रेमाने वेडे झालेले भारती आपले शिष्याचे वियोगजन्य दुःखाने नेत्रातून अश्रु ढाळीत होते. आपले आसू पुशीत भारती म्हणतात-'श्रीकृष्ण चैतन्य! तुमचे संगतींत राहून मीहि श्रीकृष्ण-रसामृताचे पान करू शकेन, परन्तु तुम्ही तर आजच जाण्याची तयारी करीत आहा, या योगे माझे हृदय विदीर्ण होत आहे. यद्यपि मी गृह-त्यागी संन्यासी आहे, तरीपण तुमचे होणारे विरहाने माझे अन्तःकरण धडधड करीत आहे व एक प्रकारे मन दुःखी होत आहे. संन्यासी महाराज! तुम्ही कांही दिवस माझे आश्रमांत वास करा. नन्तर कोठेहि जाणे असेल तेथे आपण उभयताहि जाण्यास निघू.

दोन्ही हात जोडून चैतन्यदेव म्हणाले-'गुरूदेव! आपली आज्ञा पालन करणे माझे प्रधान-कर्तव्य आहे, परन्तु मी करू काय? माझे मन श्रीकृष्णास भेटण्यासाठी अत्यन्त व्याकुल होऊन राहिले आहे. त्यांस पाहिल्यावाचून मला आता चैनच पडणार नाही. आपण असा आशीर्वाद द्या कीं, मी माझे प्यारे श्रीकृष्णास भेटू शकून, आपले चर-

M. 2738

णाचे सदैव स्मरण करीत कालक्षेप करीन. आता तर मी आज्ञाच मागतो'.

प्रभुच्या प्रेम-पाशांत आबद्ध झालेले भारती म्हणतात-'आपण न ऐकता जाण्यासच तयार झालेले आहात, तर, मीहि तुमचे बरोबर थोडे दूर पर्यन्त येतो'. असे म्हणून तेहि आपला दण्ड, कमण्डलु घेऊन प्रभुच्या बरोबर जाण्यास तयार झाले. आपले गुरुदेवास पुढे करून प्रभु पश्चिम दिशेकडेस चालू लागले. त्यांचे मागून चन्द्रशेखर आचार्यरत्न, नित्यानन्द, गदाधर व मुकुन्द आदि भक्तमंडळीहि चालू लागली. आचार्य आपले मागून येतातसे पाहून प्रभु अगदी दीनपणाने त्यांना म्हणाले-'आचार्य! आपण माझेसाठी फार कष्ट सहन केले आहेत, मला बरे वाटण्यासाठी तुम्ही तुमचे इच्छेविरुद्धहि पुष्कळ कृत्ये केली आहेत, मी आपले ऋणांतून कधीहि मुक्त होणे शक्य नाही. आपणास माझी हीच प्रार्थना आहे की, आपण परतून घरीं जावे'.

हे ऐकताच आचार्याचे नेत्रांत अश्रु आले व ते म्हणाले-'आपले आज्ञेचे विरुद्ध जाण्याचे सामर्थ्यच कोणांत आहे? माझी अन्तःकरणपूर्वक अशी इच्छा होती कीं, कांही काल आणखी आपले सहवास-सुखांत घालवून स्वतःस कृतार्थ करावे'.

प्रभुने प्रेमाने सांगीतले-'नाही, ते बरे नाही. आपणास घर सोडून तीन चार दिवस झाले. न जाणो, घरीं सर्वजण काय विचारांत पडले असतील, तेव्हा आता आपण जावे'.

अश्रु-विमोचन करीत प्रभुंचे पाय धरून आचार्य म्हणाले-'प्रभो! मला विसरू नका, नवद्वीपांतील नर-नारीनांहि फार दुःख झालेले आहे, तेव्हा त्यांनाही दर्शन देऊन सुखी करा. मी असा भाग्यहीन निवडलो कीं, प्रभुंची मी कांहीच सेवा करू शकलो नाही'.

हा वेळ पावेतो प्रभुंनी आपले अश्रु मोठ्या कष्टाने आवरून धरले होते. आता त्यांच्याने राहावले नाही. ते अश्रुपात करीत म्हणाले-'आचार्य देव! आपण सदा-सर्वकाल पित्याप्रमाणेच माझी देखरेख करीत होता. मला माझे पित्याची नीट आठवण येत नाही, आपलेच द्वारा मी पितृ-सुखाचा अनुभव घेत आलो आहे. आपण माझे पित्या-समानच काय, पिताच आहा, आपण तर माझेवर स्वताचे पुत्रा-प्रमाणेच प्रेम करीत आहात. परन्तु मीच असा भाग्यहीन कीं, मी आपली कांहीच सेवा करू शकलो नाही. आता आपण मला असा आशीर्वाद द्या कीं, मी माझे प्यारे श्रीकृष्णास सत्वर भेटेन. आपण आता जा, अधीक विलंब करू नका'. असे म्हणून प्रभुंनी आचार्यास प्रेमाने गाढालिंगन दिले-'आपण आता जा व मातेस व आणखी जे कोणी माझे वियोगाने दुःखी झाले असतील, त्यांचे सांत्वन करा, व मातेस सांगा कीं, मी त्यांची चरण-वन्दना करण्यासाठी शीघ्रच येणार आहे'. या प्रमाणे प्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य करून आचार्य नवद्वीपास परत फिरले. पुष्कळ आग्रह करूनहि दुसऱ्यांनी परत जाण्याचे मानले नाही.

पुढे भारती चालले असून त्यांचे मागून हातांत दण्ड-कमण्डलु घेऊन महाप्रभु प्रेमांत विव्हळ झालेले नृत्य करीत जात होते. त्यांचे मागे नित्यानन्द, गदाधर, मुकुन्ददत्त होते. प्रभु प्रेमामध्ये केव्हा तर हसत, केव्हा रुदन करीत, व केव्हा केव्हा जोराने-'हा कृष्ण! हा कृष्ण! हे प्यारे!! रक्षण करा!! कोठे गेलात? मला विरह-दुःखांतून वर काढा! मी तुमचेसाठी व्याकुल होऊन राहिलो आहे'. ह्याप्रमाणे क्रन्दन करीत होते. त्यांची वाणी कारुण्यपूर्ण होती. त्यांचे क्रन्दनाने दगडासही पाझर फुटत होता. त्यांना आपले शरीराची कांहीच शुद्ध नव्हती. भारतीच्या

मागे-मागे जातजात त्यांनी राढ देशांत प्रवेश केला व सायंकाळ झाल्या-वर एका लहानशा गावांत एका भाग्यशाली ब्राह्मणाच्या घरीं निवास केला. त्या ब्राह्मणाने आपले भाग्याची प्रशंसा करीत आलेल्या सर्वांचा श्रद्धा-पूर्वक सत्कार केला व सर्वांना भिक्षा करविली. भिक्षा केल्यावर प्रभु पृथ्वीवर आसन पसरून निजले. भारतीचे आसन वरील बाजूस घातले होते. नित्यानन्द, गदाधर आदि प्रभुंना घेरून निजले.

दिवसभरचे थकलेले असल्याने सर्वांना झोप लागली. परन्तु प्रभुंना झोप कोठली? ते तर श्रीकृष्णास भेटण्यासाठी व्याकुल होऊन राहिले होते. सर्वजण गाढ निद्रेंत आहेत, असे पाहून प्रभु हळूच उठले, आपला दण्ड, कमण्डलु घेतला, व पश्चिम दिशेकडेस चालण्यास त्याही सुरूवात केली. ते प्रेमांत तल्लीन होऊन—

**हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।**
**हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥**

ह्या मन्त्राचा उच्चार करीत होते. केव्हा अगदी अधीर होऊन कातर वाणीने—

**राम राघव! राम राघव! राम राघव! रक्षमाम्।**
**कृष्ण केशव! कृष्ण केशव! कृष्ण केशव! पाहिमाम्॥**

ही नावे घेत जोराने रुदन करीत.

इकडे नित्यानन्दाचा डोळा उघडला. त्यांहि सम्भ्रमाने प्रभुस चहुकडे दृष्टि फिरवून पाहिले. परन्तु आता तेथे त्यांना प्रभु कसे दिसणार? सर्वस्व हरण झालेले व्यापाऱ्याप्रमाणे ते रडत रडत म्हणू लागले-'अहाहा! कोण आम्ही अभागी, आम्हास निजलेले सोडून प्रभु निघून गेले'. त्यांचे रडणे ऐकून सर्वजण जागे झाले व एकमेकांना जागे न राहिल्या-बद्दल दोष देऊ लागले.

नित्यानन्दांनी भारतींची प्रार्थना केली कीं-'भगवन्! आता आपण आपले आश्रमांत परत जावे. आपण आमचे बरोबर कोठे भटकत फिरणार? आम्ही तर कोठूनहि प्रभुंना शोधून काढू'.

भारतींना दुसरा उपायच नसल्याने ते आपले आश्रमाकडे दुःखीत मनाने जाण्यास तयार झाले व नित्यानन्द, गदाधर, मुकुन्द ह्यांना बरोबर घेऊन प्रभुंच्या तपासास निघाले.

प्रभु बरेच लांब निघून गेले होते. ते कधी भानरहीत होऊन मुर्छित पडत होते, केव्हा कृष्ण-प्रेमांत अधीर होऊन इतके जोराने रुदन करीत, कीं, त्यांचा ध्वनी कोस कोस ऐकू जाई. ह्या भक्तांनी प्रभुंचा क्रन्दन-ध्वनि दुरूनच ऐकला व त्याने अनुरोधाने हे सर्वजण प्रभुजवळ पोचले. चार पांच कोसावर वक्रेश्वरहि येऊन मिळाले. मुकुन्ददत्ताने अत्यन्त सुरावर —

'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ, नारायण वासुदेव॥'

ह्या भगवन्नामाचे संकीर्तनास आरम्भ केला. संकीर्तन ऐकताच प्रभु आनन्दाने नृत्य करू लागले. सर्वांनाही आनन्द झाला. प्रभुनाहि सर्वांना पाहून आनन्द झाला.

प्रभु काही वेळाने प्रकृतिस्थ झाले. आता त्यांना बाह्य-ज्ञान होऊ लागले. नित्यानन्द, वक्रेश्वर आदिनां पाहताच प्रभु म्हणाले-'बरे झाले, आपण आला. मला आपणास एक गोष्ट सांगावयाची आहे'.

सर्व भक्त प्रभुंच्या मुखाकडे उत्सुकतेने पाहू लागले. तेव्हा प्रभुंनी म्हटले-'मला भगवन्ताचा आदेश झाला आहे कीं, तुम्ही जगन्नाथपुरीस सत्वर जा. पुरीस अच्युत-भगवानाने मला सत्वर बोलाविले आहे. तेव्हा आता मी नीलाचलाकडेस जाणार, तेथे जाऊन मला आतां माझे स्वामीचे दर्शन करावयाचे आहे'.

सर्वांना हे ऐकून परम प्रसन्नता वाटली. प्रभुच्या मनांतील गोष्ट जाणूच कोण शकणार कीं, ते भक्तांना प्रसन्न करण्यासाठी काय काय करण्याचे धारीत आहेत. ह्याप्रमाणे आता पुढे प्रभु पश्चिमेकडे न जाता पूर्वेकडेस जाऊ लागले.

हा वेळपावेतो राढ-देशांत भगवन्नाम-संकीर्तनाचा प्रचार झालेला नव्हता, तेव्हा त्या देशाची ही दशा पाहून प्रभुस फार दुःख झाले. ते विकलता प्रकट करीत नित्यानन्दांना म्हणाले-'श्रीपाद! ह्या देशांत कोठेहि संकीर्तनाचा सुमधूर ध्वनि वा येथे कोणाच्याहि तोंडातून हरिनामांचाहि घोष ऐकू येत नाही. खरोखर हा देश भक्तिशून्य आहे. भगवन्नामश्रवणावाचून माझे हे जीवन व्यर्थ आहे. माझे हे व्यर्थ भ्रमण आहे. इतक्यांत कांही अन्तरावर जंगलांत गाई चरत असलेल्या प्रभुंनी पाहिल्या. त्यांतील कांही हिरवा घास चरत होत्या व कांही प्रभुच्या मुखाकडे निहाळून राहिल्या होत्या. कांही पुच्छ उंच करून इकडून तिकडे पळत होत्या. त्यांना चारणारी गवळ्यांची मुले, खांद्यावर घोंगड्या टाकून प्रभुकडे पाहात होती. प्रभुंना पाहाताच त्यांहि 'हरिबोल, हरिबोल' चा घोष करण्यास सुरूवात केली. हरिनाम-ध्वनि ऐकताच प्रभुंना वृन्दावनाचे स्मरण झाले व ते त्या बालगोपालांच्या समोर गेले व त्यांच्या मस्तकावर हात फिरवित म्हणाले-'हा! म्हणा पुन्हा म्हणा, हरिहरि!' ती लहान मुले आनन्दांत येऊन जोराने हरिध्वनि करू लागले. प्रभु फार प्रसन्न झाले व ते तेथेच त्या मुलांत बसले, व त्यांना नाना तऱ्हेच्या गोष्टी विचारू लागले. नन्तर त्याही त्यांनी विचारले-'येथून गंगा किती लांब आहे?'

त्यापैकी एका चंचल मुलाने लागलेच उत्तर दिले-'गंगा येथून दूर कशाची, आपण गंगेच्या किनारीच आहो, समजाना. आमचा गांव गंगेच्या खोऱ्यांतच आहे. दोन तीन तासांत आपण गंगेच्या

प्रवाहा समीप पोचाल'. प्रभुंना आनन्द झाला व ते म्हणाले-'धन्य आहे गंगेची कीं, येथील लहान लहान बालकेहि हरि नामाचा घोष करतात. गंगेचा प्रभावच असा आहे कीं, तिच्या किनाऱ्यावरील कुकर-शुकरांनाहि भगवन्नाम प्रिय वाटते.' या प्रमाणे गोष्टी करीत करीत प्रभु भक्तांसह सायंकाळच्यासमयी पुण्यतोया भागीरथीच्या सन्निध पोचले. गंगेचे दर्शन होताच, प्रभु आपले दोन्ही हात जोडून म्हणतात-'गंगा माते! तूं खरोखर संसारांतील सर्व प्रकरच्या पाप-तापास मिटविणारी आहेस. माते! सहस्र वदनहि तुझ्या यशाचे गायन करण्यास असमर्थ आहे. माते! तूंच आदि-शक्ती आहेस, तूंच ब्रह्माणी आहेस, तूंच रुद्राणी व तूंच साक्षात् लक्ष्मी आहेस. देवाधिदेव महादेवाने तुला मस्तकावर धारण केले आहे. तूं भगवन्ताच्या चरण-कमलापासून उत्पन्न झाली आहेस. जननी! तुला कोटिशः प्रणाम आहेत. मंगलमयी माता! आमचे कल्याण करा!' ह्या प्रमाणे प्रभुंनी गंगेची स्तुति करून तेथील रेणु शिरावर धारण केली व मातेच्या पावन जलाचे आचमन केले. सर्वांनी गंगेत मनसोक्त स्नान केले, व त्या रात्रीं जवळच्याच छोटाशा गांवी एका ब्राह्मणाच्या घरीं निवास केला.

प्रातःकालीं प्रभुंनी नित्यानन्दांना सांगीतले-'श्रीपाद! आपण नवद्वीपांत जा व शचीमातेस व दुसरे भक्तास सांगा कीं, मी येथे आलो आहे. तुम्ही नवद्वीपास पोचता तो पावेतो, आम्ही अद्वैताचार्यांचे दर्शनास शान्तीपुरास जातो. तेथे सर्वांना भेटू. आपण शीघ्र जा, वेळ करू नका'. प्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य करून, नित्यानन्द, गंगापार होऊन, नवद्वीपाकडेस जाऊ लागले व प्रभु गंगेच्या ह्याच किनाऱ्या किनाऱ्याने शान्तीपुराच्या समोरील हरिदासाच्या आश्रमांत कुलिया नांवाचे गांवी येऊन ठेपले.

# शान्तिपुरास अद्वैताचार्यांचे घरीं

न्यासं विधायोत्प्रणयोऽथ गौरो
वृन्दावनं गन्तुमना भ्रमाद् यः ।
राढे भ्रमन् शान्तिपुरीमयित्वा
ललास भक्तैरिह तं नतोऽस्मि ॥

इकडे महाप्रभुंची आज्ञा घेऊन आचार्य चन्द्रशेखर दुःखित अन्तःकरणाने नवद्वीपास जाण्यास निघाले. त्यांचे पाउलच पुढे पडेना. पुन्हा पुन्हा हे थांबत व अश्रुंनी डबडबल्या नेत्रांनी मागे फिरून पाहात कीं, न जाणो, प्रभु आपणास परत बोलावतील. केव्हा केव्हा, भ्रम पडून म्हणत कीं,–'प्रभो ! बरे झाले, आपण आलात'. पुन्हा चहुकडे पाहून आपणास भ्रम पडला अशी खात्री करून पुढे चालू लागत. कांही चालल्यावर बसत व म्हणत कीं–'आता माझे जीवनास धिक्कार आहे. प्रभुवाचून मी आता नवद्वीपांत राहूच कसे शकणार ? मी एकटाच नवद्वीपास कसा जाऊ ? पुत्र वियोगाने दुःखी झालेली शचीमाता, जेव्हा मला विचारील कीं–'माझे लालास, माझे प्राणप्रिय पुत्रास, माझे वृद्धेच्या एकमात्र आधारास, माझे निमाईस, तुम्ही कोठे टाकून आलात ? तेव्हा त्या दुःखी मातेस मी काय उत्तर देऊ ? जेव्हा भक्त चहुकडून येऊन मला विचारतील कीं–'प्रभु कोठे आहेत ? किती लांब आहेत ? केव्हा येतील ?' तेव्हा हृदयविदीर्ण करून टाकणारे ह्या प्रश्नांचे मी काय उत्तर देणार ? 'मी त्यांना हे सांगू कीं, प्रभु आता येणार नाहीत, ते वृन्दावनास गेले'. हाय ! हाय ! अशी दुःखद वार्ता मी माझे मुखाने कशी सांगणार ? मी माझे अन्तःकरण वज्रासारखे कठीण करून भक्तांना हे सांगीतल्यास त्यांचे प्राण

शरीरांत कसे राहू शकतील ! व तसे झाल्यावर माझेंहि प्राण माझे शरीरांत कसे राहतील ? असो ! इतकेहि सर्व हे माझे कठीण हृदय सहन करील, परन्तु त्या पतिपरायणा, पतिव्रता विष्णुप्रियेचे आक्रोशाने दगडासहि घाम फुटला असेल ! तिला जेव्हा माझे येण्याचा समाचार समजेल व ती जेव्हा आपले हृदयविदारक रुदनाने दशदिशा व्यापून टाकीत, पतिच्या संबंधाने जिज्ञासा करीत माझे समोर एका बाजूस उभी राहून रुदन करील, तेव्हा तर खात्रीने माझे प्राण राहाणेच शक्य नाही. सर्वजण माझा व माझे कृत्याचा धिक्कार करतील ! जेव्हा तिला समजेल कीं, प्रभुच्या संन्यासासंबंधी सर्व कृत्य मीच माझे हाताने केले व मीच प्रभुस संन्यासी केले, तेव्हा तर सर्व मिळून मला नानाप्रकाराने धिक्कारतील, तेव्हा ह्यांनी दिलेले अभिशाप मी कसा सहन करू शकणार ? ह्यापेक्षा हे फारच उत्तम कीं, मी गंगेत उडी घेऊन आपला प्राणत्याग करावा. ह्याप्रमाणे विचार करून ते त्या साठी गंगा किनाऱ्यावर येऊन उडी टाकण्यास उद्यत झाले. इतक्यांत त्यांना प्रभुंच्या निरोपाचे स्मरण झाले. 'प्रभुंनी मातेस व भक्तांना पुष्कळ प्रेम-संदेश दिलेले आहेत, ते न पोचविल्यास मला पाप लागेल. मी प्रभुच्या सन्मुख कृतघ्न समजला जाईन. कोण जाणे, प्रभु परतून येतहि असतील. मला तर वाटते, ते सर्वांना भेटूनच नन्तर कोठे जावयाचे असतील तेथें जातील'. ह्या प्रमाणे विचार येऊन, गंगेत उडी घेण्याचे त्यांनी थांबविले, व तेथेच किनाऱ्याजवळ वाळवंटांत ते बसले. त्यांनी असे निश्चित केले कीं, 'रात्र पडल्यावर सर्व लोक निद्रावश असले म्हणजे गुपचुप आपले घरीं जावे, व असे केले म्हणजे आपले परत आल्याचा समाचार कोणासहि समजणार नाही'. ह्या प्रमाणे सर्व दिवस त्यांनी तेथेच काढला व सायंकाल झाल्यावर ते गंगापार झाले, व लोकांचा डोळा चुकवून ते आपले घरीं पोचले. घरीं पोचताच थोड्याच वेळांत त्यांचे येण्याचा समाचार विजेप्रमाणे

सर्व नगरभर समजला. जो जो हा समाचार ऐके तो तो, ह्यांचेकडेस दौडत येई व प्रभुच्या संबंधाने विचारपूस करी. हे सर्वांना धैर्य देत सांगत कीं–'होय, प्रभु लवकरच परत येणार आहेत'. इतक्यांत शचीमाताहि, हा समाचार ऐकून, आपले सुनेसहीत तेथे आली. ज्या दिवशीं तिचा प्रिय निमाई तिला सोडून गेला होता, तेव्हापासून तिने अन्नाचा कणाहे मुखांत घातला नव्हता, निरन्तर रडण्याने तिचे दोन्ही नेत्र सुजले होते, घसा बसून गेला होता, उठून उभे राहाण्याचीहि तिच्यांत शक्ति नव्हती. परन्तु आचार्य चन्द्रशेखर आल्याचे समजताच, कोण जाणे, तिच्यांत कोठून शक्ति आली. ती धावतच आचार्यांचे घरीं आली. बरोबर विष्णुप्रियाहि रडत येत होती.

मातेला येताना पाहताच एकदम आचार्य उठून उभे राहिले, सर्वांनी त्यांना पुढे जाण्यासाठी रस्ता दिला, त्या जाऊन आचार्यांना स्पर्श करणार तोच 'हा निमाई!' असे म्हणून पृथ्वीवर त्या पडल्या. आचार्यांनी त्यांना संभाळून धरले. विष्णुप्रियाहि सासूच्या पायाजवळ बसून रडू लागली.

त्या वेळचे ते दृश्य फारच करुणापूर्ण होते. सर्व भक्तांच्या नेत्रांतून अश्रुप्रवाह सुरू होता. मातेच्या तोंडातून–'हा निमाई, माझे निमाई!' ह्या वाचून दुसरा शब्दच निघत नसून त्या सारख्या रडत होत्या. बराच वेळ रुदन केल्यावर जाड्या आवाजाने त्यानीं विचारले–'आचार्य! माझे निमाईस कोठे टाकून आलात? काय तो, खरोखरच संन्यासी झाला? आचार्य! तुम्ही मला खरे काय ते सांगा कीं, आता माझा निमाई परतून येणार नाही? काय मी आता त्यास माझे हाताने भोजन तयार करून जेवू घालू शकणार नाही? काय तो आता, भूक लागल्यावर घरोघरीं भिक्षा मागून खाणार? काय तो माझे काळजाचा घड माझेपासून

निराळाच राहणार? आचार्य! तुम्ही बोलत कां नाही? तुम्हास मज कंगालणीची दया कशी येत नाही? तुम्ही मौन कां धारण केले आहे? माझे प्रश्नांचे उत्तर कां देत नाही?'

आचार्यांनी मातेचे हे प्रश्न ऐकूनहि मौनच धारण केले. ते केवळ नेत्रांतून अश्रु ढाळीत होते. आचार्यांची ही स्थिती पाहून मातेची खात्री झाली कीं, माझे निमाईने खरोखरच संन्यास धारण केला. तेव्हा त्या विशेष अधीर होऊन म्हणतात–'आचार्य! तुम्ही मला माझा निमाई कोठे आहे, ते सांगा. तो जेथे असेल तेथे मी जाईन. तो कसा कां संन्यासी झाला असेना; माझा तर तो पुत्र आहे. मी त्याचे बरोबरच राहीन. आचार्य! मी निमाईवाचून जीवन्तच राहू शकणार नाही. कृपा करून माझा निमाई जेथे असेल तेथे मला घेऊन चला. हे माझे सर्वगुण संपन्न पुत्रा! माझे जीवनाचा आधार! ज्याची भक्तगण राजाहूनहि विशेष रीतीने पूजा करीत होते, तो दारोदारी भिक्षा मागत फिरत राहील. हे विधाता! तू असा कठोर असल्याने तुझा धिक्कार असो. जो इतका रूपवान्, गुणवान्, पंडित व मानसन्मानयुक्त असूनहि त्यास भिक्षा मागण्यास लावले!'

पुष्कळ वेळ पावेतो माता अशा प्रकारे सारखा विलाप करीत होती. कांहीसे धैर्य धारण करून आचार्यांनी संन्यास-दीक्षेच्या सर्व गोष्टी सांगीतल्या. ह्या सर्व गोष्टी ऐकून माता पुन्हा मुर्छित पडली व विष्णुप्रियाहि अचेतन होऊन शचीमातेच्या पायाजवळ पडली. अशा स्थितींत सर्व रात्र उलटून गेली. प्रातःकालीं आचार्यांनी त्यांना घरीं पोचविले. ह्याच प्रमाणे श्रीवास, वासुदेव, नन्दनाचार्य, गंगादास आदि सर्व भक्त खाण्यापिण्यावाचून प्रभुसाठी अधीर होऊन शोक करीत होते. तिसरे दिवशीं नित्यानन्दहि नवद्वीपांत येऊन दाखल झाले.

नित्यानन्द आल्याची वार्ता थोड्याच अवकाशांत सर्व नवद्वीपांत पसरली व नगरांतील नर-नारी, बालक, वृद्ध तथा सर्व श्रेणीचे पुरुष त्यांचेजवळ येऊन दाखल झाले, आणि प्रभुचा समाचार विचारू लागले. सर्वांना आश्वासन देत नित्यानन्दांनी सांगीतले-'महाप्रभु, मोठे दयाळु आहेत, त्यांचे अन्तःकरणांत प्राणि मात्राच्याप्रति दया आहे. तुम्हा मंडळीच्या प्रेमास वशीभूत होऊन ते कुलियास जाऊन शान्तिपुरास जात आहेत. शान्तिपुरांत ते आचार्य अद्वैतांच्या घरीं थांबतील, तुम्हा सर्वांना तेथे प्रभुंचे दर्शन होईल'.

नित्यानन्दाच्या मुखाने ही वार्ता ऐकताच, लोक कुलिया गावाकडेस धावले. कोणी नावेंत बसून, कोणी होडक्यांत बसून, तर कोणी घड्याचे सहायाने व कोणी तर हातांनी तरून गंगापार झाले. ह्याप्रमाणे हजारो लोक कुलिया गांवात पोचले. त्याही प्रेमांत उन्मत्त होऊन 'हरि बोल,हरि बोल', हा गगनभेदी ध्वनी सुरू केला. तो महान् कोलाहल श्रवण करताच प्रभु आश्रमाच्या बाहेर आले. संन्यासी वेशांत प्रभुस पाहातांच त्या प्रेमात उन्मत्त झालेल्या जनतेने जोराने हरि ध्वनि करण्यास सुरुवात केली. प्रभुंनी सर्वांना कृपा दृष्टिने पाहिले व सर्वांना परत जाण्यास सांगून स्वतः ते शान्तिपुरास जाण्यास निघाले.

इकडे नित्यानन्दांनी प्रभुच्या येण्याचा समाचार लोकांना सांगून ते शचीमातेच्या समीप प्राप्त झाले. शचीमाता पुत्रविरहरोगाने निर्माल्यवत् होऊन दुःखित अन्तःकरणाने उसासे टाकीत होती. नित्यानन्दांनी मातेस वन्दन केले. माता कांही बोलणार तोच नित्यानन्दानी सांगीतले-'मी निमाईस घेऊन आलो आहे. ते शान्तिपुरांत अद्वैताचार्यांचे घरीं आहेत. तुम्हास त्यांही तेथेच बोलाविले आहे व तेथे तुम्हास मी घेऊन जाणार आहे'.

नन्तर नित्यानन्दानी भोजन केले व मोठे आग्रहाने शचीमातेस व विष्णुप्रियेस दोन घास खाण्यास लाविले. त्याही नन्तर चन्द्रशेखर व श्रीवासादि भक्तांना सांगीतले–'तुम्ही पालखीचा प्रबन्ध करून शान्तीपुरास शचीमातेस घेऊन यावे, मी पुढे होऊन पाहातो कीं, प्रभु तेथे येऊन पोचले आहेत किंवा नाही'. ह्या प्रमाणे सांगून हे शान्तिपुरास पोचले.

अद्वैताचार्यांचे घरीं पोचताच त्यांना दिसून आले कीं, प्रभु अद्याप तेथे पोहोचले नव्हते, तेव्हा त्याही आचार्यांना विचारले–'काय प्रभु अद्याप येथे आले नाहीत?' प्रभुच्या आगमनाची वार्ता ऐकून अद्वैताचार्य प्रेमाने अगदी सद्गदित होऊन म्हणाले–'काय प्रभु माझे सारखे दीनावर कृपा करतील?'

आपली पत्नि सीतादेवीस सर्व सिद्धता करण्यास सांगून आचार्य, आपला पुत्र अच्युत, हरिदास, नित्यानन्दासह प्रभुंना पाहण्यास गंगा किनारी पोचले.

थोड्याच वेळांत भक्तानी घेरलेले, भगवी वस्त्रे व दण्ड, कमण्डलु घेतलेले दूर अन्तरावर येत असलेले महाप्रभु आचार्यांचे दृष्टीस पडले. तेथून त्यांही त्यांना साष्टांग प्रणाम केला. लवकर लवकर येऊन प्रभुंनीहि ह्यांना लोटांगण घातले. सर्व भक्तांनीहि प्रभुच्या चरणीं अत्यन्त प्रेमाने सद्गदीत होऊन वन्दन केले. बरेच वेळाने प्रभु उठले व त्यांही आचार्यांना आपले हाताने उठविले व आचार्यांचे पुत्रास उचलून आपले कडेवर घेतले. त्याच्या शरीरास लागलेली धुली आपले वस्त्राने पुशीत प्रभु म्हणतात–'आचार्य तर आमचे पिता आहेत, तुमचेहि ते पिता आहेत, तेव्हा तुम्ही, आम्ही बन्धु आहोत. काय, खरे ना?'

बालक अच्युताने उत्तर दिले–'प्रभो! आपण चराचर जीवाचे पिता आहा, आपले पिता कोण असू शकणार? आपण उगीच माझी थट्टा करीत आहा'.

बालक अच्युताचे ह्या उत्तराने सर्व आश्चर्यचकीत झाले. प्रभुनी अच्युताचे चुंबन घेतले. नन्तर ही सर्व मंडळी अव्दैताचार्यांचे घरीं पोचली. तेथे आचार्यांनी प्रभुचे चरण प्रक्षालन करून त्यांचे विधिवत् पूजन केले. सर्वांनी चरणामृत पान केले व घरांत शिंपडले. प्रभुंच्या आगमनाने आचार्यांचे आनन्दाचा ठिकाणाच राहिला नाही.

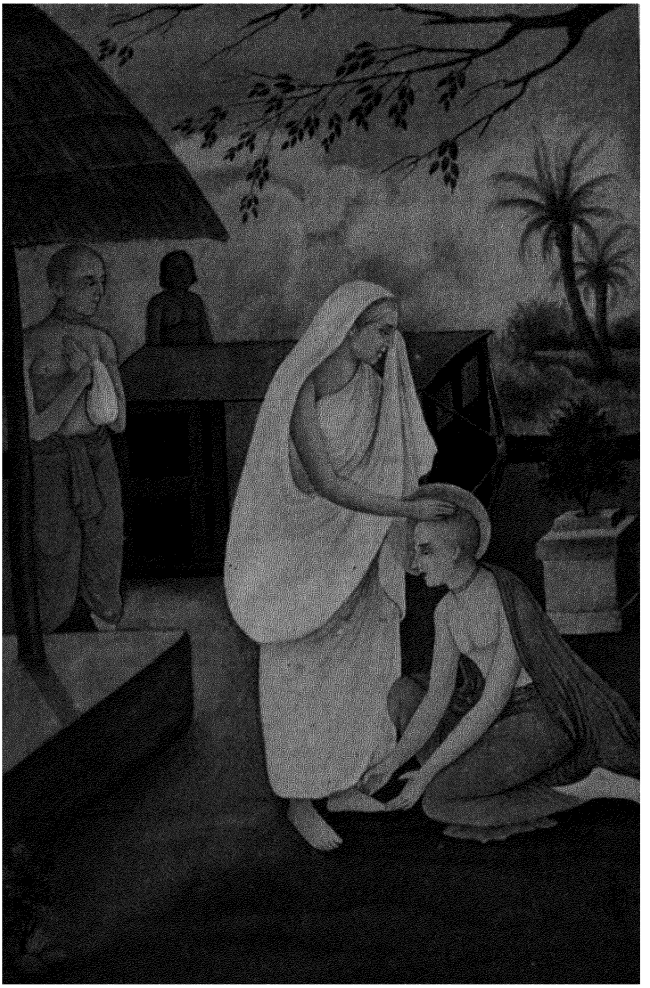

मातृ-दर्शन

THE GITA PRESS, GORAKHPUR

# मातेस संन्यासी पुत्राचे दर्शन

यस्यास्ति वैष्णवः पुत्रः पुत्रिणी साभिधीयते ।
अवैष्णवपुत्रशता जननी शूकरीसमा ॥

त्या शचीदेवीच्या सौभाग्याची बरोबरी करण्यास कोण बरे समर्थ आहे ? जिचे गर्भातून दोन संसार-त्यागी, विरागी, संन्यासी महापुरुष उत्पन्न झाले ! जगन्माता शचीदेवीची कुसच मातृ-कुक्षि म्हणण्या योग्य आहे. शंभर पुत्रास जन्म देणारी शूकरी मातांची ह्या जगांत कांही उणीव नाही, परन्तु अशांचे नांव गावांतले गावांत वा पेठेंतल्या पेठेंतहि कोणी जाणत नाही. आपले गौराङ्गाना उत्पन्न करून शचीमाता जगज्जननी झाली. गौर-भक्त संकीर्तन समयीं—

**जय शचीनन्दन गौर गुणाकर ! प्रेम परशमणि भाव रससागर ॥**

आदि पद गाऊन गाऊन आजहि जगन्माता शचीदेवीच्या सौभाग्याची प्रशंसा करीत आहेत !

पुत्राने संन्यास घेतल्याने मातृ-स्नेहाने जगन्माता शचीदेवीस स्वाभाविकच अपार दुःख झाले होते. त्याच दुःखाने त्यांना 'जगन्माता' ह्या दुर्लभ पदास पोचविले होते.ते महान् दुःख त्यांहि मोठे धैर्याने सहन केले. खरोखरच ईश्वर ज्यास जितके विशेष दुःख देतात, त्यास तशीच अधिक सहनशीलताहि प्रदान करतात. ज्यांचा एक युवावस्थापन्न पुत्र अविवाहित-दशेंत घर-दार सोडून गेला आहे, पति परलोकवासी झालेले आहेत, ज्या पुत्राचे ठिकाणीं जीवनांतील सर्व आशा एकत्रित झालेल्या होत्या, तोच वृद्धावस्थेंतील एकच एक आधार, प्राणाहूनहि विशेष प्रिय पुत्र, घरांत सन्तानहीन युवती स्त्रीस सोडून संन्यासी झाला असेल, त्या मातेचे हृदय फाटल्या-

वाचून कसे राहाणार? परन्तु ज्यांचे गर्भात प्रेमावतार गौराङ्गांनी नऊ महीने नाही, तेरा महिने निवास केला, ती वीर प्रसविनी माता इतकी अधीर असेल असे अनुमान कोण करणार? तरीपण मातृ-प्रेम फार अद्‌भुत आहे! पुत्रवियोगरूपी दुःख हसत सहन करणाऱ्या माता जगती-तलावर उत्पन्न झाल्याच नाहीत. मदालसा आदि तर अपवाद-रूपच समजाव्या. देवकी, यशोदा, कौसल्या, देवहूति आदि सर्व अवतार-जननी-मातांना पुत्र-वियोगाने अत्यन्त दुःखच झाले. मग बिचारी शचीदेवीच ह्यांतून कशी सुटू शकणार? त्याही शान्तीपुरास लवकर चला असेच चन्द्रशेखर आचार्य व श्रीधर ह्यांना आग्रह करीत होत्या. आचार्यांनी त्यांचेसाठी एका पालखीचा प्रबन्ध करून त्यांना तींत बसवून सर्व शान्तिपुरास जाण्यास निघाले. मातेने तर संन्यासी पुत्रास पाहण्या साठी पालखींतून प्रयाण केले परन्तु बिचारी पतिपरायणा विष्णुप्रिया काय करणार! तिला तर आपले संन्यासी पतिचे दुरूनहि दर्शन घेण्याची आज्ञा नव्हती. लोक दृष्टिने तिचे पति भले, संन्यासी झाले असो! शिष्टाचारास अनुसरून ती आपले पतिच्या ह्या स्थूल देहाचे दर्शन न घेऊ शको! परन्तु तिचे आराध्यदेव तर तिचे हृदय-मन्दिरांत सदा-सर्वकाल निवास करीत होते. तेथेच ती त्यांची पूजा करी व आपली श्रद्धांजलि अर्पण करून भक्ति भावाने त्यांना प्रणाम करीत असे. वीरपत्नि-प्रमाणे तिने आपले सासूस सांगीतले-'मातोश्री! आपण जाऊन त्यांना पाहून या. माझे प्रारब्धांत त्यांचे दर्शन नाही तर नाही! माझे ह्या पेक्षा विशेष भाग्य ते काय असणार कीं, जे सदाहि आमचे आहेत, व पुढेहि आमचेच राहतील. किती भाग्यशाली मी कीं, त्यांचे दर्शनासाठी शत्रु-मित्र सर्वहि प्रेमाने-भक्तिने येत आहेत. मी तर त्यांचीच आहे व त्यांचीच सदैव राहाणार; मग पाहिजे तर ते संन्यासी राहो वा गृहस्थीमध्ये असो. ह्या बाह्य चिन्हांनी माझे हृदयांत फेरफार होणे शक्य नाही'. आपले

सुनेचे हे बोलणे ऐकून शचीमातेस मनांतले मनांत फार आनन्द झाला व त्या शान्तिपुरास जाण्यास पालखींत बसल्या.

इकडे महाप्रभु घरीं पोचताच अद्वैताचार्याच्या धर्मपत्नि सीतादेवींनी नानाप्रकारची पक्कान्ने तयार केली. त्यांत सर्व प्रकार होते. तीन पात्रांत हे सर्व पदार्थ व्यवस्थीतपणे वाढल्यावर आचार्यांनी भगवन्तास समर्पण करून प्रभुंना भोजन करण्यास प्रार्थना केली.

प्रभु हे सर्व पदार्थ पाहताच म्हणू लागले–'धन्य आहे, ज्यांचे घरांत नित्यप्रति इतक्या सुन्दर सुन्दर पदार्थांचा भगवन्तास भोग समर्पिण्यांत येतो, त्यांच्या चरण-धुलीने पाप्यांतील पापीहि तरून जातील, सीतामाता तर प्रत्यक्ष अन्नपूर्णा मातोश्वरीच आहेत, ज्यांच्या द्वारावर सदाशिव सदा आपले भिक्षापात्र पसरून भिक्षेसाठी उभे आहेत, त्यांही इतके पदार्थ करणे काय कठीण आहे'.

आचार्य म्हणतात–'सदाशिवासहि विष्णुस शरण गेल्यावाचून अन्नपूर्णेस अगस्त्यांचे शापातून मुक्त करणे शक्य नव्हते. मग त्या नानातऱ्हेची पक्कान्ने करण्यांत महान चतूर कां असेना'. *

* अन्नपूर्णा–पार्वतीने केलेल्या एका व्रताचे एके दिवशीं पारायण केले. ह्याचे उपलक्ष्यांत एका उत्कृष्ट तपस्वी ब्राह्मणास भोजन घालण्याची त्यांची इच्छा होती. अगस्ती ऋषिना भोजनास बोलाविण्याचा विचार करून, आपली इच्छा त्यांनी देवाधिदेव महादेवास सांगीतली. त्यांही हे ऐकताच कानांवर हात ठेवून म्हटले–'क्षमा करा, अरे, ह्या अगस्तींचे पोट कोण भरू शकणार? देवी! तुम्ही हा विचार सोडा. कोणी दुसरे, ब्राह्मणास बोलावू जगन्माता पार्वतीदेवीस आपले सामर्थ्याचा गर्व होता. त्यांही कांहीशा अभिमानाचे स्वरांत म्हटले–'काय मी एका

आचार्यांची ही गूढ गोष्ट श्रवण करून प्रभु मनांतले मनांत हसले व ते नित्यानन्दाकडेस पाहू लागले. नित्यानन्द बालकाप्रमाणे म्हणू लागले –'इकडे आठ दहा दिवसापासून नीट भोजनच मिळाले नाही, उपोषणच पडलेले आहे, आज व्रताचे पारायणच होईल. आचार्य! आणा न लवकर लवकर!'

---

अगस्तीचे पोट भरू शकणार नाही? ते कितीहि खावो, मी त्याचा प्रबन्ध करीन'. शंकर पुन्हा म्हणाले–'हे देवी! तुम्ही हा हट्ट सोडा, अगस्ती साक्षात वडवानलाचा आवतार आहेत, त्यांचे पोट भरणे कांही थट्टा नाही. दुसरे पुष्कळ महान्-तपस्वी, ऋषी–महर्षि आहेत'. बाल व स्त्री हट्ट प्रसिद्ध आहेत. पार्वती ह्यांनाच निमन्त्रण देण्याचा हट्ट धेऊन आडल्या. शिवाने म्हटले–'ठीक आहे, तुझ्या इच्छेप्रमाणे निमन्त्रण देतो, परन्तु मी ह्या चक्रांत पडणार नाही'. असे म्हणून शिवांनी अगस्त्यांना आमन्त्रण केले. ठरलेल्या दिवशी अगस्ती आले. हजारो यक्ष, किन्नर तथा देवतांच्या स्त्रिया बोलावून पार्वतीने नाना तऱ्हेचे पदार्थ तयार करविले होते. अगस्ती भोजनास बसले. ते खारट, तिखट, आंबट, गोड कशाचाहि स्वाद घेत नव्हते. जे पुढे येईल त्याचा ते 'स्वाहा' करीत होते. ह्याप्रमाणे त्यांहि सर्व पदार्थ गट्ट केले. आता पार्वती घाबरली. शिवांना सांगण्याची तिला लज्जा वाटू लागली, परन्तु दुसरा उपायच नव्हता. शेवट त्या शिवास शरण आल्या. हसून शिव म्हणाले–'देवी! मी प्रथमच सांगीतले होते कीं, तुम्ही कितीहि खाऊ घातले तरी ते तृप्त होणार नाहीत व तृप्त झाल्यावाचून उठणार नाहीत. त्यांना तर छळानेच उठवावे लागेल व छळाची विद्या तर विष्णुशिवाय कोणीच जाणत नाही'. असे म्हणून ते श्रीविष्णुभगवानाकडे गेले. सर्व वृत्तांत ऐकल्यावर विष्णुभगवान म्हणतात–'पार्वतीदेवी आम्हास तर निमन्त्रण करीत नाही. आता अप-

निरनिराळे पदार्थ आचार्यपत्निने दोघांच्या पात्रांत वाढले. ते सर्व पाहून प्रभु म्हणतात–'आचार्यदेव! आपणच विचार करा, इतके सुन्दर पदार्थ भक्षण करून संन्यासी आपले धर्माचे रक्षण कसे रीतीने करू शकणार? असे पदार्थ खाऊन संन्यासी आपले इंद्रियांचे संयम करू शकेल? इतके हे पदार्थ कशासाठी तयार केले?'

हसत हसत आचार्य म्हणतात–'आपणासारखे संन्यासी, मी तर आपणास नीट ओळखतो, माझे समोर ह्या गोष्टी कशाला? ह्या गरीबाच्या घरांतील जे काय ओले, वाळलेल असेल ते ग्रहण करावे अशी प्रार्थना आहे'.

प्रभुने म्हटले–'तर मग आपणच आमचे बरोबर बसून भोजन करावे. हे इतके सर्व पदार्थ कोण खाणार?'

---

त्तिचे वेळी माझे स्मरण केले, बरे आहे! आम्हासहि भोजन करवा, तर येतो'. शिव आपले जटांवर हात फिरवीत म्हणाले–'महाराज! एका ब्राह्मणापासून तर सुटका होऊ द्या, मग आपले संबंधाने पाहाता येईल. चला, कसेहि रीतीने त्यांना ह्या संकटांतून सोडवा'. शिवाच्या प्रार्थनेने भगवान् येऊन अगस्तीच्या बरोबर भोजन करू लागले. भोजन करता करता विष्णुभगवान मध्येच एकदम उठून उभे राहिले. नीति आहे कीं, पंक्तितील एक उठल्यावर दुसऱ्याने भोजन करू नये. विवश होऊन अगस्तीहि उठले. ते विष्णुवर फार नाराज होऊन म्हणाले–'आपण मध्येच उठलात, हे बरे नाही केले, माझे पोटहि भरले नाही, आता मला जलपान करवा?' 'दया करा, महाराज, तुम्हास जलपान करविण्याचे माझे एकट्यांत सामर्थ्य नाही'. समुद्राचे संपूर्ण जल पाजून त्यांही तो शब्द पुरा केला. ह्या ठिकाणीं सीतादेवी ह्या पार्वती, आचार्य शिवरूप, नित्यानन्दाना अगस्ती म्हणून आचार्य विनोद करीत आहेत. महाप्रभुना विष्णु म्हणून नित्यानन्दाच्या भयापासून मुक्त व्हावे असा उद्देश आहे.

हसून आचार्य म्हणतात–'जगन्नाथांत तर भक्तांनी अर्पण केलेले नानाप्रकारचे मणो–गणती पदार्थ अनेक वेळा स्वाहा करता, येथें इतकेसे खाऊ शकणार नाही ! जगन्नाथाच्या प्रमाणात हे तर कांहीच नाही'.

आचार्यांच्या ह्या उक्तिने प्रभु कांहीसे लज्जित झाले व म्हणाले–'खरोखरच पदार्थ अतिशय आहेत, थोडे काढून घ्यावे. संन्याशाने उच्छिष्ट पात्रांत राहू देऊ नये असे विधान आहे. आवश्यकता असल्यास मी पुन्हा मागून घेईन'.

प्रभुच्या फारच आग्रहामुळे आचार्य त्यांतील कांही उचलून घेऊ लागले. इतक्यांत नित्यानन्द म्हणाले–'तुम्ही दोघे खुशाल भांडत राहा, माझे तोंडास तर पाणी सुटून लाळ गळून राहिली आहे, मी हे पाहा सुरुवात करतो. हा पाहा लाडू गेला, ही रबडी चालली'. असे म्हणून त्यांनी रबडी व खीर गटगट पिऊन टाकली. प्रभुंनीहि भोजनास प्रारम्भ केला. प्रभुंच्या पात्रांतील जो पदार्थ सरत होता, तो पुन्हा आचार्य आणून वाढीत होते. प्रभु पुष्कळ ना म्हणत, परन्तु आचार्य त्यांचे ऐकतच नव्हते.

मधून मधून आचार्य नित्यानन्दाबरोबरहि विनोद करीत होते–'अवधूत ! आपले पोट भरणे तर फारच कठीण, कारण आपण अगस्ती-पेक्षा कांही कमी नाही. तरी पण पहा हं, उच्छिष्ट राहू न द्यावे !'

ह्या प्रमाणे हास्य-विनोदांत दोघांचे भोजन समाप्त झाले. प्रभु आराम करण्यास बाहेरच्या भागांत गेले. ह्या नन्तर सर्वांनी भोजन केले व ही सर्व भक्त मंडळी प्रभुंच्या समीप येऊन बसली.

तिसरे प्रहरी प्रभुस कांहीशी झोप लागतेसे वाटले, तो एकदम हरि-ध्वनि त्यांचे कानीं पडला. तो ध्वनि कानी पडताच प्रभु उठून बसले व चहुकडे पाहात ते विचारतात–'आचार्य ही गडबड काय आहे ?'

आचार्य म्हणाले–'वाटते कीं, नवद्वीपाहून बरीचशी भक्त मंडळी

प्रभुच्या दर्शनास येत आहेत'. असे म्हणत म्हणत आचार्य बाहेर येऊन पाहू लागले. थोडेच वेळांत समोरून श्रीवास, रमाई पण्डित, पुंडरीक विद्यानिधि, गंगादास, मुरारी गुप्त, शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी, बुद्धिमन्तखां, नन्दनाचार्य, श्रीधर, विजयकृष्ण, वासुदेव घोष, दामोदर, मुकुन्द, संजय आदि पुष्कळसे भक्त झांजा, मजीरा, मृदुंग वाजवीत व हरिध्वनि करीत येत असल्याचे दिसले. त्यांहि फार उल्लासाने एकदम ओरडून म्हटले–'प्रभो ! सर्वच्यासर्व आले आहेत, कोणीहि बाकी नाही. बाकी राहाणारच कसे, जेथे राजा तेथेच प्रजा. भक्त भगवन्तापासून पृथक् राहाणारच कसे ?' हे ऐकताच प्रभु होते तसेच एकदम उठून बाहेर आले. भक्त समोर येतात हे पाहून हेहि त्यांचेकडेस धावले. त्यावेळीं ते प्रेमांत इतके गर्क झाले होते कीं, उंच चबुतराहि त्यांचे लक्षांत राहिला नाही. त्यावरून ते एकदम कुदले. प्रभु आपणाकडेस येत आहेत हे पाहून सर्वांनी त्यांना तेथूनच साष्टांग प्रणाम करण्यास सुरूवात केली. प्रभुंनी जाऊन सर्वांना प्रेमाने उठविले. कोणास आलिंगन दिले, कोणास स्पर्श केला, कोणाचा हात धरला, कोणास प्रणाम केला, तर कोणाकडेस नुसता दृष्टिक्षेपच केला. ह्याप्रकारे प्रभुंनी सर्वांना संतुष्ट केले. संन्याशी वेषांत प्रभुंना समोर उभे असलेले पाहताच भक्त आनन्द व दुःखाने रुदन करू लागले. प्रभु श्रीवासाचा हात धरून पुढे चालू लागले. अद्वैताचार्यहि त्यांचे मागेच होते. प्रभु पुढे जातातसे पाहून चन्द्रशेखर आचार्य पुढे होऊन म्हणाले–'प्रभो ! शचीमाताहि आल्या आहेत'.

हे ऐकताच प्रभु चकीत होऊन एकदम थांबले व संभ्रमाने विचारतात–'कोठे आहे ?'

आचार्यरत्नाने हळूच म्हटले–'ह्या जवळच्याच निंबाच्या वृक्षाखाली त्यांची पालखी ठेविलेली आहे'. प्रभु लागलेच मागे परतले.

अद्वैताचार्य व अन्य भक्तहि प्रभुचे मागे चालले. दुरूनच मातेस पालखीत बसलेले पाहताच त्यांही त्यांना साष्टांग लोटांगण घातले. वृद्धा मातेने पालखींतून उतरून आपले संन्यासी पुत्रास प्रेमाने आलिंगन दिले व केशशून्य मस्तकावरून हात फिरवीत त्या म्हणाल्या–'निमाई! संन्यासी होऊन, मला प्रणाम करून, तूं मला अधिक पापांत कां लोटित आहे? तूं जे केले ते चांगलेच केले आहे. आता तूं माझे घरीं राहाणे शक्य नाही. परन्तु बेटा! तूं ह्या आपले दुःखी आईस अगदीच विसरू नको. तूंहि विश्वरूपाप्रमाणे निष्ठूर होऊ नको. त्याने तर घर सोडल्यापासून आजपावेतो तोंडच दाखविले नाही. तूं तसे करू नको'. असे म्हणता म्हणता माता अधीर होऊन जमीनिवर पडली. प्रभुहि अचेत होऊन मातेच्या मांडीवर पडले व फुंदून फुंदुन रडू लागले व म्हणाले–'मा, मी कसा कां संन्यासी असेना, तू माझी माता आहेस व मी तुझा सदाहि पुत्रच आहे. जननी! मी तुमचे ऋणांतून कधीहि उतराई होणार नाही. माते! मी विचार न करता तात्काल संन्यास घेतला, तरीहि, मी तुझेपासून पृथक् राहाणार नाही, जेथे तुमची आज्ञा होईल, तेथेच राहीन'.

प्रभुच्या ह्या सान्त्वनपूर्ण वचनाने शचीमातेस कांहीसा संतोष झाला. तिने आपले पदराने प्रभुचे अश्रु पुसले व त्या त्यांना लहान मुलाप्रमाणे कुरवाळु लागल्या.

अव्दैताचार्यांनी प्रभुस घरीं चलण्याची प्रार्थना केली. प्रभु उठून उभे राहिले व भोयांनी पालखी उचलून आचार्यांचे घराकडेस ते निघाले. त्यांचे मागे पुष्कळसे भक्त जोराने कीर्तन करीत चालू लागले. द्वारापाशी पोचताच आचार्यपत्नि सीतादेवींनी पुढे होऊन शचीमातेस पालखींतून खाली उतरून घेतले व त्यांना घेऊन त्या घरांत गेल्या. भक्तवृन्द बाहेर उभे राहून संकीर्तन करीत होते.

# शचीमातेचा संन्यासी पुत्राप्रति मातृ-स्नेह

शीलानि ते चन्दन शीतलानि
श्रुतानि भूमीतलविश्रुतानि ।
तथापि जीर्णौ पितरावतस्मिन्
विहाय हा वत्स! कथं प्रयासि ॥

पुत्रच मातेचा आत्मा. पुत्रच मातेच्या शरीराचा एक भाग आहे. पुत्राचा सन्तोष तोच मातेचा सन्तोष. पुत्राच्या प्रसन्नतेनेच मातेस प्रसन्नता होते व पुत्राच्या तुष्टींतच मातेस आपले तन मनःतुष्टीचा अनुभव येतो. सर्वांत जर कोणती मोठी हौस मातेस असेल तर ती म्हणजे पुत्राने आपले सन्मुख भोजन करावे. त्यास जे जे आवडत असेल ते ते पदार्थ आपण स्वतः तयार करून त्यास खाऊ घालण्यांत तिला जो आनंद वाटतो, तो आनन्द ते पदार्थ स्वतः सेवनाने होत नाही. पुत्र वृद्ध झालेला कां असेना, त्याच्या पाण्डित्याची, त्याच्या बुद्धिची, त्याचे ऐश्वर्याची जगत् प्रशंसा करो वा न करो, परन्तु मातेस तर तो सदैव लहान बालकच असणार. तो येताच ती त्याच्या पोटाकडेस पाहील व भूक लागली आहे किंवा काय ती चौकशी करील. जाताना त्याची वस्त्रे-प्रावरणे व्यवस्थित करून देईल. लहान-सहान गोष्टी सुद्धा ती त्यास समजावून सांगेल. वाटेतील उपहाराचीहि ती सोय करून देण्यास विसरणार नाही. नीतिकार म्हणतात—

**मात्रा समानं न शरीरपोषणम्।**

अर्थात् मातेसमान शरीराचे पोषण करणारी दुसरी व्यक्तिच नाही.

शचीमातेने आता आपले निमाईस संन्यासी वेषांत पाहिले. आता त्याची श्वेत वस्त्रे नव्हती, त्याच्या डोक्यावरील केशांना पूर्वीप्रमाणे

तेल लावावयाचे नव्हते, आता ते धातुचे पात्रांत भोजन करीत नव्हते, एकाच्याच घरीं अन्न ग्रहण करीत राहाणे आता त्यांना निषिद्ध होते, तरी ह्या सर्व बाह्य गोष्टी होत्या. मातेस तोच त्यांचा पुत्र जुना निमाईच होता. डोके मुंडवल्यानें वा वस्त्रे भगवी केल्याने त्यांचे निमाईत कांहीहि परिवर्तन झाले नव्हते. मातेचे प्रभुवर पूर्ववत् प्रेम होते.

माता स्वयं आपले हाताने निरनिराळे पदार्थ तयार करीत. प्रभुचे आवडनिवडीशी ती पूर्ण परिचित होती. त्यांना आवडत असलेले पदार्थ तयार करून त्या आपले हाताने वाढून प्रभुंना खाऊ घाली. प्रभुहि मातेला संतोष व्हावा म्हणून सर्व पदार्थ रुचिपूर्वक खात व त्यांची वारंवार प्रशंसा करीत. प्रभुंचे भोजनोत्तर सर्वांचे भोजन होत असे. ह्याप्रमाणे आचार्यांचे घर त्या वेळीं उत्सव मण्डप झाले होते. प्रातःकाल होताच सर्वजण संकीर्तन करीत. नन्तर प्रभुंना बरोबर घेऊन गंगास्नानास जात. तेथे बराच वेळ स्नानादि झाल्यावर सर्व भजन करीत आचार्यांचे घरीं परत येत. घरीं आल्यावर प्रभु भोजन करीत व त्यांचे भोजन झाल्यावर सर्वांचे भोजन होई. नंतर तिसरे प्रहरीं श्रीकृष्ण-कीर्तनास प्रारम्भ होई. सायंकालीं पुन्हा गंगा किनाऱ्यावर जाऊन प्रभुंच्या बरोबर भक्ति-संबंधी गूढ विषयावर गोष्टी चालत. प्रभु सर्वांना भक्ति-तत्वाचे रहस्य समजावून सांगत, उपासनेची पद्धति दाखवीत व संकीर्तनापेक्षाहि जपाचे महत्व वर्णन करीत. भगवन्नामजप कोणत्याहि रीतीने केला तरी तो कल्याणप्रदच होतो. त्यास संकीर्तनाप्रमाणे अन्य साधनांची अपेक्षा नसते. मनुष्य हर समयी, हर स्थानी, हर अवस्थेंत भगवन्नामाचा जप करू शकतो. ते शिवाचे हे वाक्य वारंवार सांगत—

**'जपात् सिद्धिः। जपात सिद्धिः। जपात सिद्धिर्वरानने।'**

अर्थात्-'हे पार्वती! मी प्रतिज्ञापूर्वक सांगतो कीं, जपानेच सिद्धि प्राप्त होते'. कोणास कांही शंका उत्पन्न झाल्यास प्रभु त्याचे समाधान

करीत. सायंकालीं गंगेवरून परत आल्यावर संकीर्तनास प्रारंभ होई. ह्या समयीं संकीर्तनांत फारच आनन्द होई. सर्वजण भानरहीत होऊन कीर्तनांत नृत्य करीत. त्यांत वृद्ध आचार्यहि भावावेशांत येऊन नृत्य करीत व प्रसंगी ते भानशून्य होऊन जमीनीवर पडत.

महाप्रभु आता फारच कमी नृत्य करीत. परन्तु प्रसंगी भावावेशांत येऊन नृत्य केले तर त्यावेळीं त्यांचे शरीरावरील रोमांच ताठ उभे राहात व नेत्रांतून सारखा अश्रु-प्रवाह सुरू होई. हरि बोल, हरि बोल, म्हणून जेव्हा ते जोराने नृत्य करीत तेव्हा पाहाणारास असेच प्रतीत होई कीं, ते आकाशांत स्थित होऊनच नृत्य करीत आहेत. भक्त-गण आनन्द-भरांत त्यांच्या पायाखालील धुली आपले शरीरास लावीत व आपणास धन्य मानीत. ह्याप्रमाणे प्रभुंनी दहा दिवस अद्वैताचार्यांचे घरीं मुक्काम केला.

नवद्वीपांतील व शान्तिपुरांतील लोकांची अशी इच्छा होती कीं, 'प्रभुंनी एकादे दिवशीं त्यांचेकडेस भिक्षेस यावे. परन्तु शचीमातेने सर्वांना विनविले कीं, तुमचेकडेस तर प्रभु वाटेल तेव्हा येतील, परन्तु माझे सारखे दुःखीतास असा समय कोण जाणे पुन्हा केव्हा प्राप्त होईल. मला तर हाच समय आहे. माझी तुम्हा सर्वांना हीच प्रार्थना आहे कीं, जो पावेतो निमाई शान्तिपुरांत आचार्यांचे घरीं आहे तो पावेतो, तो माझे हातचेच केलेले भोजन करील. त्याजवर आता माझे प्रमाणे तुम्हा सर्वांचाहि अधिकार आहे, परन्तु माझी अशी इच्छा आहे'. हे ऐकून सर्वजण चुप होत. ह्याप्रमाणे आपले जननीच्या हातची भीक्षा सेवन करून, सर्वांना आनन्दवीत प्रभुंनी शान्तिपुरांत मुक्काम केला.

लांबून लांबून येथे लोक ह्यांचे दर्शनास येत. ह्याप्रमाणे येथे हा मेळाच भरला होता.

प्रेमावतार चैतन्यदेव मातृ-प्रेमास्तव व अद्वैताचार्यांचे प्रेमाग्रहानेच शान्तिपुरास दहा दिवस राहिले.

# पुरी-गमनाचे पूर्वी

श्रीकृष्णचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्।
जगत् सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम ॥

भगवन्ताचे स्वरूप निर्गुण आहे, कां सगुण? जगत् मिथ्या आहे या सत्य? मनांत शंका उत्पन्न होताच समजावे कीं, अद्यापि भगवत् कृपेचे अधिकारी होण्याची पात्रता अंगीं आलेली नाहीं. ज्याच्यावर भगवन्ताची कृपा झाली आहे, त्याचे मनांत असे प्रश्न उद्भवून चित्तांत विक्षेप उत्पन्न होत नाहीत. भगवान् सगुण या निर्गुण, साकार या निराकार असो; हे जगत् सत्य असो वा त्रिकालीनहि उत्पन्न झालेले नसो, उच्च साधकास ह्या गोष्टींचे प्रयोजन नसते. ते तर सर्व संसारी परिग्रहांचा परित्याग करून प्रभुचे पादपद्मांच्या ठायीं प्रेम करण्यासाठी वेड्यासारखेच होतात. ते आपला वेळ ह्या जगताच्या सत्यता वा मिथ्यत्वतेच्या भानगडींत व्यर्थ गमवीत नाहीत. काय घटपटव्यापी भगवान आपले अन्तःकरणांतील गोष्टी जाणत नाही? काय तो सर्वशक्तिमान् नाही? काय त्यांचे चित्त दया भावाने भरलेले नाही? ह्याचे उत्तर 'हो' असेल तर, तो भगवान्, आमचे हृदयाचा सत्यभाव समजून दयाभूत होऊन, जसा निराकार वा साकार असेल, तसा तो आमचे समोर प्रकट होईल! आम्ही द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत ह्या झगड्यांत कां पडावे? परन्तु अशी भावना सर्वांची असत नाही. जे मस्तिष्क म्हणजे बुद्धि-प्रधान असतात, त्यांच्याच्याने विचार केल्यावाचून राहावत नाही. अशांना समजावूनच श्रद्धा उत्पन्न करावयाची, व त्या श्रद्धेच्या आश्रयानेच त्यांना सत्याप्रत पोचवावे, म्हणूनच महर्षिनी वेदान्त-शास्त्राचा उपदेश केला आहे. वेदांच्या अन्तिम भावास वेदान्त म्हणतात.

त्याचा संबंध विचाराशी असतो. परन्तु हृदय-प्रधान तर विचारांची विशेष परवा करीत नाही; ते तर 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' म्हणत म्हणत आपले प्याऱ्यांचे पादपद्मास पोचून सर्वस्वी **त्याचेच** होऊन राहतात. **त्याचेच काय,** तद्रूपच होऊन जातात. परन्तु सर्वांनाच असे सौभाग्य प्राप्त होत नाही. ज्याचेवर त्याचा अनुग्रह होतो तोच ह्या पदाचा पथिक होतो.

ह्यावर अशीहि शंका निघण्यासारखी आहे कीं, तर मग 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' म्हणणारा अज्ञानीच राहणार, व ज्ञानाशिवाय संसार-बन्धनांतून मुक्ति होत नाही. 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' तेव्हा असा मूर्ख प्रभुचे पाद-पद्माप्रत कसा पोचू शकतो? ह्याचे सरळ उत्तर हेच कीं, जो सर्वस्वाचा त्याग करून भगवन्तास अनन्यभावाने शरण आलेला आहे, सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान्, ज्याचे स्वरूपच 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' असेच आहे, तो त्यास ज्ञानहीन राहूच कसा देईल? त्यास शरण येताच हृदय-ग्रन्थी आपले-आपुणच उकलून जातील. प्रयासावाचून त्याचे सर्व संशय दूर होतील. कर्माकर्माची जटिल समस्यांचा उलगडा न होताच त्यांची संपूर्ण कर्मे क्षीण होतील. भगवत्-शरणागतींत हीच तर सुलभता, सरलता, व सरसता आहे. आकाश-पाताल एक करण्याचे कारण न पडता, आनन्द प्राप्त होईल, सदैव त्या अद्भुत रसाचे पान करीतच राहावे. परन्तु ह्या अनन्य उपासनेसाठी व भगवत्-प्रसन्नतेसाठी सर्व संसारी-परि-ग्रहांचा पूर्ण त्याग केला पाहिजे. तेव्हा त्या अद्भुत आसवाची प्राप्ति होऊ शकते. केवल ढोंगाने व भेदभावाच्या संकुचित क्षेत्रांतच आडकून राहिल्याने काम चालणार नाही.

अद्वैतवादी संन्याशाप्रमाणे महाप्रभुंनी दीक्षा घेणे व दण्ड धारण करणे, ह्या बाबतींत अद्वैताचार्यांना शंका आली. त्यांही प्रभुस विचारले--

'प्रभो! अद्वैतवादी संन्याशाप्रमाणे आपण ही संन्यास-दीक्षा कां घेतली? आपली सर्व कार्ये अलौकिक आहेत, आपल्या लीला जाणल्या जात नाहींत'.*

हा प्रश्न ऐकून कांहीसे हसत प्रभुने म्हटले–'आचार्यदेव! आपण तर स्वता विद्वान् आहात. आपण स्वताच विचार करून पाहा, काय मी अद्वैत सिद्धान्त मानीत नाही? आपणच विचार करा, आपणांत व ईश्वरांत चिन्हादि मात्रांचाच भेद दिसण्यांत येतो. वस्तुतः तर दुसरा कोणताहि अन्य भेद प्रतीतच होत नाही.†

हे उत्तर ऐकून हसतच अद्वैताचार्य म्हणू लागले–'धन्य आहे, भगवान्! आपण तर वाणीचे स्वामी आहात, आपले समोर तर कांही बोलणेच शक्य नाही.§

तेव्हा प्रभुंनी गंभीरतेने सांगीतले—

**विना सर्वत्यागं भवति भजनं नह्यसुपते**
**रिति त्यागोऽस्माभिः कृत इह किमद्वैतकथया।**
**अयं दण्डो भूयान् प्रवलतरसो मानसपशो—**
**रितिवाहं दण्डग्रहणमविशेषादकरवम्॥** (चै. चं. ना.)

---

* अद्वैत–कयं लीला व्यरचि भवता योऽयमद्वैतभाजा–
मत्येन्तेष्टस्तमधृत भवानाश्रमं यत्तुरीयम्।

† भगवान् विहस्य–भो अद्वैत स्मर किमु वयं हन्त नाद्वैतभाजो
भेदस्तस्मिंस्त्वयि च यदि वा रूपतो लिङ्गतश्च॥
(चै. चं. नाटक)

§ अद्वैत–वाणीश्वरेण किमुचितं वचनानुवचनम्।
(चै. चं. नाटक)

'आचार्यदेव ! ह्यांत द्वैत-अद्वैत ते काय आहे ? खरी गोष्ट अशी आहे कीं, सर्वस्व त्यागावाचून त्या प्राणरमण श्रीकृष्णाचे भजन होऊच शकत नाही. ह्याचसाठी मी सर्वत्राचा त्याग करून संन्यास ग्रहण केले. हे मन तर अत्यंत चंचल पशुसमान आहे. हे स्थिर-भावाने श्रीकृष्ण-चरणांच्या सुखमय शीतल छायेंत बसून विश्राम करीतच नाही, नेहेमी इकडे तिकडे भटकत असते. त्यास ताडन करण्यासाठी मी हा दण्ड धारण केला आहे'.

प्रभुंचे हे गूढ रहस्यपूर्ण म्हणणे ऐकून अद्वैताचार्य मनांतले-मनांत फारच आनन्दीत झाले. ह्या नन्तर आणखीहि भक्त मंडळी प्रभुच्या संन्यासासंबंधाने निरनिराळ्या गोष्टी करू लागले. कोणी म्हणत–'प्रभो ! आपण संन्यास घेऊन भक्तांच्या बाबतींत फारच अन्याय केला आहे. प्रथम तर आपणच प्रेमतरूची स्थापना केली, त्यास संकीर्तनाच्या सुन्दर सलिलाने सिंचन केले, व वाढविले. जेव्हा त्यास फळे लागली व ती पिकण्याचा समय आला, तेव्हा आपण तो वृक्ष मूळांतून कापून टाकला. आपण लाविलेला विषवृक्षाहि लोक तोडीत नाहीत. आपलेवाचून भक्त कसे जगतील ? कोण त्यांची करुण कहाणी ऐकेल ? विपत्काली भक्त कोणास शरण जातील ? संकीर्तनांत आपले अद्भुत व अलौकिक नृत्याने आता त्यांना कोण अल्हादित करील ? गंगातटावर भक्तांसहित आता कोण जलविहार करील ? आम्हास श्रीकृष्ण कथा ऐकवून कोण आम्हास सुखी व प्रमुदित करील ? भक्त आपले वियोग-दुःख सहन करणे शक्य नाही'.

प्रभु भक्तांना धैर्य देत म्हणतात–'पाहा, बांधव हो ! घाबरून काम चालणार नाही. व्हावयाचे ते तर, आता होऊन चुकले. आता संन्यास सोडून गृहस्थीचा स्वीकार करा, असे तुम्हीहि मला सांगणार नाही. तुम्हा आम्हा सर्वांचे स्वामी अद्वैताचार्य येथेच राहणार आहेत. मीहि

जगन्नाथपुरींत निवास करीन. कधी कधी प्रसंग विशेषी तुम्ही आम्हाकडे येत जात राहालच. मीहि कधी कधी गंगास्नानासाठी येथे येत जाईन. ह्या प्रमाणे एक दुसऱ्याचे भेटीचा योग येत राहील'.

इतक्यांत चन्द्रशेखर आचार्य बोलले–'ह्या लोकांना आपण कसे तरी समजावू शकाल. परन्तु शचीमातेस काय सांगणार, ती तर आपले वाचून जगण्याची पण इच्छा ठेवीत नाही'.

प्रभुने कापऱ्या आवाजाने म्हटले–'मातेस मी समजावूच काय शकणार आहे? आपणच सर्व तिला समजावाल, तरच ती समजेल. मग माता जशी आज्ञा देतील तसेच मी करीन. त्यांहि मला घरीच राहाण्यास सांगीतल्यास, मी तसेच करीन'.

इतक्यांत अश्रु विमोचन करीत माताहि तेथे आल्या. त्यांहि दाटल्या कंठाने म्हटले–'निमाई! तूं येथून आम्हास सोडून अन्यत्र जाण्याचा विचार करतो आहेस?'

मातेस समजावीत करुण स्वराने प्रभु म्हणतात–'माते! मी तुझी आज्ञा उल्लघन करू शकत नाही. तूं सांगशील त्याप्रमाणेच मी वागेन. संन्याशाने आपले घराजवळ वा आपले संबंधी मंडळींच्या येथे इतके दिवस राहाण्याचे विधानच नाही. अधीक दिवस एकाचेच घरांतील अन्न खात राहणेहि संन्याशास निषिद्ध आहे. परन्तु तुम्हास व आचार्यास बरे वाटावे म्हणून इतके दिवस येथे राहून तुमचेच हातची भिक्षा घेतली. आता मला कोठेतरी अन्यत्र वास केला पाहिजे. माझी इच्छा तर वृन्दावनास जाण्याची होती. परन्तु तुम्हा सर्वांच्या स्नेहाकर्षणाने मला येथे खेचून आणले. आता तुम्ही सांगाल तेथेंच राहीन. तुमचे आज्ञेचे प्रतिकुल आचरण करण्याची क्षमताच माझेंत नाही. माते! मी सदाहि तुमचाच आहे व तुमचाच राहीन'.

आपले संन्यासी पुत्राचे हे प्रेमपूर्ण वचन श्रवण करून मातेचे हृदयहि पालटले. त्या प्रेमवाक्याने, जणु काय त्या अधीर झालेल्या मातेच्या अन्तःकरणांत साहसाचा संचार झाला. मातेने दृढतापूर्वक म्हटले–'बेटा! माझे भाग्यांत जसे लिहिले असेल, तसे मी भोगीन. माझे मला कांहीच वाटत नाही, परन्तु विष्णुप्रियेचे काय? ती अद्याप अगदी अबोध बालिका आहे. संसारी गोष्टींशीहि अगदी अपरिचित आहे. परन्तु भावी-भवितव्यता अत्यन्त प्रबल आहे. आता होऊच काय शकणार? संन्यासाचा त्याग करून फिरून गृहस्थाश्रमांत प्रवेश कर, असे पापवचन मुखांतून काढून मी पापाची भागीदारीण होण्याची इच्छा करीत नाही. संन्यास घेऊन घरीं राहण्याने लोक तुझी अवश्य निन्दा करतील. तुझे वियोग दुःख तर मी कसेहि प्रकारे सहन करीन; परन्तु लोकांच्या मुखांतून निघालेली तुझी निन्दा मला सहन होणार नाही. ह्याचसाठी तूं घरींच राहा, असा आग्रह मी करीत नाहीं. वृन्दावन फार दूर आहे, तेथे राहण्याने तुझे भक्तांनाहि क्लेश होतील व मलाहि तुझा समाचार वारंवार समजणार नाही. तुला अनुकुल वाटत असल्यास व तुझी इच्छा असल्यास, तूं जगन्नाथपुरीस राहावे'.

पुरीच्या यात्रेस येथून प्रतिवर्षी हजारो यात्री जातात. भक्तहि रथ-यात्रेचे समयी जाऊन तुला भेटून येत जातील व मलाहि तुझा क्षेम समाचार समजत जाईल. आम्हास भेटण्यासाठी नाही, परन्तु गंगा-स्नानानिमित्त तूंहि कधी कधी येथे येत जाशील. ह्याप्रमाणे नीलाचलांत राहाण्याने तुझे वियोग-दुःख आम्हास इतके जाणवणार नाही. पुढे तुला योग्य वाटेल तसे!'

प्रसन्नतेने प्रभुनी म्हटले–'जननी! तुम्ही धन्य आहा! विश्वरूपाच्या मातेस हेच वचन शोभते. संन्याशाचे मातेस अनुरूप असेच तुम्ही

बोललात. मला तुमची आज्ञा शिरोधार्य आहे. मी आता पुरीस जाऊन राहीन व तेथून कधी कधी गंगास्नानानिमित्त येथेहि येत जाईन'.

या प्रमाणे मातेनेच प्रभुस नीलाचल येथे राहाण्याची अनुमति दिली व भक्तांनीहि दुःखीत अन्तःकरणाने ती गोष्ट स्वीकारली. प्रभुचा नीलाचलास जाण्याचा निश्चय झाला. पुष्कळ भक्त बरोबर जाण्यास तयार झाले, परन्तु प्रभुंनी सर्वांना ना म्हणून, घरीं परत जाण्यास सांगीतले. भक्त प्रभुंना सोडण्यास तयार नव्हते. ते प्रभुंच्या प्रेमपाशांत इतके बांधले गेले होते कीं, घरीं जाण्याचे नांव काढताच ते घाबरत.

पुष्कळ आग्रह केल्यावरहि प्रभुंच्या पूर्वी कोणी आप-आपले घरीं जाण्यास तयार होईना, तेव्हा प्रभुंनी नीलाचल जाण्याचे प्रस्थानाचा विचार लेला. आता अश्रुयुक्त नेत्रांनी अद्वैताचार्यांनीहि ह्यास सम्मति दिली. प्रभुंच्याबरोबर नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर पंडित, व मुकुन्ददत्त हे चार भक्त जाण्यास तयार झाले. आचार्यांचे आग्रहाखातर प्रभुंनी ह्यास अनुमति दिली.

# पूरीचे पथांत

**मा याहीत्यपमंगलं व्रज सखे स्नेहेन हीनं वच-**
**स्तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वैषाऽप्युदासीनता ।**
**नो जीवामि विना त्वयेति वचनं सम्भाव्यते वा न वा**
**तन्मां शिक्षय नाथ यत्समुचितं वक्तुं त्वयिप्रस्थिते ॥**

गोस्वामी तुलसीदासांनी सज्जन व दुर्जनाचे समागमाची तुलना करताना म्हटले आहे—

**'मिलत एक दारुन दुख देहीं । बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ॥'**

खरोखर आपले प्रियजनाचे वियोगच्या समयी तर सहृदय पुरुषास मरण-समान दुःख होते. ज्याचे संगतींत इतके दिवस हास्य-विनोद, भोजन-पान आदि केले, जो निरन्तर सहवासाने आनन्दवींत होता, तोच आपला प्यारा, सखा एकाएकी आपणापासून न जाणो, किती दिवसा-साठी पृथक होतो आहे, ह्या गोष्टीच्या स्मरणमात्राने सहृदय सज्जनाचे हृदयास भारी क्षोभ उत्पन्न होऊ लागतो. परन्तु त्यांतहि एक गोड-गोड मजा आहे. त्याचा आस्वाद भावुक प्रेमी पुरुषास मिळू शकणार. बिचाऱ्या संसारी स्वार्थपूर्ण पुरुषाच्या भाग्यांत ते सुख लिहिलेले नाही.

दहा दिवसपर्यन्त भक्तांच्या चित्तास आनन्दविल्यानन्तर आज प्रभु शान्तिपुरीचा त्याग करून पुरीच्या पथाचे पथिक होणार, ह्या गोष्टीच्या स्मरणमात्रानेच सर्व परिजन व पुरजनांच्या हृदयांत प्रभुच्या वियोगजन्य दुःखाची पीडा होऊ लागली. सर्वांच्या मुखावर उदासीनता दिसत होती. प्रभुंनी कांहीसे अनन्यमनस्क भावाने आपली पाघरण्याची छाटी घेतली, लंगोटी कमरेस गुंडाळली व लहानसा साफा डोक्यास बांधला.

एका हातांत दण्ड घेतला व दुसरे हातांत कमण्डलु घेऊन प्रभु तेथून बाहेर पडले. प्रभु बाहेर पडलेले पाहाताच सर्वांच्या नेत्रांतून अश्रु-प्रवाह वाहू लागला. वृद्ध शचीमातेचे अन्तःकरण धडकु लागले.

जगदानन्दांनी प्रभुच्या हातांतील दण्ड घेतला व दामोदरांनी कमण्डलु. आता प्रभुंचे दोन्ही हात रिकामे झाले. त्या दोन्ही हातांनी वृद्ध मातेच्या चरणांना स्पर्श करून प्रभु सद्गदित कण्ठाने म्हणतात–'माते! मला असा आशीर्वाद द्या कीं, मी माझे संन्यास–धर्माचे विधिवत् पालन करू शकेन'. समजणे कठीण आहे कीं, त्यावेळीं पुत्र–स्नेहाने दुःखी झालेले मातेस इतके धाडस कसे करवले. तिने आपले प्रिय पुत्राचे मस्तकावर हात फिरवीत म्हटले–'बेटा! तुमचा पथ मंगलमय होवो, वायु तुम्हास सहाय करो. तुम्ही तुमचे धर्माचे विधिवत् पालन करा'. पुढे ती कांहींच बोलू शकली नाही. तशाच स्थितींत प्रभुंनी आपले मातेस प्रदक्षिणा केली व दोन्ही कर जोडून ते निःस्पृह भावाने गंगा किनाऱ्याने पुरीकडेस निघाले. शेकडो भक्त अश्रु ढाळीत व आर्तस्वर करीत प्रभुच्या मागे जाऊ लागले. शचीमाताहि लोक-लज्जा सोडून रडत रडत आपले प्राण-प्रिय पुत्राचे मागे चालली. निःस्पृह वत्स वृद्ध मातेस सोडून दुसरीकडेस जातो आहे, व त्याची माता–वृद्ध गाय–त्याचे मागे हंबरा फोडीत दौडते आहे, त्याप्रमाणे शरीराची शुद्धहि विसरून शचीमाता प्रभुच्या मागे आक्रोश करीत भक्तांच्याहि पुढे चालली आहे. तिच्या आक्रोशाने काळीज फाटून जात आहे. डोक्याचे सफेत केश विखुरलेले, आसुंनी वक्ष-स्थल भिजलेले, लथडत प्रभुंच्या मागे ती चालली आहे. प्रभु मातेस पाहात असताहि तिचे नेत्रास आपले नेत्र ते भिडवित नव्हते. वृद्ध आचार्यसुद्धा जोराने मुलाप्रमाणे रुदन करीत होते. ह्या सर्व प्रकाराने प्रभु अगदी अधीर झाले. ते चालता चालता थांबले व अश्रु ढाळीत अद्वैताचार्यांना म्हणतात–

'आचार्यदेव ! आपण इतके वृद्ध असूनहि एकादे बालकाप्रमाणे आसु ढाळीत आहा, तेव्हा भक्तांना कोण धैर्य होणार ? आपले मजवर पुत्रवत् सदैव प्रेम आहे. हे मी जाणतो कीं, माझे वियोगाने आपणास असह्य दुःख होईल, परन्तु आपण तर सर्वसमर्थ आहात, आपले धैर्यापुढे माझे वियोग जन्य दुःख कांहीच नाही. मी म्हणतो, आपण आता शान्तिपुरास परत जावे. आपण माझे बरोबर आल्यास मातोश्रीची व भक्तांची काळजी कोण घेईल ? आपण माझे ह्या कार्यासाठी शान्तिपुरांत राहावे. मी मातेस व भक्तांना आपले हातीं देतो. आपणच ह्या सर्वांचा संभाळ करा, ह्यांचा भार आपलेच शिरावर आहे. आता हे करुण दृश्य माझेच्याने पाहावत नाही, आपण ह्यांना घेऊन शान्तिपुरास परत जावे'.

आचार्यांनी प्रभुच्या आज्ञेचे पालन केले. ते तेथेच थांबले. त्यांहि लोटांगण घालून प्रभुस प्रणाम केला. प्रभुंनी त्यांची चरणधूलि आपले मस्तकावर धारण केली, व मातेच्या चरणीं लागलीच वन्दन करून व त्या सर्वांना तसेच जमीनीवर पडलेले टाकून ते पुढे जाण्यासाठी धावत सुटले. नित्यानन्द, दामोदर, जगदानन्द व मुकुन्ददत्त ह्यांनीहि सर्वांचा निरोप घेतला व तेहि प्रभुंचे मागोमाग धावले. सर्व लोक तसेच पडलेले राहिले. प्रभु गेले, असे जेव्हा भक्तांनी पाहिले, तेव्हा ते सर्व उठले व उभे राहून गंगेकडेस पाहात राहिले, आणि प्रभु दिसत होते तोपावेतो, त्यांहि त्यांचे कडेस सारखी टक लाविली होती. जेव्हा प्रभु आपले साथीदारांसह दिसेनासे झाले, तेव्हा खिन्न मनाने मातेस पुढे करून सर्वजण अद्वैताचार्यांचे घरीं परत आले. श्रीवास आदि भक्त त्याच वेळीं मातेस घेऊन नवद्वीपास निघून गेले.

इकडे बन्धनांतून सुटलेले प्रभु मत्त गजेन्द्राप्रमाणे द्रुत गतीने गंगाकिनाऱ्याने चालले होते. त्यांचे मागोमाग नित्यानन्द आदि चालत होते.

सर्वजण गृहत्यागी, विरागी व अल्प-वयस्क युवकच होते. सर्वांच्या हृदयांत त्याग-वैराग्यरूपी अग्नि प्रज्वलित झालेला होता. त्यांची परिक्षा पाहाण्याचे हेतूने प्रभुंनी त्यांना विचारले-'तुम्ही मला खरे खरे सांगा, तुम्ही प्रत्येकाने काय काय सामान घेतले आहे व प्रत्येकाजवळ किती द्रव्य आहे?'

प्रभुंचा हा प्रश्न ऐकून सर्वांनी दीनभावाने म्हटले-'प्रभो! आम्ही, बरे, आपले आज्ञेवाचून कोणती वस्तु कशी बरोबर घेऊ शकणार व कोणाचेहि द्रव्य आपणास विचारल्यावाचून आम्ही स्वीकारणारच कसे? आपण आमचे सम्पूर्ण शरीर तपासून पाहा. आमचे जवळ कांहीहि नाही वा कोणाचे द्रव्य आम्ही बरोबर बांधून आणलेले नाही'.

ह्या प्रमाणे निष्कपट, सरल व निःस्पृहतेचे उत्तर ऐकून महाप्रभु फारच आनन्दीत झाले व तसे दर्शवून ते म्हणाले-'मी तुम्हावर अत्यन्त प्रसन्न झालो आहे. तुम्ही बरोबर द्रव्य न आणून आपली निःस्पृहता दाखविली. निःस्पृहता हेच त्यागाचे भूषण आहे. जो कोणाच्या पासून धनाची इच्छा करतो, व त्याचा संग्रह करतो, तो त्यागी होऊच शकत नाही. त्याग्याने तर भोजनाची चिन्ताच न केली पाहिजे. ते तर त्याने प्रारब्धावर सोडले पाहिजे. जे प्रारब्धांत असेल, ते अवश्य प्राप्त होईल, मग तुम्ही पाहिजे तर मरुभूमिचे वालुकामय प्रदेशांत जाऊन कां न बसाना, व प्रारब्धांत नसल्यास तुम्ही वैपुल्यांत कां असाना, तुम्हास त्यावाचून वंचितच राहावे लागेल. वाटेल तेवढा धनवान् असो, वाटेल तितकी भोज्य-सामग्री त्याजपाशी असूं दे, ज्या दिवशीं त्याचे भाग्यांत नसेल, त्या दिवशीं जवळ असताहि तो ती खाऊ शकणार नाही. एकतर तो मांदा तरी होईल, या कोणावर रागावून जेवणार नाही अथवा दुसराच कोणी येऊन ती भक्षण करील. सारांश हा कीं, आम्हास आमचे

भाग्यानुसारच भोग प्राप्त होतात. मग कोणाकडून मागून संग्रहांत काय अर्थ आहे ? भूक लागल्यावर मधुकरी मागणे, हाच त्याग्याचा परम धर्म आहे'. ह्या प्रमाणे आपले साथीदारांना त्याग, वैराग्य व भक्ति-तत्व समजावीत, सायंकाळचे सुमारास आठिसास ग्रामास पोचले, व तेथे एका भाग्यवान् अनन्त पंडित नावाचे ब्राह्मणाच्या घरीं उतरले. प्रभुच्या दर्शनाने तो कृतार्थ झाला व त्याने प्रभुस त्यांचे साथीदारासह भिक्षा करवून त्यांची विधिवत् सेवा-पूजा केली,

प्रातःकाली तेथून निघून हे पुढे खाडी नावचे गावासमीप छत्र-भोग तीर्थास पोचले. तेथे गंगेच्या किनाऱ्यावर एक अम्बुलिंग नामक जलमग्न शिवलिंग आहे. हल्ली हे छत्रभोग व अम्बुलिंग गंगेपासून दूर अन्तरावर पडलेले आहेत. त्यावेळीं गंगेची सीमा तेथपावेतो होती. ह्याच ठिकाणीं गंगा सहस्रमुखाने समुद्रास मिळते. गंगेच्या अलिकडील तटीं छत्रभोग, पीठस्थान व सुन्दरनगर होते. ह्याच ठिकाणीं गौड देशाची सीमा समाप्त होते. समोरच्या तीरावर उडिसा देशाची सरहद्द असून त्या हद्दीवर जयपूर-माजीलपूर उडीसांच्या महाराजांची अन्तीम सीमेवरील नगरे होती. ह्या दोन्ही स्थानांत तीनचार कोसांचे अन्तर होते. गौड-देश व उडीसा-देश ह्यांच्या सीमा भगवती भागीरथीनेच पृथक् झालेल्या आहेत.

हे आम्ही प्रथमच सांगून चुकलो आहोत कीं, तो युद्धाचा समय होता. जिकडे पाहाल तिकडे युद्धेच सुरू होती. गौड-देशाचे बादशहा व उडीसाचे तत्कालीन महाराज प्रताप-रुद्र, ह्यांच्यांतहि हा झगडा मधून मधून सुरूच होता. ह्याच कारणाने जगन्नाथास जाणारे यात्रेकरूंना गंगापार होण्यास फार कष्ट पडत होते. गौड-देशाचे अधिपतीची आज्ञा होती कीं, तिकडून इकडे कोणी येता कामा नये. इकडे उडीसाचे शासक

बंगाल्यावर सन्देह ठेवीत. जो कोणी पार येई त्याची झडती घेतली जाई. कांही असेतसे सामान असल्यास त्याची लूटहि होई. आणखीहि नानाप्रकारे अडचणी होत्या. युद्धाचे वेळीं एका राज्यांतून दुसरे राज्यांत जातांना सीमेवर सर्वांना फारच त्रास सोसावा लागे.

ह्या शिवाय पार उतरणारे उतराई घेतल्यावाचून पार उतरवीत नव्हते. पुरीस जाणारे पुष्कळसे यात्री पडून राहिलेले होते. प्रभुहि तेथे आपले साथीदारांसह पोचले. मुकुन्ददत्त आपले सुरेल कन्ठाने मधूर श्रीकृष्ण-कीर्तन करू लागले, प्रभु ते ऐकून नृत्य करू लागले. त्यांच्या नेत्रांतून अश्रुप्रवाह सुरू होता. प्रभुंची ही दशा पाहून घाटावरील पुष्कळशी मंडळी तेथे जमली ब प्रभु दर्शनाने ते आपणास कृतार्थ समजू लागले.

याप्रमाणे अम्बुलिंग घाटावर पोचल्यावर प्रभुंनी आपले साथीदारांसह स्नान केले व भक्तांना अम्बुलिंग-शिवाचे संबंधाने कथा सांगू लागले. प्रभुंनी सांगीतले-'जेव्हा महाराज भगीरथ स्वर्गातून गंगेस घेऊन आले, तेव्हा तिचे शोकाने विव्हल होऊन शंकर येथे जलांत पडले. गंगा शिवाचे प्रेम जाणत होती; तिने येथेच येऊन शिवाची पूजा केली व जलांतच राहाण्याची प्रार्थना केली. गंगेच्या भक्तिमुळे शिव ह्या ठिकाणीं जलांतच निवास करून आहेत, म्हणून ह्यास अम्बुलिंग म्हणतात. ह्यांचे दर्शनाने कोटिजन्माचे पापाचा क्षय होतो'. ह्याप्रमाणे शंकराचे माहात्म्य सांगून प्रभु पुन्हा नृत्य करू लागले. ह्याच वेळीं ह्या प्रांताचे शासक रामचन्द्रखांहि तेथे आले.

आम्ही प्रथमच सांगून गेलो आहोत कीं, गौडाधिपतिकडून बऱ्याचशा गांवांचा ठेका मोठमोठ्या लोकांना दिला जात असे, व त्यांना बादशहाकडून मजूमदार, खान अथवा राजा, ह्या उपाधिहि दिल्या जात असत. रामचन्द्रखां अशाच प्रकारे गौडाधिपतीचे अधीनस्थ गौड-देशीय

सीमा प्रान्ताचे राजे होते. रामचन्द्रखां जातीने कायस्थ असून, ते शाक्त-धर्म उपासक होते. साधारण विषयी-धनी पुरुषाप्रमाणे ह्यांचा जीवनक्रम होता. परन्तु ते भाग्यशालीच म्हटले पाहिजेत कीं, त्यांना महाप्रभुचे थोडेतरी सेवेचा लाभ प्राप्त झाला.

प्रभु घाटावर स्नान करतात, हा समाचार समजताच ते पालखींतून उतरून प्रभुचे दर्शनास आले. प्रभु त्यावेळीं श्रीकृष्ण-कीर्तनांत अगदी तल्लीन होते. प्रभुंच्या तेजाने प्रभान्वित होऊन रामचन्द्रखांनी दुरूनच प्रभुंना प्रणाम केला. प्रभु त्यावेळीं बाह्य-ज्ञान शून्य असून नेत्रांना आवृत्त करून ते प्रेमामृताचे पान करण्यांत निमग्न होते. त्यांना कोणाचे प्रणाम-नमस्काराची जाणीव कशी होणार! प्रभुंच्या साथीदारांनी प्रभुंना सावधान देऊन, त्यांना रामचन्द्रखांचा परिचय करून दिला. प्रभुंनी प्रसन्नता दर्शवीत म्हटले–'ओहो! आपलेच नांव राजा रामचन्द्रखां आहे? बरे झाले, आपले अकस्मात दर्शन झाले!'

दोन्ही हात जोडून रामचन्द्रखां म्हणाले–'प्रभो! ह्याच विषयी-कामी-पुरुषास रामचन्द्रखां म्हणून म्हणतात. आज मी माझे भाग्याची काय प्रशंसा करू कीं, माझे सारखे संसारी–गर्तेत गढून गेलेले विषयी पामरास आपले दर्शन झाले! आपले दर्शनाने माझे पातकांचा क्षय झाला. आता आपण माझे योग्य काम असेल ते मला सांगा, आज्ञा करा'.

प्रभुंनी म्हटले—'रामचन्द्र! आम्ही आमचे प्राणवल्लभास भेटण्यासाठी अगदी व्याकुळ झालेले आहोत. पुरीस जाऊन आम्ही आमचे हृदयरमणाचे दर्शन करून जीवीत सफल करू शकू अशी तजवीज करा. येथून पलिकडे पोचविण्याची व्यवस्था झाली पाहिजे'.

रामचन्द्रखांनी हात जोडून म्हटले–'ह्या युद्धकालांत गौड-देशांतील

लोकांना पलीकडील तीरास उतरणे फारच कठीण काम आहे. कोणासहि पार उतरू देऊ नये म्हणून बादशहांची कडक आज्ञा आहे. तरीपण प्राणसंकट सोसून मी आपणास पार उतरवीन. आपण आज येथेच निवास करावा, उद्या सकाळीं मी आपणास पार उतरविण्याचा प्रबन्ध अवश्य करतो'. ही गोष्ट प्रभुंनी मान्य केली व ते छात्र-भोग नगरांत गेले व तेथे एका भाग्यवान् ब्राह्मणाचे घरीं त्यांहि निवास केला. रात्रभर प्रभु आपले साथीदारांसह कीर्तन करीत होते. त्यावेळीं तेथे नगरांतील नर-नारीहि एकत्र झाल्या व तेहि संकीर्तनांत प्रभुचे बरोबर ताली वाजवून साथ करू लागले. रामचन्द्रखांनेहि त्या संकीर्तनामृताचे पान करून आपले जीवन धन्य केले.

# महाप्रभुचा प्रेमोन्माद व नित्यानन्दद्वारा दण्ड-भंग

पातालं व्रज याहिवासवपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्परास्तर तथाप्याशा न शान्तस्तव ।
आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेमं निजं वाञ्छसि
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः किमन्यैः श्रमैः ॥ *

छत्रभोगामध्ये ती रात्र वितून गेल्यावर प्रातःकालीं प्रभु आपले नित्य कर्मांतून निवृत्त होतात तोच रामचन्द्रखांकडून समाचार आला कीं, घाटावर नाव तयार आहे. प्रभु आपले साथीदारांसह नावेंत जाऊन बसले. नावाड्यांनी नाव सोडली. महाप्रभु आनन्दाने हरिध्वनि करू लागले. भक्तांनीहि प्रभुंना साथ दिली. जलांत प्रतिध्वनि उमटला. तोच ध्वनि दशदिशांत ऐकु येऊ लागला. तेव्हा प्रभुंनी मुकुन्ददत्तास संकीर्तनाचे पद म्हणण्यास सांगीतले. मुकुन्ददत्ताने आपले मधूर आवाजाने पद गाण्यास प्रारम्भ केला—

हरि हरये नमः, कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन ॥

* वाटेल तर पातालांत जा, वाटल्यास स्वर्गांत निवास करा पाहिजे तर, मेरुचे शिखरावर चढून बैस, अथवा समुद्राचे पार होऊन कोणा अन्य देशांत निवास कर. इतके सर्व करूनहि तुझी आशा शान्त होणार नाही. खरोखर तूं स्वताचे कल्याणाची इच्छा करीत असशील, आधिव्याधि व जरा-मरणाचे भीतीपासून मुक्त व्हावे असे तुला मनापासून वाटत असेल तर, 'श्रीकृष्ण' रूपी रसायनाचे सेवन कर. त्या योगे तुझे सम्पूर्ण रोग निवारण होतील. अन्य सर्व उपाय निरर्थक म्हणून समजावे.

अन्य भक्तहि ह्याच पदाची साथ करू लागले. महाप्रभुहि आवेशांत येऊन नावेंत उभे राहून नृत्य करू लागले. नाव डगमगू लागली. नावाडी घाबरून म्हणाले-'संन्यासी महाराज' आमचेवर दया करा, अशाने नाव बुडून जाईल; पलीकडील तिरावर पोचलात म्हणजे पाहिजे तितके नाचा. आमची नाव पार तरी होऊ द्याल कां, मध्येच बुडवाल?'

प्रभुंनी ह्याकडे मुळीच लक्ष न देता, श्रीकृष्ण-कीर्तन सुरूच ठेविले. नावाडी अगदी चकीत होऊन पुन्हा म्हणतात-'महाराज! आपण आमचे म्हणण्याकडेस जरा लक्ष द्या. असे प्रकारे कुदून कुदून नावेंत नृत्य करणे बरे नाही. आपण पाहात नाही कां, पलीकडील तिरावर घोर जंगल आहे, त्यांत मोठमोठी रानडुकरे, घेटे, रेडे वगैरे आहेत. ते हा आपला आवाज ऐकून धावत येतील. जलांत मगर, सुसरी असतात, धाडपाडू नदींत चहुकडे नावावर फिरत असतात. ते ज्यांना पार होताना पाहातात त्यांना लुटून घेतात. तेव्हा स्वस्थ बसा. आम्हांसहि आपले बरोबर अडचणींत पाडू नका'.

मुकुन्ददत्त आदिनी तर हे ऐकून, कीर्तन बन्द केले. परन्तु प्रभु थोडेच ऐकणार होते. ते तर तशाच रीतीने कीर्तन करीतच राहिले व आपले साथीदारांनाहि कीर्तन करण्यास उत्साहित करीत होते. तेव्हा सर्वजण पुन्हा कीर्तन करू लागले. धन्य आहे, अशा श्रीकृष्ण-प्रेमाची कीं, जेथे प्राणाचीहि पर्वा करण्यात येत नाही. अमृताच्या सागरांत मृत्युचे-बुडण्याचे भय कसे? श्रीकृष्ण-नाम तर जीवास, आधि-व्याधि, व सम्पूर्ण भयापासून मुक्त करणारे आहे. त्याचे सन्मुख, मगरी, सुसरी, डुकरे, घेटे व लुटारूंचे भय कोठून येणार? रामनामाचे प्रभावाने तर विषहि अमृत होते; हिंसक जन्तुहि आपला स्वभाव सोडून प्रेम करू लागतात. ह्याप्रमाणे महाप्रभु संकीर्तनात तल्लीन असलेले पाहून ते नावाडी

समजून गेले कीं, हे कोणी असाधारण महापुरुष आहेत, ह्यांना ह्यांतून रोकणे व्यर्थ आहे. हे येथे आहेत तो पावेतो, कोणत्याहि प्रकारे अमंगल होणेच शक्य नाही. असा विचार करून ते गुप बसले. प्रभुंच्या नेत्रांतून निघणारा अश्रु-प्रवाह गंगेच्या प्रवाहांत विलीन होत होता व त्याचे नृत्य अव्याहत सुरूच होते. अशाच कीर्तनांत नाव प्रयाग घाटावर पोचली. त्या ठिकाणीं खाली उतरून स्नान केल्यावर प्रभुंनी पुढे जाण्याची सुरुवात केली. गौड देश सोडून त्यांहि आता उडीसा देशांत प्रवेश केला. आज प्रभुंनी आपले साथीदारांना म्हटले-'तुम्ही येथेच बसा, आज मी एकटाच भिक्षा मागून आणतो'. प्रभुंच्या म्हणण्यास ना कोण म्हणू शकणार? प्रभुंनी आपले छाटीची झोळी केली व ते भिक्षेस चालते झाले.

हे आम्ही प्रथमच सांगून गेलो आहोत कीं, उडीसा व बंगालमध्ये शिजविलेल्या अन्नाची भिक्षा घालण्याचा रिवाज नाही. आता कांही कांही लोक तसे करूहि लागले आहेत. भट्टाचार्यादि ब्राह्मण, संन्याशास सिद्ध-अन्न-भिक्षा घालू लागले आहेत. पहिल्याने तर लोक धान्याचीच भिक्षा घालीत. ग्रामवासी लोक प्रभुच्या झोळींत दाळ, तांदुळ व इतर धान्य, 'नारायणहरि' हा शब्द ऐकताच आणून टाकीत असत. ह्यांचे रूप-लावण्य पाहून सर्व स्त्री-पुरुष ह्यांचेकडेस सारखी टक लावून पाहात राहात. त्यांचे मुखावरील तेज इतके विशेष आकर्षक होते कीं, जो ह्यांचेकडेस पाही, त्यास असेच वाटे कीं, आपले सर्वस्व ह्यांस अर्पण करावे. ज्यांचे घरांत जो उत्तम पदार्थ, फल, मिठाई, आदि तो, ते ह्यांचे झोळींत आणून टाकीत. अशा रीतीने थोडेच वेळांत ह्यांची झोळी भरून गेली. विवश होऊन शेवट कांहीना ना म्हणावे लागले. प्रभु ती भरलेली झोळी घेऊन आपले साथी गावाबाहेर बसले होते तेथे आले. नित्यानन्दांनी ही भरलेली झोळी पाहताच, त्यांना हसू

आले. जगदानन्दानी प्रभु जवळून झोळी घेतली व नन्तर भोजन तयार करून सर्वांनी एकत्र बसून मोठ्या आनन्दाने तो महाप्रसाद ग्रहण केला.

भोजनोत्तर पुढील प्रवासास सुरूवात केली. जगन्नाथपुरीचे मार्गावर येतात तो, तेथे कर घेण्याचे ठिकाण आले. दरेक यात्रीकडून कांही ठरावीक शुल्क–कर घेतल्या वाचून यात्रेकरूना पुढे सोडू नये अशी राजाज्ञा होती. त्यांतून संन्यासी-बैरागी कोणीहि सुटत नव्हता. प्रभुपाशीहि कर घेणारांनी तो कर मागीतला व म्हटले कीं, 'कर देणार नाही तो पावेतो आपणास पुढे जाता येणार नाही'. प्रभु ही गोष्ट ऐकून रुदन करू लागले. त्यांच्या नेत्रांतून निघणारे अश्रु प्रवाहाने पृथ्वी भिजत होती. 'हे प्रभो! हे माझे जगन्नाथा! काय मी तुमचे लवकर दर्शन करू शकणार नाही? काय नाथ! तुमचे दर्शन मला होईल?' अशा आर्तवचनाने ते सारखे रुदन करीत होते. हे रुदन ऐकून त्या कठोर अधिकाऱ्यासहि करुणा आली. त्याने विचार केला, 'साधारण मनुष्याचे नेत्रांतून इतका अश्रुपात होणे शक्य नाही, तेव्हा हा कोणी महापुरुष असला पाहिजे, तेव्हा ह्यांना जगन्नाथपुरीस जाऊ दिले पाहिजे'. असा विचार करून तो अधिकारी प्रभुचे समीप आला व प्रभुस विचारू लागला–'संन्यासी महाराज! तुम्ही असे अधीर कां होता? तुमचे बरोबर किती साथी आहेत?'

प्रभुंनी अश्रुपात करीत करीत म्हटले—'ह्या जगतांत आमचा साथी कोण बरे, असू शकणार? आम्ही तर सर्वसंग परित्याग केलेले संन्यासी आहोत. आमचा कोणी साथी नाही'. प्रभुंचे हे म्हणणे ऐकून त्या अधिकाऱ्याने सांगीतले–'ठीक आहे, तुम्ही जा'.

त्याने सांगीतल्यावर प्रभु पुढे चालू लागले. कांही पुढे गेल्यावर आपले गुढघ्यांत डोके घालून प्रभु रुदन करू लागले.नित्यानन्द आदि भक्तां-

जवळ ह्याच्या कारणाची त्या अधिकाऱ्यांनी जिज्ञासा केली. नित्यानन्दांनी सर्व प्रकार सांगीतला. तेव्हा त्याहि ह्या चौघांनाहि जाण्यास सांगीतले.

ह्या शुल्क एकत्रित करणारे अधिकाऱ्यापासून निघून प्रभु आपले साथीदारांसह स्वर्णरेखा नदीच्या तटावर पोचले. प्रभुचा दण्ड जगदानन्दाजवळ होता. त्याहि नित्यानन्दांना म्हटले–'श्रीपाद! तुम्ही प्रभुंचा दण्ड नीट रीतीने संभाळा, मी गावांतून भिक्षा मागून आणतो'.

नित्यानन्द म्हणतात—'ठीक आहे, मी दण्ड नीट रीतीने संभाळतो, तुम्ही स्वस्थपणे भिक्षा मागून या'. याप्रमाणे सांगीतल्यावर जगदानन्दांनी दण्ड नित्यानन्दाजवळ दिला व ते भिक्षेसाठी गावांत गेले.

इकडे नित्यानन्द विचार करतात–'हा दण्ड प्रभुंना उपाधिरूपच आहे. ज्यांना प्रेमांत आपले शरीराचे सुद्धा भान राहात नाही, त्यांना बरे, दण्डाची काय आवश्यकता आहे? त्याचे देख-रेखीसाठी एक मनुष्य पाहिजे. साधारण अवस्थेच्या संन्याशाच दण्डाचे विधान सांगीतले आहे. महाप्रभु तर प्रेमावतारच, हे तर विधि-निषेध ह्या दोहोंच्याहि पलीकडे आहेत, म्हणून ह्यांचे सारख्यास हा दण्ड व्यर्थ आहे'. याप्रमाणे विचार करून नित्यानन्दांनी त्या दण्डाचे मधून तीन तुकडे केले व ते तेथे फेकून दिले.

जगदानन्द भिक्षा मागून आले. नित्यानन्दाजवळ त्यांना दण्ड दिसला नाही, तेव्हा त्याहि आश्चर्याने त्यांना विचारले–'श्रीपाद! तुम्ही दण्ड कोठे ठेविला आहे?' गंभीरपणाने इकडे तिकडे पाहात अगदी सावकाशपणे नित्यानन्द म्हणतात–'येथेच कोठे पडला असेल, शोधून पाहा'.

जगदानन्दाने पाहिले, दण्डाचे एका बाजूस तुकडे पडलेले आहेत, तुकडे झालेला तो दण्ड पाहून जगदानन्द म्हणतात–'श्रीपाद! हे आपण काय

केले ? महाप्रभुचा दण्ड मोडून टाकला. तो संभाळून ठेवण्यासाठी प्रभुंनी मजपाशी दिला होता, आपण तो मोडला, हे ठीक नाही केले, मी आता जाऊन त्यांना काय सांगू?' असे म्हणून जगदानन्द तो मोडलेला दण्ड घेऊन प्रभु समीप आले व दुःखीत होऊन म्हणाले–'प्रभो ! नित्यानन्दांना हा दण्ड सोपून मी जवळचे गावांतून भिक्षा मागून आणण्यास गेलो, मागे ह्यांनी दण्ड मोडून त्याचे तुकडे केले. ह्यांत माझा कांही अपराध नाही. मला हे माहीत असते तर मी त्यांना दण्ड सोपून गेलो नसतो'.

इतक्यांत मुकुन्द आदिसह नित्यानन्द तेथे आले. प्रेमयुक्त रोषांत प्रभुंनी नित्यानन्दांना म्हटले–'श्रीपाद ! तुम्ही सर्वत्र सारखा खोडकरपणाच करीत असता. सांगा बरे, तो दण्ड मोडून आपण काय मिळविले ? तुम्ही मला माझे धर्मापासून भ्रष्ट करू पाहात आहा. संन्याशाजवळ एक दण्डच काय ते परमधन असते, तो तुम्ही तुमचे उद्धत स्वभावाने मोडून टाकला. आता तुम्हीच सांगा, तुम्हाबरोबर राहून मी माझे धर्माचे कसे पालन करू?'

गोष्ट फिरवून टाकण्याच्या हेतूने नित्यानन्द म्हणतात–'प्रभो ! तो तर बासाचा दण्ड होता, त्याचे बदल्यांत आपण मलाच आपले दण्डपात्र करून घ्या व जो उचित असेल तो दण्ड मला द्या'.

प्रभुंनी म्हटले–'तो बासाचा दण्ड कसा होता, त्यांत सर्व देवतांचे अधिष्ठान होते. तुम्ही, कोणास ठाऊक, मला काय समजता ? आपले सार्थीचे प्रायश्चित मला हेच मिळाले. एक दण्ड होता, तोहि तुम्ही नष्ट केला, पुढे ईश्वर जाणे, तुम्ही काय कराल ते ! मी आता आपणाबरोबर राहाणार नाही. एक तर तुम्ही पुढे जा, या मला पुढे जाऊ द्या'.

यावर मुकुन्ददत्तांनी सांगीतले–'प्रभो ! आपणच पुढे व्हावे'. झाले ! इतके शब्द कानीं पडण्याचाच अवकाश होता. प्रभु धावत पुढे निघाले

व जलेश्वर नामक स्थानीं पोचले. ह्या ठिकाणी शिवाचे फार मोठे मंदीर आहे. तेथे पुष्कळ वेदज्ञ-ब्राह्मण धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजा सामग्रीने शिवपूजन करीत होते. कोणी उच्च स्वराने स्तोत्र पाठ करीत होता, कोणी अभिषेक करीत होता, तर कोणी नुसती स्तुतीच करीत होता. नानाप्रकारची वाद्ये वाजत होती. प्रभुंनी ते सर्व पाहताच त्याना फार प्रसन्नता वाटली, व दण्ड-भंगामुळे नित्यानन्दावर जो थोडासा त्यांना क्रोध आला होता तो पार नाहीसा झाला. ते आनन्दांत निमग्न होऊन शिवकीर्तन करू लागले. 'शिव, शिव, शंभो, हरहर महादेव' असे म्हणून त्यानी नृत्य करण्यास सुरुवात केली. त्यांत ते इतके तल्लीन झाले कीं, पाहाणारास हे साक्षात् भोलानाथच ह्या संन्यासी रूपाने नृत्य करीत आहेतसे वाटले. त्यांचे दोन्ही हात उंच झालेले होते व ते जोरात उंच उंच उड्या मारून नाचत होते, नेत्रांतून सारखा अश्रुप्रवाह सुरू होता, शरीरांतून सारख्या घामाच्या धारा वहात होत्या, ते शरीराची शुद्धीहि विसरून सारखे नृत्य करण्यांत गर्क होते. इतक्यांत नित्यानन्द व इतर भक्तहि तेथे येऊन पोचले, व त्यांनीसुद्धां प्रभुंच्या तालस्वरांत आपला तालस्वर मिळवून नृत्य करण्यास सुरुवात केली. या योगाने प्रभुंचा आनन्द द्विगुणित झाला. सर्वजण अगदी मुग्ध होऊन प्रभुंची ती अवस्था न्याहाळीत होते. कीर्तनानन्तर प्रभुंनी नित्यानन्दाना आलिंगन दिले व ते अत्यन्त प्रेमाने म्हणतात–'श्रीपाद! तुम्ही तर माझे अभिन्न हृदयच आहा, आपण जे कराल, ते माझे कल्याणासाठी. त्यावेळीं मी आपणास आवेशांत येऊन जे कांही बोललो, ते आपण मनांत आणू नका. जगतांत तुम्हापेक्षा मला दुसरा कोणीच प्यारा नाही. आपणच माझे गुरु, माता, पिता तथा सखा. आपणास जे प्रिय तेच मला प्रिय, तेव्हा आपण माझे बोलण्याचा विशाद मानू नका'.

प्रभुंच्या तोंडून अशाप्रकारे स्वता संबंधाची स्तुती वचने ऐकून नित्यानन्द कांहीसे लज्जित झाले व संकोचाने म्हणतात–'प्रभो! आपण सर्व समर्थ आहा, ज्यास जे इच्छा वाटेल ते म्हणा, ज्यास जितके उच्च चढविण्याचे मनांत आणाल, तितके त्यास चढवाल, आपण तर आपले सेवकास, आपणापेक्षाहि अधीक सन्मान देत आला आहात व हीच आपली सनातन रीती आहे'. ह्याप्रमाणे बोलणे झाल्यावर सर्वांनी विश्राम केला व ती रात्र तेथेच घालविली.

प्रातःकालीं आपले नित्यकर्मांतून निवृत्त झाल्यावर प्रभुंनी पुढे जाण्याची सुरूवात केली. मत्त–गजेन्द्राप्रमाणे प्रेम-वारुणींत चूर होऊन ते नाचत, कुदत, भक्तांबरोबर नानाप्रकारे कुतुहल करीत चालत होते. इतक्यांत त्यांना एक वाममार्गी शाक्त-पन्थी साधु भेटला. प्रभुंची अशी उच्चावस्था पाहून त्यास असे वाटले कीं, हाहि कोणी वाम-मार्गी साधु आहे, अतः वाममार्गीय पद्धतीने प्रभुस प्रणाम करून तो म्हणतो–'सांगा, कोण-कोणत्या ठिकाणाहून येत आहा? आज पुष्कळ दिवसांनी दर्शन घडले'.

प्रभुंनी विनोदाने म्हटले–'इकडूनच येत आहोत, आपण कोठून येत आहा? कांही हाल-हवाल तर ऐकवा? भैरवीचक्रांत खूप आनन्द उडतो आहे ना!'

प्रभुंच्या तोंडचे 'भैरवीचक्र' व 'आनन्द' आदि वाममार्गियांचे ते सांकेतिक शब्द ऐकून तो सर्व ठिकाणच्या शाक्तांचे वृतान्त सांगू लागला. प्रभु त्याच्या गोष्टी ऐकत होते व साथीदारांकडेस पाहून हसत होते. शेवट त्याने म्हटले–'चलावे, आज आमचेच मठांत निवास करावा. तेथे आपण सर्व मिळून खुप आनन्द उडवू'.

प्रभु हसत नित्यानन्दास म्हणाले–'श्रीपाद! आनन्द उडविण्याची

इच्छा आहे? हे महात्मा तर शान्तीपुरांच्या वाटेवर जसे आनन्दी संन्यासी भेटले होते, त्याच प्रकारचे जीव आहेत. आपणाजवळ आनन्दाची कमतरता असल्यास सांगावे?'

नित्यानन्दांनी ह्याचे उत्तर दिले नाही, ते फक्त जोराने हसत सुटले. तेव्हा त्या वाममार्गी साधुने म्हटले–'नाही, आपण कांही निराळेच समजू नका, माझे मठांत 'आनन्दा'ची मुळीच कमतरता नाही. आपणास पाहिजे असेल तितका उडवा. चला, आज आपण माझे मठासच कृतार्थ करा'.

प्रभुंनी सांगीतले–'तुम्ही पुढे व्हा, सर्व व्यवस्था करा, आम्ही मागाहून येतो'. हे ऐकून तो साधु पुढे निघून गेला. प्रभुंची प्रेममयी अवस्था पाहून, हेहि कोणी आपणासारखेच मादक वस्तुचे सेवन करून वेडे होणारे साधु असावे असे त्यास वाटले. त्यास काय माहित कीं, ह्यांनी अशा प्याल्याचा स्वाद घेतला आहे कीं, ज्याचे सेवनानन्तर दुसरे अमली वस्तुची आवश्यकताच राहात नाही. त्याच निशेंत हे सदैव निमग्न आहेत. कबीरदास ह्याच अवस्थेस लक्ष्य करून म्हणतात—

**कबीर प्याला प्रेमका, अन्तर लिया लगाय।**
**रोम रोममें रमि रहा, और अमल का खाय?॥**

धन्य आहे, अशा निशाबाजांची! अशा निशाबाजांच्या पुढे संसारी सर्व निशा तुच्छ व हेय आहेत. ह्या प्रमाणे आपले साथीदारांना आनन्द-वीत व सुख देत प्रभु पुरीचा रस्ता चालत होते.

# श्रीगोपीनाथ क्षीरचोर

यस्मै दातुं चोरयन् क्षीरभाण्डं
गोपीनाथः क्षीरचोराभिधोऽभूत ।
श्रीगोपालः प्रादुरासीद् वशः सन्
यत्प्रेम्णा तं माधवेन्द्रं नतोऽस्मि ॥

भक्तांच्यासह आनन्दविहार करीत करीत, जलेश्वर, ब्रह्मकुण्ड, मन्दार आदि तीर्थांत स्नान केल्यावर महाप्रभु रेमुणाय नामक तीर्थास पोचले. तेथे पोचल्यावर प्रभुंनी श्रीगोपीनाथ भगवन्ताचे दर्शन घेतले. प्रभु आनन्दांत निमग्न होऊन श्रीगोपीनाथ भगवानाची स्तुती करू लागले. स्तुती करता करता साष्टांग प्रणीपात करताच ते भगवानाचे चरणाजवळ बेशुद्ध होऊन पडले. त्याच वेळी भगवन्ताच्या शरीरांतून एक मोठा गुच्छ निघून तो महाप्रभुंचे मस्तकावर पडला. सर्व दर्शनार्थी व पुजारी हा प्रभुंचा भक्तिभाव पाहून फार आनन्दित झाले व महाप्रभुंच्या प्रेमाची प्रशंसा करू लागले. महाप्रभुंनी तो गुच्छ भगवन्ताचा प्रसाद म्हणून मस्तकावर धारण केला व त्या मन्दीरांत त्यांनी फार वेळ पावेतो संकीर्तन केले व तेथेच रात्रौ आरामहि केला.

नित्यानन्दांनी विचारले–'प्रभो ! ह्या श्रीगोपीनाथ भगवन्ताचे नाव 'क्षीरचोर' कां पडले ?'

प्रभुंनी हसत उत्तर दिले–'आपणापासून हे थोडेच गुप्त असणार आहे ? गोपीनाथ भगवानास 'क्षीरचोर' होण्यास लावणारे आपले पूज्यपाद गुरुदेव व माझे गुरुचेहि गुरु श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी महाराजच होत. 'क्षीरचोर' भगवन्ताची कथा आपण त्यांचे मुखाने ऐकलीहि असेल, तरी अन्य भक्तांना ती माझे मुखाने ऐकवावी अशी आपली इच्छा दिसत

असल्याने मी माझे गुरु पूज्यपाद श्रीईश्वरपुरी ह्यांचे मुखाने ऐकली तशीच ऐकवितो. अशा कथा तर वारंवार ऐकल्याच पाहिजे. ह्या कथा श्रवणाने भगवत् पादपद्मांचे ठायी प्रीती उत्पन्न होते व ते भगवान आपले भक्तांच्या इच्छातृप्तिसाठी सर्व कांही करू शकतात. अशा कथेच्या संबंधाने असे कधीच म्हणू नये कीं, ही तर मी ऐकलेली आहे, पुन्हा ह्यांत काय ऐकावयाचे आहे ! ज्याप्रमाणे एके दिवशीं अगदी पोट भरून जेवल्यावरहि दुसरे दिवशीं तसेच जेवण्याची पुन्हा इच्छा होते, त्याचप्रमाणे भगवत्–कथा श्रवणांत भक्तांनी केव्हाहि उपेक्षा न केली पाहिजे. जितके वेळा प्रसंग येईल तितके वेळा त्या ऐकाव्याच. भगवत्–कथा श्रवणांत भक्तांनी नेहेमी अतृप्तच असावे.

ठीक आहे तर, ते क्षीरचोर श्रीगोपीनाथ भगवानाचे पुण्यप्रद आख्यान आपणास कथन करतो; आपण ते ध्यानपूर्वक ऐकावे. हे ऐकून सर्व भक्त उत्सुकतापूर्वक प्रभुंच्या मुखाकडेस दृष्टि लावून बसले. आणखीहि काही भद्रमंडळी तेथे आली होती, तीहि ही कथा श्रवण करण्यास बसली.

सर्वांची उत्सुकता पाहून प्रभु मधूर स्वराने सांगू लागले–'माझे गुरुचेहि गुरु, वैकुण्ठवासी भगवान् श्रीमाधवेन्द्रपुरींची श्रीकृष्ण-भक्ति अलौकिक होती. ते अहर्निश श्रीकृष्ण-कीर्तनांतच रंगलेले असत. त्यांचे जिव्हेस भवन्नामाचा असा ध्यास लागला होता कीं, ती केव्हा रिकामी राहातच नसे. सदा सर्वकाल त्या जिव्हेवर ते मंगलमय नाम विराजत असे. त्यांच्या त्या उत्कंठ भक्तिच्याच कारणाने भगवन्तास खीरीची चोरी करावी लागली'.

एकदा भगवान् माधवेन्द्रपुरी व्रजाची यात्रा करता करता गिरि-राज गोवर्धन पर्वताचे समीप पोचले. तेथे गिरि–काननाची कमनीय शोभा पाहून ते मन्त्र–मुग्धसे झाले व तेथेच त्या पर्वतासमीप विचरण

करू लागले. एके दिवशीं त्याही गोवर्धनाचे निकट एका वृक्षाखाली निवास केला. पुरी महाराजांची अयाचित वृत्ति होती. ते भोजनासाठी सुद्धा कोणाची याचना करीत नसत. प्रारब्धवशात् जे मिळेल त्या योगेच ते कालापयन करीत असत. त्या दिवशीं दिवसभरांत त्यांना कांहींच आहार मिळाला नाही. सायंकालचे समयीं ते त्याच वृक्षाखाली बसून भगवन्नामाचे उच्चारण करीत होते, तोच त्यांना कोणाचे पावलांची चाहूल ऐकू आली. त्याहि वळून मागे पाहिले, तेव्हा त्यांचे दृष्टीस पडले कीं, एक शामवर्णाचा दहा बारा वर्षांचा बालक हातांत दुधाचे एक पात्र घेऊन आपले कडेस येत आहे. शरीर–कान्ति शामवर्णाची असताहि बालकाचे मुखावर एक अद्‌भुत तेज दिसत होते. त्याचे अंग सुडौल-सुन्दर व चित्ताकर्षक होते. त्याने अत्यन्त कोमल स्वराने कांहीसे हसत म्हटले–'महात्मा ! उपाशी कां बसला अहात ? हे दूध प्या'.

पुरीने विचारले–'तुम्ही कोण आहा, व तुम्हास काय माहित कीं, मी येथे जंगलांत उपाशी बसलो आहे ?'

बालकाने हसत सांगीतले–'मी जातीने गौळी आहे, माझे घर ह्या झाडीच्या समोरच्याच गावांत आहे. माझी माता आताच पाणी घेण्यासाठी येथे आली होती, तिने आपणास येथे बसलेले पाहिले व घरीं आल्यावर मला दूध आपणास देऊन येण्यास सांगीतले. मी लवकर लवकर गाईची धार काढली व आपणासाठी हे दूध घेऊन आलो आहे. आमचे गावाचा हा नियम आहे की, आमचे आसपास कोणीहि उपाशे-पोटी राहू नये. जो भिक्षा मागतो त्यास आम्ही भाजी भाकरी देतो, व ज्याचे आयाचित व्रत आहे त्यास दूध, फळे वा शिजलेले अन्न आणून देतो. आपण हे दूध प्या, नन्तर मी पुन्हा येऊन हे पात्र घेऊन जाईन'. इतके म्हणून तो बालक निघून गेला.

पुरी महाशय ते दूध प्याले. इतके स्वादिष्ट दूध ते ह्या पूर्वी कधीच प्याले नव्हते. ते दूध पीत असताना त्याना अत्यन्त प्रसन्नता वाटली. त्यांचे हृदयावर त्या गवळ्याचे बालकाची मूर्ति गढून गेल्यासारखे झाले. वारंवार ते त्याचेच चिन्तन करू लागले. तो गवळ्याचा बालक ते पात्र घेण्यासाठी येईल म्हणून ते त्याची सारखी मार्गप्रतिक्षा करीत होते. अर्धी रात्र तशीच वितून गेली. तो मुलगा आला नाही. ह्यामुळे तर त्या बालकास पाहाण्याची पुरी महाराजांची उत्कण्ठा अधिकाधिकच वाढू लागली. तशाच स्थितींत त्यांची कांहीशी तन्द्री लागली. त्याच वेळी तोच बालक समोर उभा असलेला दिसू लागला. त्याने हसत हसत म्हटले–'पुरी महाशय! पुष्कळ दिवसापासून मी तुमचे येण्याची मार्ग-प्रतिक्षा करीत होतो, बरे झाले, तुम्ही आलात. गोपालबालकाचे वेशांतच मी तुम्हास दूध देऊन गेलो होतो. आता तुम्ही फिरून ह्या ठिकाणीं माझी प्रतिष्ठा करा. मी येथेच ह्या जवळच्या झाडींत दबलेलो आहे. पूर्वी येथे माझे मन्दीर होते, माझा पुजारी म्लेंछाचे भीतीने मला जमी-नींत गाडून येथून पळून गेला. तेव्हापासून मी येथेच गाडलेलो आहे. आता तुम्ही मला येथून काढून माझे विधिवत् पूजन करा. माझे नांव 'श्रीगोपाल' आहे. मी हा गोवर्धन पर्वत धारण केला होता. ह्याच नांवाने तुम्ही माझी प्रतिष्ठा करा'. असे म्हणून त्या बालकाने पुरीचा हात धरला व त्यांना त्याने त्या वृक्ष-कुंजाजवळ नेले व त्यांना ते स्थान दाखविले.

डोळे उघडल्यावर पुरी महाराज चहुकडे पाहू लागले, परन्तु तेथे कोणीहि नव्हते. प्रातःकाल झाल्यावर त्यांनी गावांतील लोकांना बोला-वून सर्व वृत्तान्त निवेदन केला व श्रीगोपालाने दाखविलेले जागीं खोदविले. बरेचसे खोल खोदल्यावर त्यांतून एक उत्तम सुन्दर–श्याम-

वर्णाची मनमोहन करणारी मूर्ति निघाली. पुरी महाराजांनी त्याच वेळी एक छथर उभे करविले व आत एक उंच स्थान करवून त्यावर त्या मूर्तीची स्थापना केली. मूर्तिची स्थापना केल्यावर पुरींनी भगवन्तास विधिवत् पंचामृत-स्नान घातले, नन्तर शीतल-जलाने ती मूर्ति नीट धुवून साफ केली. सुगंधित चन्दनाने त्या मूर्तीस लेपन केले व धूप, दीप, नैवेद्य व वन्यफल-पुष्पाने त्यांची यथाविधि पूजा केली.

पुढे पुरी महाराजांनी अन्न-कूट करण्याचा निश्चय केला. त्या गावांत जितकी ब्राह्मणाची घरे होती त्यासर्वांना पुरी महाराजांनी सांगीतले कीं, यथाशक्ति ज्याने त्याने सामग्री आपआपले स्त्रियासह येथे यावें व आपले इच्छे प्रमाणे नाना प्रकारची पक्कान्ने तयार करावी. सर्व ब्राह्मणांनी प्रसन्नान्तःकरणाने ही पुरी महाराजांची आज्ञा पालन केली. आपआपले घराहून सामुग्री आणून सर्व स्त्रियांनी नानातऱ्हेची पक्कान्ने करण्यास सुरूवात केली.

सर्व तयारी झाल्यावर पुरी महाराजांनी भगवन्तास नैवेद्य समर्पण केला. कोण जाणे भगवन्त किती दिवसांचे भुकेले होते, पाहाता पाहाता त्याही सर्व पार केले. पुरी महाराजांना अती विस्मय वाटला. तेव्हा भगवानाने हसत त्या पात्रांना स्पर्श केला. भगवन्ताच्या स्पर्शमात्रानेच सर्व पात्रे पूर्वीप्रमाणे परिपूर्ण झाली. पुरी महाराजांनी मोठ्या आनन्दाने तो प्रसाद सर्व व्रजवासी यांना वाटला. आसपासच्या गांवीहि हा समाचार समजला व तेथूनहि लोक दर्शनासाठी आले. भगवन्ताचे दर्शनासाठी त्या दिवशी जो कोणी आला त्यास पोटभर प्रसाद मिळाला. रात्रपर्यंत लोक येत होते, सर्वांना शेवटपर्यन्त यथेष्ट प्रसाद मिळाला; कोणासहि विमुख जावे लागले नाही. ह्या प्रमाणे त्या दिवशीचा अन्नकूट उत्सव फार अद्‌भुत झाला.

ह्यानन्तर अन्य ग्रामांतील गांववासींहि अन्नकूटाची सामग्री आणून अन्नकूट-उत्सव करू लागले. ह्या प्रमाणे पुरी महाराजांचे कुटीमध्ये अन्नकूटाचा धुमधडाका सुरू होता. हा सर्व समाचार बरेच दूरवर पसरला. मथुरेचे मोठमोठे शेट सावकार श्रीगोपाल भगवानाचे दर्शनास येऊ लागले. त्यांही सोने, चांदी, जडजवाहीर व नाना प्रकारची वस्त्रे भगवन्तास भेट दिली. कोणी पुण्यवान् पुरुषाने श्रीगोपाल भगवानाचे मोठे विशाल मंदीर बांधून दिले. सर्व व्रजवासी जनांनी एक एक दोन दोन अशा गाई मन्दीरास दिल्या. ह्याप्रमाणे हजारो गाई मन्दीराच्या झाल्या. पुरी महाराज मोठे प्रेमाने व आनन्दाने भगवन्ताची सेवा पूजा करू लागले. त्यांचे शरीर कांहीसे क्षीण झाले होते, ते कोणी योग्य शिष्याची अपेक्षा करीत होत, इतक्यांत गौड देशांतून दोन सुन्दर युवक येऊन पुरी महाराजांना शरणापन्न झाले. पुरी महाराजांनी योग्य समजून त्यांना दीक्षा दिली व त्यांना श्रीगोपाल भगवानाचे पूजेचे काम सोपले. ह्याप्रमाणे दोन वर्षे पुरी महाराज श्रीगोपाल भगवानाचे पूजा अर्चेत निमग्न होते.

एके दिवशीं स्वप्नांत भगवन्तांनी पुरी महाराजांना सांगीतलें– 'माधवेन्द्र! फार दिवस पृथ्वीमध्ये राहिल्याने आमचे शरीरास अत्यन्त दाह होत आहे, तेव्हा जगन्नाथ पुरीस जाऊन तुम्ही मलयागिर चन्दन आणून आमचे शरीरास लेपन कराल तर हा दाह शान्त होईल'. दुसरे दिवशीं श्रीगोपालभगवन्तांच्या पूजेची सर्व व्यवस्था आपले शिष्यांना सोपून, भगवन्तांची आज्ञा घेऊन पुरी महाराजानी नीलचलाकडेस जाण्याचे प्रस्थान ठेविले. ह्याच यात्रेंत ते नवद्वीपास आले व अद्वैताचार्यांचे घरीं राहिले. आचार्य त्यांचा अद्भूत् भक्ति-भाव पाहून त्यांचे भगवत् प्रेमावर आसक्त झाले व त्यांहि पुरी महाराजाकडून मन्त्रदीक्षा घेऊन त्यांना आपले गुरु केले.

कांही दिवस शान्तिपुरास राहून अद्वैताचार्यांना दीक्षा दिल्यावर पुरीमहाराज नीलाचलास निघून गेले. जाता जाता ते ह्या रेमुणाय गावीं आले व येथे त्यांहि श्रीगोपीनाथाचे दर्शन केले. येथील पूजा-आर्चा, श्रीभगवानाचा साज-शृंगार, भोग आदि फार भावमय पद्धतीने केला जात होता, ते पाहून पुरींना अत्यन्त आनन्द झाला व त्यांहि ती पद्धत फार लक्षपूर्वक अवलोकन केली. नन्तर त्यांहि पुजाऱ्यास विचारले-'येथे भगवन्तास मुख्य भोग कोणते वस्तुचा असतो?' पुजाऱ्याने उत्तर दिले-'ह्या ठिकाणी भगवन्तास 'क्षीर-भोग' हाच सर्वोत्तम प्रधान भोग म्हणून अर्पण केला जातो. श्रीगोपीनाथाचे क्षीरीस 'अमृत-केलि' नावाने संबोधितात. श्रीगोपीनाथाची क्षीरप्रसादी सर्वत्र प्रसिद्ध आहे. रात्रीचा भोग बारा क्षीरपात्रांचा असतो'.

पुरीमहाराजांची इच्छा होती कीं, पूजा पद्धती तर मी समजून घेतली, परन्तु क्षीर कशी असते ते बरोबर समजले नाही. तेव्हा थोडी-शीहि प्रसादी क्षीर मिळती तर, तिचा स्वाद पाहून मीहि माझे श्रीगोपालास तशीच क्षीर आर्पण केली असती. हा विचार येताच त्यांना असेहि वाटले कीं, ही माझी जिव्हा-लोलुपता तर नाही ना? पुन्हा त्याहि विचार केला-'भगवानाचे प्रसादांत काय जिव्हा-लोलुपता म्हणावी? मी माझे जिव्हेच्या स्वादासाठी तर ही इच्छा केली नसून आपले भगवन्तास अशी क्षीर अर्पण करावी हीच माझी इच्छा होती'. ह्या विचारांनी त्यास कांहीसा आनन्द झाला. त्यांचे अयाचित व्रत असल्याने ते कोणापाशी प्रसाद मागू तर शकतच नव्हते. सन्ध्याकालचा भोग समर्पण केल्यावर शयन-आरती झाली, भगवन्ताची कपाटे बन्द झाली, लोक आपआपले घरीं निघून गेले व पुरी महाराजहि गावापासून थोड्याच अन्तरावर एका कुटीत जाऊन पडून राहिले.

अर्धरात्र-समयीं पुजाऱ्याने स्वप्न पाहिले–'जणु कांही साक्षात् गोपीनाथ भगवान् त्याचे समोर उभे राहून त्यास सांगत आहेत–'पुजारी पुजारी! तुम्ही आताच उठा व माझे एक जरूरीचे काम करा. माझा एक परम भक्त माधवेन्द्र पुरी नावाचा महान् भागवत संन्यासी गावाचे बाहेर उतरलेला आहे. माझा 'क्षीरप्रसाद' मिळावा अशी त्याची इच्छा आहे. आपले भक्ताचे मनोवान्छित पूर्ण करण्याचे निमित्ताने मला तुम्ही अर्पण केलेल्या क्षीरीच्या बारा पात्रांतील एक पात्र चोरून मी माझे वस्त्रांत लपवून ठेविले आहे. तुम्ही ते घ्या व आताच माधवेन्द्रास देऊन या'. इतके ऐकताच पुजारी खडबडून एकदम उठला व वस्त्र पलिकडे सारून पाहतो तो, खरोखरच एक क्षीरपात्र त्यांत लपवून ठेविलेले त्यास सापडले. ते घेऊन तो नगरांत चहुकडे ओरडत फिरत होता–' माधवेन्द्र-पुरी कोणाचे नांव आहे ? ह्या नावाचा जो साधु असेल त्याने हे क्षीर-पात्र घ्यावे. भगवन्तानी त्यांचेसाठी क्षीरेची चोरी केली'.

माधवेन्द्रपुरींनी हे ऐकताच ते बाहेर आले व म्हणाले–' महाराज! माझेच नाव माधवेन्द्रपुरी आहे, सांगा काय आज्ञा आहे'.

पुरी महाराजांचा परिचय करून घेतल्यावर, पुजारी त्यांच्या पाया पडला, व अत्यन्त वीनित वचनाने सांगू लागला–' महाभाग! आपण फार धन्य आहात! व आपले अशा ह्या अलौकिक भक्तिसहि शतशः धन्यवाद आहेत!! मी आपले दर्शनाने कृतार्थ झालो. इतके दिवसांच्या भगवन्ताच्या पूजेचे फळ आज प्राप्त झाले. आम्हा सारख्या पैशाचे-दासांना साक्षात् दर्शन तर अशक्यच, परन्तु भगवन्ताच्या पूजेचे हेच फल आम्ही समजतो कीं, आपले सारखे परम भगवत् भक्ताचे आम्हास दर्शन घडले. आम्ही तर आपणास साक्षात् भगवानच समजतो, कीं, ज्यांची इच्छा परीपूर्ण करण्यासाठी चराचर विश्वाचा अधिपति अशा भगवन्तानेहि क्षीर चोरावी. हे घ्या, हे क्षीरपात्र, भगवन्ताने हे आपणा-

साठी चोरून आपले वस्त्रांत लपवून ठेविले होते. त्यांचेच आज्ञेने मी आपणाकडेस घेऊन आलो आहे'. पुजाऱ्याचे मुखाने आपली स्तुति श्रवण करून पुरी महाराज कांहीसे लज्जित झाले. भगवानाची कृपालुता, भक्तवत्सलता व आपले भक्तांचे ठिकाणी त्यांची असलेली अपार ममता आदिचे स्मरण करूण पुरींच्या नेत्रांतून अश्रु वाहू लागले. तो प्रसाद अत्यन्त दीन भावनेने भिकाऱ्याप्रमाणे दोन्ही हात पसरून त्यांही ग्रहण केला. प्रेमांत वेडे होऊन एकान्तांत त्यांही तो प्रसाद घेण्यास सुरू केले. त्या वेळच्या त्यांच्या आनन्दाचे अनुमान कोण करू शकणार? एक तर भगवन्ताचा तो प्रसाद व दुसरे स्वता त्यांही त्यांचेसाठी चोरी करून ठेविलेला. पुरी एकीकडे नेत्रांतून अश्रुपात करीत होते व एकीकडे तो प्रसाद भक्षण करीत होते. चाटून पुसून त्याही तो प्रसाद खाल्ला. नन्तर त्या पात्रांत पाणी टाकून ते धुवून ते पाणी ते पिऊन गेले व मातीच्या पात्राचे तुकडे करून ते त्यांही आपले वस्त्रांत बांधून घेतले. भगवानांनी दिलेले ते पात्र ते फेकून कसे देणार? दररोज एक एक तुकडा करून त्यांही ते सर्व तुकडे खाऊन टाकले.

ह्या घटनेने ह्यांची चहूकडे कीर्ति पसरली व प्रतिष्ठाहि वाढली. प्रतिष्ठेस शुकरी-विष्ठा व गौरवास रौरव-नरकासमान दुखखदायी समजणारे पुरी महाराज तेथे फार दिवस न राहाता श्रीगोपीनाथाची चरणवन्दना करून जगन्नाथपुरीस जाण्यास निघाले.

जगन्नाथपुरीस पोचताच पुरी महाराज आल्याचा समाचार चहूकडे समजला. लांब-लांबून लोक दर्शनास येऊ लागले. खरोखर मान-प्रतिष्ठा तथा कीर्तिची गति आपले शरीराचे छायेसमान आहे. तुम्ही तुमचे छायेस पकडण्यासाठी तिचे मागे धावाल तर, ती तुमचे पुढे-पुढेच पळत सुटेल. तुम्ही कितीहि प्रयत्न करा, ती तुमचे हातीं लागणार नाही. तुम्ही तिची उपेक्षा करून दुसरीकडेस पळण्याचा प्रयत्न केला तरी

ती तुमचा पिच्छा पुरवल्या वाचून राहणार नाही. ज्यांना प्रतिष्ठा पाहिजे असते, त्यासाठी वाटेल ते करण्यास तयार असतात. त्यांना ती प्राप्त होत नाही व जे तिच्यापासून दूरदूर पळतात, त्यांचे मागे ती सारखी लागते. जगाचा असाच उलटा न्याय आहे. श्रीगोपीनाथ भगवानाचे दरबारांतून प्रतिष्ठेलाच भिऊन हे पळाले, तिने येथेहि ह्यांचा पिण्ड सोडला नाही. असतु!

कांही काल पुरीस राहिल्यावर पुरीमहाराजांनी आपले मनोवाञ्छित तेथील ब्राह्मण मंडळींना कळविलें. ब्राह्मणांना परम आनन्द झाला व त्यांही पुरीमहाराजांसाठी पुष्कळशा चन्दनाची तजवीज करून दिली व राजाज्ञेने पुष्कळसा कापूर व केशरहि दिले. त्याचप्रमाणे व्रजापावेतो पोचविण्यास दोन सेवकहि दिले व त्यांना प्रेमपूर्वक विदाय केले.

चन्दन, कर्पुर, केशर घेऊन पुरीमहाराज पुन्हा रेमुणाय येथे आले व श्रीगोपिनाथ भगवानाचे दर्शनासाठी तेथे दोन चार दिवस थांबले.

भगवन्त तर भावाचे भुकेले आहेत. त्यांना कोणत्याहि संसारी भोगाची थोडीच वाञ्छा आहे? ते तर भक्ताचा भक्ति-भावच पाहतात. पुरीमहाराजांची अलौकिक श्रद्धा तर पाहा! भगवन्ताची आज्ञा होताच चन्दनासाठी ते भारताचे एका टोकापासून समुद्राच्या किनारी दुसरे टोकास, आपत्ति–विपत्तिंची कांहींही परवा न करता मोठ्या प्रेमाने निघाले. आता भक्ताची अग्निपरिक्षा होऊन चुकली व जसेच्या तसेच ते निर्मल होऊन चमकत बाहेर आले. ह्या पुढे विशेष कष्ट देणे योग्य नाही असे भगवन्तास वाटले. भगवानाने पुरी महाराजांना स्वप्नांत आज्ञा दिली–'श्रीगोपिनाथ व मी एकच आहे. तुम्ही आमचे दोन्हीहि विग्रहांमध्ये कोणताहि भेद मानु नका. ह्या चन्दनाचा लेप तुम्ही येथेच श्रीगोपीनाथाचे विग्रहांतच करावा, त्या योगे आमचा ताप दूर होईल.

भगवन्ताची आज्ञा शिरोधार्यकरून ग्रीष्मकालचे चार महिनेपर्यन्त तेथेच राहून भगवानाचे अंगास चन्दन, कर्पूर आदिचा लेप करू लागले व जेव्हा भगवानाचा ताप नाहीसा झाला, तेव्हा चातुर्मास राहाण्यासाठी ते जगन्नाथपुरीस आले व चातुर्मासानन्तर ते पुन्हा आपले श्रीगोपालाचे समीप परत आले.

ह्या प्रमाणे सर्व भक्तांना श्रीमाधवेन्द्रपुरींची उत्कठ भक्ति व अलौकिक प्रेमाची कहाणी सांगता सांगता प्रभुंचा कण्ठ दाटून आला. नेत्रांतील अश्रुप्रवाहाने व वक्षस्थल ओले झाले होते. ह्याप्रमाणे पुरींचे महात्म्याचे वर्णन करीत असता पुरीमहाराजांनी अन्त-समयी जो श्लोक म्हणत म्हणत ह्या पांच भौक्तिक शरीराचा त्याग केला त्या श्लोकांचे प्रभुंना स्मरण झाले व त्याही तो वारंवार म्हणण्यास सुरूवात केली व थोडेच वेळांत ते भानरहीत होऊन नित्यानन्दाचे मांडीवर पडले. लोकांच्याहि नेत्रांतून अश्रुप्रवाह सुरू होता. त्याचवेळीं भगवन्तास भोग अर्पण करण्यांत येऊन आरती झाली. आरतीचे दर्शन केल्यावर तेथेच मंदीराच्या समोर रात्री विश्रांती घेण्याचे ठरविले. पुजाऱ्याने भगवन्ताच्या क्षीर-भोगाची बारा पात्रे प्रभुच्या सन्मुख ठेविली. त्या महाप्रसादाचे दर्शनमात्रानेच प्रभु फार प्रसन्न झाले व त्यांही पुजाऱ्यास सांगीतले–'आमचा जन्म आज सफल झाला कीं, आम्ही भगवानाचे क्षीर-भोगाचे अधिकारी झालो. प्रसादांत लोभ-वृत्ति नको, आम्हो पांचच आहोत, अतः आम्हासाठी पांच पात्रे ठेवावी व सात पात्रे आपण परत न्यावी. सर्वच भगवानाच्या प्रसादाचे अधिकारी आहेत. असे म्हणून पांच पात्रांचा प्रभुंनी स्वीकार केला व सात परत केली.

भगवन्ताचा तो प्रसाद प्रभुंनी भक्तांसहीत मोठ्या श्रद्धेने ग्रहण केला व ती रात्र तेथेच भगवन्ताच्या चरणांजवळ काढली.

# श्रीसाक्षि गोपाल

पद्भ्यां चलन् यः प्रतिमास्वरूपो
ब्रह्मण्य देवो हि शताहगम्यम् ।
देशं ययौ विप्रवृतेऽद्भुतोऽयं
तं साक्षिगोपालमहं नतोऽस्मि ॥

प्रातःकालीं नित्यकर्मांतून निवृत्त होऊन श्रीगोपीनाथाच्या मंगल आरतीचे दर्शन केल्यावर महाप्रभुंनी भक्तांसहीत पुढील प्रवासास सुरूवात केली. वाटेंत वैतरणी नदींत स्नान करून राजपुरांत वराह भगवानाचे दर्शन घेतले. याजपुराहून निघाल्यावर शिवलिंग, विरजा दर्शन व ब्रह्मकुन्डांत स्नान करून नाभिगयेस पोचले. तेथे दशाश्वमेध घाटावर स्नान करून कण्टकनगरास गेले व तेथे साक्षिगोपालाचे दर्शन केले. साक्षीगोपालाचे मंदीरांत ते पुष्कळवेळ पावेतो कीर्तन होत होते. प्रभुंचे नृत्य पाहण्यास गावांतील स्त्री–पुरुष एकत्रित झाले होते.

रात्रौ भक्तांसहीत कथोपकथन चालू असताना प्रभुंनी नित्यानन्दांना विचारले–'श्रीपाद! प्रायः तुम्ही तर भारतवर्षांतील सर्वत्र मुख्य-मुख्य तीर्थांत भ्रमण केले आहे. येथेहि तुम्ही येऊन गेला होता कां?

श्रीपादांनी सांगीतले–'पुरीहून परत फिरतांना मी साक्षीगोपालाचे दर्शन केले होते'.

प्रभुंनी म्हटले–'तीर्थांत गेल्यावर त्या तीर्थाचे महात्म्य अवश्य ऐकावे. माहत्म्य न ऐकलेतर तीर्थयात्रेचे फल अर्धे मिळते. आपण मला साक्षी गोपालाचे महात्म्य ऐकवा. ह्यांचे नांव साक्षीगोपाल कां पडले? ह्यांनी कोणाची साक्ष दिली होती?'

'साक्षी गोपालाची कथा मी कोणत्याहि पुराणांतून ऐकली नाही. कारण हे तीर्थ फार प्राचीन नाही. थोड्याच दिवसांपूर्वी साक्षीगोपाल भगवान् विद्यानगराहून येथे आले. लोकांच्या मुखाने मी जसे ऐकले तसेच मी आपणास कथन करतो'. ह्या प्रमाणे प्रस्तवना करून श्रीपाद सांगतात.

तैलङ्ग–देशांत गोदावरीच्या तटावर 'विद्यानगर' नावाची कोट-देशाची प्राचीन राजधानी होती. हे नगर समृद्धिशाली असून समुद्राचे जवळ असल्याने वाणिज्य–व्यापाराचे केन्द्र होते. ह्या नगरांत एक सुसमृद्ध कुलीन ब्राह्मण राहात होता. हा भगवत्-भक्त होता. पुत्र मोठमोठे झाले होते व तेच घरांतील सर्व कारभार पाहात होते. घरांत पुत्र, सून, स्त्री व एक अविवाहित लहान मुलगी होती. ह्या ब्राह्मणास तीर्थयात्रेस जाण्याची इच्छा झाली. ह्याचे समोरच एक गरीब ब्राह्मण कुमार राहात होता. लहानपणीच ह्याचे मातापिता परवासी झाले होते. मेहेनत मजुरी करून तो आपला निर्वाह करीत होता. त्याचीहि ईश्वराच्या ठिकाणी पूर्ण श्रद्धा होती. त्या ब्राह्मण कुमारास ह्या वृद्ध ब्राह्मणाने आपले बरोबर नेण्याचे ठरविले व तोहि तयार झाला.

आपणास योग्य साथीदार मिळाला म्हणून त्या वृद्ध ब्राह्मणास फार आनन्द झाला व त्या युवकास बरोबर घेऊन तो तीर्थ यात्रेसाठी निघाला. दोन्ही गया, काशी, प्रयाग, अयोध्या, नैमिषारण्य, ब्रह्मावर्त, आदि स्थानाचे दर्शन घेऊन तो ब्राह्मण व्रजमंडलास आला. तेथे भद्रवन, बिल्ववन, लोहवन, भांडीरवन, महावन, मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहूलावन, काम्यवन, खदिरवन व श्रीवृन्दावन आदि बारा वने तथा उपवने ह्यांची यात्रा केली. व्रजांतील नन्दगाव, बरसाना, गोवर्धन आदि तीर्थांचे दर्शन घेतले व वृन्दावनांत ह्यांनी कांही दिवस विश्रांती घेतली. त्या ब्राह्मण

कुमाराने ह्या वृद्धाची निस्वार्थतेने अगदी उत्तम प्रकारे सेवा सुश्रुषा केली. गोपालाच्या मंदीरांत अत्यन्त प्रसन्न अन्तःकरणाने तो वृद्ध म्हणाला–'हे कुमार! तुम्ही माझी अशी उत्तम सेवा केली की, तसा पुत्रहि पित्याची करणार नाही. कृतज्ञेच्या योगाने माझेवर पुष्कळ भार झाला आहे, तेव्हा त्याचे बदल्यांत तुमचे काय प्रिय करू ह्या विचारांत मी आहे'.

तो ब्राह्मण कुमार म्हणाला–'आपण तर मला पूज्य, पितृतुल्य असून, माझे पडोसीहि असल्याने मी आपली सेवा कोणतीहि इच्छा धरून केली नाही, तेव्हा बदला देण्याची काय अवश्यता आहे?'

वृद्ध ब्राह्मणाने सांगीतले–'बदला दिल्यावाचून मला समाधान वाटणार नाही म्हणून मी माझी कन्या तुम्हास देण्याचे निश्चित केले आहे'.

आश्चर्य प्रकट करीत तो ब्राह्मण कुमार म्हणाला–'कोठे आपण महान् कुलीन, धनी-मानी, गृहस्थ व कोठे मी माता–पिता-हीन, अकुलीन, अनाथ ब्राह्मण कुमार! माझा आपला संबंध कसा होणार? आपली स्त्री-पुत्र आदि संबंधी यास संमति देणार नाही'.

त्या वृद्ध ब्राह्मणाने दृढतेने सांगीतले–'कोणाशी काय कर्तव्य आहे, मुलगी माझी आहे, मी वाटेल त्यास देईन. तुम्ही स्वीकार करा'.

युवकाने म्हटले–'मला स्वीकार करण्यास कांही हरकत नाही, परन्तु घरी गेल्यावर येथील ह्या सर्व गोष्टी आपण विसरून जाल व आपले परिवारा पुढे आपले कांही चालणार नाही'.

वृद्ध ब्राह्मणाने आवेशांत येऊन म्हटले–'मी ह्या गोपाल भगवानास साक्षी ठेवून सांगतो कीं, मी माझे कन्येचा विवाह तुमचेशी अवश्यमेव करून देईन. झाले, आता तर विश्वास ठेवाल?'

सावकाशपणें तो कुमार म्हणाला–'बरे आहे, तेथे गेल्यावर होईल ते खरे!'

ह्याप्रमाणे गोपाल भगवानाचे सन्मुख प्रतिज्ञा करून तो वृद्ध ब्राह्मण त्या युवका सहीत विद्यानगरास परत आला. परत आल्यावर आपले परिवारांत झालेला प्रकार सांगण्याचीहि छाती त्या वृद्धाची होईना. बरेच दिवस वाट पाहिल्यावर तो युवक त्या वृद्ध ब्राह्मणाचे घरीं गेला. त्यास पाहताच त्या ब्राह्मणाचे तोंड अगदीं उतरून गेले. कुशल प्रश्नानन्तर त्या युवकाने विचारले–'बाबा! आपण वृन्दावनांत गोपाल भगवानाचे समक्ष आपली कन्या मला देण्याचे वचन दिले होते, त्याचे स्मरण आहे ना?'

तो वृद्ध कांही उत्तर देणार तोंच त्याचा मुलगा तेथे आला व त्या युवकास वाटेल तशी दुरुत्तरे बोलून त्याने त्याचा अपमान केला. विवाहापेक्षा त्या अपमानाची त्या युवकास फार चीड आली. त्याने गाव पंच बोलाविले. त्यांना आपली सर्व कथा सांगीतली व म्हटले–'मला दुसरे कांहीही नको, ह्या वृद्धाने पंचा समक्ष सांगावें कीं, गोपाल भगवानाच्या मन्दीरांत त्यांनाच साक्ष ठेवून त्यांनी आपली कन्या मला देण्याचे वचन दिले नव्हते?'

वृद्ध ब्राह्मणाच्या पुत्राने प्रथम पासूनच त्यास पटवून ठेविल्याप्रमाणे त्या वृद्धाने पंचासमक्ष सांगीतले कीं, 'मला बरोबर स्मरत नाही, हा युवक काय म्हणतो ते'. मध्येच त्या वृद्धाचा पुत्र म्हणाला, हा अकुलीन ब्राह्मणाचा मुलगा. माझे वृद्ध पित्याबरोबर दुसरा कोणीहि नव्हता, त्यास कांहीं धोतरा वगैरे मादक पदार्थ खाऊ घालून माझे पित्याचे धन ह्याने हरण केले व आता असे कांही भलतेच

बोलतो. माझे पिता अशा कुलहीनास व भिकाऱ्यास आपली कन्या देण्याचे वचन कधी देतील तरी कां?'

पंचानी त्या युवकास विचारले–'काय कुमार! ऐकताच आहा, हे काय म्हणत आहे ते. तुम्हास वृद्धाने कन्या देण्याचे वचन दिलें त्यावेळीं आणखी दुसरा कोणी पुरुष होता कां? तुम्ही कोणाची साक्ष देणार?'

युवकाने गंभीरपणे उत्तर दिले–'गोपाल भगवानाच्या सन्मुखच ह्या वृद्धाने मला वचन दिले होते व तेच गोपाळ भगवान् माझे साक्षी आहे. दुसरा कोणीहि साक्षी नाही'.

पंचांतील एकाने हसत म्हटले–'तर काय तुम्ही गोपाल भगवानास येथे साक्षी देण्यासाठी आणू शकाल काय?'

आवेशयुक्तवाणीने त्या युवकाने उत्तर दिले–'होय, आणू शकेन'.

हे ऐकून सर्व स्थब्ध झाले व आश्चर्य प्रकट करीत सर्व एक स्वराने म्हणाले–'हो, हो, ठीक आहे! तुम्ही गोपाल भगवानास पंचाचे समक्ष आणाल व ते तुमचे साक्ष देतील तर, आम्ही जबरदस्तीने ह्यांच्या कन्येचा विवाह तुमचेशी करवून देऊ'.

वृद्ध व त्याचे परिवाराने ह्या गोष्टीस पंचा समक्ष मान्यता दिली. ह्याप्रमाणे झाल्यावर तो युवक सरळ वृन्दावनांत गेला. तेथे जाऊन अत्यन्त दीनस्वराने श्रीगोपाल भगवानाची त्याने प्रार्थना केली. भक्ताचा तो आर्तनाद श्रवण करून भगवान् प्रकट झाले व त्यास सांगीतले–'तुम्ही चला, मी तेथेच प्रकट होऊन तुमची साक्ष देईन'.

त्या युवकाने म्हटले–'अशाने काम भागणार नाही. कोण जाणे, आपण कोणते रूपाने प्रकट व्हाल व लोकांचा त्यावर भरंवसा बसेल

किंवा नाही. म्हणून तुम्ही ह्याच प्रतिमेचे रूपानेच माझेबरोबर चला. आपणास असंभाव्य असे कांहीच नाही'.

भगवन्त भक्ताधीन असल्याने, त्याही ते म्हणणे मान्य केले व सांगीतले–'तुम्ही पुढे पुढे चला, मी तुमचे मागे मागे चालतो. तुम्ही मागे वळून माझे कडेस पाहिल्यास, मी तेथेच थांबून जाईन. मी तुमचे मागे येत आहे, हे माझे पायांतील नूपराच्या ध्वनीने तुम्हास समजेलच'.

युवकास ही गोष्ट मानवली. तो पुढे चालू लागला व नूपुराचा ध्वनि ऐकू येत होता त्यावरून भगवान आपले मागे येत असल्याची त्यास जाणीव होत होती. मागे न पाहाता, रस्त्यांत आराम करीत व तशा रीतीने भगवानास नानाविध भोग समर्पण करीत तो युवक विद्यानगरा समीप आला. तेथे आल्यावर त्याच्याच्याने न राहवल्या कारणाने त्याने मागे वळून पाहिले. तो तेथेच हसत भगवान् थांबले व प्रसन्न होऊन म्हणाले–'मी आता येथेच थांबतो. येथूनच तुझी साक्षी देईन. तूं, त्या लोकांना येथे घेऊन ये'.

भगवानाची आज्ञा होताच तो युवक गावांत गेला व त्याने गोपाल भगवान आल्याचा लोकांना वृत्तान्त सांगीतला. हे ऐकताच गांवांतील नरनारी पूजा सामग्री व नाना प्रकारच्या भेटी घेऊन भगवन्ताचे दर्शनास दौडत आले. ह्याप्रमाणे तेथे मोठा उत्सवच सुरू झाला. नन्तर भगवन्ताची साक्षी घेण्याची कोणाचीहि हिम्मत झाली. वृद्ध ब्राह्मणाच्या मुलाने मोठ्या समारंभाने आपले बहिणीचा विवाह त्या ब्राह्मण युवकाशी करून दिला व तो युवक व तो वृद्ध ब्राह्मण सदैव श्रीगोपाल भगवानाचे सेवेंत निमग्न राहिले. राजानेहि गोपाल भगवानासाठी एक विशाळ मन्दीर बांधून दिले, तेव्हापासून 'श्रीसाक्षि गोपाल' ह्या नावाने हे प्रसिद्धिस आले.

भक्तांसहीत प्रभुहि कथा ऐकत होते. नित्यानन्द थांबल्यावर प्रभुनी विचारले–'मग विद्यानगरचे साक्षिगोपाल येथे केव्हा आले?'

नित्यानन्द सांगतात–'उडीसाचे त्यावेळचे राजे परम भागवत महाराज पुरुषोत्तमदेव ह्यांनी विद्यानगरचे राज्य जिंकून त्या राजाचे कन्येशी विवाह केला व ते विजयनगरचे राज्यहि आपले राज्यांत मिळविले, तेव्हा महाराजांनी साक्षिगोपालास पुरीस येण्याची प्रार्थना केली. ती प्रार्थना मान्य करून साक्षिगोपाल पुरीस आले व कांही दिवस तेथेच जगन्नाथाच्या मन्दिरांत माणिक्य-सिंहासनावर विराजमान झाले. पुढे महाराजा पुरुषोत्तमदेवाने जगन्नाथापासून जवळच तीन कोसावर 'सत्यवादी' नावाच्या गावांत ह्यांचेसाठी मन्दीर बांधले व तेथे साक्षिगोपालाची स्थापना केली'.

महाप्रभु ही कथा श्रवण करून अगदी सद्गदित झाले व साक्षिगोपालाच्या मूर्तिचे ध्यान करीत ती रात्र सर्वांनी तेथेच काढली.

# श्रीभुवनेश्वर महादेव

यौ तौ शङ्खकपालभूषितकरौ मालास्थिमालाधरौ
देवौ द्वारवतीस्मशाननिलयौ नागारिगोवाहनौ ।
द्वित्र्यक्षौ बलिदक्षयज्ञमथनौ श्रीशैलजावल्लभौ
पापं वो हरतां सदा हरिहरौ श्रोवत्सगङ्गाधरौ ॥

प्रातःकालीं साक्षिगोपाल भगवानाच्या मंगलआरतीचे दर्शन घेऊन प्रभुंनी भक्तांसह पुढील प्रयाणास प्रारंभ केला. महाप्रभु जगन्नाथाचे दर्शनासाठी फारच उत्कंठ झाले होते. त्यांच्या चालण्याबरोबरच त्यांची दर्शनाची इच्छाहि सारखी प्रबल होत होती. रस्त्याने चालत असताना मुकुन्ददत्ताने आपले कोकिलकण्ठाने हे पद म्हणण्यास सुरूवात केली—

राम राघव ! राम राघव ! राम राघव ! रक्ष माम् ।
कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! पाहि माम् ॥

त्या जनशून्य नीरवपथांत ह्याचाच ध्वनि-प्रतिध्वनि सारखा गुंजत होता, महाप्रभु नृत्य करीत होते. कोठे चाललो आहोत, ह्याचे कोणास भानहि नव्हते.

थोडे वेळाने ही सर्व मंडळी भुवनेश्वर नावाचे तीर्थास पोचले. तेथे 'बिन्दुसर' नावाचे एक पवित्र सरोवर आहे. शंकराने सर्व तीर्थांतून एक एक बिन्दु-थेंब थेंब आणून ह्या सरोवराची प्रतिष्ठा केली, म्हणून ह्यास 'बिन्दुसर' वा 'बिन्दुसागर' म्हणतात. त्यांत स्नान करून महाप्रभु सर्वांसह भुवनेश्वर महादेवाचे मन्दीरांत गेले. त्या भुवन मोहिनी मूर्तीचे दर्शन होताच प्रभु मूर्छित पडले. थोडे वेळाने बाह्य-ज्ञान झाल्यावर

तेथे संकीर्तनास आरम्भ केला. तेथील सर्व ऐश्वर्य पाहून त्यांही बराच वेळ तेथे संकीर्तन केले.

रात्रौ सर्व भक्तांसह कथोपकथन चालु असता मुकुन्ददत्ताने, प्रभुंचे पादपद्म हळू हळू दाबीत म्हटले–'तीर्थांचे महात्म्य अवश्य ऐकावे, असे आपणच सांगीतले आहे, तेव्हा आम्हा सर्वांना भुवनेश्वराचे महात्म्य ऐकवावे. एकान्तप्रिय व शैलकाननांत विराजमान होणारे हे भोळेबाबा ह्या उत्कल देशांत काय कारणाने येऊन विराजमान झाले, काशी सोडून ह्या ठिकाणीं ह्याहि नवी गुप्तकाशी काय म्हणून स्थापिली, ह्या पवित्र कथा आम्हास कृपा करून ऐकवाव्या?'

मुकुन्ददत्ताचे हे प्रश्न ऐकून प्रभु म्हणतात–'मुकुन्द! तुम्ही फार चांगला प्रश्न केला. ह्या भगवान्–भूतनाथांची येथे येण्याची फारच अद्भुत कथा आहे. स्कन्धपुराणांत ह्याचे विस्ताराने वर्णन केलेले आहे, तेच मी संक्षेपाने तुम्हास ऐकवितो. ही हरि-हर-महिम्याची पुण्य-कथा तुम्ही ध्यानपूर्वक ऐका!'

पूर्वकाळीं शिव काशीवासी म्हणूनच प्रसिद्ध होते. वाराणसी हेच त्यांचे लीला-स्थान. ह्यांची सर्वच कामें विचित्र. ह्याचमुळे लोक ह्यांना 'अवघडनाथ' म्हणतात. काशींत गर्मी वाटू लागली, म्हणून हे कैलास-पर्वताचे शिखरावर जाऊन राहू लागले. इकडे काशी सुनी पडली. तेथे एका राजाने आपली राजधानी बनविली व तो मोठ्या भक्ति-भावाने भगवान् भूत नाथाची पूजा करू लागला. त्याचे उग्र तपाने आशुतोष भगवान् प्रसन्न झाले व प्रकट होऊन त्यास वर माग म्हणून सांगीतले.

राजाने दोन्ही हाताची अंजली करून विनीत व करूण भावाने म्हटले–'मी आपलेपाशी काय मागू? आपले कृपेने मजपाशी धन धान्य,

राज-पाट, पुत्र परिवार आदि सांसारिक, उत्तम म्हटल्या जाणाऱ्या सर्व गोष्टींची समृद्धि आहे. माझी अत्यन्त उत्कठ अशी एक इच्छा आहे, सम्भवतया ती आपण पुरी करू शकणार नाही'.

शंकराने प्रसन्नतेच्या आवेशांत म्हटले–'राजन्! मी प्रसन्न झाल्यावर त्रैलोक्यांत मला अदेय असे कांहीच नाही. तुम्ही निसंकोचपणे मागा'.

राजाने अत्यन्त नम्रतेने व सरळपणे सांगीतले–'हे वरद! प्रसन्न होऊन मला ज्या अर्थी आपण वर देण्यासच तयार आहा, तर मला हेच वरदान द्या कीं, युद्धामध्ये मी श्रीकृष्णाचा पराभव करू शकेन'.

अवघडदानी सदाशिव हे वरप्रदान करताना पुढचा-मागचा कांहीच विचार करीत नाही. कोणी कांहीहि वर मागो, त्या योगे स्वतास क्लेश पडले तरी, हे वरदान करताना 'ना' म्हणणे शिकलेच नव्हते. राजाची मागणी ऐकून हे म्हणतात–'हे राजन्! तुम्ही घाबरू नका, मी अवश्य तुम्हास श्रीकृष्णभगवानापासून विजय प्राप्त करवीन. तुम्ही तुमची सेना तयार करून समरास चला. मी तुमचे मागोंमाग माझे सर्व भूत, पिशाच्च वैतालादि गणांसह युद्धांत तुमचे संरक्षणासाठी येतो. या योगाने तुम्ही श्रीकृष्णचन्द्राचे सम्पूर्ण सेनेचा विध्वंस करू शकाल'. असे म्हणून शिवाने आपले पाशुपतास्त्र मोठे हर्षाने राजास दिले. शिवाचे दिव्य अस्त्र मिळताच राजा अत्यन्त आनन्दीत झाला व त्याने लागलीच श्रीकृष्णावर चाल केली.

अन्तर्यामी भगवन्तास हे सर्व समजले. त्यांहि विचार केला–'शिव माझे भक्त आहेत. तपस्याचे अभिमानी त्या राजाचे बरोबर ह्यांनाहि अभिमान झाला आहे. मला दोघांचेहि अभिमानाचा चूरा केला पाहिजे. शिवास जो प्रिय तो मलाहि प्रिय आहे. दोघांचाहि मद नष्ट करणे,

'मदहारी' असल्याने माझे कर्तव्य आहे', असे म्हणून भगवानाने राजाचे सैन्यावर सुदर्शनचक्र सोडले. प्रथमच सुदर्शनचक्राने राजाचे मस्तकच धडापासून वेगळे करून त्यास विष्णुपुरास रवाना केले. कारण कीं, भगवन्ताचा क्रोधहि वरदान-तुल्यच असतो—

ये ये हताश्चक्रधरेण राजन् !
त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन।
ते ते मृता विष्णुपुरीं प्रयाताः
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः॥

त्या नन्तर राजाचे सेनेचा विध्वंस करून सुदर्शनचक्र शंकराचे मागे लागले. शंकरांनी आपली शस्त्रास्त्रे टाकून जीव घेऊन पळण्यास सुरूवात केली. परन्तु ते तरी जगताचे बाहेर जाणारच कोठे? तेव्हा त्यांहि भगवन्ताची अत्यन्त करूण वाणीने स्तुति केली—

'हे जगत्पते! ह्या अमोघ अस्त्रापासून आमचे रक्षण करा. हे प्रभो! आपले मायेस वश होऊन आम्ही आपला प्रभाव विसरून गेलो. हे प्रभो! आमचे अज्ञानामुळेच हा अपराध आमचे हातून घडला. आपणच जगताचे एकमात्र आधार! ब्रह्मा, विष्णु व आम्ही आपले कलेच्या अणुमात्र अंशाचेहि बरोबर होऊ शकणार नाही. हे विश्वपते! आपले एक एक रोमरन्ध्रांत कोट्यावधि ब्रह्माण्ड समावू शकतात. हे नाथ! आम्ही तर मायाधीन आहोत. ती माया आपली दासी आहे. ती माया आम्हास जसे नाचवील तसे आम्ही नाचतो आहोत. ह्यांत आमचा तरी काय अपराध? आम्ही आपले स्वताचे आधीन तर नाहीच'.

ह्या प्रमाणे शंकराची आर्तवाणी ऐकून भगवन्ताने चक्राचे तेज संवरण केले व हसत म्हटले–'शूलपाणिन्! आपला मदचूर्ण करण्या-

साठीच केवल मी ह्या सुदर्शनचक्राचा प्रयोग केला होता कीं, आपणास माझ्या प्रभावाचे स्मरण व्हावे. आपणावर प्रहार करण्याची माझी इच्छा नव्हती. आपण तर साक्षात् माझेच स्वरूप आहा. जो आपला प्रिय, तो माझाहि प्रियच. आपली भक्ती करणारावर मी संतुष्टच असतो. मी फार प्रसन्न झालो आहे, आपण कांही वर मागा'.

'स्वामिन्! अपराध्यावरसुद्धा दया करावी, हा तर आपला सनातन स्वभाव आहे. आपले अमित प्रभावाची केव्हाहि विस्मृति न होवो, असाच आशीर्वाद द्या'. शिवाय हे वचन ऐकून प्रसन्नतापूर्वक भगवन्त म्हणतात–'वृषभध्वज! आपण सदासर्वकाल माझेच आहात, व माझेच राहाल. आपणास माझे गौप्य व परमपावन अशा जगन्नाथक्षेत्राची माहिती आहेच. ते क्षेत्र मला फार प्रिय आहे. त्या क्षेत्राची चहुबाजूची वीस योजनेपावेतोची भूमि अत्यन्त पवित्र आहे. ह्यांत राहाणारा जीव माझा परमभक्त आहे. कोणत्याहि योनींत तो असेना, अन्ती तो मज-प्रत प्राप्त होतो. तुम्ही तेथे जाऊन निवास करावा. आपले क्षेत्र गुप्तकाशी ह्या नावाने प्रसिद्ध होईल व त्या क्षेत्रीं जाऊन जो आपले दर्शन घेईल, त्याची जन्म-जन्मान्तरीची पातके नष्ट होतील'.

भगवन्ताची अशी आज्ञा मिळताच त्या दिवसापासून शंकर ह्या ठिकाणीं येऊन राहात आहेत. जो ह्या क्षेत्रांत येऊन भक्ति-भावाने स्थिर-चित्त होऊन भुवनेश्वर महादेवाचे दर्शन करतो व दत्त-चित्त होऊन हे पुण्याख्यान श्रवण करतो, तो निश्चयाने सर्व पापापासून मुक्त होऊन अक्षय सुखाप्रत प्राप्त होतो.

प्रभुच्या मुखाने हे पवित्र आख्यान ऐकल्यावर सर्व भक्त अत्यन्त आनन्दित झाले व प्रभुच्या आज्ञेप्रमाणे तीं रात्र त्याही तेथेच सुखपूर्वक काढली.

प्रातःकालीं नित्यकर्मांतून निवृत्त झाल्यावर भुवनेश्वराचे दर्शन घेऊन प्रभु भक्तांसहीत कमलपुरास पोचले. तेथे भार्गी नदीत स्नान करून कपोतेश्वर महादेवाचे दर्शन केल्यावर प्रभु भक्तांसहीत दक्षिण दिशेकडेस पाहू लागले. येथून जगन्नाथपुरी तीन कोशच राहाते. भगवान् जगन्नाथाच्या मन्दीराची विशाल ध्वजा व चक्र येथून स्पष्ट दृष्टीस पडतात.

प्रभुनी दुरूनच जगन्नाथाच्या मन्दीरावर फडकत असलेली ती विशाल ध्वजा पाहिली. त्या ध्वजेच्या दर्शनमात्रानेच प्रभु पृथ्वीवर सपशेल पडले. ते प्रेमांत उन्मत्त होऊन कधी हसत, तर कधी अश्रुपात करीत, केव्हा पुढे धावत जात, तर केव्हा संज्ञाशून्य होऊन जमीनीवर पडत, चेतना प्राप्त झाल्यावर पुन्हा धावत व पुन्हा खाली पडत. केव्हा केव्हा त्या ध्वजेस साष्टांग प्रणाम करीत करीतच पुढे चालत. कधी लोटांगण घालून तर कधी उभे राहून हात जोडून त्या ध्वजेस प्रणाम करीत होते. ह्याप्रमाणे नेत्रातून अश्रु वाहात आहेत. शरीर सर्व धूलीने भरलेले आहे, दर्शनाच्या उत्कण्ठतेने उठत-पडत तिसरे प्रहरी प्रभु अठराहनाल्याचे समीप पोचले. भक्तहि प्रभुंच्या मागे-मागे संकीर्तन करीत करीत येत होते.

अठराहनाला ह्या नावाचा पुरीच्या जवळ एक सेतू आहे. लोक ह्याच सेतूने जगन्नाथपुरींत प्रवेश करतात. प्रभु ह्या ठिकाणीं पोचल्यावर भान रहीत होऊन पृथ्वीवर पडले. मागाहून भक्तहि त्या ठिकाणीं पोचले.

# श्रीजगन्नाथाचे दर्शनाने मूर्छा

**तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन् ।**
**तस्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः ॥**

अठराहनाल्याजवळ आल्यावर प्रभुंना कांहीसे बाह्य–ज्ञान झाले व तेथेच विचार करीत ते बसले. अश्रुपाताने दोन्ही नेत्र लाल झाले होते, भ्रुकुटी वर चढल्या होत्या, शरीरांत सर्व सात्विक भाव उद्दिपित झाले होते. कांहीसे प्रकृतिस्थ व कांहीसे भावावेशांत, अशा मध्यावस्थेंत फारच नम्रतेने प्रभुंनी आपले बरोबरील भक्तांना म्हटले–'बान्धवांनो! आपण माझे बरोबर येथ पावेतो येऊन माझ्यावर फारच मोठा उपकार केला आहे. रस्त्यांतील नानातऱ्हेच्या अडचणींतून मला निभावून येथ पावेतो आणून पोचविले. खरोखर आपण मजबरोबर नसता तर मी येथपर्यन्त पोचू शकलो असतो कीं नाही, ह्याचीच मला शंका वाटते. आपण कृपा करून मला जगन्नाथपुरीचे दर्शन करविले. मी अगदी कृतार्थ झालो. येथ पावेतोच आपणास बरोबर ठेविण्याचा मी विचार केला होता. आता आपणास जिकडे जावयाचे असेल तिकडे आपण जावे. मी यापुढे आपणाबरोबर राहाणार नाही'.

नित्यानन्दांनी आपले हसू दाबीत म्हटले–'आम्हास नका ठेवू आपण आपले बरोबर व आम्हीहि आपणास तसा आग्रह कोठे करीत आहोत! येथ पावेतो आलो आहोत तेव्हा जगन्नाथाचे दर्शनासाठी तर आम्हास येऊ द्याल ना?'

पुन्हा डोके हलवून प्रभुंनी गंभीरतेने म्हटले–'हे होणे शक्य नाही. आपण मंडळी माझेबरोबर येऊ नका. आपली दर्शन करण्याची इच्छाच

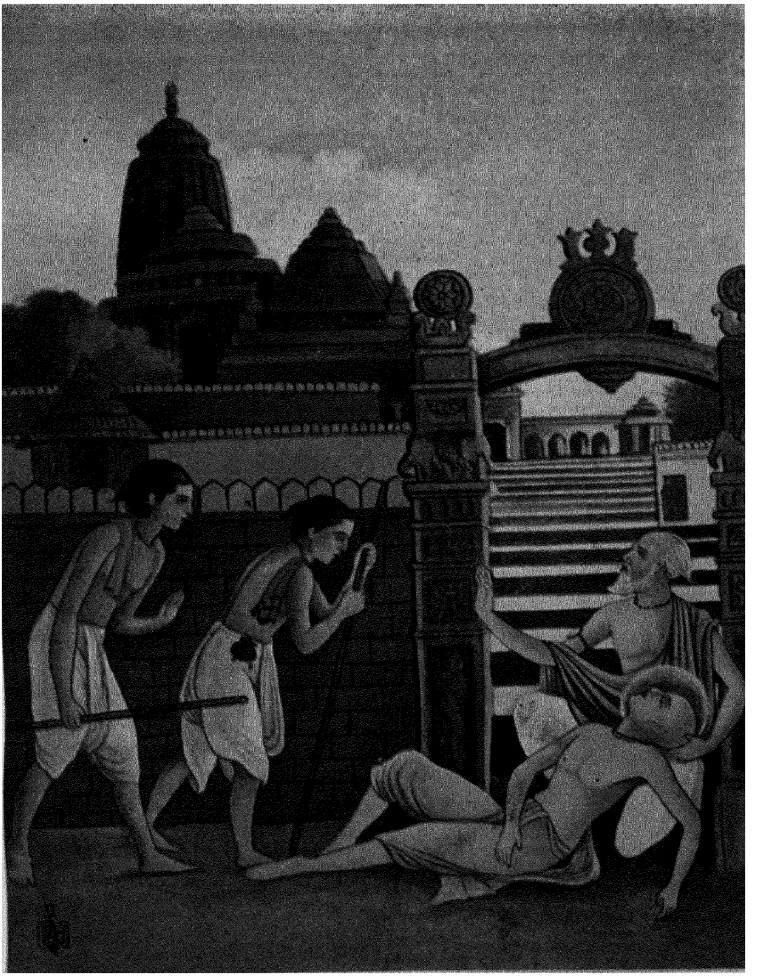

महाप्रभु और सार्वभौम

THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

असेल तर, एकतर, आपण पुढे जा वा मागाहून या, माझेबरोबर तुम्ही यऊ नका. बोला, पुढे जाता, कां मागे राहाता ?'

कांहीसे तोंड इसरे करून मुकुन्ददत्ताने म्हटले–'प्रभो ! आपणच पुढे चलावे; आम्ही तर आपले मागेच आलो आहोत व सर्व ठिकाणीं आपले मागेच जाऊ'.

झाले, इतके ऐकण्याचाच अवकाश, लागलीच महाप्रभु श्रीजगन्नाथाचे मन्दीराकडे जोराने धावत सुटले. ज्याप्रमाणे एकादे मत्त-गजेन्द्राने एकादे गावांत प्रवेश केला असता, त्यांतील ग्राम्यपशू व जन-समूह इतस्ततः पळत सुटतो, त्याप्रमाणे प्रभुंना ह्या उन्मत्तावस्थेंत मंदीराकडेस पळत सुटलेले पाहताच, रस्त्यांतील सर्व पथिक इकडे तिकडे पळू लागले, कांही घाबरून दूर हटले व कांही स्तंभित होऊन लांब उभे राहिले.

महाप्रभुंनी ह्या कशाचीहि क्षिति न बाळगता ते नीट समोर मंदीराकडे पळत गेले. मंदीराच्या सिंहद्वारांत प्रवेश करून एकदम जगमोहन मंडपांत गेले, व हां हां म्हणता कुदी मारून अगदी भगवन्ताचे समोर दाखल झाले. सुभद्रा व बलरामासहित श्रीजगन्नाथाचे दर्शन करताच प्रभुचा उन्माद पराकाष्टेच्याहि पार गेला. ते मोठ्या आवेशांत येऊन भगवन्ताचे श्रीविग्रहाचे आलिंगन करण्यासाठी मंदीराचे आंत जाऊ लागले, तोच प्रहरीयांनी (पहारेवाल्यांनी) त्यांना मध्येच थांबविले. प्रहरिये मध्ये आल्यानी प्रभु मूर्छित होऊन जमीनीवर पडले. त्यांना स्वतःच्या शरीराचे बिलकुल भान नव्हते. चेतनाशून्य माणसाप्रमाणे ते जगमोहन-सभामंडपांत पडले होते. हजारो दर्शनार्थी जगन्नाथाचे दर्शन विसरून ह्यांचेच दर्शन घेऊ लागले. पुष्कळसे यात्री व तेथील कर्मचारी चहुकडून प्रभुंना घेरून उभे होते. प्रभु तसेच चैतनाशून्य अवस्थेंत होते.

त्याचवेळीं उडीसाच्या महाराजांच्या पाठशाळेचे प्रधानाध्यापक आचार्य वासुदेव सार्वभौम भगवानाचे दर्शनासाठी मन्दीरांत आले होते. भगवन्ताचे दर्शन करीत असतानाच त्यांची दृष्टि महाप्रभुकडेस गेली. महाप्रभुच्या त्या अद्‌भुत, रूप-लावण्ययुक्त तेजस्वी विग्रहाचे दर्शनमात्राने ते ह्याचेकडेस आपोआपच आकर्षिले गेले. प्रभुची अशी उच्चावस्था पाहून ते तात्काल त्यांचे जवळ जाऊंन उभे राहिले. पुष्कळ वेळ पावेतो ते सारखी टक लावून प्रभुंना निहारीत होते. सार्वभौम महाशय न्याय व वेदान्ताचे तर प्रकान्ड पंडित होतेच, परन्तु त्यांनी अलंकार-ग्रन्थांचाहि चांगला अभ्यास केलेला होता. ते विकार, भाव, अनुभाव व नायिका आदिंचे भेद-प्रभेदांच्या मध्येहि चांगले पारंगत होते. ते शास्त्रीय दृष्टिने प्रभुच्या दशेचे निरीक्षण करू लागले.

ते उभ्या-उभ्यानेच मनांत विचार करीत होते कीं, 'प्रणायाचे' इतके उच्च भाव मानव-शरीरांत प्रकट होणे संभवनीय नाही. ह्यांच्यात सर्व सात्विकविकार एकाच वेळीं उद्दिपित झाले व त्यांचे संवरण करण्यास पण ते समर्थ नाहीत, व ह्याच मुळे ह्यांचा हा ह्या वेळचा सुदीप्त सात्विक भाव फारच अलौकिक आहे. प्रणयाचे उद्रेकांत जी अवस्था श्रीराधेची होत होती, व जी शास्त्रांत 'अधिरूढ महाभाव' ह्या नावाने वर्णिली गेली आहे, अगदी तीच दशा ह्यावेळीं ह्या संन्यासी युवकाची आहे. भगवानाचे प्रति इतके प्रगाढ प्रणयाचे भाव तर मी शास्त्रांत केवल पठणच केले होते, परन्तु आजपर्यन्त त्यांचा कोणाचे शरीरांत उदय झालेला पाहण्यांत नव्हता. आज मी प्रत्यक्ष त्या महाभावांचे दर्शन केले. अवश्य हे संन्यासीवेशधारी युवक कोणी अलौकिक दिव्यपुरुष आहेत. दिसण्यांत तर गौडदेशीय दिसतात'.

ह्या प्रमाणे सार्वभौम महाशय विचार करीत उभे आहेत तोच,

मध्यान्हिचा भोग येण्याचा समय झाला. प्रभुची मूर्छा अद्याप भङ्ग झाली नव्हती, म्हणून भट्टाचार्य महाशयांनी मन्दीरांतील सेवकांच्या सहायाने प्रभुना तशाच मूर्छीत अवस्थेत उचलून आपले घरीं नेले, व एका सारवलेल्या अशा स्वच्छ जागेंत त्यांना निजविले. सार्वभौम महाशयाचे घर मंदीरच्या दक्षीणेस बालुखंडांत मार्कंडेय सरोवरा समीपच होते. हल्ली ज्यास 'गंगामाताका मठ' म्हणतात, त्याच आपले सुंदर घरांत प्रभुना ठेवून ते प्रभुंच्या शरीराची देखरेख करू लागले. त्यांही आपला हात प्रभुच्या नाका समोर धरला. फारच हळु हळु प्राण-गति चालत असल्याचे त्यांना प्रतीत झाले. या योगाने भट्टाचार्यांना आनन्द झाला व ते आपले परिवारासह प्रभुची सेवासुश्रुषा करू लागले.

इकडे प्रभुंचे साथीदार चारहि भक्त मागे मागे येत होते. मन्दीरच्या दरवाजावरच त्यांही पहारेवाल्यांना विचारले–'काय बाबांनो! तुम्हास माहीत आहे कां, एक गोरेसे गौडदेशीक युवक संन्यासी आताच थोडे वेळा पूर्वी येथे दर्शनास आले होते?'

पहारेवाल्याने लागलीच उतावळीने सांगीतले–'हो, हो, त्या संन्यासी महाराजाचे तर आम्ही दर्शन सुद्धा केले. फार देखणे आहेत. कोणास ठाऊक त्यांना काय झाले, त्यांहि भगवानाचे दर्शन करताच ते एकदम मूर्छित होऊन जगमोहन मंडपांत पडले. थोडे वेळापूर्वीच आचार्य सार्वभौम त्यांना आपले घरीं घेऊन गेले. काय आपण त्याचे साथीदार आहात?'

नित्यानन्दांनी सांगीतले–'होय, आम्ही सर्व त्यांचे सेवक आहोत. सार्वभौम भट्टाचार्यांचे घराची वाट तुम्ही आम्हास दाखवाल का?'

पहारेवाल्याने सांगीतले–'आताच तर ते गेले, लवकर गेला तर ते तुम्हास वाटेंतच भेटतील, असे समोर जा, व इकडे दक्षिणेकडे वळा,

तेथेच मार्कण्डेयसराचे समीप सार्वभौम पंडिताचे घर तुम्हास कोणीहि दाखवील'.

पहारेवाल्याच्या सांगण्याप्रमाणे हे सर्व तिकडे जाण्यास निघाले, तोच त्यांना भट्टाचार्यांचे मेहुणे गोपीनाथाचार्य मंदीरांतून बाहेर पडताना भेटले. आचार्य गोपीनाथ नवद्वीपनिवासी असून मुकुन्ददत्ताचा व त्यांचा परिचय होता व महाप्रभुचे ठिकाणीहि त्यांचे प्रेम होते. मुकुन्ददत्ताने पाहताच आचार्यांना नमून प्रणाम केला. आचार्यांनी मुकुन्द दत्तास गाढालिंगन दिले व मोठे आनन्दाने म्हणाले–'ओहो! गायनाचार्य महाशय, येथे कोठे? आपण केव्हा आलात? महाप्रभुंचा समाचार सांगा. महाप्रभु व त्यांचे सर्व भक्त कुशल आहेत?'

मुकुन्ददत्ताने सांगीतले–'हे आम्ही आताच येत आहोत. महाप्रभुंनी गृहस्थाश्रमाचा परित्याग करून सन्यास दीक्षा घेतली आहे व त्यांचेच बरोबर आम्ही येथे आलो आहोत. अठरहनाल्याजवळ ते आम्हापासून पृथक् होऊन एकदम भगवन्ताचे दर्शनासाठी पळत आले. येथे आल्यावर आम्हास समजले कीं, सार्वभौम महाशय त्यांना आपले घरीं घेऊन गेले. सार्वभौम महाशयांचेच घरीं आम्ही जात आहोत तोच, महत्भाग्य आमचे कीं, आम्हास आपले दर्शन घडले. आमची यात्रा सफल झाली'.

आचार्य गोपीनाथ म्हणाले–'ठीक आहे, मी तुम्हास सार्वभौम महाशयांचे घरीं घेऊन जातो. चला, प्रथम भगवानाचे दर्शन तर घेऊन या'.

मुकुन्ददत्ताने सांगीतले–'प्रथम आम्ही महाप्रभुंचा सर्व समाचार पूर्णपणे जाणून घेऊ व नन्तर निश्चिन्ततापूर्वक भगवानाचे दर्शन करू. प्रथम आपण आम्हास सार्वभौम महाशयाचे घर दाखवा'.

आचार्य गोपीनाथांनी मुकुन्ददत्ताचे हे म्हणणे मान्य करून सर्वांना घेऊन ते सार्वभौम महाशयांचे घराकडेस निघाले. नित्यानन्दांचा परिचय

करून घेऊन अवधूत समजून त्यांचे चरणीं त्यांही प्रणाम केला व पांचहि महाप्रभुच्या संबंधाच्या गोष्टी करीत भट्टाचार्यांचे घरीं पोचले.

ह्या सर्वांनी तेथे जाऊन प्रभुस चेतनाशून्य-अवस्थेंतच पाहिले. भक्तांनी चहुबाजुंनी प्रभुंना वेढून संकीर्तनास प्रारम्भ केला. संकीर्तनाची सुमधूर ध्वनी कानीं पडताच प्रभु हुंकार मारून उठून बसले. भक्तिभावाने पुत्र व स्त्रीसहित समोर बसून सुश्रूषा करीत असलेले सार्वभौम महाशयांना व अन्य तेथे उपस्थित असणारे सर्वांना ह्या योगे फारच आनन्द झाला. सर्वांची सुकून गेलेली मुखे उल्लसित दिसू लागली. संकीर्तनाच्या ध्वनीने सार्वभौमांचे ते भव्य-भवन गुंजीत झाले. प्रभु कांहीसे प्रकृतिस्थ झाल्यावर सार्वभौमांचे सम्मतीने सर्व भक्त त्यांचे पुत्र चन्दनेश्वराबरोबर श्रीजगन्नाथाचे दर्शनास गेले. तेथ जाऊन भक्तिभावाने श्रीसुभद्रा व बलदेव सहीत श्रीजगन्नाथाचे त्याही दर्शन केले. पुजाऱ्याने प्रसादी, चन्दन व माला ह्या सर्वांना दिल्या. त्यांचा स्वीकार केल्यावर सर्व जण आपले भाग्याची प्रशसा करू लागले.

पाठकांनी सार्वभौम भट्टाचार्यांचे नाव तर ह्या पूर्वीच ऐकले आहे. आता त्यांचा संक्षिप्त परिचय करून देणे अवश्यक आहे. सार्वभौम महाशय आपले वेळीं अद्वितीय विद्वान् तथा नैयायिक समजले जात होते. त्यांच्या शास्त्रज्ञानाची चहूकडे ख्याति होती. इतके असूनहि प्रभुंच्या समागमापूर्वी त्यांचे जीवन भक्तिविहीनच होते. चन्द्रकान्तमण्यांत लपून असलेले जलाप्रमाणे त्यांची भावुकता तोपावेतों प्रस्फुटित झालेली नव्हती. गौरचन्द्राचे सुखद, शीतल किरणांचा संसर्ग होताच, ती सहसा द्रवित होऊन बाहेर टपकू लागली व त्या कारणाने भट्टाचार्यांचे नीरस जीवन सरस झाले व ते ह्या अलौकिक रसाचे सुखास्वादन करीत आपले जीवन व्यतीत करू लागले.

# आचार्य वासुदेव सार्वभौम

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥

शास्त्रांत दोन प्रकारची बुद्धि सांगीतली आहे. एक लौकिकी व दुसरी पारमार्थिक. परमार्थ-पथांत लौकिकी बुद्धिने काम चालणार नाही. आपण कितीही भारी विद्वान असाल, आपणास अत्युच्च बाबती सहज सूचत असतील, परन्तु इतक्या ह्या अत्युच्च व प्रखर बुद्धिचे अन्तिम फल सांसारिक सुखाची प्राप्ती, हेच आहे. जो पावेतो त्या बुद्धीस आपण परमार्थाकडेस वळवीत नाही तो पावेतो, आपणांत व मोळी विकून पोट भरणाऱ्या जडपुरुषांत कांहीच अन्तर नाही. तो बिचारा दिवसभर परिश्रम करून चार पैसेच रोज मिळवितो व त्यायोगे आपले परिवाराचे भरण-पोषण करतो व आपण आपले प्रखर प्रतिभेच्या प्रभावाने हजारो-लाखो रोज पैदा करता. तितक्यानेही आपली शान्ती न होता अधिकाधिक धन प्राप्त करण्याची आपली इच्छा वाढतच जाते. धन--प्राप्तीसाठी दोघेहि उद्योग करतात व दोघांनाही ती प्राप्ती होते. दोघेहि असंतुष्टच असतात. तेव्हा शास्त्र शिकवून पैसा मिळविणारे पंडीतामध्ये व त्या मोळी विकून जीवन-निर्वाह करणाऱ्या मूर्खामध्ये अन्तर काय राहिले? म्हणूनच तुळसीदास म्हणतात—

**काम, क्रोध, मद, लोभकी, जबलग मनमे खान ।**
**तबलग पंडित मूरखा, दोनो एक समान ॥**

ज्यांचा उल्लेख ह्यापूर्वीच होऊन गेला आहे, ते सर्व विद्याविशारद आपले वेळचे अद्वितीय नैयायिक पंडितप्रवर आचार्य वासुदेव सार्वभौम प्रभुचे दर्शनाच्या पूर्वी अशाच प्रकारचे पोथी-पंडित होते. तोपावेतो

त्यांची बुद्धि परमार्थ पथांत विचरणारी झाली नव्हती. त्यांची सर्व शक्ति तोपर्यन्त पुस्तकी विद्यांचेच पर्यालोचनांत नष्ट होत होती.

आचार्य सार्वभौमाचे घर नवद्वीपांत 'विद्यानगर' ह्या स्थानी होते. त्याचे पित्याचे नांव महेश्वर विशारद. हे शास्त्रज्ञ व कर्मनिष्ट ब्राह्मण होते. महाप्रभुचे मातामह श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीच्याबरोबर हेहि होते. सार्वभौम दोघे बन्धु. ह्यांचे बन्धु श्रीमधुसूदन वाचस्पति फार प्रसिद्ध विद्वान् व नामांकित पंडित होते. ह्यांना एक बहीण असून तिचा विवाह श्रीगोपीनाथाचार्याशी झालेला होता.

बाल्यकालापासूनच सार्वभौम महाशयाची बुद्धि अत्यन्त तीव्र होती. पाठशाळेंत एक वेळ त्यांही पाठ ऐकला म्हणजे पुन्हा दुसरे वेळीं तो सांगण्याची ह्यांना आवश्यकता पडत नव्हती. शिकण्यांत प्रमाद करणे ह्यांना माहीतच नव्हते. शिकलेली गोष्ट विसरणे हे शिकलेलेच नव्हते. एकवार एकादा श्लोक वा सूत्र कण्ठस्थ झाले कीं, ते लोखंडाचे रेघेप्रमाणे स्थायीच झाले समजावे.

ज्या वेळीं ते नवद्वीपांत विद्यार्थीदशेंत विद्याध्ययन करीत होते, त्या वेळीं नवद्वीप हे संस्कृत-विद्येचे प्रधान-पीठच झाले होते. गौड, उत्कल आणि बिहार आदि पुष्कळ देशांतून छात्र येथे येऊन संस्कृत-विद्येचे अध्ययन करीत असत. नवद्वीपांत त्यावेळीं व्याकरण, काव्य, अलङ्कार, ज्योतिष, दर्शन तथा वेदान्तादि शास्त्रांचे समुचित रूपाने शिक्षण दिले जात होते. परन्तु तो पावेतो नव्य-न्यायाचा इतका विशेष प्रचार झालेला नव्हता किंवा असेही म्हटले तरी चालेल कीं, तो पावेतो, गौडदेशांत नव्य-न्याय नव्हताच. गौडदेशांतील सर्व छात्र न्याय पढण्यासाठी मिथीला येथे जात होते. त्यावेळीं मिथिला हेच

न्यायाचे केन्द्र मानले होते. तसे पाहिले तर मिथिलावासी पंडित जे कोणी न्याय शिकण्यास येत त्यास ते प्रेमाने पढवीत असत. परन्तु ते न्यायाची पुस्तके कोणास बरोबर घेऊन जाऊ देत नसत. विशेषता वंगदेशीय छात्रांच्या संबंधाने ते विशेष दक्ष असत. त्या वेळीं छापण्याची कला नव्हती. पंडीतांच्याच जवळ हातची लिहिलेली पुस्तके असत व तेच त्यांचे सर्वस्व होते. त्यांची प्रति-लिपीहि ते सर्वसाधारण करू देत नसत. पुष्कळ वर्षे पावेतो कोणा एकाद्याची पूर्ण परीक्षा केल्यावर तो अधिकारी असल्याची खात्री झाल्यास मोठ्या कष्टाने त्यास पुस्तकाची प्रतिलिपी करू देत. पुस्तकांच्या अभावी न्यायाची पाठशाला नवद्वीपांत स्थापन होऊ शकली नव्हती. प्रथम एका रामचन्द्र भट्टाचार्यांनी एक छोटीशी न्यायाची पाठशाला उघडली. तेहि मिथिलेहून न्याय शिकून आले होते. परन्तु पुस्तकांच्या अभावामुळे ते छात्रांच्या शंकांचे योग्य निरसन करू शकत नव्हते.

विद्यार्थी वासुदेवहि आपले बन्धू समवेत रामचन्द्र भट्टाचार्यांचे पाठशाळेंत न्याय शिकू लागले. कुशाग्रबुद्धिचे वासुदेवास आपले शंकांचे नीट निरसन होत नसल्याने समाधान वाटेना. त्यांचे अध्यापक त्यांची प्रत्युत्पन्नबुद्धि समजून गेले व एके दिवशीं त्यांही त्यास एकान्तांत सांगीतले–'वासुदेव ! खरोखरच तुम्ही नैयायिक होण्याचे योग्य आहात, तुमची बुद्धि फार तीव्र आहे. मी तुमचे शंकांचे योग्य समाधान करण्यास असमर्थ आहे. ह्याचे मुख्य कारण आमचे येथे तर न्यायशास्त्राचा कोणी पंडित नाही. न्याय शिकणेसाठी आम्हा सर्वांना मिथिलेस जावे लागते. हल्ली भारत वर्षांत मिथिला हेच न्यायाचे केन्द्र समजले जात आहे. मैथील पंडीत कोणास पढविण्यास तर ना म्हणत नाहीत, जो जातो त्यास ते मोठ्या प्रेमाने पढवितात, परन्तु पुस्तके कोणास बरोबर घेऊन

'जाऊ देत नाहीत. अशा स्थितींत पुस्तकावाचून जितके पढविता येईल तितके आम्ही पढवितो'.

आपले अध्यापकाचे मुखांतून ही गोष्ट ऐकून आत्माभिमानी वासुदेव विद्यार्थी यास फार वाईट वाटले. अध्यापकाचे विवशतेबद्दल त्यास दया आली, त्याच वेळीं त्याही निश्चय केला कीं, वंगदेशांत न्यायाचे पुस्तकांचा असलेला अभाव मी दूर करीन. त्यांना स्वतःचे बुद्धि, स्मरणशक्ति व अद्भुत धारणाशक्तिचा पूर्ण विश्वास होता. त्याच दृढ विश्वासाने ते मिथीला नगरीस गेले व तेथे विधिवत् न्यायशास्त्राचा अभ्यास केला. आपले पूर्वीच्या जुन्या अध्यापकाने सांगीतलेली गोष्ट त्यांना येथे बरोबर पटली. येथून न्यायाची पुस्तके नेणे कांही सामान्य काम नाही, ह्याचा त्यांना अनुभव आला. म्हणून त्यांही न्यायशास्त्राचा एक मोठा प्रमाण ग्रन्थ अद्योपान्त कण्ठस्थ केला. याप्रमाणे त्याही कागदी पुस्तक तर बरोबर आणले नाही, परन्तु आपले स्मरणशक्तिच्या सहायाने आपले हृद्पटलावर न्यायाचे संपूर्ण पुस्तक लिहून ते त्यांहि आपणाबरोबर आणिले येताच त्यांहि आपली न्यायाची पाठशाला नवद्वीपांत स्थापित केली. विचार करा, जो इतका मोठा प्रमाण ग्रन्थ यथाविधि कण्ठस्थ करून आपले देशांतील विद्यार्थ्यांचे कल्याणासाठी आणतो, तो पुरुष बरे, किती भारी बुद्धिवान्, किती मोठा देशभक्त व किती उच्चश्रेणीचा विद्याव्यासंगी व शास्त्रप्रेमी असला पाहिजे, ह्याचे पाठकांनी स्वतःच अनुमान करावे.

सार्वभौमांची विद्वत्ता, छात्रप्रेम, गाम्भीर्य व पढविण्याची सुन्दर व सरल शैलीची थोडेच दिवसांत दूरवर ख्याति झाली. निरनिराळ्या प्रांतांतून न्याय शिकणारे विद्यार्थी ह्यांचे पाठशाळेंत येऊन आपली न्याय शिकण्याची पिपासा शान्त करू लागले. ह्यांचे विद्यार्थी लोकप्रसिद्ध नैयायिक झाले. अशांनी लिहिलेले ग्रन्थ नव्यन्यायाचे प्रमाणग्रन्थ समजले

जातात. 'दीधिति'चे रचयिता रघुनाथ पण्डित ह्याच सार्वभौम महाशयाचे शिष्य होते.

उत्कल (उडीसा) प्रान्ताचे महाराज प्रतापरुद्र संस्कृत-विद्येचे अत्यन्त प्रेमी होते. त्यांही सार्वभौम भट्टाचार्यांच्या विद्वत्तेची प्रशंसा ऐकून त्यांना आपले पाठशाळेंत अध्यापक म्हणून बोलावून घेतले. राजाच्या सन्मानपूर्वक आलेल्या आमन्त्रणाची अवहेलना न करता सार्वभौम भट्टाचार्य आपले छात्रगणासहीत जगन्नाथपुरींत महाराजांचे पाठशाळेंत आले व तेथे विद्यार्थ्यांना विविधशास्त्रे पढवू लागले.

ह्या प्रमाणे हे पुरीस असताना महाप्रभुंचे ह्यांना एकाएकी दर्शन झाले व ते मूर्छित असताना त्यांही त्यांना उचलून आपले घरीं आणले. मागाहून नित्यानन्द आदि भक्त तेथे पोचले. तिसरे प्रहरीं जेव्हा प्रभु सावध झाले तेव्हा ही सर्व मंडळी समुद्र-स्नानास गेली व परत आल्या वर सार्वभौमाचे आग्रहाने भोजनास बसली. प्रभुंचे अद्‌भुत रूप-लावण्य-युक्त ते तेजस्वी मुखमण्डल पाहून सार्वभौम आपण होऊनच त्यांचेकडेस आकर्षिले गेले व आपला सर्व शास्त्राभिमान विसरून मनानेच ह्यांची त्यांचे चरणीं भक्ती जडली. त्यांही मोठ्या प्रेमाने भोजन करविले व शेवटी ग्रहस्थ-धर्मानुसार प्रभुस प्रणाम केला. संन्यासी जगतास 'नारायण' रूपानेच पाहातो. 'नारायणा' व्यतिरिक्त अन्य सत्ताच त्याचे दृष्टिने नसते, म्हणून संसारी लोक संन्याशास प्रणाम करताना 'ॐ नमो नारायणाय' असे म्हणूनच प्रणाम करतात व संन्यासीहि त्याचे उत्तरांत 'नारायण' असेच म्हणतात.

सार्वभौम भट्टाचार्यांनीहि 'ॐ नमो नारायणाय' म्हणून प्रभूस प्रणाम केला व प्रभुंनी त्याचे उत्तरांत म्हटले-'श्रीकृष्ण भगवानाचे पादपद्मीं आपली प्रगाढ प्रीति जडो'.

हे आशिर्वचन ऐकून सार्वभौम अत्यन्त आनन्दित झाले व त्यांना खात्री वाटली कीं, हा कोणी भगवत–भक्त वैष्णव संन्यासी असावा. ह्या मुळे ह्याचा परिचय करून घ्यावा अशी त्यांना इच्छा झाली. स्वतः संन्याशाने स्वतःचे पूर्वाश्रमांच्या गोष्टी करणे निषिद्ध मानले गेले आहे. तेव्हा आपले मेहुणे गोपीनाथाचार्यांना त्यांहि विचारले–'आचार्य! आपणास ह्या संन्याशाचे पूर्वाश्रमाची कांही माहिती आहे कां?'

कांहीसे हसून आचार्यांनी म्हटले–'आपण ह्यांना ओळखले नाही, नवद्वीपच तर ह्यांची जन्मभूमि आहे. हे पंडित जगन्नाथ मिश्र पुरंदराचे पुत्र व श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीचे दौहित्र'.

प्रभुचे परिचयाने सार्वभौमांना फार आनन्द झाला. निलाम्बर चक्रवर्ती ह्याचे पित्याचे सहाध्यायी होते व पुरन्दर पंडीत ह्यांचेबरोबर कांहीं दिवस पढत होते. सार्वभौमाचे पिता व निलाम्बर चक्रवर्ती ह्यांचा प्रगाढ स्नेह होता व ह्याच कारणाने सार्वभौमाचे पिता पंडित जगन्नाथ मिश्रास फार मानीत होते. हा वेळ पावेतो सार्वभौम प्रभुंना एक कृष्ण–प्रेमी संन्यासी समजून त्यांचेवर प्रेम करीत होते. गोपीनाथाचार्यांचेकडून प्रभुंचा परिचय होताच त्यांचे भावनेंत परिवर्तन झाले. आता त्यांत ममत्व उत्पन्न झाले व प्रेम वा भक्तिहि वात्सल्यभावांत परिणत झाली. ह्या आपुलकीचे भावाने सार्वभौम म्हणतात–'मला काय माहित कीं, हे आपले घरचेच आहेत. नीलाम्बर चक्रवर्तीच्या संबंधामुळे हे आम्हास मान्य व पूज्य आहेतच, त्यात आणखी हे संन्यासी. तेव्हा हे तर पूजनीय संबंधी व अत्यन्त आदरणीय असे आहेत'.

प्रभुंनी अत्यन्त नम्र भावाने व कांहीसे संकोचाने म्हटले–'हे आपण कसे म्हणत आहा, मी तर आपले मुलाप्रमाणे आहे. आपण ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध व अधिकारवृद्ध आहात. मोठमोठ्या

संन्याशास आपण शास्त्रांचे शिक्षण देत आहा, आपणा सन्मुख मी बोलणारच काय ? मी तर आपले शिष्याचा शिष्य होण्याचेहि योग्यतेचा नाही. अद्याप माझी अवस्था फार लहान आहे. मला जगताचे कांहीच ज्ञान नाही'.

सार्वभौमांनी म्हटले–'हे बोलणे तर आपले शील-स्वभावाचे द्योतक आहे. तुम्ही संन्यासी असल्याने आम्हास तर पूज्यच आहा'.

प्रभुंनी पूर्ववत संकोचाने व खाली पाहात उत्तर दिले–'मी तर अद्याप लहान आहे, संन्यासाचे मर्म मी काय जाणणार ? असाच भावुकतेस वश होऊन मी हे रंगविलेले कपडे घालून घेतले. संन्याशाचे काय कर्तव्य आहे त्याची मला मुळीच जाणीव नाही. आपण लोक शिक्षक आहात, अतः गुरु मानून मी आपलेच चरणांचा आश्रय केला आहे. आपण माझा उद्धार करा व संन्यास-धर्माची मला शिक्षा द्या. आजच मला आपण इतक्या घोर विपत्तितून वाचविले. ह्याचप्रमाणे पुढेहि आपण माझे रक्षण करावे'.

सार्वभौम ममतेने म्हणतात–'पाहा बरे ! आता कधी एकटेच दर्शनास जाऊ नका, जेव्हा दर्शनास जावयाचे असेल तेव्हा बरोबर चन्दनेश्वरास या, दुसरे कोणास तरी नेत जा. तुम्ही एकट्यानेच मंदीरांत दर्शनास जाणे ठीक नाही'.

विनीत भावाने प्रभु म्हणाले–'आता मी केव्हाहि मन्दीराचे आंत दर्शनास जाणार नाही. भगवान् गरुडापासूनच दर्शन घेत जाईन'.

सार्वभौम म्हणाले–'नाही, गरुड-स्थंभापासून कां ? मन्दीरांत आपलीच सर्व मंडळी आहेत, इच्छा असेल तेथून दर्शन घ्या, सावधान असावे. ह्यासाठी मी हे सूचविले आहे'.

इतके झाल्यावर आपले मेहुणे गोपीनाथाचार्यांना सार्वभौमांनी सांगीतले–'आचार्य! आपल्याच मुळे ह्यांचा परिचय झाला, व आपल्याच मुळे ह्यांना आम्ही ओळखिले. आता ह्यांना राहाण्यासाठी एकादे एकान्त स्थानाचा प्रबन्ध केला पाहिजे. आमचे मावशाचे ते दुसरे घर रिकामेच आहे व तेथे एकान्तहि आहे, ते ह्यांना चालेल कां?'

आचार्यांनी सांगीतले–'स्थान फार उत्कृष्ट आहे. हे ते अवश्य पसंत करतील. त्यांतच सर्वांचा प्रबन्ध करावा'.

सार्वभौमांनी म्हटले–'हो हो, हेच बरोबर आहे. आपण ह्या सर्वांना तेथेच घेऊन जा'.

गोपीनाथाचार्य ह्या प्रमाणे सार्वभौमांच्या सम्मतीने प्रभुंना त्यांचे साथीदारासह उपरोक्त घरीं घेऊन गेले. प्रभुंनी ते एकान्त स्थान पसंत केले व ते आपले साथीदारांसह तेथे राहू लागले.

# सार्वभौम व गोपीनाथाचार्य

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥

ह्या संसार-सागरांत बुडत असलेल्या निराश्रित जीवांचे गुरुदेवच एक मात्र आश्रय आहे. गुरुदेवच वाहात जाणारे, बुडत असलेले, दुःखीत झालेले, विलपत पडलेले, अचेतन जीवांना ह्या भव-वारिधींतून दंड धरून बाहेर काढण्यास समर्थ आहेत. त्रैलोक्यपावन गुरुदेवाचे कृपेवाचून जीव ह्या अपार दुर्गम पयोधीचे पार होणेच शक्य नाही. तेच अखिल विश्व-ब्रह्माण्डाचे विधाता, विश्वम्भरच नानात-हेची रूपे धारण करून गुरुरूपाने अवतीर्ण होतात व त्यांच्याच पादपद्मांचा आश्रय घेऊन मुमुक्षु-जीव हां हां म्हणता हा अपार उदधि तरून जातो. कोणा मनुष्याचे सामर्थ्यच काय आहे कीं, तो एकादे सुद्धा जीवाचा उद्धार करू शकेल? जीवांचे कल्याण तर तेच परमगुरु श्रीहरीच करू शकतात. म्हणून मनुष्य गुरु होऊच शकत नाही. जगत्-गुरु तर तेच श्रीमन्नारायणच आहेत, ज्या जीवास संसार-बन्धनापासून मुक्त करावे अशी त्यांची इच्छा होते त्यास, ते गुरुरूपाने प्राप्त होतात. अन्य साधारण बद्ध जीवास तर ते रूप साधारण जीवाप्रमाणेच प्रतीत होते, परन्तु जे अनुग्रह-दृष्टीचे जीव आहेत, व ज्यास ते श्रीहरी कृपापूर्वक स्वयं उद्धार करण्याचे मनांत आणीतात, त्यास त्या रूपांत श्रीसनातन पूर्ण-ब्रह्माचेच दर्शन होत असते. ह्याचसाठी गुरु, भक्त व भगवान् ही एकाच पदार्थास लोक-भावनेनुसार तीन निरनिराळी नावे ठेविलेली आहेत. वास्तविक ह्या तिहींत मुळींच भेद नाही. ह्या भावास अनुग्रह-सृष्टिचेच जीव समजु शकतात. अन्य जीवास समजण्यासारखी ही गोष्ट नाही.

गोपीनाथाचार्य हृदय–प्रधान पुरुष होते. त्यांच्यावर ईश्वराची पूर्ण कृपा होती. त्यांचे अन्तःकरण फार कोमल होते. भावुकतेची मात्रा त्यांच्यांत बरीच अधिक होती. महाप्रभुंच्या पादपद्मीं त्यांची अहैतुकी प्रीति होती. ते महाप्रभुंच्या श्रीविग्रहामध्ये आपले श्रीमन्नारायणाचे दर्शन करीत होते. त्यांचे दृष्टीने प्रभुंचे पांच–भौक्तिक–शरीर नसल्या-सारखेच होते. ते त्यांत सनातन, सत्य, सगुणपरब्रह्माचा अविनाशी प्रकाश पाहात होते व त्याच भावाने ते त्यांची पूजा–अर्चा करीत होते. ते अनुग्रह–सृष्टीचे जीव होते. ईश्वराचे होते, त्यांचे नित्यपार्षद होते.

एके दिवशीं गोपीनाथाचार्य प्रभुंना श्रीजगन्नाथांचे शयनोत्थानाचे दर्शन करवून परत आले. परत येताना ते मुकुन्ददत्तासह सार्वभौम महाशयांचे घरीं गेले. सार्वभौमांनी उभयतांचा सत्कार करून त्यांना बसण्यासाठी आसने दिली. प्रारंभी कांही इकडच्या तिकडच्या गोष्टी झाल्यावर महाप्रभुंच्या गोष्टी निघाल्या.

सार्वभौमांनी विचारले–'ह्या निमाई पंडीताने कोणापासून संन्यास घेतला, व ह्यांचे संन्यासाश्रमाचे नाव काय?'

गोपीनाथाचार्यांनी सांगीतले–'ह्यांचे नाव आहे–'श्रीकृष्णचैतन्य'. कटव्याचे समीप जे केशवभारती महाराज राहातात तेच महाभाग संन्या-सीप्रवर न्यासीचूडामणि महापुरुष ह्यांचे संन्यासाश्रमाचे गुरु होत'.

सार्वभौम समजून गेले कीं, केशवभारती कोणी मोठा नामांकित व विद्वान् संन्यासी तर दिसत नाही, असतील कोणी असे साधारण संन्यासी. दुसरे असे कीं, दण्डीसंन्याशांमध्ये भारती संन्याशाना कांहीसे हेय मानतात. आश्रम, तीर्थ, व सरस्वती ह्या तिन्ही दण्डी संन्याशांमध्ये भारतींची गणना नाही. दण्ड धारणाचे विधान त्यांच्यांत आहे परन्तु तो

अर्धा समजला जातो. ह्या सर्वांचा विचार करून आचार्यांनी कांहीसे तोंड फिरवित म्हटले–'नाव तर फार नामी आहे, रूप-लावण्यहि त्यांचे अद्वितीय आहे. कांहीसे शास्त्रज्ञ आहेसे दिसतात, उच्च ब्राह्मणकुलांत ह्यांचा जन्म झालेला आहे. असे असता हेय-सम्प्रदायांतील संन्याशाकडून ह्यांनी दीक्षा कां बरे घेतली ? असे दिसते कीं, विचार केल्यावाचूनच केवळ आवेशांत येऊनच ह्यांनी डोके मुंडवून घेतले. आपली सर्वांची इच्छा असेल तर, आम्ही कोणी योग्य प्रतिष्ठित संन्याशास बोलावून पुन्हा ह्यांना संन्यास दीक्षा देण्याचा संस्कार करवू'.

ही गोष्ट ऐकताच कांहीसे दुःखित अन्तःकरणाने आचार्य म्हणतात– 'आपली बुद्धि तर निरन्तर शास्त्रांमध्ये शंका करीत करीत शंकीतशीच होऊन गेली आहे. आपले दृष्टिस घट-पट आदि बाह्य वस्तुंच्या शिवाय दुसरी कांही वस्तुच दिसत नाही. ते साक्षात् भगवान् आहेत, त्यांना बाह्य उपकरणांची काय अपेक्षा ? ते तर स्वंयसिद्ध त्यागी, संन्यासी, वैरागी व प्रेमी आहेत. त्यांना आपले मध्यस्थीची आवश्यकता पडणार नाही'.

सार्वभौम म्हणाले–'आपल्या ह्या भावुकतेच्या गोष्टी बऱ्या वाटत नाही. आम्ही तर त्या बिचाऱ्याच्या हिताच्या गोष्टी सांगत आहोत. आता तर त्यांची ही अगदीच नवीन अवस्था आहे. संसारी-सुखास एकदम आताच वंचीतसे झाले आहेत. अशा अवस्थेंत संन्यास–धर्माचे कठोर नियम त्यांच्याच्याने कसे पाळले जाणार ?'

आचार्यांनी सांगीतले–'ते नियमांचेहि नियामक आहेत. त्यांना संन्यास तो काय ? हे तर लोक-शिक्षेच्या निमित्त त्यांही असे केले आहे'.

इसत आचार्य सार्वभौम म्हणतात–'हे आपण ठीक म्हटले, अगदी

युवावस्थेमध्ये ही लोक-शिक्षा त्यांना छान सुचली. पहा बरे, महाराज! आपण लोक-शिक्षेनिमित्त असेच कांही करू नका बरे!'

आचार्यांनी म्हटले–'लोक-शिक्षा मनुष्य करूच काय शकणार? ते तर भगवन्ताचेच कार्य आहे व तेच विविध-वेष धारण करून लोक-शिक्षणाचे कार्य करीत असतात'.

जोराने हसत सार्वभौम म्हणतात–'बाबा! दया करा, त्या संन्याशास आकाशास नेऊन त्याच्या नाशास का प्रवृत्त होत आहा? जुने लोकांनी योग्यच म्हटले आहे –'आचार्यांत उडण्याची शक्ती नसते, मागाहून त्यांचा शिष्यगण त्यांना पंख लावून आकाशांत उडवितो. वाटते कीं, आपण आतापासून त्या युवक संन्याशास पंख लावण्याच्या विचारांत आहा. आपले दृष्टिने ते ईश्वर आहेत ना?'

आवेशाने आचार्यांनी म्हटले–'होय, ईश्वर आहे, ईश्वर आहे, ईश्वर आहे! मी प्रतिज्ञापूर्वक सांगतो कीं, ते साधारण जीव नाहीत'.

आचार्यांचे असे आवेशपूर्ण भाषण ऐकून आस-पास बसलेले सर्व चकीत झाले व सार्वभौमहि कांहीसे विस्मित झाले, व ते आचार्यांचे तोंडाकडे पाहू लागले. थोड्या वेळाने हसत सार्वभौमांनी म्हटले–'तोंड आपले घरचेच आहे, जीव्हा कोणाकडून उधार आणावयाची नाही, तेव्हा मनांत येईल ते बकत सुटावे. परन्तु आपण तर शास्त्रांचे अध्ययन केले आहे, भगवन्ताचे अवतार तिन्ही युगामध्ये होत असतात. कलि-युगांत अशा प्रकारच्या अवतारांच्या गोष्टी ऐकण्यांत नाहीत. शिवाय अवतार सर्व गणलेले आहेत, त्यांत आम्ही असा अवतार केव्हाच ऐक-लेला नाही. तसे पाहिल्यास जीवमात्रा भगवन्ताचा अंश असल्याने अवतार म्हणण्यांत येऊ शकते अथवा—

**अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।**
**यथाऽविनाशिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥**

भागवतांतील ह्या श्लोकाचे आधारे असंख्य अवतारहि मानले जातात व आवश्यकता पडताच सर्व युगांत उत्पन्न होऊ शकतात. परन्तु त्यांची गणना अंशांश-अवतारांमध्ये केली गेली आहे. जसे श्रीमद्भगवद्गीतेंत म्हटले आहे—

**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**
**तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥**

ह्या दृष्टिने आपण ह्या संन्याशास अवतार समजता आहा, तर, त्यांत आम्हासहि कांही अडचण दिसत नाही. परन्तु साक्षात् सनातन परब्रह्म आहेत, ते कसे शक्य आहे? भगवान् श्रीकृष्णहि सनातन पूर्णब्रह्म आहेत, त्यांचा अवतार युगांत होत नाही, कल्पांतहि होत नाही, कधी काळीं शेकडो-हजारो युगांचे पश्चात् ते अवतीर्ण होतात. म्हणूनच आम्ही म्हणतो आपण केवळ भावुकतेच्या गोष्टी करीत आहा.

आचार्यांनी म्हटले-'वाटते कीं, पुष्कळ शास्त्रांच्या आलोचनाने शास्त्रांची वाक्येहि आपण विसरून गेला आहात. आपणास माहीत आहे कीं, नित्य-अवतारास कांही नियम नाही. त्याचे रहस्य शास्त्र काय समजू शकणार? हा तर शास्त्रातीत विषय आहे. नित्य-अवताराचा कधी तिरोभाव होत नाही, तो तर एकरस होऊन सदा सर्वकाळ जगतामध्ये व्याप्त असतो. कोणा भाग्यवानासच ते गुरु रूपाने भेटतात व ज्याच्यावर त्यांचा अनुग्रह होतो, तोच त्यांचा कृपापात्र होतो.

*हसत सार्वभौम म्हणतात-'हा नित्यावतार ही काय नवी वस्तु आहे?'*

आचार्य कांहीसे क्षोभपूर्वक म्हणतात–'आपणास समजाविणे हे क्षार-भूमींत बीज पेरण्यासारखे आहे. परिश्रम तर व्यर्थ जातातच, परन्तु त्याबरोबर बीजाचाहि नाश होतो'.

कांही विनोदाचे स्वरांत सार्वभौम म्हणाले–'उपज होणारे भूमीस मी प्रणाम करतो व त्यांना मी अशी प्रार्थना करतो कीं, त्यांही आमचेवरहि कृपा करावी. आपण असे अंग कां काढून घेता? आम्हास समजवा तर खरे कीं, आपण कोणत्या कारणाने ह्यांना साक्षात् ईश्वर म्हणत आहा?'

आचार्यांनी म्हटले–'निजलेल्यास जागे करता येते, परन्तु जागृत असून ज्याने झोपेचे सोंग घेतलेले आहे, त्याला कोण बरे, जागे करू शकणार? आपण जाणते असून अजाणतेपणाच्या गोष्टी बोलतात, तेव्हा आपले बुद्धीस काय म्हणावे? आपणास माहीत नाही–'गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः' ह्यांत गुरूस साक्षात् परब्रह्म म्हटले आहे. ज्यांच्या संगतींत श्रीकृष्ण-पदारविंदीं अनुराग उत्पन्न होईल, असे गुरु साक्षात् परब्रह्म नाहीत काय? अशा गुरुंत व परब्रह्मांत मी भेद मानीत नाही. जो कांही भेद प्रतीत होतो, तो व्यवहारिक आहे. वास्तवीक तर गुरु व परब्रह्म एकच आहे. ते आपण होऊनच कृपा करून आपले चरणीं प्रीतिप्रदान करतात. ते कोणत्या तरी रूपाने कृपा करीत नाही, तो पावेतो त्यांचे चरणीं प्रेम उत्पन्न होणे असम्भवनीय आहे'.

वासुदेव सार्वभौम म्हणतात–'आचार्य महाशय! ह्यांत कांहीच अर्थ नाही. ह्याचा संबंध भावनेशी येतो आणि ज्याची त्याची भावना पृथक्–पृथक् असते. ही गोष्ट तर खरोखरच शास्त्राच्या पलीकडील आहे. दृढ व शुद्ध भावनेच्या पुढे कोणतीच गोष्ट असम्भाव्य नाही. परन्तु आपण अशा गोष्टीचा प्रचार करू शकणार नाही.

आपली भावना दुसऱ्याच्या माथीं मारू शकणार नाही. आपली त्या संन्याशाचे ठिकाणीं गुरुभावना या परब्रह्म भावना आहे, असो बिचारी! परन्तु आपले त्या भावनेस आम्हीहि सहमत व्हावे हा आपला प्रयत्न अनधिकारीपणाचा आहे. आम्ही त्यांस एक साधारण संन्यासीच मानतो. तसे पाहिले तर ते बापडे! फार सरल आहेत, ईश्वराची त्यांचेवर कृपा आहे, इतके अल्पावस्थेत त्यांचा भगवन्ताच्या चरणीं इतका अनुराग, इतका अलौकिक त्याग, इतके अलौकिक वैराग्य, सर्व साधु पुरुषांत पाहण्यांत नाही. पुष्कळ शोध केल्यावर लाखो, करोडेमध्ये एकाद्याच्याच ठिकाणीं असा अनुराग पाहण्यांत येईल. आम्हीं त्यांचे त्याग, वैराग्य व भगवत्-प्रेमाबद्दल मान्यता देऊ, परन्तु आपलेप्रमाणे ईश्वर मानून लोकांत अवतारीपणाचा प्रचार करणे, ही गोष्ट आमचे शक्तीचे बाहेरची आहे.

आचार्यांनी कांहीसे दृढतेने म्हटले–'ठीक आहे, पाहता येईल, आपला हा भाव कोठपावेतो टिकतो ते'.

हा प्रसंग समाप्त करण्याच्या इच्छेने गोष्ट फिरवून सार्वभौम म्हणतात–'आपण तर आमचे जे आहात तेच राहणार, आमचे बोलण्याचा विशाद मानू नका. कांही अनुचित गोष्ट आमचे तोडांतून निघाली असल्यास क्षमा करावी'.

आचार्यांनी कांहीसे उपेक्षेनेच म्हटले–'ह्यांत क्षमेचा काय संबंध. मी भगवन्तापाशी हीच प्रार्थना करीन कीं, ह्या नास्तिकांच्या मतांत त्यांही परिवर्तन घडवून आणावे व ह्यांना त्याही आपले कृपा-पात्र करावे'.

हसत सार्वभौम म्हणाले–'आपणावर भगवन्ताची बरीचशी कृपा आहे, तेव्हा त्यांतून थोडीशी आम्हासहि आपण द्यावी. बरे असो! त्या

संन्यासी महाराजांना आमचे वती उद्याचे भोजनाचे निमंत्रण करावे. त्यांना उद्या आमचे येथे भिक्षा करवावी अशी आमची इच्छा आहे'.

ह्या नन्तर कांही इकडच्या तिकडच्या गोष्टी झाल्यावर आचार्य मुकुन्ददत्तासह प्रभुच्या राहत्या ठिकाणी गेले. दोघेहि कांहीसे ह्या वादविवादाने दुःखी व उदास होते.

प्रभुंच्या समीप पोचल्यावर गोपीनाथाचार्यांनी सार्वभौमांच्या बरोबर ज्या ज्या गोष्टी झाल्या त्या प्रभुस संक्षेपाने सांगीतल्या व म्हटले– 'प्रभो! मला दुसरे कशाचेहि वाईट वाटत नाही. वाईट हेच वाटते कीं, सार्वभौम आपलेच असता त्यांचे हे विचार! प्रभो! त्यांचेवर कृपा झाली पाहिजे, त्यांचे जीवनांतील नीरसता काढून टाकून सरसता तेथे यावी, होच श्रीचरणाजवळ विनीत प्रार्थना आहे'.

प्रभुंनी कांहीसे संकोचाने आपली दीनता प्रकटवीत म्हटले– 'आचार्य! आपण हे काय भलतेच म्हणता, आचार्य सार्वभौम तर आमचे पूज्य–मान्यवर आहेत. ते मजवर पुत्रवत् प्रेम करतात, पुरीत त्यांच्या व्यतिरिक्त आमचा शुभचिन्तक कोण आहे? त्यांच्याच पादपद्माचा आश्रय घेऊन आम्ही येथे राहिलो आहोत. ते मजसाठी जो कांही विचार करतील तो माझे कल्याणच असणार. अकल्याणाची गोष्ट असल्यास ते मला अवश्य दाखवितील. हेच उत्तम आहे. गुरुजन असून ते जर अशा माझे कच्चे अवस्थेंत माझी प्रशंसाच करीतील तर, माझे संन्यास-धर्माचे पालन कसे होणार? आपण त्यांचेसंबंधाने कांही मनांत आणू नका, त्यांचे ठिकाणी पूज्य-भावच ठेवा. ते आपणा सर्वांचे पूज्य आहेत. ते शिक्षक, उपदेष्टा, आचार्य व आमचे हितचिन्तक आहेत'. ह्या प्रमाणे नम्रतापूर्वक आचार्यांना समजावून प्रभुंनी त्यांना विदा केले व आपण भक्तांसहित श्रीकृष्ण–कीर्तन करू लागले.

# सार्वभौम भक्त झाले

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे—
ज्ञनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्संगमो यर्हि तदैव सुग्दतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥

पूर्वजन्मांतील पापाचा सञ्चय विशेषसा नाही, कोणत्याहि प्रकाराने कां होईना, भगवत् कृपा आहे, हृदयांत श्रद्धेची भावना आहे, अशा पुरुषाचे उद्धारास अवकाश लागत नाही. साधु-समागम होताच मोठ-मोठे दुराचारी, दुष्कर्माचा त्याग करून परम भागवत झालेले आहेत. सत्संगाचा महिमाच असा अपार आहे, म्हणूनच भर्तृहरि म्हणतात—

'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्?'

अर्थात् सत्संगाने कोणते इष्ट होऊ शकणार नाही? सारांश हाच कीं, सत्संगाने सर्व प्रकारची बन्धने तुटून जातात. परन्तु सर्वांनाच सत्संगाचा लाभ होण्याचे सौभाग्य प्राप्त होऊ शकत नाही. ज्याची सांसारिक बन्धने तुटून पडण्याची वेळ जवळ आलेली आहे, ज्याचेवर आदि पुरुष अच्युतांचा पूर्ण अनुग्रह झालेला आहे, त्यासच साधु-पुरुषांची सत्संगति प्राप्त होऊ शकते.

सार्वभौम भट्टाचार्य विद्वान् होते, पण्डित होते, शास्त्रज्ञ होते, त्यांची वर्णाश्रम धर्मावर श्रद्धा होती, शास्त्रोक्त वैदिककर्मेहि ते यथाशक्ति करीत होते आणि घरीं आलेले साधु-अभ्यागतांचा प्रेमपूर्वक सत्कार करीत असून मनांतले मनांत प्रभु-प्राप्तीसाठीहि अतूर झालेले होते. अशा स्थितींत ते भगवत्-कृपेस सर्वथा योग्यच होते. त्यांना साधु-समागम

मिळणेच अवश्य होते. ह्याचसाठी, असे म्हणाना कीं, महाप्रभु वृन्दावनास न जाता, सार्वभौमाच्या उद्धाराचे निमित्ताने पुरीस आले व सर्व प्रथम सार्वभौमांचेच गृह आपले पद-धूलीने पुनित केले.

सार्वभौमांचे निमन्त्रण स्वीकारून प्रभु त्यांचे घरीं भिक्षेस आले. सार्वभौमांनी त्यांना श्रद्धापूर्वक भिक्षा करविली व त्यांचा योग्य सत्कार केला. शेवटी वात्सल्यभावाने त्यांही प्रभुस म्हटले–'स्वामो महाराज! आमची एक प्रार्थना आहे, प्रस्तुत आपली अवस्था फार लहान आहे, ह्या अवस्थेंतील वैराग्य प्रायः स्थायी राहू शकत नाही. ह्या अवस्थेंतील अधिक तर त्यागि-पुरुषांचे वैराग्य कांही कालाने मन्दावते आणि वैराग्या-वाचून त्याग टिकतच नाही. ह्याच कारणाने अल्प-वयाचे अधिकांश साधु आपले धर्मापासून पतित होतात. अतएव सांगण्याचा मुद्दा हाच कीं, आपण सदैव अशाच कार्मी रत असले पाहिजे कीं, ज्यायोगे सांसारिक विषयाप्रत आपले अधिकाधिक वैराग्याचे भाव उत्पन्न होत राहतील. आमचे येथे वेदान्त-दर्शनाचे कांहीक पाठ चालुच असतात, आपली इच्छा असल्यास आपण ते श्रवणास येत जा. उगीच बसून राहिल्याने मनांत नानातऱ्हेचे कुविचार उत्पन्न होतात. जो निरन्तर आत्म-शुद्धिच्या इच्छेने शुभ-कार्यांत काल व्यतीत करतो, त्याचे अन्तः-करणांत कुविचार प्रकटच होऊ शकत नाही. म्हणून आम्ही म्हणतो कीं, आपण पाठशाळेंत येऊन वेदान्द-सूत्रांची व्याख्या ऐकत जावी; हाच साधक संन्याशाचा धर्म आहे'.

हात जोडून नम्रपणाने प्रभु म्हणतात–'हेच माझे परम भाग्य मी समजतो कीं, आपणासारखे गुरुजन माझे कल्याणाचा विचार करीत आहेत. ज्याचे कल्याणाची गुरुजनांचे मनांत चिन्ता आहे, तो केव्हाहि पतित होणेच शक्य नाहीं. आपण कांही उपदेशाच्या गोष्टी सांगाव्या

अशी आपले चरणीं प्रार्थना करण्याची माझीहि इच्छा होती, परन्तु संकोचाने मी माझे मनोगत आपणास व्यक्त करू शकलो नाही. ते न सांगताहि आपण माझे मनोगत जाणले. मी अवश्य उद्यापासून वेदान्त –सूत्रावरील व्याख्या ऐकण्यास येईन'.

प्रभुंच्या ह्या म्हणण्याने सार्वभौमांना फार आनन्द झाला. योग्य अध्यापकास जर अधिकारी छात्र मिळाला, तर त्याचे प्रसन्नतेस पारावारच रहात नाही. अशा छात्रास ते आपले सर्वस्व अर्पण करण्यास भुकेलेला असतो.

दुसरे दिवसापासून महाप्रभु वेदान्त-सूत्रावरील शारिरकभाष्य श्रवण करू लागले. सार्वभौम महाशय मोठ्या उत्साहाने उल्लसित होऊन शारीरकभाष्याचे प्रवचन करू लागले. पाठ पढवीत असताना त्यांचा चेहेरा आनन्दाने चमकत होता, व ते आपले सम्पूर्ण-पाण्डित्य प्रदर्शित करीत अत्यन्त विस्तारपूर्वक पाठ ऐकवीत होते. महाप्रभु अगदी गुपचुपपणे अधोमुखाने पाठ ऐकत होते. मध्ये एक शब्दहि ते बोलत नसत. ह्या प्रमाणे सात दिवस पावेतो सारखे ते हे प्रवचन ऐकत होते. तेव्हा भट्टाचार्यांना असे वाटले कीं, हे तर कांही तोंडातून अक्षरहि काढीत नाहीत, त्या अर्थी हे ह्यांना समजत नाही, कीं, ह्यांना ही व्याख्या समजत नाही? विषय फार गूढ असल्याने न समजणे सुद्धा संभवनीय आहे. म्हणून त्यांही विचारले–'स्वामी महाराज! आपण तर अगदी गुपचुप बसून ऐकतच राहाता. पाठ बरोबर समजाविला जातो कां नाही हे आपण कांहीच सांगत नाही?'

महाप्रभुंनी विनयपूर्वक म्हटले–'आपण मला पाठ म्हणजे प्रवचन ऐकण्याचीच आज्ञा केली आहे, तेव्हा आपली आज्ञा शिरोधार्य करून पाठ श्रवण करतो'.

कांहीसे हांसून प्रेमपूर्वक सार्वभौम म्हणाले–'ऐकण्याचा असा थोडाच अर्थ आहे कीं, दगडी पुतळ्याप्रमाणे मूक–वृत्तिने ऐकतच राहावे. जेथे कांही समजणार नाही, ते पुन्हा सांगण्याची पृच्छा करणे आवश्यक आहे. शंकेचे समाधान करून घेतले हे पाहिजेच. पाठ ऐकण्याचा अर्थ असा आहे कीं, त्या विषयांत निःशंक होणे. विषय इतका हृदयंगम व्हावा कीं, पुन्हा कांही शंका उत्पन्नच होऊ न सकावी. सांगा, आपणास सर्व बरोबर समजते ना?'

कांहीसे लज्जितपणाने प्रभु म्हणतात–'महाराज! मी मूर्ख, बरे, ह्या गहन विषयांत समजूच काय शकणार आहे व कांही समजू शकलो तरी आपले सारख्यांचे सन्मुख शंका करण्याचे धाडस कसे करू शकणार?'

सरळपणाने भट्टाचार्य म्हणाले–'तसे काही नाही, जे समजणार नाही ते अवश्य विचारावे, संकोच करून कसे चालेल?'

प्रभुने कांहीसे लज्जितपणे अडखळत हलकेच म्हटले–'भगवन्! व्यासदेवांचा सरल सूत्रांचा शब्दार्थ तर अगही सुगमतेने माझे लक्षांत येतो, परन्तु भाष्य ऐकताच सारी गडबड होऊन जाते. मला असे प्रतीत होते कीं, भाष्यकारांनी आपले एकदेशीय अर्थासाठी, शब्दांची पुष्कळच ओढाताण केली आहे व जो अर्थ सूत्रांत लक्षित नाही, तो जबरदस्तीने त्यावर आरोपित केला आहे'.

महाप्रभुचे हे म्हणणे ऐकताच भट्टाचार्य व पाठ श्रवण करणारे सर्व विद्यार्थी ह्यांनी कान उंच केले. आश्चर्याने ते प्रभुकडेस पाहू लागले. भट्टाचार्यांनी कांहीसे आश्चर्य प्रकटवीत म्हटले–'आपण हे कसे म्हणता. श्रुतींचा मुख्य प्रतिपाद्य विषय निरगुण निराकार अद्वितीय ब्रह्माची सिद्धि करणे हाच आहे. शारीरकभाष्यांत त्याच नाम-रूपरहित अद्वितीय ब्रह्माचेच निरुपण केलेले आहे'.

प्रभुनी हळूच म्हटले–'मला निराकार निर्गुण रूपाचे वर्णन स्वीकार्य आहे. श्रुतिमध्ये निराकार ब्रह्माचे वर्णनच नाही असे मी कोठे म्हणतो? परन्तु भाष्यकारांनी एकदम सगुण साकार रूपास गौण व उपेक्षणीय ठरविले ते मला मान्य नाही. हा तर एकपक्षीय सिद्धान्त म्हणावा लागेल. भगवन्ताचे तर सगुण-निर्गुण साकार-निराकार अशी दोन्हीहि रूपे मुख्य व आदरणीय आहेत. श्रुति जेथे 'एकमेवाद्वितीयम्', 'नेहनानास्ति किञ्चन', 'सर्वं खल्विदम् ब्रह्म', आदि म्हणत-म्हणत सर्व-व्यापी निर्गुण-निराकार रूपाचे वर्णन करतात तेथे—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषम् महान्तम् ॥

'बहुस्याम्' 'स ईक्षते' इत्यादि श्रुतींतून प्रत्यक्ष रीतीने भगवन्ताचे सगुण-साकार रूपाचे वर्णन आहे, त्याचप्रमाणे त्यांच्या दिव्य लीला व कृत्यांचेहि वर्णन आहे. ह्या सर्वांस गौण म्हणून सोडून देणे केवल बुद्धिवैलक्षण्याचेच लक्षण म्हटले पाहिजे. मला तर असे वाटते कीं, केवल बुद्धितीक्ष्ण करण्याच्याच अभिप्रायाने अशी व्याख्या भाष्यकारांनी केली असावी, जे केवल मस्तिष्क प्रधान–(बुद्धिप्रामाण्यवादि–) आहेत त्यांच्यासाठी विचारांची पराकाष्ठा केली गेली असावी. खरोखर भाष्यकारांनी आपले प्रत्युत्पन्नमतीचा फारच अद्भुत परिचय करून दिलेला आहे. जे विचारांनाच प्राधान्य देतात, ते ह्यापेक्षा अधिक विचारच करू शकणार नाहीत; परन्तु हृदय-प्रधान सरस भावुक भक्तांना ह्या ओढाताणीच्या व्याख्येने संतोष कसा होणार?'

सार्वभौम भट्टाचार्य ह्यावर उद्गारले–'स्वामी महाराज! ह्या आपले घरच्या थोड्याच गोष्टी आहेत! श्रीमद्व्यासांचाच अभिप्राय भाष्यकारांनी स्पष्ट केला आहे. त्यांही आपले असे थोडेच कांही सांगीतले आहे!'

कांहीसे हासतच प्रभु म्हणतात–'आपले समोर अधीक बोलणे धाष्टर्याचेच होईल, परन्तु प्रसंगवशात् बोलणे भागच आहे. भगवान् व्यासांचा अभिप्राय अगदी नीटरीतीने ह्यांनीच केवळ व्यक्त केला आहे, हे आम्ही कसे म्हणू शकणार? ह्याच सूत्रांचे भाष्य भगवान् रामानुजांनी विशिष्टाद्वैतपरक केला असून भगवान् माध्वाचार्यांनी शारीरकभाष्याचे अगदी विरुद्ध ह्याच सूत्रांच्या आधारे द्वैतमताचे प्रतिपादन केले आहे. हे सर्वहि पूज्य, मान्य व आदरणीय महापुरुष आहेत. ह्यांतून कोणाचे म्हणणे खोटे म्हणावे! म्हणून असेच म्हणणे प्राप्त आहे कीं, ह्या त्रिवर्गांनीहि आप-आपले दृष्टीकोनाप्रमाणे यथायोग्य अशाच व्याख्या केल्या आहेत. ह्या सर्वांनी कोणते तरी एकएका विषयाचे प्रतिपादन केले आहे. ह्यांतून ही एकच व्याख्या सर्वमान्य, असे मीं नाही मानीत. ह्या सर्व व्याख्या एकदेशीय आहेत. आपणच विचार करा, ज्यांनी सहा शास्त्रे, आठरा पुराणे व पांचवा वेद महाभारत रचिली, तरीहि ज्यांना शान्ति लाभली नाही व पूर्ण शान्तिचेच लाभासाठी सर्व वेद-शास्त्रांचा सारसंग्रह ज्यांनी करून श्रीमद्भागवताची रचना केली व ते रचूनच अनन्त शान्ति प्राप्त करून घेतली, तेच भगवान् वेदव्यास स्वतः श्रीमद्-भागवतांत काय म्हणतात—

**अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।**
**यन्मित्रं परमानन्द पूर्णब्रह्म सनातनम् ॥**

अर्थात् 'व्रजांत राहाणारे नन्द आणि गोपालबालांच्या भाग्याची बरोबरी कोण करू शकणार आहे, कीं, ज्यांचे मित्र परम आनन्दस्वरूप

साक्षात् सनातन पूर्णब्रह्म आहेत'. असे प्रकारचे उद्गार काढणारे व्यासदेव अशा गोष्टींचा आग्रह धरतील कीं, 'नाही, ब्रह्माचे निर्गुण निराकाररूपच यथार्थ आहे, शेष सर्व कल्पित व मिथ्या आहे'. तेव्हा ह्या गोष्टी कांही ध्यानांत उतरू शकत नाही. जे श्रीकृष्णास सनातनपूर्णब्रह्म म्हणून वर्णन करतात, खेड्यांतील खेडवळ गोपाल-बालकांच्या भाग्यांची वारंवार फार प्रशंसा करतात, ते अशा प्रकारचा आग्रह धरतील कीं काय, ही गोष्ट विचारणीय आहे?'

निरुत्तरसे होऊन क्षणभर विचार केल्यावर सार्वभौम म्हणाले–'असे झाले तर भगवान् शंकराचार्यांच्या सर्व सिद्धान्तांचे खण्डनच होत आहे. त्यांहि तर आपले सर्व ग्रन्थांतून निर्विशेषब्रह्माचेच निरनिराळ्या प्रकारे प्रतिपादन केले आहे, आणि ह्या नामरूपात्मक दृश्य जगतास मिथ्या म्हणून आपण स्वताच ब्रह्म आहोत असे मानण्यास सांगीतले आहे'.

प्रभुंनी कांहीसे उतावळीनेच म्हटले–'ह्यांत खण्डन-मण्डन काय आहे? बुद्धि सुद्धां भगवद्दत्तच आहे. हे सर्व बुद्धिचे चमत्कार आहेत. भगवान् शंकराचार्यांनी अद्वैत सिद्धान्ताचे प्रतिपादन करून खरोखरच विचारांचा अन्तच कडून दाखविला आहे. तर्कशक्ति व विचारशक्ति पराकाष्टेच्या सीमेवर नेऊन भिडविल्या आहेत. जीवच ब्रह्म आहे, हा त्यांचे बुद्धिचे सर्वोच्च विचारांचा सर्वोत्कृष्ट एक भावच आहे. त्यांचे अन्तःकरणास तर विचारून पाहा कीं, खरे काय आहे ते? जे सर्व आयुष्यभर 'अहं ब्रह्मास्मि', 'मी ब्रह्म आहे', ह्याच सिद्धान्ताचा व अभेद भावाचा प्रचार करीत राहिले, त्यांचेच मुखांतून एकान्तांत सुरसरीच्या तीरावर अश्रु ढाळीत जे उद्गार आपले आपुणच निघाले आहेत, त्याकडे तर लक्ष द्या. पहा! ते किती करुणस्वराने व गद्गद् कण्ठाने प्रभुच्या सन्मुन प्रार्थना करीत आहेत—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

'हे नाथ! तुमच्यांत व जगतांत भेद नसेल, तरी पण माझे स्वामी! मी तुमचा आहे, तुम्ही माझे नाही. यद्यपि समुद्र व तरंग ह्यांत भेद नसला तरीहि लोक, 'समुद्राचे तरंग' असेच म्हणतील, 'तरंगाचा समुद्र' असे कोणीहि म्हणणार नाही'. हे त्याच महापुरुषाचे वाक्य आहे. जे जगतास त्रिकालीहि मानण्यास तयार नव्हते, ज्यांचे दृष्टीने 'मी, माझे तथा जन्म-मृत्यु' ह्या सर्व केवळ कल्पनाच होत्या, परन्तु ह्या गोष्टी त्यांच्या बुद्धिमत्तेच्या होत्या. हे त्यांच्या निष्कपट व सरस अशा शुद्ध हृदयांतील उद्‌गार आहेत. ह्याच साठी भगवान् वेद-व्यास म्हणतात—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतकीं, भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

प्रभुच्या मुखांतून हे ऐकताच सार्वभौम म्हणाले—'ठीक, ठीक! ह्या श्लोकाचा आपण काय अर्थ करता, आम्हास तर ऐकवा!'

प्रभुंनी अत्यन्त दीनपणाने म्हटले—'मी, बरे, आपले समोर व्याख्या करण्यास योग्य आहे कां? हे काम तर आपलेच आहे. आपणच ह्यांची व्याख्या मला ऐकवावी. जेथे मला समजणार नाही तेथे विचारीन'.

हा वेळ पावेतो सार्वभौम कोणतेच उत्तर देण्यास असमर्थ होते, म्हणून ते प्रभुच्या मुखाकडेस सारखी टक लावून त्यांचे म्हणणे ऐकत होते. आता त्यांना त्यांचे पाण्डित्य-प्रदर्शनाचा कांहीसा अवसर प्राप्त झाला. म्हणून त्यांही मोठ्या हर्षाने नाना प्रकारच्या शंका प्रतिशंका घेऊन, शास्त्रीय प्रमाण देत, ह्या छोटाशा श्लोकाची नऊ प्रकाराने

व्याख्या केली व निरनिराळे नऊ प्रकारचे अर्थ करून दाखविले. व्याख्या समाप्त झाल्यावर आपले पाण्डित्याची प्रशंसा ऐकण्याच्या उत्सुकतेने ते प्रभुच्या मुखाकडेस पाहू लागले.

प्रभुंनी त्यांची फार फार प्रशंसा करीत म्हटले–'धन्य आहे आपले पांडित्याची. मी जे ऐकले होते त्याचा परिचय येथे येऊन प्रत्यक्षच झाला. इतके पांडित्यपूर्ण विवेचन आपणच करण्यास समर्थ आहा. दुसरे पंडिताचे हे काम नाही, कीं, इतके सरलपणे, कोणत्याहि प्रकारे शब्दांची ओढाताण न करता तो व्याख्या करू शकेल. परन्तु ह्या नऊ अर्थांचे अतिरिक्त आणखीहि काईक प्रकारे ह्या श्लोकाचे अर्थ होऊ शकतील'.

फारच आश्चर्य प्रकटवीत संभ्रमाने भट्टाचार्य सार्वभौम म्हणू लागले–'काय म्हटले, मी केलेले अर्थाशिवाय आणखीहि ह्याचे अर्थ होऊ शकतात? आपण करू शकत असाल तर ऐकवा?'

प्रभुंनी मोठ्या सरलतेने व विनीत स्वराने म्हटले–'मी काय करू शकणार आहे, परन्तु आपणासारख्या गुरु-जनांच्या मुखांतून ह्याच्या ज्या थोड्या बहुत व्याख्या ऐकल्या आहेत, त्यांतील जे कांही स्मरणांत आहे ते आपले आज्ञेने ऐकवितो'. असे म्हणून महाप्रभुंनी अठरा प्रकाराने ह्या श्लोकाची व्याख्या केली.

महाप्रभुच्या मुखांतून ह्या प्रकारे पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या ऐकताच भट्टाचार्याचे आश्चर्यास पारावारच राहिला नाही. ते आपले आपणासच विसरून, एकादा स्वप्नांत अद्भुत घटना पाहून आश्चर्याने त्याकडे पाहात राहातो, त्याप्रमाणे ते महाप्रभुकडेस पाहात राहीले. आता त्यांना प्रभुचे महिम्याची यथार्थ कल्पना आली. आता त्यांचे हृदयांत दडून असलेली भक्ति जाग्रत झाली, जणु काय ह्या श्लोकाचे व्याख्येने त्यांचे

अव्यक्त भक्तिस व्यक्त केले. ते आपले पद, मान, प्रतिष्ठा व सन्मान आदि अभिमान विसरून जाऊन, एक लहानशा बालकाप्रमाणे अति-सरलतेने त्यांहि प्रभुचे पादपद्मावर लोटांगण घातले. प्रभुचे दोन्ही अरुण चरण धरले व रुदन करीत 'पाहिमाम्, रक्षमाम्' म्हणत ते स्तुति करू लागले—

**संसारकूपे पतितो ह्यगाधे, मोहान्धपूर्णे विषयातिसक्तः।**
**करावलंबं मम देहि नाथ, गोविन्द दामोदर माधवेति॥**

'ह्या संसाररूपी अगाध समुद्रांत बुडत असून विषयासक्त असे मज अधमास आपले हाताचा आश्रा देऊन हे नाथ! वर काढा, हे गोविन्द! हे दामोदर! हे माधव! मी आपणास शरण आलो आहे'.

ह्या प्रमाणे ते प्रभुंची निरनिराळ्या प्रकाराने स्तुति करू लागले. त्यावेळीं त्यांना प्रभुचे शरीरांत अद्‌भुत षड्‌भुजी मुर्तिचे दर्शन झाले. त्या दर्शनाने त्यांचे सर्व पूर्वपातकांचा क्षय झाला, व ते घोरतार्किक पंडिताचे आज परमभागवतवैष्णव झाले.

प्रभुनी उठून त्यांना प्रेमपूर्वक आलिंगन दिले. प्रभुनी आलिंगन देताच ते मूर्छित झाले. बराच वेळपावेतो हे करुणपूर्ण दृश्य जसेच्या तसेच होते व सर्व विद्यार्थी ते आश्चर्याने कुतुहलपूर्वक पहात होते.

# सार्वभौमाचा भगवत्-प्रसादीं विश्वास

**महाप्रसादे गोविन्दे नाम्नि ब्रह्माणि वैष्णवे।**
**स्वल्पपुण्यवतां राजन्! विश्वासो नैव जायते॥**

अविश्वासाचे मुख्य कारण आहे अप्रेम. जेथे प्रेम नाही तेथे विश्वासहि नाही व जेथे प्रेम आहे तेथे विश्वासहि आहेच. अद्वैत-वेदान्ताचे अनुसार ह्या संपूर्ण दृश्य जगताचे अस्तित्व आमचे मनाचे विश्वासावरच आहे. ज्यावेळी आमचे मनांतील विश्वास ह्या जगत्-सत्यतेवरून उडून जाईल, त्या दिवशीं हे दृश्यजगत् राहाणारहि नाही. म्हणून वेदान्ति म्हणतो–'तुम्ही ह्या गोष्टीवर विश्वास ठेवा कीं, 'सोऽहं, चिदानन्दस्वरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं' अर्थात् 'मी तोच आहे, मी चिदा-नन्दरूपी शिवच आहे'.

आमची वृत्ति बहिर्मुख आहे, कारण आमच्या इंद्रियांची द्वारे बाहेरच आहेत, म्हणून आम्ही बाहेरच्या वस्तुवर तर विश्वास ठेवतोच, परन्तु त्यांत जे दडलेले रहस्य आहे, ते आम्ही ओळखीत नाही. ज्यांनी त्या आंत दडलेल्या रहस्यास जाणले, तो खरोखरच सर्व बन्धनांतून मुक्तच झाला. भगवन्ताचे प्रसादाचे निमित्ताने कितीतरी लोक आपली विषयवासनापूर्ति करीत आहेत. नामाचा आश्रय करून किती तरी अशा प्रकारे पापकर्मात प्रवृत्त होतात. वास्तविक त्यांना प्रसाद व भगवन्नाम-महात्म्य नीट समजत नाही. म्हणून तर ते चमकणारे कांचेचे बदल्यांत हीरा देऊन टाकतात. जे भगवन्नाम सर्व प्रकारची पातके नष्ट करण्यास समर्थ आहे, ते सोनेचांदीचे ठिकऱ्याने विकणारांचे हातांत शेवट ठिकरेच राहाते. भगवन्नामाचे खरोखर मूळ सुस्वादु मधुरातिमधुर फळास असे लोक मुकतातच. विश्वासपूर्ण अन्तःकरणाने

ज्याने एकदा महाप्रसाद ग्रहण केला, त्याची जिव्हा नन्तर गोड-खारट हा भेद-भाव विसरून जाईल. ज्याने श्रद्धा-विश्वासपूर्वक एक वेळ भगवन्नामाचा उच्चार केला, म्हणजे मग त्यास संसारी कोणत्याहि पदार्थांची वाञ्छा राहणेच शक्य नाही. एका मोठे महात्म्यान आम्हास एक लहान कथा ऐकविली होती—

एक सरल हृदया स्त्री होती. तिने कधीच भगन्नाम घेतलेले नव्हते. परन्तु सर्व जीवनामध्ये केव्हाहि कोणतेहि खोटे कृत्यहि तिने केले नव्हते. कोणतेहि प्राण्यास तिचेपासून केव्हाहि त्रास झाला नव्हता. एके दिवशी तिने एका मोठे भक्ताचे मुखाने पुढील श्लोक ऐकला—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भनाय ॥

दशाश्वमेध करणारास जितके फल मिळते तितकेच फळ श्रद्धा भक्तिपूर्वक एक वेळ श्रीकृष्ण चरणीं प्रणाम करण्यास मिळते. परन्तु ह्या दोन्ही फलांमध्ये एक मोठाच भेद आहे. अश्वमेध करणारा फिरून परत ह्या संसार-चक्रांत पडतो, आणि श्रीकृष्णास श्रद्धेने प्रणाम करणारा फिरून संसार-चक्रांत घुमत नाही. तो तर निरन्तर प्रभु पादपद्मींच लीन होतो. ह्या श्लोकांतील भाव श्रवण करताच ती सरल हृदया स्त्री अत्यन्त विकळ झाली. तिचे सर्व शरीर रोमांचित झाले, नेत्रांतून अश्रुधारा वाहू लागल्या. तिचा गळा दाटून आला, अडखळत पश्चात्तापपूर्वक तिने म्हटले–'अरेरे! मी तर हा वेळ पावेतो एकदाहि भगवन्ताचे चरणकमलीं प्रणाम केली नाही' असे म्हणून ती प्रणाम करण्यासाठी पुढे

पाऊल टाकते तोंच, ह्या नश्वर शरीराचा त्याग करून ती श्रीहरीचे अनन्त-धामास प्रयाण करीती झाली. ह्याचे नाव श्रद्धा!

सार्वभौम भट्टाचार्यांची प्रभुचे पादपद्मीं पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न झाली होती. शास्त्राचे वचन आहे कीं, अन्तःकरणांत भगवन्ताची भक्ति उत्पन्न होताच सर्व सद्गुण आपले आपुणच न बोलाविता हृदयांत येऊन निवास करतात. सद्गुण तर भगवत्-भक्तिची छाया आहे. शरीरास सोडून छाया दुसरीकडे राहूच शकत नाहीं.

एके दिवशीं महाप्रभु अरुणोदयाचे समयीं श्रीजगन्नाथाचे शयनोत्थानाचे दर्शनास गेले. दर्शन घेतल्यावर पुजाऱ्याने प्रसादी माला व प्रसाद दिला. प्रभुंनी दोन्ही हात आदराने पसरून तो प्रसाद ग्रहण केला व तो आपले वस्त्रांत बांधून घेऊन ते सार्वभौम भट्टाचार्याचे घराकडेस चालले. सूचना न देताच ते घरांत गेले. त्याचवेळीं सार्वभौम जागे होऊन भगवन्नामाचा उच्चारण करीत शय्येवरून उठण्याचे तयारींतच होते, इतक्यांत महाप्रभु तेथे पोचले. प्रभुंना पाहाताच अस्ता-व्यस्त स्थितींत उठून त्यांही त्यांना प्रणाम केला व बसण्यासाठी एक सुन्दर आसन दिले. आसनावर बसताच प्रभुंनी वस्त्रांत बांधून आणलेला प्रसाद सोडून तो सार्वभौमास दिला. प्रभु आपले हाताने कृपाकरून प्रसाद देत आहेत हे पाहून सार्वभौमाचे प्रसन्नेस पारच राहिला नाही. त्यांनी दीनहीन अभ्यागताप्रमाणे तो महाप्रसाद ग्रहण केला व तो हातांत घेताच, शौचमुखमार्जनादि विधींतून निवृत्त झाले नसताहि त्यांहि तो प्रसाद पारोशा तोंडानेच खाण्यास सुरूवात केली. प्रसाद भक्षण करीत होते व अति आनन्दाने ते पद्मपुराणांतील हा श्लोक म्हणत होते—

शुष्कं पर्युषितं वाऽपि नीतं वा दूरदेशतः।
प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्यं नात्र कालविचारणा॥
न देशनियमस्तत्र न काल निमयस्त था।
प्राप्तमन्नं द्रुतं शिष्टैर्भोक्तव्यं हरिरब्रवीत्॥

ह्या प्रमाणे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सार्वभौमांना प्रसाद भक्षण करीत असताना पाहताच महाप्रभुंच्या आनन्दास सीमाच राहिली नाही. ते भट्टाचार्यांचा हात धरून नृत्य करू लागले. भट्टाचार्यहि शुद्धीरहित होऊन वेड्यासारखे नाचत होते. सार्वभौमाचे स्त्रीस व पुत्र, छात्र आदि मंडळींना ह्यांचा कांहीच उमज पडेना. ते सर्व चकीतच झाले. महाप्रभु वारंवार सार्वभौमांना आलिंगन देत व सद्गादित स्वराने म्हणत-'आज सार्वभौम कृतार्थ झाले, आज सार्वभौमांना भगवान् वासुदेवाने आपले शरणी घेतले. आज ह्यांची सर्व संसारी-बन्धने छिन्न-भिन्न झाली. आज सार्वभौमाने मला विकत घेतले. इतके भारी शास्त्रज्ञ व शौचाचार जाणणारे सार्वभौम महाशयांचा प्रभु-प्रसादांचे ठायीं इतका दृढ विश्वास बसला, तेव्हा मी समजतो कीं, त्यांचेपेक्षा मोठा भक्त जगतांत कोण असणार? भट्टाचार्यांनी आज मला कृतकृत्य केले. पुरीस माझे येणे आज सफल झाले'. भट्टाचार्यांनी हे प्रभुचे शब्द ऐकताच ते कांहीसे लज्जितसे झाले. ते प्रभु पाद-पद्माची धुलि आपले शरीरास मर्दन करीत म्हणू लागले-'ही सर्व प्रभु-चरणांचीच कृपा आहे. मज अधमावर कृपा करून ह्या संसार-सागरी बुडत असलेले मला आपण हात धरून वर काढले, तेव्हा आता तर मी आपला दासानुदास झालो आहे. आता आपली आज्ञा होईल तसेच मी करीन'. भट्टाचार्यांचे हे म्हणणे श्रवण करताच प्रभुहि कांहीसे संकोचितपणा दर्शवून तेथून निघून गेले. जेव्हा गोपीनाथाचार्यांनी हा समाचार ऐकला, तेव्हा ते तर फारच हर्षभरीत झाले.

सायंकाळीं सार्वभौम प्रभुचे दर्शनासाठी आले, त्यावेळीं गोपीनाथाचार्यहि तेथेच होते. प्रभुंना प्रणाम केल्यावर गोपीनाथाचार्य गालांतले-गालांत हंसत म्हणतात–'सांगा भट्टाचार्य महाशय! आमची गोष्ट बरोबर आहे ना? आता बोला, पळून कोठे जाणार?'

जमीनीवर डोके टेकून गोपीनाथाचार्यांना प्रणाम करीत भट्टाचार्य म्हणाले–'ही सर्व आपलेच चरणाची कृपा आहे, नाहीतर मजसारखे संसारी मनुष्यावर प्रभु कृपा कशी शक्य असणार? आपलेच अनुग्रहाने मला प्रभुच्या चरण-कमलांची प्राप्ति झाली आहे'.

ह्या प्रमाणे शिष्टाचारांच्या बऱ्याचशा गोष्टी झाल्यावर सार्वभौम आपले घरीं निघून गेले.

# सार्वभौमांचा-भक्तिभाव

नौमि तं गौरचंद्रं यः कुतर्ककर्कशाशयम् ।
सार्वभौमं सर्वभूमा भक्तिभूमानमाचरत् ॥

एके दिवशीं सार्वभौम महाशय प्रभुचे दर्शनांसाठी त्यांचे निवास-स्थानावर गेले. महाप्रभुंनी मोठे प्रेमाने त्यांना बसण्यासाठी आसन व आज्ञा घेऊन आसनस्थ झाल्यावर सार्वभौम हात जोडून प्रभुस म्हणतात– 'प्रभो! एका गोष्टीचे स्मरण झाले म्हणजे माझा मलाच फार राग येतो. मी स्वताचे शास्त्रीय-ज्ञानाचे घमेंडीत आपणास साधारण संन्यासी समजून उपदेश देण्याचा मिथ्या अभिमान केला होता, त्याचे मला फार दुःख होत आहे. आचार्य गोपीनाथाचे बरोबर आपले संबंधाने कडक शब्दांत वादहि केला होता, तेव्हा आता माझे अशा कृत्याबद्दल मला लाज वाटत आहे'.

महाप्रभु अत्यन्त स्नेहाने म्हणाले–'आचार्य हे आपण कसे, कांही-तरी बोलत आहा. आजपावेतो आपण मजसंबंधाने कधीहि अनुचित शब्द कोठेहि काढला नाही वा केव्हाहि अशिष्ट व्यवहार केला नाही. आपणा-सारखे शास्त्रज्ञ व व्यवहार चतुराकडून असे होणे कोणास संभवनीय वाटणार आहे? क्षणभर मानले कीं, आपलेकडून असे कांही वर्तन घडले होतेहि. परन्तु तो प्रकार माझा व आपला प्रगाढ प्रेम-संबन्ध झाला नव्हता तोच पावेतो संभनीय म्हणता येईल. प्रेमसंबंधानन्तर अशा जुन्या गोष्टी विसरल्या जातात. प्रेम-संबन्धानंतर एक प्रकारे नवीन जीवनास प्रारंभ होतो. ज्याप्रमाणे जन्म होताच मागील सर्व जन्मांतील गोष्टींचा विसर पडतो, त्याचप्रमाणे प्रेम-संबन्धानन्तर मागील गोष्टी विसरल्या जातात. प्रेमांत लज्जा, भय, संकोच, शिष्टाचार, क्षमा, अपराध आदि

द्वैधी-भाव प्रकटविणाऱ्या वृत्तिच शेष राहात नाहीत. तेथे तर नित्य नूतन रसाचे आस्वादन करीत राहणे हेच अवशेष राहाते. कां असेच ना?'

सार्वभौमांनी ह्याचे कांहीच उत्तर दिले नाही. ते गुपचुप बसून राहिले. थोडे अवधीनन्तर त्यांही विचारले–'प्रभो! भगवन्ताचे चरण-कमलीं अहैतुकी अनन्य भक्ति उत्पन्न होईल, ह्याचे सर्वोत्तम साधन कोणते?'

महाप्रभुंनी सांगीतले–'सर्वांना एकाच रोगावर एकच औषधी कार्य करीत नाही. बुद्धिमान् वैद्य प्रकृति पाहून औषधी तथा अनुपानामध्ये अवश्यकतेनुसार परिवर्तन करतो. भोजनाने शरीराची पुष्टि, चित्ताची तुष्टि व क्षुधेची निवृत्ति ही तिन्ही कामे होतात. परन्तु पुष्टि, तुष्टि व क्षुधा निवृत्तिसाठी सर्वांना एकसारखेच भोजन देत नाही. ज्यास जे अनुकुल येईल तेच सेवन करणे लाभप्रद असते. शास्त्रांत भगवत्-प्राप्तिचे अनेक उपाय सांगीतले आहेत; परन्तु ह्या कलिकालामध्ये तर भगवन् नाम-स्मरणातिरिक्त दुसरा कोणताच सुगम असा उपाय नाही. वर्तमानकालीं तर भगवन्नाम-स्मरणच सर्वोत्तम साधन आहे'.

सार्वभौमांनी विचारले–'प्रभो! भगवन्नामस्मरणाची प्रक्रिया कशी आहे?'

प्रभुंनी म्हटले–'त्यांत प्रक्रिया कसली? भगवन्नामाची कांहीच प्रक्रिया नाही. जेव्हा अवकाश मिळेल, कोठेहि असा, कसेहि असा भगवन्नामाचा मुखाने उच्चार करीत असावे. भगवन्नामाचा नियत संख्या जप करा, आपणास प्रिय असलेल्या भगवन्ताच्या रूपाचे ध्यान करा, नाम-संकीर्तन करा, भगवन्ताच्या गुणानुवादाचे गान करा, भगवन्ताच्या लीला परस्परास कथन करा, श्रवण करा. सारांश हा आहे कीं, ज्या

प्रकारे होईल त्या प्रकारे आपले शरीर, प्राण, मन तथा इंद्रिये भगवत्परायणच सदैव राहतील असाच प्रयत्न करा'.

सार्वभौमाने विचारले–'प्रभो! ध्यान कसे करावे?'

प्रभुंनी सांगीतले–'आपल्या वृत्ति बाहेरील विषयांकडेस जाऊ देऊ नका. काम करता करता जर भगवन्ताची मूर्ति आमचे दृष्टि बाहेर गेली तर, ऊर्ध्वदृष्टि करून (नेत्राची बुबुळे वर चढवून) त्या मनमोहिनी मूर्तिचे ध्यान केले पाहिजे'.

ह्याप्रमाणे भगवन्नामाचे संबंधाने आणखीहि पुष्कळच गोष्टी झाल्या नंतर जगदानन्द व दामोदर पंडिताना बरोबर घेऊन सार्वभौम आपले घरी गेले. घरी गेल्यावर श्रीजगन्नाथाचे प्रसादाचे नानातऱ्हेचे पदार्थ ह्या दोघा पंडिताच्या हातीं प्रभुंचेसाठी पाठविले व त्याबरोबरच आपली श्रद्धाञ्जलि स्वरूप पुढील दोन श्लोक तयार करून प्रभुसेवेंत समर्पित करण्यास दिले—

**वैराग्यविद्या निजभक्तियोग—**
**शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः ।**
**श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी**
**कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये ॥**
**कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः**
**प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा**
**आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे**
**गाढं गाढं लीयतां चित्तभृंगः ॥**

जगदानन्द व दामोदर पंडित प्रभुचा स्वभाव पूर्णपणे जाणत होते. महाप्रभु स्वताची प्रशंसा ऐकणेच शक्य नाही. प्रशंसा ऐकताच प्रसन्न

होणेचे ऐवजी ते नाराज होतील, म्हणून त्यांही हे दोन्ही सुन्दर श्लोक बाहेर भिंतीवर प्रथमच लिहून ठेविले. नन्तर आत जाऊन भोजन सामग्री सहीत ते पत्र प्रभुचे हाती दिले. ते पत्र वाचताच प्रभुंनी ते फाडून बाहेर फेकून दिले. परन्तु भक्तांनी तर ते प्रथमच लिहून ठेविलेले होते. त्याचवेळीं मुकुन्द ते कठस्थ करून तो ते सुमधूर कंठाने गाऊ लागला. सर्वांना फार आनंद झाला. थोडेच दिवसांत हे श्लोक गौरभक्तांच्या वाणीचे बहुमुल्य भूषण झाले.

एके दिवशीं सार्वभौम प्रभुच्या समिप बसून कांही भक्तिविषयक गोष्टी बोलत होते. बोलता बोलता भागवतांतील हा श्लोक त्यांही म्हटला—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुंजान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुभिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

सार्वभौम भट्टाचार्यांनी ह्या श्लोकाचे शेवटचे चरणांतील 'मुक्ति'चे स्थानीं 'भक्ति' असा पाठ म्हणून हा अर्थ केला कीं, तो भक्तिचा अधिकारी होतो.

महाप्रभु हसत म्हणाले—'भट्टाचार्य महाशय! आपणास आपले मनाप्रमाणे अर्थ करण्यासाठी श्रीमद्व्यासाचे पाठांत परिवर्तन करण्याचे कारण पडणार नाही. आपली अशी समजूत दिसते कीं, ह्या श्लोकांत मुक्तिसच श्रेष्ठत्व दिलेले आहे. तसे नाही. व्यासदेवच स्वयं भगवत्-पादसेवनास मुक्ति पेक्षाहि अधिक मानतात-जसे—

सालोक्यसार्ष्टिसामिप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृण्हन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

याचा अर्थ हाच कीं, भक्त भगवत्-सेवेच्या पुढे मुक्तिची उपेक्षाच करतात. हा सिद्धान्त प्रतिपादन करणारे श्रीमत्-व्यास समस्त साधकांच्या स्थितीचे नाव 'मुक्ति' म्हणून कसे सांगतील ?

ह्या श्लोकांत 'मुक्तिपद' असा पाठ आहे. ह्याचा अर्थ 'मुक्तिः पदे यस्य स मुक्तिपदः' अर्थात् 'मुक्ति आहे ज्याचे पदीं अशा श्रीकृष्णास प्राप्त होतात' व 'मुक्ति आहे ज्याचे प्रारंभी अशा नववे पदार्थाच्या पुढे दहावा पदार्थ म्हणजे श्रीकृष्णास प्राप्त होतात'. श्रीमद्भागवतात दहा पदार्थांचे वर्णन पुढील श्लोकांत केले आहे—

**अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।**
**मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥**
**दशमस्य विशुद्धार्थं नवानामिह लक्षणम् ।**
**वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥**

अर्थात् श्रीमद्-भागवतांत सर्ग, विसर्ग, स्थिति, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईश-कथा, निरोध, मुक्ति व आश्रय, या प्रमाणे दहांचे वर्णन आहे. ह्यांतील दहावा विषय जो सर्वांचा आश्रयरूप श्रीकृष्ण आहे, त्यांचेच तत्त्वज्ञानानिमित्त महात्मापुरुष ह्या सर्गादि नऊ लक्षणांच्या स्वरूपाचे वर्णन करतात. ह्यांत श्रुतिद्वारा स्तुति आदिने प्रत्यक्ष वर्णन करतात व निरनिराळी आख्याने सांगून अन्ति तात्पर्यरूपानेहि त्याचेच वर्णन करतात. सारांश हाच कीं, वाटेल तर देवता आदि द्वारा 'तूंच सर्वांचा आश्रय आहेस' असे म्हणून त्यांचे वर्णन केलेले असो, अथवा अम्बरीष आदिची कथा सांगून अन्ती हे तात्पर्य सांगीतलेले असो कीं, भगवत् शरणागतीवाचून कल्याण नाही, कसेहि म्हणा, सर्वत्र त्या दहाव्या 'आश्रयभूत' श्रीकृष्ण चरणीं प्रीति होण्यासाठीच श्रीमद्भागवताची

रचना झाली आहे. तेव्हा 'मुक्तिपद' तेच श्रीकृष्णभगवान् होतात. येथे सार्ष्टी, सामिप्-यादि मुक्तिशी तात्पर्य नाही.

सार्वभौमानी म्हटले-'प्रभो! आपले ह्या व्याख्येने माझेतर समाधान झाले व तोच 'मुक्तिपद' ह्या शब्दाचा भाव असेलहि. किन्तु सर्व लोक तर प्रचलित अर्थानेच मुक्तिपदाचा अर्थ करतील; म्हणून मला तर 'भक्ति' पाठच सुन्दर प्रतीत होत आहे.

प्रभुंनी हंसत म्हटले-'हा तर मी वाग्विनोदानासाठी पदांची ओढाताण करून असा अर्थ केला आहे. वास्तविक तर मुक्तिपदाचा अर्थ संसारी सर्व बन्धनांतून मुक्त होणे असाच आहे. संसार-बन्धनांतून मुक्ति झाल्यावर प्रभु-पदातिरिक्त त्यास दुसरा कोणता आश्रयच नाही. बन्धन सुटले पाहिजे. मग पाहिजे तर त्याचेच होऊन त्याचे चरणीं लोटांगण घालीत रहा वा त्याचेंत लीन होऊन जा. सर्व एकच आहे. त्याचे चरणांचा आश्रय घेणे हीच मुख्य गोष्ट आहे. शब्दांच्या ओढाताणींत काय आहे? पक्षपाती पुरुष आपला पक्ष सिद्ध करण्यांसाठी ह्या अशा ओढाताणीचा आश्रय करतात. श्रीकृष्णचरणीच ज्यास प्रेम करावयाचे आहे त्यास अशा गोष्टीचे प्रयोजनच काय?'

सार्वभौमांना बरे वाटले व प्रभुस प्रणाम करून ते आपले घरीं गेले.

# दक्षिण-यात्रेचा विचार

कति न विहितं स्तोत्रं काकुः कतीह न कल्पिता
कति न रचितं प्राणत्यागादिकं भयदर्शनम्।
कति न रुदितं धृत्वा पादौ तथापि स जग्मिवान्
प्रकृतिमहतां तुल्यौ स्यातामनुग्रहनिग्रहौ॥

खरोखरच महापुरुषाचा स्वभाव फारच विलक्षण असतो. त्यांची सर्व कामे, सर्व व्यवहार, सर्व आचार लोकोत्तरच होत असतात. त्यात सर्व वैषम्यगुणांचा समावेश झालेला दिसतो. त्यांचे हृदय अत्यन्त प्रेमयुक्त असते. ज्याच्यावर त्यांची एक वेळ कृपा झाली, एक क्षणभर कां होईना ज्यांनी त्यांची प्रसन्नता प्राप्त करून घेतली, त्यांही संपूर्णजीवनपर्यन्त त्या महापुरुषाचे अन्तःकरणांत स्थान प्राप्त करून घेतलेच समजा. त्यांचे प्रेम स्थायी असते. दैववशात् त्यांही कोणावर क्रोध जरी केला, तरी तो पाण्यावर रेघ ओढल्याप्रमाणे समजावा. क्रोध आला कीं, लागलीच तो नष्ट होतो. इतके असूनहि ते सदैव संगरहीतच असून त्यांचे ठिकाणीं त्यागाची मात्रा इतकी अधीक असते कीं, आवडत्यांतील आवडत्याचा त्याग क्षणांत करतात—

'आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः।
परित्यागाश्च निसंङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम्॥'

अशाच सर्व गोष्टी लक्षांत घेऊन महाकवि भवभुति म्हणतात– 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'. अशांचे अनुकरण करणारे फारच विरळ! अशा स्वेच्छाचारी स्वच्छन्दगति महानुभावाचे अनुकरण वा

अनुसरण करणे हंसी-खेळ नाही. हे आपले निश्चयाचे पुढे कोणाचे आग्रहाची, कोणाचे अनुनय-विनयाची, वा कोणाचे प्रार्थनेची परवा करीत नाहीं. निश्चय झाला कीं, झाला. साधारण मनुष्याचे स्वभावांत व महापुरुषाचे स्वभावांत हाच तर अन्तर असतो, हीच तर ह्यांची महानता आहे व म्हणूनच ते जगत् वन्द्य होऊ शकतात.

महाप्रभुचे हृदय जितके कोमलाति कोमल व प्रेमपूर्ण होते, तितकाच त्यांचा निश्चयहि अधिक दृढ, अटळ व असन्दिग्ध होता. आपले सत्यसंकल्पाचे पुढे ते कोणाचेहि चालु देत नसत. माघांत कटव्याहून ते संन्यास-दीक्षा घेऊन निघाले व आठदहा दिवस शान्तिपुरास अद्वैताचार्याचे घरीं राहिले. नन्तर ते पुरीस जाण्यास निघाले. मार्गात सर्व पुण्य-तीर्थांना पावन करीत फाल्गुनांत श्रीनीलाचलास पोचले. तेथे दोन महिने सार्वभौमांच्या मावशाचे घरांत भक्तांसहीत प्रभुंनी निवास केला. त्यावेळीं तेथे प्रभुंची इतकी ख्याति झालेली नव्हती. नीलाचल फार मोठे तीर्थ असल्याने तेथे नित्यप्रति शेकडो साधु-महात्मा येत जात असतात. अशा ठिकाणीं कोणकोणाची परवा करणार! परन्तु जेव्हा सार्वभौम भट्टाचार्यासारखे प्रकाण्डपंडित प्रभुंच्या पादपद्मीं शरणापन्न झाले, तेव्हा लोकांचे लक्ष्य ह्यांचेकडेस वेधले व परस्परांत ह्यांचे संबंधाने ते आलोचना-प्रत्यालोचना करू लागले. सामान्य लोकांचा स्वभाव असा असतो कीं, त्यांना कोणाचा उत्कर्ष सहन होत नाही. निन्दा करून, चढवून, वा संसारी प्रलोभन देऊन त्यास हरप्रयत्नाने खालीच ओढण्याचा प्रयत्न ते करतील. अगदी विवश होतील तेव्हाच असे लोक अशाची पूजा-अर्चा करतील वा अशास मान देतील. महाप्रभु जनसंसदीपासून पृथक्, एकान्तात, अगदी गुप्तपणे भक्तांच्यासहीत पुरींत राहात होते. परन्तु राखेच्यामध्ये पुरून

ठेविलेला अग्नि किती वेळ अप्रकट राहू शकणार? हळू हळू लोक महाप्रभुच्या दर्शनास येऊ लागले. तेव्हा महाप्रभुनी दक्षिण-यात्रेस जाण्याचा विचार केला. संन्यास-धर्माप्रमाणे कांही काल देश-विदेशांत भ्रमण केले पाहिजे. हाच प्राचीन ऋषि-महर्षिंचा सनातन आचार आहे. हा सर्व विचार करून महाप्रभुंनी भक्तमंडळींत आपला निश्चय प्रकट केला. हे ऐकताच सर्व अगदी मुग्ध झाले. त्यांतून नित्यानन्द बोलून उठले–'प्रभो! आपण तर निश्चय करून आला होता कीं, नीलाचला-मध्येच राहावे. सर्व भक्तांनाहि आपण हेच आश्वासन दिलेले आहे. तेव्हा आपण हे कसे म्हणता? आपले सर्वच कार्य अलौकिक असते. ते कोणासच समजणे शक्य नाही. आपले मनोगत समजणे मानवी बुद्धिच्या पलीकडे आहे. आपण जे वाटेल ते करण्यास समर्थ आहात. परन्तु पुरीसारखे परमपावन क्षेत्राचा त्याग करून आपण दक्षिण-यात्रेस जाणे कां पसंत केले आहे?'

प्रभुंनी कांहीसा विचार करून सांगीतले–'आमचे ज्येष्ठ बन्धु महा-महिम विश्वरूप दक्षिण देशाकडेस गेले आहेत. मी तिकडेस जाऊन त्यांचा शोध करीन. ते माझे कर्तव्य आहे'.

कांहीसे हंसतच दामोदर पंडित म्हणाले–'बन्धुचा शोध करणे हे तर केवळ एक आपण निमित्त दाखवित आहा. खरी गोष्ट तर निराळीच आहे. दक्षिण देशास पावन करण्याची इच्छा असल्याचे दिसत आहे. आम्ही मना थोडेच करणार आहोत व तसे केले तरी आपण थोडेच कोणाचे ऐकणार आहा!'

दामोदर पंडिताचे म्हणणे बरोबरच होते. महाप्रभुचे अग्रज विश्व-

रूपांनी संन्यास ग्रहण केल्यावर दोन वर्षांनी पंढरपुरास ह्या नश्वर शरीराचा त्याग केला होता, ही गोष्ट भक्तांना विदित होती. प्रसिद्ध पद-कर्ता वासुदेव घोष त्यावेळीं तेथेच होता. त्यांही हा समाचार येथे आल्यावर भक्तांना सांगीतला होता. आजपर्यन्त महाप्रभुंना ही गोष्ट समजली नाही हे संभवत नाही. कांहीहि असो, विश्वरूपाचा शोध हे उपलक्ष्य योजून दक्षिण-देशास आपले पद-धुलीने पावन करण्याचा विचार झाला, म्हणून महाप्रभुंनी दक्षिण-यात्रेचा निश्चय केला. नित्यानन्द कांहीसे रुधित कण्ठाने म्हणाले–'प्रभो! आम्ही आपले इच्छेविरुद्ध कांहीच करू शकत नाही. परन्तु आमची हीच प्रार्थना आहे कीं, आम्हास बरोबर घेऊन चलावे, आमचा परित्याग करू नये'.

प्रभुंनी गंभीरपणे उत्तर दिले–'माझे बरोबर कोणीहि यावयाचे नाही. मी एकटाच तीर्थ-भ्रमण करणार'.

नित्यानन्द, दामोदर पंडित, जगदानन्द व मुकुन्द ह्यांनी आपआपलेपरि बरोबर नेण्याची महाप्रभुंना विनंती केली. महाप्रभुंनी नित्यानन्दाना सांगीतले–'तुम्ही तर माझा दण्डच मोडून टाकला व मला माझे यतिधर्मापासून च्युत करण्यातच आपणास मजा वाटली, तेव्हा तुमचे सारख्यास बरोबर नेणे माझे शक्तिचे बाहेर आहे'. 'पंडितजी! आपण अत्यन्त कठोर नियमाचे बन्धनातच मला जखडून ठेवण्याचा प्रयत्न करता, तेव्हा माझे स्वतन्त्र व्यवहार पाहून आपण मला सदैव टोकणार व ते मला असह्य होणार, तेव्हा मी एकटाच जाणार'. 'जगदानन्द! आपले इच्छेनुसार जोपावेतो मी वागतो तोपावेतो आपण प्रसन्न असता, नाहीतर आपण रागावता, मी संन्यास–धर्माविरुद्ध संसारी विषयांचा उपभोग केव्हाच करणे शक्य नाही. तेव्हा

मी एकटाच जाईन ते बरे!' 'मुकुन्द! आपण स्वभावाने फार कोमल आहा. माझे कष्ट पाहून आपण फार दुःखी होता. त्या योगे मला कष्ट होतात. मी माझे नियम सोडू शकणार नाही व आपण आपला कोमल स्वभाव कठोर करणे शक्य नाही, म्हणून आपणास बरोबर नेणे शक्य नाही'.

ह्या सर्व गोष्टी ऐकल्यावर नित्यानन्द कांहीसे खिन्नपणे म्हणाले– 'प्रभो! आपले इच्छे विरुद्ध जाणे कोणासहि शक्य नाही, परन्तु माझी एक अन्तीम प्रार्थना आहे ती आपण अवश्य स्वीकारावी'.

महाप्रभुंनी अत्यन्त प्रेमाने म्हटले–'श्रीपाद! आपण माझे गुरु-तुल्य असल्याने मी आपली आज्ञा कशी उल्लंघन करू शकणार? सांगा काय आज्ञा आहे ती?'

अत्यन्त करुण स्वराने नित्यानन्द म्हणतात–'आपण एकटेच यात्रेस गेल्याने आम्हा सर्वांना अत्यन्त दुःख होईल. आम्हापैकी कोणासहि बरोबर नेण्याची आपली इच्छा नसल्यास, हे कृष्णदास नावाचे ब्राह्मण आहेत, हे कटव्याचे समीपच राहाणारे आहेत, हे स्वभावानेहि फार सरल आहेत, सेवा करण्यांतहि हे फार कुशल आहेत, प्रभुचे पादपद्मीं ह्यांचा दृढ अनुराग आहे. हे बरोबर राहून प्रभुंची सर्व प्रकारे सेवा करतील. आपण जेव्हा भावावेशांत येऊन नृत्य करू लागता तेव्हा आपली वस्त्रे कोण संभाळणार? दोन्ही हातांनी टाळी वाजवून जेव्हा आपण कीर्तन करीत चालणार, तेव्हा जलपात्र, कंथा व कौपिन कोण संभाळील? अतः आमची हीच प्रार्थना आहे कीं, आपण कृष्णदासास बरोबर येण्याची अवश्य अनुमति द्यावी'.

नित्यानन्दाची ही प्रार्थना स्वीकारून कृष्णदादास बरोबर येण्याची अनुमति प्रभुंनी दिली. भक्तांना या योगे कांहीसे बरे वाटले. आणखी कांही काल प्रभुंनी पुरीस राहावे अशी सर्वांची इच्छा होती, परन्तु आग्रह करण्याची कोणांत हिम्मत नव्हती. तेव्हा सर्वांनी विचार करून सार्वभौम भट्टाचार्यांची प्रार्थना करण्याचे ठरविले व त्यासाठी त्यांचे घरीं प्रभुंना घेऊन जाण्याची आवश्यकता होती. हा विचार करून नित्यानन्द म्हणाले– 'प्रभो! भट्टाचार्यांचीहि ह्या कार्मी अनुमति मिळविली पाहिजे, पहावे ते काय म्हणतात ते?' हे ऐकून आनन्दाने प्रभु म्हणाले–'ठीक आहे, चला, सार्वभौमांनाहि ह्या संबंधाने विचारून घ्यावे'. इतके म्हणून प्रभु भक्तांसह सार्वभौमांचे घरीं जाण्यास निघाले.

# दक्षिण-यात्रेचे प्रस्थान

कथं ममाभुन्न हि पुत्रशोकः
कथं ममाभुन्न हि देहपातः ।
विलोक्य युष्मच्चरणाब्जयुग्मं
सोढुं न शक्तोऽस्मि भवद्वियोगम् ॥

प्रभुंच्या झालेले निश्चयांत कोणत्याहि प्रकारे फेरफार होणे शक्य नाही. ह्याच गोष्टीचा विचार करीत भक्त-वृन्द प्रभुसहीत सार्वभौम भट्टाचार्यांचे घरीं पोचला. भक्तांसहीत प्रभु येत असल्याचे पाहून तात्काल उठून भट्टाचार्यांनी प्रभुंची चरणवन्दना केली, सर्व भक्तांना प्रेमाभिवादन केले व सर्वांना बसण्यासाठी आसने दिली, आणि प्रभुंची यथोपचार पूजा केली.

कांही काल कथा-वार्ता झाल्यावर प्रभुने म्हटले–'भट्टाचार्य महाशय! माझे हे धर्मबन्धु मला शान्तिपुराहून येथपर्यन्त घेऊन आले, व ह्यांचेंच कृपेने मला पुरुषोत्तम भगवन्ताचे दर्शन घडले. ऐकतो कीं, तीर्थ-यात्रेचे फल कांही कालान्तराने मिळते, परन्तु मला तर जगन्नाथाच्या दर्शनाचे फल, दर्शन करताच प्राप्त झाले. आपणासारखे महानुभावाशी स्नेह होणे कोटितीर्थांचे यात्रेचे व भगवान् पुरुषोत्तमाच्या दर्शनाचेच फल मी समजतो. आपणा सारख्यांचे सत्संगांत माझा हा इतका काल फार आनन्दांत व्यतीत झाला. आपणास हे माहिती असण्याचा संभव आहे कीं, माझे एक ज्येष्ठभ्राता विश्वरूप सोळा वर्षांचे अवस्थेतच गृह-त्याग करून संन्यासी झाले. ऐकतो कीं, ते दक्षिण-यात्रेसाठी गेले होते. इच्छा आहे कीं, त्यांचेच चरण-चिन्हांचे अनुसरण

करून दक्षिण-देशाची यात्रा करावी. या योगे 'एक पन्थ दो काज' असे होईल. ह्या निमित्ताने दक्षिणेंतील सर्व तीर्थांचे दर्शनहि घडेल व संभवतया विश्वरूपांचीहि कोणते ना कोणते तीर्थी भेटहि होईल. आपण मला दक्षिण-यात्रेस जाण्याची अनुमति प्रदान करावी'.

इतके ऐकताच भट्टाचार्य सार्वभौम तर मर्माहत होऊन एकादा वृक्ष तुटून पडावा त्याप्रमाणे जमीनीवर धाडकन पडले. त्यांच्या दोन्ही नेत्रांतून अश्रुपात होऊ लागला. थोडे वेळा नन्तर सावधान होऊन ते अत्यन्त करुण स्वराने म्हणू लागले–'प्रभो! मी समजत होतो कीं, आता माझा सौभाग्यसूर्य उदयास आला, मी मोठा भाग्यवान् झालो. आता मला प्रभुंच्या संगतीचे निरन्तर सौभाग्य प्राप्त झालेले आहे. परन्तु हृदयास वेधणारी ही विचित्र गोष्ट ऐकताच माझे दुःखास पारावारच राहिला नाही. अत्यन्त दरिद्रावस्थेंतील एकादा पुरुष राजा व्हावा, व थोडेच दिवसांत त्यास राज्यसिंहासनावरून खाली ओढून पुन्हा दीन-हीन कंगाल बनवावे, अगदी तशीच माझी अवस्था झाली आहे. प्रभो! आपण मला सोडून कोठेहि अन्यत्र जाऊ नये, आणि कोठे जावयाचे असल्यास मलाहि बरोबर घेऊन जा. मी ह्यासाठी माझे कुटुंब, परिवार तथा पदप्रतिष्टादि सर्वांचा त्याग करण्यास तैयार आहे'.

सार्वभौमांना धैर्य देत प्रभु म्हणतात–'भट्टाचार्य महाशय! आपण इतके विद्वान् व समजुतदार होऊनहि जेव्हा अशा बेडगळासारख्या गोष्टी करीत आहात, तेव्हा इतरांची तर गोष्टच कशाला? आपण धैर्य धारण करावे. मी लवकरच यात्रा समाप्त करून येथे परत येईन'.

भट्टाचार्य म्हणाले–'प्रभो! आपले परत येण्यासंबंधी निश्चित असे काय सांगावें! हे जीवन क्षणभंगुर आहे. आपण मला निराश्रित सोडून एकटेच जाऊ नका'.

प्रभुंनी प्रेमाने सांगीतले–'हे भक्त माझे अनुपस्थितींत येथेच राहतील, आपण सर्वांनी मिळून कृष्ण-कीर्तन करीत जावे. मी लौकरच परत येईन, तेव्हा आपण प्रसन्नचित्ताने मला अनुमति द्यावी'.

कांहीसे विवश होऊन दु:खयुक्त स्वरांत भट्टाचार्य म्हणाले–'आपण स्वतंत्र ईश्वर आहा, आपले इच्छेविरुद्ध वर्तन करण्याची शक्तिच कोणाची आहे? आपण अवश्य दक्षिण देशांतील तीर्थ-यात्रेस जावे, परन्तु माझी मनापासूनची अशी इच्छा आहे कीं, आपण कांही काल येथे राहून माझी सेवा स्वीकारावी'.

भक्तवत्सल गौराङ्ग आपले परमप्रिय कृपापात्र सार्वभौम भट्टाचार्याचे ह्या अनुरोधाची उपेक्षा करू शकले नाही. पुरींत राहून पांच दिवसपर्यन्त भट्टाचार्याचे घरीं भिक्षेस जाऊन त्यांना संतोषविले व नन्तर दक्षिणयात्रेस निघाले.

सहावे दिवशीं भक्तांसहित नित्य-कर्म उरकल्यावर महाप्रभु भट्टाचार्यांचे स्थानाप्रत आले व तेथून सर्वजण श्रीजगन्नाथाचे दर्शनास गेले. प्रभुंनी श्रद्धा भक्तिपूर्वक भगवन्ताचे चरणीं साष्टांग प्रणिपात केला व दक्षिण-यात्रेस जाण्यास अनुमतिची याचना केली. त्याचवेळीं पुजाऱ्याने भगवन्ताची प्रसाद-माला व प्रसादान्न आणून प्रभुस दिले. प्रभुंनी हींच भगवत् आज्ञा समजून प्रसाद शिरोधार्य केला व मन्दीरास प्रदक्षणा करून प्रभु भक्तासहीत समुद्र तटावर पोहोचले.

अश्रुधारा वहात असता भट्टाचार्य म्हणाले–'प्रभो! दक्षिणेकडेस जाण्याचे मार्गांत गोदावरीतटावर विद्यानगर नावाची एक मोठी राजधानी लागेल. ते राज्य उत्कल राज्याचेच अन्तर्गत आहे. तेथील राज्यशासन येथीलच राजे रामानन्दराय करीत आहेत. ते कायस्थ

आहेत, परन्तु मोठे भगवत्-भक्त वैष्णव आहेत. त्यांना दर्शन देऊन अवश्य कृतार्थ करीत जावे. सांसारिक विषयीपुरुष समजून त्यांची उपेक्षा न करावी'.

सद्गदित कण्ठाने प्रभुने सांगीतले--'भट्टाचार्य! ज्यांचे विषयीं आपले अन्तःकरणांत इतके आदरणीय स्थान आहे, तो महाभाग जातीने चाण्डाल कां असे ना, मला तो वन्दनीय आहे. मी त्यांचे दर्शन करून स्वतास खरोखरच कृतार्थ करीन. आपण आता परत फिरावे'.

परत फिरण्याचे नाव ऐकताच भट्टाचार्य पुन्हा विकल झाले. अश्रु-पात करीतच त्यांही प्रभुंच्या पायावर आपले मस्तक ठेविले व ते म्हणू लागले--'आता कोण जाणे, हे अरुणचरण पुन्हा केव्हा दृष्टिस पडतील!' प्रभुंनीहि दुःखित मनाने भट्टाचार्यांना आलिंगन दिले. त्यांचेहि कमलनेत्र अश्रुपूर्ण झाले होते. आलिंगन देताच भट्टाचार्य मूर्छित पडले. तशाच अवस्थेंत त्यांना सोडून प्रभु तात्काल पुढे निघून गेले, आणि थोडे वेळा-नन्तर सर्वस्व ज्याने गमाविले आहे, अशा व्यापाऱ्याप्रमाणे दुःखित मनाने भट्टाचार्य घरीं परत आले.

इकडे प्रभु लवकर लवकर समुद्राचे किनाऱ्या-किनाऱ्याने पुढे मार्ग काढीत होते. भक्तांना वारंवार परतून जाण्यास ते सांगत असता, ते 'आता जाऊ', 'मग जाऊ' करीत करीत सर्वजण प्रभुसहित अलालनाथ येथे पोचले.

तेथे पुष्कळशी मंडळी प्रभुंच्या दर्शनासाठी एकत्रित झाली. इतक्यांत गोपीनाथाचार्य प्रभुंच्यासाठी चार कौपिन, एक काषाय रंगाचे बहिर्वास (पांघरण्याचे वस्त्र) व भगवन्ताचा महाप्रसाद घेऊन अलालनाथ येथे येऊन पोचले. समुद्रावर स्नान करून सर्वजण मन्दीरांत आले व

दर्शन घेतल्यावर गोपीनाथांनी आणलेले प्रसादान्नाचे प्रभुसह सर्वांनी भोजन केले. ती रात्र तेथेच कथा-कीर्तन व भगवत्-चिन्तनांत भक्तांसहीत घालविली.

प्रातःकाली नित्यकर्मांतून निवृत्त झाल्यावर पुढे जाणेचे पूर्वी प्रभुंनी प्रत्येकास आलिंगन देऊन परत जाण्यास सांगीतले. प्रभुंचा वियोग सर्वांचे अन्तःकरण विदीर्ण करीत होता. सर्वांचे नेत्रांतून अश्रुधारा वाहात होत्या. सर्वांना तशाच स्थितींत सोडून प्रभु पुढे निघून गेले. मागे कृष्णवर्ण कृष्णदास प्रभुचा कमंडलु व वस्त्र घेऊन चालत होता. एकादे मत्त गजेन्द्राप्रमाणे महाप्रभु श्रीकृष्ण-प्रेमांत तल्लीन होऊन निर्भयपणे चालत होते. चालताना भगवन्ताचे पुढील नावांचे कीर्तनाचा सारखा घोष सुरू होता—

कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! हे
कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! हे
कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! रक्षमाम् ।
कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! पाहिमाम् ॥
राम राघव ! राम राघव ! राम राघव ! रक्षमाम् ।
राम राघव ! राम राघव ! राम राघव ! पाहिमाम् ॥

# वासुदेव कुष्टिचा उद्धार

धन्यं तं नौमि चैतन्यं वासुदेवं दयार्द्रधीः ।
नष्टकुष्टं रूपपुष्टं भक्तितुष्टं चकार यः ॥

स्वात्मसुखरत संसारी लोकांचे मानापमानाची क्षिती नाही, अमुकेक ठिकाणीं आमकेवेळीं पोचण्याचा संकल्प नाही, अथवा कोणते एकादे नियत स्थानाचे ठायीं ममत्व नाही, अशानांच यात्रेचा खरा आनन्द प्राप्त होतो. अशा यात्रेकरूचे जीवन तपोमयच होते व अशाचे हृदयांत प्राणिमात्राविषयीं प्रेम व ममता असते. खरे पाहिले तर आशाच लोकांची यात्रा सफल समजावी. असे यात्रेकरू नरदेहरूपीं नारायणच होत. त्यांच्या पद-धूलीने देश पावन होतात. पृथ्वि पवित्र होते, तीर्थांची कालिमा धुतली जाते व मार्गांतील आसपासचे नगरवासी स्त्री-पुरुष कृतार्थ होतात. मा वसुन्धरे! अनेक रत्नांना आपले कुशींत दडपून ठेविण्याने तुला इतका आनन्द होत नसेल, जितका तुला अशा ईश्वर-तुल्य महानुभावाचे पदाघाताने होतो आहे. तीर्थांचे तीर्थत्व, जे अद्याप पर्यन्त जसेच्या तसेच अक्षुण्ण राहिले आहे, त्याचे सर्वप्रधानकारण हेच आहे कीं, असे महानुभाव तीर्थांत येऊन आपले पाद-स्पर्शाने तेथे एकत्रित झालेले पाप भस्म करून टाकतात, आणि तीर्थे पुन्हा जशीच्या तशी निर्मल होऊन जातात.

महाप्रभु चैतन्यदेव दक्षिणेकडील यात्रा करीत फिरत होते. ते ज्या गावांतून बाहेर पडत तेथे भगवन्नामाचा उच्चस्वराने घोष करीत. हे हृदयग्राही सुमधुर भगवन्नाम प्रभुंचे चित्ताकर्षक मनोहर वाणीद्वारा श्रवण करताच गावांतील स्त्री-पुरुष येऊन प्रभुंना घेरून टाकीत. महाप्रभु त्यांचे मध्ये उभे राहून म्हणत—

**हरि बोल, हरि बोल, बोल हरि बोल ।**
**मुकुन्द माधव गोविन्द बोल ॥**

प्रभुच्या स्वरांत स्वर मिळवून लहान लहान बालके टाळी वाजवून जोराने नाचत हेच म्हणत. लहानांच्याबरोबर मोठेहि गाऊ लागत व बेड्याप्रमाणे नृत्यहि करू लागत. ह्याप्रमाणे महाप्रभु जिकडून जात त्या त्या भागांत हरिनामाचा गजर सारखा गुंजत राही. ह्याप्रमाणे रस्त्यांतील असंख्य स्त्री-पुरुषांना पावन करीत प्रभु कूर्माचल वा कूर्मम् स्थानीं पोचले. जगन्नाथास जाताना ह्याच ठिकाणीं भगवान् रामानुजाचार्य थांबले होते असे म्हणतात. प्रथम त्यांना कूर्मभगवानाची मूर्ति शिवस्वरूपांत प्रतीत झाली व नन्तर त्यांहि विष्णुरूप समजून कूर्मभगवानाची सेवा केली. नन्तर हे स्थान माध्व सांप्रदायिक मंडळीच्या स्वाधीन झाले. दक्षिण-तीर्थात ह्या तीर्थाची फार मोठी प्रतिष्ठा आहे. महाप्रभुंनी मंदीरांत प्रवेश करताच कूर्म–भगवानाचे दर्शन केले व ते आनंदाने नृत्य करू लागले. प्रभुंचे हे अलौकिक नृत्य पाहून तेथे पुष्कळसे नरनारी एकत्रित झाले व प्रभुंचे देवदुर्लभ दर्शनाने त्यांही स्वताचे सार्थक केले. भावावेशांत येऊन प्रभु पुष्कळ वेळपर्यन्त नृत्य व कीर्तन करीत होते.

पुष्कळ वेळानंतर प्रभु तेथेच बसले, तेव्हा कूर्म नामक एका सदाचारी ब्राह्मणाने प्रभुचे चरणवन्दन करून म्हटले की, 'मी निर्धन दीन हीन ब्राह्मण आहे. आज आपण माझे घर पावन करावे'.

प्रभुंनी प्रसन्नतेने म्हटले–'विप्रवर! आपण असे कां म्हणता? ब्राह्मण तर श्रीहरीचे मुख आहे, आपणासारखे विनयी ब्राह्मणाचे आतिथ्य ग्रहण करण्यांत मी स्वतास महा भाग्यवान् समजतो'.

ब्राह्मण अस्ताव्यस्तपणे घरीं दौडत आला व त्याने आपले पत्निस हे

वृत्त सांगीतले. त्या पतिप्राणा-साध्वी-ब्राह्मणपत्निने पुष्कळसे पदार्थ भोजनासाठी तयार केले व लागलीच त्या ब्राह्मणाने महाप्रभुस बोलावून आणीले. ते घरीं येताच त्याने महाप्रभुचे स्वहस्ताने पाद-प्रक्षालन केले व ते पादोदक स्वयं प्राशन करून सर्व परिवारास प्राशन करविले. नन्तर प्रभुंना एका आसनावर बसवून हळू हळू भगवन्तांचा प्रसाद आणून प्रभुचे सन्मुख ठेविला. ते प्रेमाने तयार केलेले नानाप्रकारचे सुन्दर, सुस्वादु पदार्थ व त्यावर ठेविलेल्या तुलसी मंजुऱ्या अवलोकन करून प्रभु फारच प्रसन्न झाले व श्रीहरीचे स्मरण करीत करीत त्यांही प्रसाद ग्रहण केला.

प्रभुचे भोजन झाल्यावर दुसरे बाजूस त्यांचे आरामाची व्यवस्था केली व प्रभुचे अवशेषअन्न प्रसाद समजून त्या ब्राह्मणने आपले सर्व परिवारासह ग्रहण केले. महाप्रभु विश्राम करीत असताना तो ब्राह्मण प्रभुचे पाय दाबू लागला व दाबीत असता तो म्हणतो-'प्रभो! हा गृहस्थपणाचा व्याप फारच त्रासदायक आहे. ह्यांत राहून प्रभु-चिन्तन होऊच शकत नाही. मी आता ह्या मायाजालास अगदी कंटाळलो आहे. तेव्हा आपण मला आपले चरणांचा आश्रय देऊन माझा उद्धार करावा हीच ह्या श्रीचरणांजवळ प्रार्थना आहे'.

ब्राह्मणावर प्रभु फार प्रेम प्रदर्शित करीत म्हणाले-'विप्रवर! भगवत्-सेवा समजून तुम्ही घरांतील सर्व कामे करीत राहा. घरांत राहूनच श्रीकृष्ण-कीर्तन करा व अन्य लोकासहि असाच उपदेश करा. मी दक्षिण-यात्रा पुरी करून जगन्नाथास जाईं तो तुम्ही येथेच राहून भगवन्नाम संकीर्तनाचा प्रचार करीत राहा'.

त्याप्रमाणे त्या ब्राह्मणाने वर्तन करण्याचा निश्चय केला. रात्र तेथेच काढल्यावर प्रातःकालीं नित्यकर्म उरकल्यावर प्रभुंनी पुढील प्रस्थानास

प्रारंभ केला. कूर्म-ब्राह्मण प्रभुंना पोचविण्यास पुष्कळ दूरपर्यन्त गेला व प्रभुंनी परत फिरण्यास आग्रह केल्यावर तो दुःखित चित्ताने अश्रु-ढाळीत गावाकडेस परत फिरला.

ह्याच गावांत वासुदेव नामक एक परम वैष्णव ब्राह्मण राहत होता. साधु-महात्म्याचे ठिकाणी त्याचे फार फार प्रेम होते. प्रारब्ध-कर्मानुसार त्याचे सर्व अंगास गलित-कुष्ठ झाले होते. त्या योगे त्यास यत्किंचितहि क्लेश होत नव्हते. प्रारब्ध-कर्म-भोग समजून तो ते प्रसन्नतेने सहन करीत होता. त्याचे सर्व अंगावर क्षते पडली होती व त्यांत किडे पडले होते. वासुदेव ते किडे काढण्याची खटपट करीत नसे. उलट एकादा पडला तर तो त्यास उचलून पुन्हा त्या व्रणावर ठेवी व म्हणे-'बाबारे! तुम्ही जमीनीवर कोठे जाणार, कोणाचे पायाखाली येऊन चिरडले जाल, म्हणून तुम्हास हेच ठिकाण चांगले. येथे तुम्हास आहा-रहि मिळतोच आहे'. इतर लोक त्यास हंसत व त्यास वेडा म्हणत. परन्तु त्यास त्याची परवाच कोठे होती? आपले आराध्यदैवतास प्रसन्न करण्याचे त्याचे काम होते. लोक बकत असल्यास बकेनात कां!

सकाळीं त्याने ऐकले कीं, 'कूर्म-ब्राह्मणाचे घरीं कोणी एक तेजस्वी रूप-लावण्ययुक्त तरूण भगवद्भक्त विरक्त संन्यासी आले आहेत. त्यांचे दर्शनमात्रानेच हृदयांत पवित्र भावनांचा संचार होतो व जिव्हा आपसुकेकरूनच 'हरि हरि' म्हणू लागते'. हे ऐकताच तो कूर्म-ब्राह्मणाचे घरीं दौडत आला. तेथे आल्यावर त्यास समजले कीं, प्रभुतर थोड्या वेळा-पूर्वीच तेथून पुढे निघून गेले. हे ऐकताच तो कुष्ठीब्राह्मण जमीनीवर धाडकन् पडला व करुण स्वराने रुदन करीत विलाप करू लागला-'हाय, हाय! मी कोण हतभागी कीं, प्रभुंचे दर्शनहि मला लाभले नाही. हे जगत्पते! माझे रक्षण करा! ह्या लोकनिन्दित दीन हीन कंगालाचे

वर कृपा करून आपले दर्शनाने ह्या अधमास कृतार्थ करा. हे अन्तर्यामिन्! आपण तर घट-घट व्यापी आहा. आपणच साधु, सन्त, भक्त व संन्यासी आदि वेशाने पृथ्वीवर पर्यटन करून संसारपंकी रुतलेल्या निराश्रित जीवांचा उद्धार करीत फिरत आहा. भगवन्! मला तर दुसरा कांहीच आश्रय नाही. कुटुंब-परिवाराने माझा परित्याग केला, समाजांत मी अस्पृश्य समजला जात आहे, कोणी माझेशी बोलत सुद्धा नाही. आपणच केवल माझे आश्रयस्थान आहा. मला दर्शन न देता आपण पुढे कां निघून गेलात?'

असेच म्हणावे लागते कीं, वासुदेवाचा तो करुण ध्वनि दुरूनच प्रभुंनी ऐकला. ते एकदम मार्गांतून परत फिरले व कूर्म-ब्राह्मणांचे घरीं येऊन रडत असलेल्या त्या वासुदेवास त्यांही मोठ्या प्रेमाने हृदयास घट्ट आवळून धरले. भयाने कांपत व जोराने मागे सरकत सरकत वासुदेव म्हणाला–'भगवन्! आपण मला स्पर्श करू नका. मला गलित कुष्ठ झालेलें आहे. नाथ! आपले सुवर्णतुल्य शरीरास ही लस लागेल. प्रभो! ह्या पाप्याला आपण स्पर्श करू नका'. परन्तु प्रभु कोठे ऐकणार होते! ते तर भक्त-वत्सल होते. वासुदेवास दृढ आलिंगन देत ते म्हणाले– 'वासुदेव! तुम्हासारखे भगवद्भक्ताच्या स्पर्शाने मी स्वतःस पावन करीत आहे'.

प्रभुचे आलिंगन घडून येताच, कोण जाणे, वासुदेवाचे शरीरावरील कुष्ठ कोठे निघून गेला! बोलता बोलता तो एकदम स्वस्थ झाला व त्याचे सर्व शरीर सुन्दर सुवर्णाप्रमाणे चमकू लागले. प्रभुचा ह्या प्रमाणे कृपाळुपणा पाहून नेत्रांतून अश्रु ढाळीत अगदी दाटलेल्या कण्ठाने वासुदेव म्हणू लागला. 'प्रभो! आपण मजसारखे पाप्याचा उद्धार करून आपण आपले पतितपावन हे नाव सार्थ केले. पतितास पावन

करणे हें तर आपले ब्रीदच आहे. मी मायामोहांत फसलेला अल्पज्ञ प्राणी आपली स्तुति करूच कशी शकणार? आपले विशद विरुदावलीचे वर्णन करणे मनुष्य-शक्तिचे बाहेरचे आहे. आपण नररूपी साक्षात् नारायणच आहात. प्रछन्नवेषधारी आपण श्रीहरिच आहा. आपला महिमा अपार आहे'. इतके म्हणता म्हणताच त्याचा कण्ठ दाटून आला व तो मूर्छित होऊन प्रभुचे पायापाशी पडला. प्रभुंनी त्यास स्वहस्ते उठावेले व भगवन्नामाचा उपदेश करून नित्यप्रति श्रीकृष्ण कीर्तन करीत रहाण्याचा शिक्षा दिली. याप्रमाणे दोघांनाहि आलिंगन देऊन प्रभु पुढे निघून गेले.

कूर्मोचलाहून प्रभु कित्येक गांवे ओलांडून 'जियड्नृसिंह' नामक तीर्थास पोंचले. तेथे नृसिंहभगवानाची स्तुति-प्रार्थना करून पुष्कळ वेळ पावेतो कीर्तन केल्यावर लोकांना भगवन्नामाचा उपदेश करीत महाप्रभु पुण्यतोया गोदावरीचे तटाकी पोंचले. तेथील प्राकृतिक छटा पाहिल्यावर प्रभुंचे हृदय नृत्य करू लागले. त्यांना एकदम वृन्दावनाचे भान आले. मनांत त्याही विचार केला, ह्याच ठिकाणीं सार्वभौम भट्टाचार्यांनी राय रामानन्दांची भेट घेण्यास सांगितले आहे. ते येथील शासनकर्ते राजे आहेत. त्यांची भेट कशी होणार? ह्याच विचारांत प्रभु गोदावरीच्या अगदी तटाकी आले व तेथें एका स्थानावर बसले.

# राजे रामानन्द राय

वाञ्छा सज्जनसंगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवाद्भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्ति-खले
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्त्येभ्यो नरेभ्यो नमः ॥

यौवन, धन, सम्पत्ति व प्रभुत्व या चारांसहि अविवेकाचा संसर्ग झाल्यास ते नाशास कारणीभूत होतात. खरेच बोलावयाचे म्हणजे ह्या चारांच्याहि प्राप्तीने मनुष्य कांहीसा वेडाच होतो. धन-मद, जन-मद, तप-मद, विद्या-मद, अधिकार-मद, व यौवन-मद आदि अनेक प्रकारचे मदांमध्ये अधिकार-मद व धन-मद हे दोन्ही सर्वश्रेष्ठ मानले जातात. जो अधिकार प्राप्त झाला असता प्रमाद करीत नाही व धन प्राप्तीने ज्यास अभिमान होत नाही, त्यास साधारण मनुष्य समजू नये. त्यास तर अलौकिक महापुरुष म्हणावे. महा-भागवत राय रामानन्द असेच वन्दनीय महापुरुष होते.

राय रामानन्दाच्या पित्याचे नाव राजा भवानन्द होते. ते जगन्नाथपुरीपासून तीन कोसावर अलालनाथाचे समीप राहात होते. ते जातीने करणवंशी कायस्थ होते. त्यांना राय रामानन्द, गोपीनाथ पट्टनायक, कलानिधि, सुधानिधि व वाणीनाथनायक असे पांच पुत्र होते. ते उडिसाच्या महाराजांचे दरबारीं एक प्रधान कर्मचारी होते. त्यांचे तीन पुत्रहि महाराजांचे दरबारीच मोठमोठे अधिकारावर असून राजकारभार करीत होते. गोपीनाथ कटक-दरबाराच्या विद्यमाने मालजेठा प्रदेशाचे शासक होते. वाणीनाथ दरबारांतच एका उच्च पदावर प्रतिष्ठित असून राय रामानन्द उत्कल देशाचे अन्तर्गत विद्यानगर राज्याचे शासक होते.

आम्ही ह्यापूर्वीच सांगून गेलो आहोत कीं, तत्कालीं भारतवर्षांत लहान लहान शेकडो स्वतन्त्र राज्ये होतीं. आपआपले छोटेसे प्रदेशाचे शासक नृपतिगण सनातन परिपाठानुसार धर्मास प्रधान-स्थान देऊन प्रजेचे पालन करीत होते व क्षत्रीय-धर्मानुसार युद्धहि करीत होते. तैलंग देशांतहि पुष्कळशी लहान लहान राज्ये होतीं. त्यांत 'कोटदेश' नावाचे एक लहानसे राज्य होते, ज्याची राजधानी विद्यानगर ही होती. वर्तमान-कालीं गोदावरीचे उत्तर तटावर असलेले राजमहेन्द्री हेच त्या प्रदेशाचे प्रधान नगर म्हटले पाहिजे. परन्तु पूर्वीचे विद्यानगर तर गोदावरीचे दक्षिण तटावर अवस्थित होते व ते वर्तमान राजमहेन्द्रीपासून दाहाबरा कोस दूर होते. पुष्कळ लोक विजयनगरासच विद्यानगर समजतात. परन्तु नामसाम्य असल्यामुळे हा केवल भ्रमच आहे.

आमचे पाठकवर्गास हे तर ह्या पूर्वीच माहित झाले आहे कीं, उत्कल देशाचे तत्कालिन महाराज पुरुषोत्तमदेवाने विद्यानगरचे राजास युद्धात पराजित करून त्याचा देश आपले राज्यांत मिळवून दिला होता. रामानन्दराय उत्कल राज्याचेच विद्यमाने ह्या राज्याचे शासक होऊन येथे आलेले होते. महाराजाकडून त्यांना 'राजा' व 'राय' ह्या उपाधि मिळाल्या होत्या.

राय महाशय राज-कार्यांत प्रवीण, देश-काल जाणणारे, विनयी, शूर तथा सदाचारी पुरुष होते. फारशीचे पंडित असूनहि त्यांही संस्कृताचेहि चांगले ज्ञान मिळविलेले होते. संस्कृतसाहित्याचे त्यांही चांगले अनुशीलन केले होते. सर्व शास्त्रांत त्यांची प्रगती होती. विद्याव्यासंगी असल्याने त्यांचा सार्वभौम भट्टाचार्यांशी अत्यधिक स्नेह होता. ते जेव्हा राज-काजानिमित्त उडीसा येथे जात, तेव्हा पुरीस जाऊन सार्वभौमांना

भेटत व त्यांचेशी शास्त्रालोचना करीत असत. सार्वभौमहि ह्यांचेवर मनःपूर्वक प्रेम करीत होते. दोघेहि कविताप्रिय होते.

राय रामानन्द करणवंशी कायस्थ होते. तरीहि त्यांचा आचार-विचार अत्यन्त शुद्ध व पवित्र होता. त्यांची देवता व ब्राह्मणाचे ठिकाणी फार श्रद्धा होती. वैदिक श्रौत स्मार्त कर्माचे ते विधिवत् अनुष्ठान करीत होते व धर्मपूर्वक शासनाचे कार्य करीत असताहि सदा-सर्वकाल श्रीकृष्णचरणारविंदी त्यांचे मन लागलेले असे.

एके दिवशीं ते प्रातःकालीं पुष्कळशा वैदिक ब्राह्मणांसहित नित्या-प्रमाणे पतितपावनी पुण्यतोया गोदावरीवर स्नानासाठी आले. पुष्कळ वेदज्ञब्राह्मण त्यांचेबरोबर स्तोत्रपाठ करीत करीत येत होते. पुढे कांही वाद्ये वाजत होती. ह्या प्रमाणे मोठे परिवारासह हे गोदावरीचे तटावर पोचले. वाद्ये बन्द झाली. ब्राह्मणांनी व ह्यांनी गोदावरीचे स्वच्छ, शीतल जलांत स्नान केले व नन्तर नित्यकर्म उरकल्यावर ब्राह्मणांना यथेष्ठ दक्षिणा देऊन हे आपले राजधानीकडेस जाण्यास निघाले.

त्याचवेळीं त्यांही दुरूनच एकटेच वृक्षातळीं बसलेले एका युवान् काषाय-वस्त्रधारी, परमरूपलावण्ययुक्त अशा संन्याशास पाहिले. कोण जाणे, त्या संन्याशांत काय जादू भरलेला होता. त्यांस पाहताच राय रामानन्द मन्त्र-मुग्धसेच झाले. त्यांही पाहिले, संन्याशाचे अंग-प्रत्यगांतून मधूरिमा निघून निघून त्या निर्जन प्रदेशास मधुमय आनन्दमय व उल्लासमय करीत होत्या. गोदावरीचा तो शान्त एकान्तप्रदेश त्या नवीन संन्याशाचे प्रभेने प्रकाशितसा झाला होता. संन्याशीहि आपला एक पाय दुसरे पायावर ठेवून सारखा टक लावून रामानन्द रायाकडेसच पाहात होते. त्याचे चेहेऱ्यावर प्रसन्नता, उत्सुकता व उन्मत्तता दिसत असून

कोणाशी तरी तन्मयता प्राप्त करण्याची उत्कष्ट इच्छा सर्व दिसत होती. संन्याशी कांही विचारांत असल्याने त्यांचे निंबफलासारखे अरुणओष्ट आपोआपच हालत होते. राय महाशय स्वतास विसरले. त्या संन्याशाने असा कांही मोहिनी मन्त्र टाकला कीं, ते आपले पालखीकडेस न जाता, त्या संन्याशाकडे जाऊ लागले. त्यांचे सेवकादि सर्व त्यांचे मागोमाग चालले.

पाठकांच्या लक्षांत येऊन चुकले असेलच कीं, हे नवीन संन्यासी आमचे प्रेम-पारसमणि श्रीचैतन्य महाप्रभुच होते. स्नानादि नित्यकर्म आटोपून महाप्रभु विचारांतच होते कीं, राय रामानन्दाची कसे रीतीने भेट होईल, तोंच त्यांचे कानावर वाद्यांचा ध्वनि आला. प्रभुंनी तिकडे दृष्टिपात् करताच त्यांचे दृष्टीस पडले कीं, बाजेवाल्यांचे मागे एका सुन्दरशा पालखींतून एक परम सुन्दर पुरुष येत आहे. त्याचे चहुबाजूस बरेच लोकांची गर्दी आहे. त्यास पाहताच प्रभुस वाटले कीं, हो, न हो, हेच राय रामानन्द असले पाहिजेत. तो पुरुष पालखीकडेस न जाता आपणाकडेस येत असलेला पाहताच, त्यांचे अन्तःकरण प्रेमाने उचंबळून आले व त्यांचा निश्चय झाला कीं, राय रामानन्द ते हेच. ह्यांना दौडत जाऊन आलिंगन द्यावे असे महाप्रभुंना वाटूं लागले, परन्तु कांही कारणाने त्यांही हा आपला भाव आवरून धरला. इतक्यांतच त्या समृद्धशाली पुरुषाने अगदी जमीनीपर्यन्त लवून प्रभुंचे चरणीं प्रणाम केला. त्यांस प्रणाम करतांना पाहताच प्रभुंनी अत्यन्त स्नेहपूर्वक विचारले–'काय, आपलेच नाव राय रामानन्द ना?'

दोन्ही हाताची अंजली करून अत्यन्त नम्रपणे राय महाशयांनी उत्तर दिले–'भगवन्! ह्याच दीन हीन, भक्ति-विहीन शूद्राधमास राय रामानन्द म्हणतात'.

इतके ऐकताच प्रभुंनी उठून रामानन्द रायांचे अलिंगन केले व मोठे स्नेहाने म्हणू लागले–'राय महाशय! मला सार्वभौम भट्टाचार्यांनी आपला परिचय दिलेला आहे, त्यांची आज्ञा शिरोधार्य करून, केवल आपलेच दर्शनाच्या इच्छेने मी विद्यानगरास आलो आहे. आपली भेट कशी होईल ह्याच विचारांत मी होतो, तोच कृपासागर प्रभुंचा अनुग्रह तर पाहा, अकस्मातच आपले दर्शन झाले. आज आपले दर्शनाने मी कृतार्थ झालो. माझी सर्वयात्रा सफल झाली. माझे संन्यास धेणें सार्थक झाले, कीं, आपणासारख्या परम भागवत भक्ताचे दर्शन मला झाले'.

हात जोडून दीनपणे रामानन्द म्हणतात–'भगवन्! मला तर असे प्रतीत होते आहे कीं, माझे अनन्त जन्माचे पुण्याचा उदय झाला आहे, कीं, साक्षात् नारायणस्वरूप आपण संन्यास–वेषाने मला पावन करण्यासाठी येथे आलात. भट्टाचार्य महाशयांची मजवर सदाची अहैतुकी कृपा आहेच. ते पुत्राप्रमाणे, शिष्याप्रमाणे, सेवक वा संबंध्याप्रमाणे मजवर नेहेमी अनुग्रह करीतच असतात. प्रतीत होत आहे कीं, त्यांचेवर आपली असीम कृपा आहे, तेव्हातर त्याचे आग्रहाचा स्वीकार करून आपण मला आपले दर्शनाने कृतार्थ केले. माझा जन्म हलके जातीत झालेला असून, मी रात्रंदिवस लोकनिन्दित राजकार्यात गढलेलो आहे. विषय सेवनांतहि माझा समय व्यतीत होतो आहे. अशा विषयी व परमार्थ-पथ-विमुख अधमास आपण आलिंगन दिले, ही आपली दीनवत्सलता आहे. ह्यांत माझा काय पुरुषार्थ आहे? आज मजसारखा भाग्यवान् जगांत कोण आहे? मी माझे भाग्याची काय प्रशंसा करू? प्रभुंनी ह्या आधमाची इतकी स्मृति ठेविली, हे मी कोणते पुण्याचे फळ समजू?'

महाप्रभु म्हणतात–'राय महाशय! आपले मुखाने श्रीकृष्णकथा

श्रवण करावी म्हणून तर मी येथे आलो आहे, कृपा करून श्रीकृष्ण-कथा ऐकवून मला कृतार्थ करावे'.

रामानन्दांनी उत्तर दिले–'भगवन्! संसार–पंकांत फसलेला हा मायाबद्धजीव, बरे, श्रीकृष्ण-कथांचे आपले सन्मुख कथन करणारच कसे? आपण तर साक्षात् श्रीहरिचे स्वरूपच आहात'.

प्रभुने म्हटले–'संन्यासी समजून आपण माझी प्रवञ्चना करू नका. सार्वभौम महाशयांनी माझे शुष्कहृदय सरस व्हावे म्हणून तर मला येथे पाठविले आहे. आपण मला भक्ति–तत्वज्ञान देऊन माझे मलीनमन विशुद्ध करावे'.

ह्याप्रमाणे ह्या उभयतांच्या गोष्टी चालु असता एका वैदिक ब्राह्मणाने येऊन प्रभुस भोजनाचे निमन्त्रण दिले. राय महाशयहि समजून चुकले कीं, ह्या एवढ्या गर्दीमध्ये ह्या महापुरुषाशी अन्तरिक गोष्टी करणे बरे नाही. अतः 'पुन्हा दर्शनास येईन' असे म्हणून रामानन्दांनी आपले स्थानीं जाण्याची प्रभुजवळ आज्ञा मागीतली. प्रभुंनी अत्यन्त स्नेहभावाने म्हटले–'विसरू नका, अवश्य यावे, आपण भेटल्याने मला फार आनन्द झाला आहे. आपले मुखाने श्रीकृष्ण–कथा ऐकण्याची उत्कठ इच्छा झालेली आहे. कां याल ना?'

मस्तक नत करून रामानन्द हळूच म्हणाले–'अवश्य येईन, श्रीचरणाचे दर्शनाने मी स्वतास कृतार्थ करीन. आपण ह्या अधमावर इतका अपार अनुग्रह केला आहे, तेव्हा कांही कालपर्यन्त तर येथे निवास करून मला आपले संगतीचे सुख द्यावे. मी इतका मोठा पापी आहे कीं, केवल आपले दर्शनानेच माझा उद्धार होणार नाही.' असे म्हणून राय महाशयांनी प्रभुंचे पादपद्मीं प्रणाम केला. इकडे प्रभुहि त्या ब्राह्मणाचे घरीं भिक्षा करण्यास गेले.

# राय रामानन्दद्वारा साध्यतत्वप्रकाश

उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम् ।
विभावयन समृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहम् ॥

सुखदायक सन्ध्यासमय झाला आहे, सूर्यदेव आपले समस्त रश्मि-सहित अस्ताचलांतील लालगुहेंत घुसले आहेत. भगवान् अंशुमालीचे अनुसरण करीत पक्षिवृन्दहि आपआपले कोटरांत शिरून गुपचूप शयन करीता झाला. मधूररतीचे उपासक आपले प्रियवस्तुस भेटण्यासाठी उत्कण्ठित होऊन भगवती निशादेवीच्या बरोबर आराधनेंत गुंग झाले आहेत. संसारीजन निजत आहे तर विषयी विषयचिन्तनांत निमग्न आहे. संयमी जाग्रण करीत त्या अखण्ड ज्योतिचे ध्यान करीत आहेत. महाप्रभुहि एकान्तात बसून राय महाशयांची मार्गप्रतिक्षा करीत आहेत.

सायंकाल झाल्यावर राय रामानन्द एक साधारण सेवक बरोबर घेऊन प्रभुचे निवासस्थानाकडेस निघाले. दुरूनच त्यांही प्रभुस प्रणाम केला, प्रभुंनी त्यांना उठवून आलिंगन दिले. क्षणभर दोघानीहि मौनच धरले. थोडे वेळाने प्रभु म्हणतात–'राय महाशय! आपले मुखाने कांही श्रीकृष्ण–कथा ऐकण्याची माझी इच्छा आहे. आपण मला दाखवून द्या कीं, ह्या संसारांत मनुष्याचे मुख्य कर्तव्य काय आहे? आपण ज्ञानी आहात, भगवद्भक्त आहात, म्हणून मला साध्य–साधनाचे तत्व समजावून द्या'.

रामानन्दांनी विनीत भावाने म्हटले–'आपण माझे द्वारा आपले मनोगतभाव प्रकट करण्याचे इच्छित आहा. ठीक आहे, माझे अन्तः-करणांत जी प्रेरणा होत आहे, ती मी आपलेच कृपेकरून आपणा सन्मुख प्रकट करतो. सांगा, प्रथम काय सांगू?'

प्रभुंनी सांगीतले–'मनुष्याचे जे कर्तव्य आहे, त्याचे कथन करा'.

राय महाशय म्हणाले–प्रभो ! मी समजतो—

**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः**

अर्थात् आपआपले वर्णाश्रम धर्माप्रमाणे अनुकुल कर्म करीत राहिल्याने मनुष्य परमसिद्धि प्राप्त करून घेऊ शकतो. अतः जो ज्या वर्णात आहे, त्यांतील कर्म करीत असता, तद्द्वारा विष्णुभगवानाची आराधना करू शकतो. वर्णाश्रमधर्म सोडून भगवत् प्राप्तीचा दुसरा सरल, सुगम व सुकर असा उपाय मला तर सूचत नाही—

**वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।**
**विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम् ॥**

शास्त्रांमध्येहि ठिकठिकाणीं वर्णाश्रमधर्मावर अत्यधिक जोर दिलेला आहे. श्रीमद्भगवद्गीतेमध्ये तर ह्याच प्रमाणे वर्णाश्रमधर्मानुसार कर्म करण्याचाच आग्रह केलेला आहे.

महाप्रभु राय महाशयाचे मुखाने वर्णाश्रमधर्माची ही प्रशंसा ऐकून फार प्रसन्न झाले. हासत मुखाने ते म्हणाले–'राय महाशय! हे आपण फार चांगले सांगितले. संसारांत मनुष्याने वर्णाश्रमधर्माचे पालन करणेच श्रेयस्कर आहे. जीव पाप-पुण्य ह्या दोहींच्या मिश्रणाने मनुष्य-शरीर प्राप्त करतो, म्हणून ज्यांची वासना विषयभोगांत गुंतलेली आहे, त्यांचेसाठी धर्म, अर्थ व कामरूपी त्रिपुरुषार्थयुक्त धर्माचे विधान सांगीतले आहे. जर मनुष्य स्वेच्छेने विषय-भोग-रत होईल तर तो पतित होईल, म्हणून धर्माची अडकाठी ठेविलेली आहे. धर्मपूर्वक वर्तन केल्याने मनुष्यास स्वर्गप्राप्ति होते; परन्तु स्वर्गसुख अस्थायी असल्याने पुण्य क्षीण होताच त्यास पुन्हा अधोगति प्राप्त होते.

प्रभुंचे हे म्हणणे ऐकताच रामानन्द म्हणाले-'प्रभो! ह्याचा तर एकच उपाय आहे कीं, कर्मांमध्ये आसक्ति न ठेविणे, निष्काम भावनेने कर्मे केली जावीत. सकामकर्मे फलदायी होतात, परन्तु भगवत्प्रीत्यर्थ कर्मे केल्याने कोणतेच प्रकारे फल उत्पन्न होत नाही'.

महाप्रभु म्हणतात-'हे आपण फार चांगले सांगीतले,-खरोखर जर निष्काम भावनेने कर्म केले जाईल तर ते त्रैलोक्यांतील सुखांचे वर घेऊन जाईल, परन्तु त्यायोगे आत्मशुद्धि मात्र होते, ती कर्मे मुक्तिस प्रधान हेतु न होता गौण होतात, अर्थात् त्याचे फल ज्ञान नसून आत्मशुद्धि हा आहे'.

रामानन्दांनी म्हटले-'प्रभो! जर आपण निष्काम कर्मासहि श्रेष्ठ मानीत नाही, तर सर्व प्रकारचे कर्मांचा स्वरूपतः परित्याग करून निरन्तर श्रीभगवन्ताचे भजनच करीत राहिले पाहिजे. वास्तविक पाहिले तर कर्म कसे कां कराना, त्या योगे त्रितापाची निवृत्ति होत नाही. म्हणून त्रितापाने सन्तप्त झालेले प्राण्यास सर्व धर्माचा परित्याग करून प्रभुंचे पादपद्मास शरण जाणे हाच उपाय, असे मी समजतो' भगवन्तांनी गीतेंत हाच उपदेश अर्जुनास दिलेला आहे (गी. १८-१६, ५-११).

प्रभुंनी हसत म्हटले-'राय महाशय! दिसून येत आहे कीं, आपणापासून कोणतेच शास्त्र सुटले नाही. आपण शास्त्रांचे विधिवत् अध्ययन केले आहे. हा जो शरणापत्ति-धर्म आपण सांगीतला, तो सर्व-श्रेष्ठ धर्म आहे, परन्तु तो तर संसार-ताप-तप्त अशा साधकासाठी आहे, कारण ते तापांच्या अत्यन्ताभावाचे इच्छुक असतात. जे साधक ह्याहिपेक्षा उच्च कोटीचे आहेत व ज्यास संसारी तापाचे भानहि नाही, अशांचेसाठी आणखी एकादा उपाय दाखवा'.

तेव्हा तर रामानन्द राय कांहीसे विचारांत पडले व थोडे वेळा-

नन्तर सांगू लागले–'प्रभो ! मला असे वाटते की, समभावाने अवस्थित राहून व सत्-असत् ह्याचा विचार करीत, भगवन्ताची निरन्तर भक्ति करीत राहणेच मनुष्याचे मुख्य कर्तव्य आहे'.

प्रभुंनी म्हटले–'हे तर फारच उत्तम, परन्तु ज्यास खऱ्या आनन्दाची इच्छा आहे, त्याच्याच्याने दोन गोष्टींचा विचार कसा होऊ शकणार ? द्वैधीभावच तर भयाचे कारण आहे. सत्-असत्चा विचार फार उत्तम आहे, परन्तु त्यात मला सरसपणा वाटत नाही. एकादा सरस-सा उपाय दाखवा'.

तेव्हा भक्ताग्रण्य रामानन्द महाशयांनी गर्जना करून म्हटले–'प्रभो ! भगवन्ताची विशुद्ध भक्तिच सर्वश्रेष्ठ व मनुष्याचे मुख्य कर्तव्य आहे'. ब्रह्मदेवाने श्रीमद्भागवतांत भगवन्ताची स्तुति करीत म्हटले आहे—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि–
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥

अर्थात् 'हे अजित ! जो मनुष्य ज्ञानाकरिता कांहीच प्रयत्न न करता केवल साधु-सन्तांचे स्थानावर अवस्थित राहून त्यांचे मुखाने आपले गुणानुवादाचेच श्रवण करीत राहातो व मन, वचन तथा कर्माने आपणास नमस्कार करून जीवन व्यतीत करतो, तोच त्रैलोक्यांत आपणास प्राप्त होऊ शकतो'.

राय रामानन्दाचे मुखांतोन हा श्लोक ऐकताच प्रभु फारच हर्ष भरीत झाले. त्यांही प्रसन्नतेने म्हटले–'खरोखर सार्वभौमांनी आपले शास्त्रज्ञतेची माझेजवळ जशी प्रशंसा केली होती त्याचे प्रत्यन्तर पूर्णपणे

आपणामध्ये मला दिसून आले. मनुष्याचा परम पुरुषार्थ व सर्वश्रेष्ठ धर्म भगवान् मधुसूदनाची अहैतुकी भक्ति करणे हाच आहे. म्हणून हे तर मला मान्यच आहे, परन्तु भक्ति कसे प्रकारे करावी, हे तर सागा ?'

रामानन्दांनी सांगीतले-'प्रभो ! प्रेमपूर्वक भक्ति करण्यानेच इष्ठ सिद्धि होते. भगवान् प्रेममय आहे, प्रेम हेच त्यांचे स्वरूप आहे, ते रसराज आहेत, म्हणून होईल त्या रीतीने त्या रसार्णवांत शिरून पुष्कळ डुबत राहिले पाहिजे, कारण—

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः
क्रियतां यदि कुतोऽपि लभ्यते ।
तत्र लौल्यमपि मूल्यकेवलं
जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते ॥

अर्थात् मनुष्याने श्रीकृष्ण-भक्ति रस भाविकमति होऊन जसा प्राप्त होईल त्या रीतीने तो प्राप्त करून घेतला पाहिजे. तो प्राप्त करण्याचे मूल्य काय ? त्याचे ठिकाणीं लोलुपता, लोभी भाव, सदासर्वदा मनांत त्याची इच्छा, ह्या कोटि जन्मसुकृताने सुद्धा मनुष्य प्राप्त करू शकत नाही.

महाप्रभुंनी म्हटले--'धन्य आहे. खरी गोष्ट ही आहे कीं, 'रसो वै सः' रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तैत्ति० उ०) अर्थात् ते भगवान् स्वयं रस-स्वरूप आहेत. तो रस प्राप्त करून जीव आनन्दमय होऊन जातो. किन्तु अद्यापहि एक गोष्ट शेष राहतेच आहे. त्या रसाचे आस्वादन कोणते ना कोणते प्रकारचे संम्बन्धानेच केले जाते. म्हणून भगवन्ताशी कसा संबंध झाला म्हणजे त्या रसाचे आस्वादन केले जाईल, हे जाणण्याची माझी मोठी इच्छा आहे. कृपा करून हे विशद करून सांगावे'.

हे ऐकून राय महाशय म्हणू लागले–'प्रभो ! माझी समजूत अशी आहे कीं, भगवन्ताशी दास्य-भाव ठेविणे हाच सर्वश्रेष्ठ संबंध आहे. कारण दास्य-भावा विना प्रेम होऊच शकत नाही. शान्त, सख्य, वात्सल्य व मधूर ह्या सर्व रसांत लपून बसलेला दास्य-भाव अवश्य आहेच. मोठे अडचणीचे प्रसंगी वा संकटकालीं तो व्यक्तहि होतो. नन्दाचा भगवन्ताचे प्रतिवात्सल्यभाव होता. परन्तु जेव्हा मथुरेहून येऊन उद्धवाने भगवन्ताचा संदेश व्रजांत नन्दादि गोपांना ऐकविला व थोडे दिवस तेथे राहिल्यावर ते परत जाण्यास निघाले, तेव्हा अत्यन्त कातर-वाणीने दुःखी होऊन नन्द म्हणाले होते–'मनसो वृत्तयो न स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः' अर्थात् हे कृष्णा ! आमचे मनाच्या वृत्ति सदाहि श्रीकृष्णचरणांचा आश्रय करणाऱ्या असोत ! पुत्राप्रमाणे स्नेह करणारे पित्याचा दास्य-भाव घोर दुःखाचे वेळीं आपोआपच कसा परिस्पुटित होतो. त्याचप्रमाणे ब्रह्मदेव गाईंची वासरे चोरून घेऊन गेले व एक वर्षपर्यन्त भगवन्तांनी वासरांची रूपे घेऊन व्रजांत तशीच वासरे प्रकटावली व नन्तर सर्व वासरे ब्रह्मदेवाने परत पाठविली, तेव्हा बलरामांना हे समजले, त्यावेळीं त्यांचा दास्यभाव आपलेआपुणच व्यक्त झाला. ते भगवन्ताचा महिमा स्मरत म्हणू लागले—

**प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी ।**

अर्थात् ही सर्व माझे प्रभुची लीला आहे.

राधेचा भगवन्ताचे प्रति कान्तभाव होता. ती स्वाधीनपतिका होती. परन्तु रास–क्रीडेंत जेव्हा भगवान् एकाएकी अन्तर्धान होऊन गेले, तेव्हा तिचा दास्य–भाव प्रस्फुटित झाला व ती रडत रडत म्हणते– 'दास्यास्ते कृपणाया मे सखे ! दर्शन सन्निधम्' अर्थात्–'हे सखे ! तुम्ही मला आपले दर्शन द्या, मी तुमची दासी आहे'. विचार करा, जी दिन–रात्री आपले प्रियतमाकडून मानाचीच इच्छा करीत होती,

तिच्या मुखांत हे दास्य-भावाचे वचन शोभते कां ? परन्तु करणार काय, दास्य-भाव तर स्नेहाचा स्वामी आहे. म्हणून प्रभो ! दास्य-भावच मी सर्वश्रेष्ठ समजतो.

प्रभुंनी हसून उत्तर दिले-'असेल तसे, मी तुमचे म्हणण्याचा अस्वीकार करीत नाही. तरी पण दास्य-भावांत कांही संकोच अवश्य राहातोच. सेवकास आपले स्वामीचे ऐश्वर्य, मोठेपणा व मान-सन्मान ह्याकडेस लक्ष ठेवावे लागते. म्हणून निर्भयपणे आनन्द-रसाचे पान करण्यांत कांहीसा संकोच असतोच. मुळींच संकोच वाटणार नाही असा कांही संबंध दाखवा'.

तेव्हा तर रायरामानन्दांनी अत्यन्त उल्हासाने म्हटले-'तेव्हा तर प्रभो ! मी सख्य-संबंधास सर्वश्रेष्ठ समजतो. सख्य-प्रेमांत ऐश्वर्य, धन, मान, सन्मान ह्या गोष्टी मनांत येत नाहीत. गवळ्याची मुले भगवन्तावर रागावत होती, त्यांस गाई वळवून आणण्यास सांगत, त्याचे खांद्यावर चढत. अखिल विश्वाचा एकमात्र अशा त्या भगवान वासुदेवाबद्दल त्यांना कोणत्याही प्रकारे संकोच वाटत नव्हता. यथार्थ रस-स्वाद तर सख्य-प्रेमांत आहे'.

प्रभुंनी म्हटले-'सख्य-प्रेमाचे संबंधी काय बोलावे ? सख्य प्रेमच यथार्थ प्रेम आहे. परन्तु सख्य-प्रेम सर्वांना लाभत नाही. त्यांतही दुसऱ्याचे प्रेमाची अपेक्ष असतेच. प्रसंगीं अज्ञानपणे असा भ्रम झाला कीं, आम्ही ज्यावर प्रेम करतो, तो, आम्ही जितके त्यावर प्रेम करतो, तितके आमचेवर करीत नाही. असे प्रसंगीं स्वाभाविकच आमचे प्रेमांत कांही न्यूनता ही होणारच. तेव्हा प्रेमाचा असा एकाद संबंध दाखवा कीं, जो निरपेक्ष व वाटेल त्या स्थितींत एकरसच राहील'.

ह्यावर रामानन्द तात्काल म्हणाले-'प्रभो ! आपण म्हणता तो

दोष वात्सल्य प्रेमांत नाही. 'कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति'. सन्तान वाटेल तर प्रेम करो वा न करो, माता पित्याचे प्रेम त्यावर सदैव तसेच राहाते. म्हणून भगवान् व्यास म्हणतात—

**नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।**
**प्रसाद लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्॥**

अर्थात् प्रेमदात्या श्रीहरीची कृपा ज्याप्रमाणे यशोदेवर झाली, तशी कृपा ब्रह्मा, शिवाची गोष्टच कशाला, भगवन्ताचे हृदयांत सदैव निवास करणारे लक्ष्मीवरहि झालेली नाही, म्हणून वात्सल्य-भावच सर्वोत्तम उरतो.

अत्यन्त आनंदाने प्रभुंनी म्हटले–'राय महाशय! आपण तर रस–राजच आहा. आपणास कोणतीहि गोष्ट अविदित आहे असे नाही. वात्सल्य-रसाची भगवान् व्यासांनी भूरि–भूरि प्रशंसा केलेली आहे. तरीहि वात्सल्य-भावांत पूर्ण निर्भयता प्रतीत होत नाही. त्यांत मोठे-लहानपणाचा कांहीं अशाने कां होईना भाव हा आहेच. ह्या पुढे आपण असा कांही भाव सांगण्याचा प्रयत्न करा कीं, ज्यामध्ये ह्या विचारांचा अत्यन्ताभावच होऊन जाईल'.

राय महाशय म्हणाले–'प्रभो! ह्यापुढे आणखी काय सांगू, तो तर सांगण्याचा विषय नाही. खरोखर एकच भाव अवशेष आहे व त्यासच अन्तिम म्हटले जाते, तो म्हणजे 'कान्ताभाव'. झाले, ह्यांतच सर्व रसांची, सर्वत्रांची व सर्व संबंधांची परिसमाप्ति होत आहे'.

राय रामानन्दाचे मुखांतून हे ऐकताच प्रभुंनी त्यांना गाढालिंगन दिले आणि प्रेमांत विव्हळ होऊन प्रभु सद्गदित कण्ठाने म्हणाले– 'राय महाशय, आपण धन्य आहा, आपले कुल धन्य आहे, आपले

जननीसच वास्तवीकपणे जननी म्हणावे. आपले शास्त्रीय ज्ञान सार्थक आहे. इतके मोठे रहस्य–ज्ञान मला दाखवून आपण माझा उद्धार केला. परन्तु ह्याहिपेक्षा विशेष एकादा भाव आपणास माहिती असल्यास सांगा'.

प्रभुंनी ह्यांच्याहि पुढे विचारल्यावर राय महाशय अगदी चकीतच झाले व ते प्रभुचे मुखाकडे पाहात राहिले. बरेच वेळाने ते हळू हळू म्हणतात–'प्रभो! ह्याचे पुढे मला कांहीहि माहिती नाही'.

प्रभुंनी मधुर-स्वरांत म्हटले–'राय महाशय! आपणास कोणतीच गोष्ट अज्ञात नाही. आपण मला शुष्क हृदय, गृहत्यागी, वनवासी, संन्यासी समजून चकवू नका. अन्तिम साध्य-तत्त्वाचा आनधिकारी समजून आपण माझी उपेक्षा करता काय? आपण तर सर्व कांही जाणत आहा. कान्ता स्नेहापेक्षाहि उच्च कोटीतील जे कांही आहे ते कृपया सांगावे'.

राय महाशयांनी प्रभुंचे पादपद्मास धरून म्हटले—

**अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।**
**यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥**

झाले, पुरे झाले, प्रभो! ह्याचे पुढे कांहीच स्पष्ट करू शकत नाही. कारण कीं, हा विषय अत्यन्त गोप्य आहे. व्यासांनाहि ह्यास परम गुह्य समजून अप्रकटच ठेविले आहे. केवल संकेतानेच दर्शित केले आहे. झाले, ह्या पुढे मी कांहीहि बोलू शकणार नाही.

इतके ऐकताच प्रभु एकदम उठून उभे झाले व राय महाशयांना गाढ आलिंगन देत म्हणाले–'धन्य आहे, धन्य आहे! आपण तर प्रेमाची पराकाष्टाच केली. साध्यतत्वास आपण अगदी परिसीमेवर नेऊन भिडविले. खरोखर, राधिकेच्या प्रेमाची प्रशंसा करूच कोण

शकणार आहे? त्यांचेच सर्वश्रेष्ठ प्रेम आहे. आपण आता त्या दोघांच्या विलासाची पूर्ण महिमा ऐकवा'.

इतके ऐकताच राय महाशयांनी आपले कोकिलकूजित कमनीय कण्ठाने हा श्लोक लयपूर्वक म्हणण्यास सुरूवात केली—

**वाचासूचितशर्वरीरतिकलाप्रागल्भिया राधिकां**
**व्रीडाकुञ्चितलोचनां विरचयन्नग्रे सखी मानसौ।**
**तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपाण्डित्य पारङ्गतः**
**कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः॥**

पुरे झाले! पुरे झाले! हीच रासविलासाची पराकाष्ठा आहे.

प्रभु इतके ऐकून फारच आनंदित झाले. प्रभुंनी राय महाशयांना जोराने आलिंगन दिले व दोघेहि प्रेमांत प्रमत्त होऊन पृथ्वीवर पडले.

# राय रामानन्दांना साधान-संबंधी प्रश्न

सञ्चार्य रामाभिधभक्तमेघे
स्वभक्ति सिद्धान्तचयामृतानि ।
गौराब्धिरेतैरमुना वितीर्णै-
स्तज्ज्ञत्व रत्नालयतां प्रयाति ॥

दोघेही वेडे झालेले असावे, दोघांच्याही दृष्टिने संसारी पदार्थ निस्सार असावे, दोघेही कोणी एका मार्गाचे पथिक असावे आणि नंतर अशा दोघांचा एकान्तांत समागम व्हावा, त्यावेळच्या आनन्दाचे वर्णनच कसे होणार? ह्यासच अनिर्वचनीय आनन्द म्हणतात. ह्या आनन्द-रसाचे आस्वादन करणे सर्वांच्या भाग्यात लिहिलेले नसते. ज्याचेवर त्याची कृपा होईल, तोच ह्या आनन्दाचा अधिकारी होऊ शकतो.

राय रामानन्दाच्या मुखाने परमसाध्यतत्वाच्या गोष्टी ऐकून प्रभु म्हणतात–'राय महाशय, आपले असीम कृपेने मी परम साध्यतत्व समजलो. आता हे सांगा कीं, त्याची उपलब्धि कशी होते. साधनाचे ज्ञानावाचून साध्याचे ज्ञान व्यर्थ. म्हणून ज्या योगाने ह्या महाभावाची प्राप्ती होईल तो उपाय कृपा करून दाखवा?'

अत्यन्त अधीरपणे राय महाशय म्हणाले–'प्रभो! आपण सर्व समर्थ आहा, मी संसारी चिखलांत रुतलेला विषयीजीव बरे, साध्य-साधन तत्व जाणू शकणारच कसे? परन्तु आपण आपले मनांतील हेतूभाव माझेच द्वारा प्रकट करण्याचे इच्छित असल्याने, मीहि त्या विरुद्ध जाणारच कसा? तेव्हा माझे अन्तःकरणांत जशी प्रेरणा कराल तसे मी बोलेन'.

प्रभो! श्रीराधीकेचे प्रेम सामान्य नाही. संसारी सुखांतच आनन्द अनुभवणारे तर ह्याच्या श्रवणाचेसुद्धा अधिकारी नाही, म्हणून ह्यास परम गौप्य म्हटलेले आहे. ते तर व्रजांतील गोपीकांच पूर्णपणे जाणतात. त्यांच्याशिवाय दुसरे कोणाचा ह्यांत प्रवेश शक्य नाही. गोपीका इंद्रिय-सुखाच्या अभिलाषिणी नाहीत. त्यांना तर श्रीराधीकेच्यासह केलि करणारे श्रीकृष्णाच्या त्या कमनीय प्रेमलीलाच अत्यन्त प्रीय आहेत. त्यांना स्वतःसाठी कांहींहि नको. त्यांच्या संपूर्ण इच्छा, संपूर्ण भावना, संपूर्ण व्यवहार व मन, वाणी तथा इंद्रियांची संपूर्ण क्रिया त्या प्यारी-प्याऱ्याच्या विहारानिमित्तच होत आहेत. जो कोणी त्या अनिर्वचनीय रसाचे आस्वादन करण्याचे इच्छुक असतील त्यांही, आपल्या संपूर्ण भावना ह्याप्रमाणे त्यागमय व निःस्वार्थ केल्या पाहिजेत. गोपीभाव धारण केल्यावाचून कोणी त्या आनन्दामृताचे पानच करू शकणार नाही. गोपीकांचे प्रेमांत सांसारिकता नाही. ते विशुद्ध आहे, निर्मल आहे, वासना व इच्छा रहीत आहे. गोपीकांच्या विशुद्ध प्रेमाचेच नांव 'काम' आहे. ह्या संसारी 'कामा'स काम नाही म्हणत. त्या दिव्य-प्रेमभावाचेच नाव यथार्थतः काम आहे, ज्याची इच्छा उद्धव आदि भक्तगणसुद्धा निरन्तररूपाने करीत आहेत—

**प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथान्।**
**इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥**

(गौतमी तन्त्र)

कोणी म्हणेल कीं, जपाने, तपाने, वेदाभ्यास अथवा यज्ञ-यागद्वार आम्ही रस-सागरांत प्रविष्ट होण्याचे अधिकारी होऊ, तर ती त्यांची चूक आहे. त्या अमृतरूपी महासागराचे समीप पोचण्यास तर भक्तिच काय ते एकमात्र साधन आहे, व्यासदेव म्हणतात—

**नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।**
**ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥**

अर्थात् 'नन्दनन्दन भगवान् वासुदेव ज्या प्रकारे भक्तांना भक्तिने सहज प्राप्त होतात, तसे देहाभिमानी, कर्मकाण्डी तथा ज्ञानाभिमानी पुरुषास प्राप्त होऊ शकत नाही'. म्हणूनच तर गोपीकांचे प्रेमास सर्वोत्तम म्हटलेले आहे—

**यदपि जसोदा नन्द अरु ग्वालबाल सब धन्य ।**
**पै या रसकूं चाखिके गोपी भई अनन्य ॥**

'गोपींच्या प्रेमाची बरोबरी कोण करू शकणार आहे? रास-विलासाच्यावेळीं ज्याच्या भुजदण्डाचा आश्रय ग्रहण करून ज्या गोपीका धन्य झाल्या आहेत, त्यांच्या पदधूलीचे वाचून कोणी प्रेमाचा अधिकारी होऊच शकत नाहीं.'

प्रभुंनी राय महाशयाची फार फार प्रशंसा केली. ह्या प्रमाणे रात्र-भर दोघामध्ये गोष्टी होत होत्या.

ह्याप्रमाणे दोघेहि रोज प्रातःकालीं निराळे होत व रात्रौ पुन्हा त्या प्रेमसरोवरासमीप एकत्र होत. ह्या प्रमाणे कित्येक दिवसपर्यंत हा सत्संग व साध्य-साधन निर्णय होत होता. एके दिवशीं प्रभुंनी राय महाशयांना अत्यन्त रहस्यमय गूढ प्रश्न विचारले. ज्यांची उत्तरे रायांनी भगवन् प्रेरणेने यथातथ्य दिली. प्रभुंनी विचारले–'राय महाशय! मला सर्व विद्येमध्ये श्रेष्ठ पराविद्या कोणती ते सांगा कीं, ज्यापेक्षा श्रेष्ठ अशी कोणतीहि नसावी?'

रायांनी कांहीसे लज्जितपणे म्हटले–'प्रभो! मी काय सांगणार, श्रीकृष्ण भक्तिच्या अतिरिक्त दुसरी सर्वोत्तम विद्या असूच कोणती शकणार? त्यासाठीच परिश्रम करणे सार्थक आहे, शेष सर्व व्यर्थ'.

'श्रीकृष्णेति रसायनं रस परं शून्यैः किमन्यैः श्रमैः'

प्रभुंनी विचारले–'सर्वश्रेष्ठ अशी कीर्ति कोणती?'

रायांनी म्हटले–'प्रभो! श्रीकृष्णाच्याच संबंधाने लोकांत परिचय व्हावा हीच सर्वोत्तम कीर्ति आहे'.

प्रभुंनी विचारले–'ठीक, अशी सर्वश्रेष्ठ संपत्ति कोणती कीं, जिचे पुढे सर्व संपत्ति तुच्छ समजल्या जातात?'

रायांनी उत्तर दिले–'श्रीनिकुञ्जविहारी राधावल्लभाची अविरल-भक्ति ज्याचे हृदयांत विराजमान आहे, तोच सर्व सम्पत्तिशाली पुरुष म्हणावा. त्याचे समान दुसरा पुरुष त्रिभुवनांत नाही'.

प्रभुंनी विचारले–'मला हे सांगा कीं, सर्वांत मोठे दुःख कोणते?'

निरुद्ध कण्ठाने अश्रु ढाळीत राय महाशयांनी उत्तर दिले–'प्रभो! 'ज्यावेळीं अन्तःकरणांत श्रीहरि स्मरणाचा विसर पडेल, ज्यावेळीं विषय-भोगांच्या गोष्टी सुचू लागतील, हेच मोठे दुःख म्हणावे—

**सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।**
**यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥** (महाभारत)

'ह्याचे अतिरिक्त भगवत् भक्तांचा वियोग होणे हेही एक दारुण दुःख आहे'.

प्रभुंनी विचारले–'आपण मुक्त-जीवांत सर्वश्रेष्ठ कोणास समजतात?'

राय सांगतात–'प्रभो! ज्याचा सर्व व्यवहार वा कर्मे श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्तीचे निमित्तानेच होतात, जो सतत श्रीकृष्णाचेच मधुर नामाचे स्मरण करीत त्यासच प्राप्त होण्याचा प्रयत्न करतो, तोच सर्वश्रेष्ठ मुक्त समजावा'.

प्रभुंनी विचारले–'कोणते गायन आपण सर्वश्रेष्ठ गायन समजता?'

राय म्हणतात —

**'श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!**
**हे नाथ! नारायण! वासुदेव!'**

ह्या सुमधुर नामाचे गायनासच मी सर्वश्रेष्ठ समजतो.'

प्रभुंनी विचारले–'जीवाचे कल्याणानिमित्त सर्वश्रेष्ठ कार्य आपण कोणते मानता?'

राय म्हणतात–'प्रभो! महत् पुरुषांचे पावन–परागाने आपले मस्तक अलंकृत करीत जाणे व त्यांचे मुख-निःसृत अमृत-वचनांचे कर्णरन्ध्राने पान करीत असणे–ह्यांसच मी जीवाचे कल्याणाचे मार्ग समजतो'.

प्रभुंनी विचारले–'प्राणिमात्रांचेसाठी सर्वश्रेष्ठ स्मरणीय कोणती वस्तु आहे?'

राय महाशयांनी सांगीतले—

**'श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!**
**हे नाथ! नारायण! वासुदेव!'**

'हेच सर्वश्रेष्ठ स्मरणीय आहे'.

प्रभुंनी विचारले–'सर्वश्रेष्ठ असे ध्यान कोणते?'

रायांनी सांगीतले–'श्रीवृन्दावन विहारीच्या मूर्तिचेच निरन्तर ध्यान हृदयांत स्थित राहावे-हेच सर्वश्रेष्ठ ध्यान आहे'.

प्रभुंनी विचारले–'सर्वांना सर्वोत्तम निवास-स्थान कोणते? कीं जेथे सर्वस्वाचे मुखी धूळ टाकून निवास केला जाईल'.

राय सांगतात—

'सरबसुके मुख धूरि दै सरबसु कै ब्रजधूरी ।'

सर्व कांही सोडून वृन्दावनांत वास करणेच जीवाचे अन्तिम निवास-स्थान आहे वृन्दावनाचा परित्याग करून एक पाऊलहि दुसरे कोठे जाऊ नये'.

'वृन्दावन परित्यज्य पादमेकं न गच्छति ।'

राधा-मुरलीधराचे ध्यान करीत वृन्दावनांतच राहिले पाहिजे.

'श्रीराधा मुरलीधरौ भज सखे ! वृन्दावनं मा त्यज ।'

प्रभुंनी विचारले-'आपण श्रवणामध्ये सर्वश्रेष्ठ श्रवणीय काय समजता ?'

राय म्हणतात—

'श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

'हेच संपूर्ण श्रवणाचे सार आहे. ज्याने हे यथावत् रीतीने श्रवण केले आहे त्यास मग, श्रवण करण्याचे कांही शेष रहातच नाही'.

प्रभुंनी विचारले-'आपण उपासनेंत सर्वश्रेष्ठ उपासना कोणती समजता ?'

रायानी उत्तर दिले-'युगल सरकारा (श्रीराधामुरलीधर) शिवाय दुसरे कोणाची उपासना केली जाणार ? मुख्यतः तर वृन्दावन विहारीच परम उपास्य आहे. शक्तिपासून ते निराळे होऊच शकत नाहीं'.

प्रभुंनी विचारले-'आपण भक्ति व मुक्ति ह्यापैकी अधीक काय पसंत करता ?'

रायांनी सांगीतले-'प्रभो ! मुक्तिचे नीरस फल तर कोणी विचार

प्रधान दार्शनिक पुरुषच पसंत करील. मला तर प्रभुच्या पाद पद्मीं निरन्तर लोटांगण घालीत राहाणेच अधिक आवडते. मी अमृताच्या सागरांत जाऊन अमृत होण्याची इच्छा करीत नाही. मी तर त्याचे काठीं बसून त्याची मधुरिमाचे रसास्वादन करणेच सर्वश्रेष्ठ समजतो.'

ह्या प्रकारच्या प्रश्नोत्तरांतच ती रात्र वितून गेली व नन्तर ते एक दुसऱ्या पासून निराळे झाले.

राय महाशयांचा अनुराग प्रभुंच्या पादपद्मीं उत्तरोत्तर वाढतच गेला. ते ह्यांच्या रूपांत साक्षात् श्रीकृष्ण रूपाचेच दर्शन करीत होते. त्यांच्या नेत्रांचे समोरून प्रभुचे हे प्राकृत स्वरूप एकदम अदृश्य झाले व ते आपले इष्टदेव श्रीराधाकृष्णाचेच दर्शन करू लागले. ह्यासाठी एके दिवशीं त्यांही प्रभुस विचारले–'प्रभो! मी आपले श्रीविग्रहामध्ये माझे इष्टदेवतेचे दर्शन करीत आहे. मला असे निश्चित वाटत आहे कीं, आपण श्रीमन्नारायणच आहात. लोकांना भ्रमांत टाकण्यासाठी आपण हा छद्म वेष धारण केलेला आहे'.

हसत प्रभुंनी उत्तर दिले–'राय महाशय! आपणास माझे शरीरांत आपले इष्ट-देवतेचे दर्शन होणार नाही तर दुसरे कोणास कां ते होणार आहे? आपले दृष्टीने तर जितके म्हणून सांसारिक दृश्य पदार्थ आहेत तितके सर्वच्यासर्व इष्टमयच झाले पाहिजेत. श्रीमत्-भागवतांत लिहिले आहे कीं, 'सर्वश्रेष्ठ भगवत्-भक्त संपूर्ण चराचर प्राण्यांमध्ये भगवन्ताचे दर्शन करतो, त्याच्या दृष्टीने भगवन्ताचे पृथक् कोणती वस्तुच असत नाही.* आपण सर्वश्रेष्ठ भागवत्तोत्तम आहात, तेव्हा आपणास माझे शरीरांत आपले इष्टदेवाचे दर्शन होत आहे तर त्यांत आश्चर्य काय?'

* सर्वभूतेषु यः पश्येत्भगवद्भाव मात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

प्रभुचे हे उत्तर श्रवण करून राय महाशय म्हणतात–'प्रभो! आपण माझी प्रवञ्चना करू नका, मला आपण आपले यथार्थ रूपाचे दर्शन द्यावे. मला शूद्राधम समजून वंचित करू नका'. हे म्हणता म्हणता प्रेमावेशांत राय महाशय मूर्च्छित पडले. त्याच वेळीं त्यांना प्रभुंचे शरीरांत श्रीराधा व श्रीकृष्ण ह्यांचे सम्मिलित दर्शन झाले व दर्शन होताच राय महाशयांना कृतकृत्यता वाटली व त्यांही आपले भाग्याची भूरि-भूरि प्रशंसा केली.

प्रकृतिस्थ झाल्यावर प्रभुंनी राय रामानन्दांना गाढालिंगन दिले व त्यांना ते म्हणतात–'राय महाशय! माझे हे दहा दिवस आपले संगतींत अत्यन्त आनन्दांत व्यतीत झाले. इतका अपूर्व रस ह्या पूर्वी मला केव्हाच प्राप्त झाला नव्हता. तो रस आपले कृपेने मी किंचितसा आस्वादन केला. आता माझी इच्छा आहे कीं, आपण हे राज-काज शीघ्र सोडून पुरीस यावे. तेथे आपण दोघेहि एकत्र राहून ह्या आनन्दाचे पान करीत राहू, आपले संगतीने माझेहि कल्याण होईल'.

हात जोडून अत्यन्त विनीतभावनेने राय रामानन्द म्हणतात–'प्रभो! हे तर सर्व आपलेच हातांत आहे. जेव्हा ह्या भव-जञ्जालांतून सोडवून आपले चरणीं शरणागति प्रदान कराल, तेव्हाच आपले चरणा-समीप राहाण्याचा सुयोग मला प्राप्त होणार आहे. ही गोष्ट माझे सामर्थ्या-बाहेरची आहे. आपण अनुग्रहकरून असे धन्य जीवन मला प्रदान करू शकणार आपणच समर्थ आहात'.

प्रभुंनी म्हटले–'ठीक आहे, आता जावे. दक्षिण-यात्रेहून परत येते समयीं आपणास एकदा पुन्हा भेटेन तेव्हा आपण मजबरोबर पुरीस यावे'.

प्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य करून राय रामानन्द आपले स्थानीं निघून गेले व प्रभुंनीहि प्रातःकालीं पुढे प्रयाण केले.

# दक्षिणेंतील तीर्थांत भ्रमण

**भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो ।**
**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ।**

महापुरुषांचे तीर्थ-भ्रमण लोक-कल्याणानिमित्तच होत असते. त्यांना स्वयं म्हणून कांही कर्तव्य असत नाही, परन्तु तरीहि लोक शिक्षणार्थ गृहस्थांना पावन करण्याचे निमित्ताने, भक्तांना कृतार्थ करण्यासाठी, तीर्थांना निष्पाय करण्याचे हेतूने तथा पृथ्वीस पवित्र करावे म्हणून ते नाना तीर्थी भ्रमण करीत असलेले पाहण्यांत येते आणि म्हणूनच ती तीर्थे अद्याप आपले पावनतेचे रक्षण करीत संसारी लोकांचे पापतापांचे शमन करण्यास समर्थ अशी राहिली आहेत.

प्रातःकालीं गोदावरीमध्ये स्नान करून प्रभुंनी विद्यानगराहून पुढे प्रयाण केले. ते गौतमी गंगा, मल्लीकार्जुन, अहोबलनृसिंह, सिद्धवट, स्कन्धक्षेत्र, त्रिपठ, वृद्धकाशी, बौद्धस्थान, त्रिपती, त्रिमल्ल, पानानृसिंह, शिवकांची, विष्णुकांची, त्रिकाल हस्ती, वृद्धकोल, शियाली-भैरव, कावेरी-तीर, कुम्भकर्ण-कपाल, आदि पुण्यतीर्थांत दर्शन स्नान आदि करीत व आपले दर्शनाने तेथील सर्वांना कृतार्थ करीत प्रभु श्रीरङ्गक्षेत्रीं पोचले. वाटेंत ते सर्वत्र श्रीहरिनामाचा प्रचार करीत जात होते. लाखो लोक प्रभुच्या दर्शनमात्रानेच भगवत्-भक्त झाले. प्रभु रस्त्याने चालताना—

**राम राघव ! राम राघव ! राम माधव ! रक्षमाम् ।**
**कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! पाहिमाम् ॥**

श्रीरङ्गक्षेत्री श्रीवेङ्कटभट नामक एका वैष्णव ब्राह्मणाचे अनुरोधाने महाप्रभुंनी चार्तुमास व्यतीत केला. वेंकटभटाचा पुत्र गोपालभटाने

महाप्रभुचे स्वरूप पाहून त्यांना आत्मसमर्पण केले. वेंकटभटाचा सर्व परिवार श्रीकृष्ण-भक्त झाला.

महाप्रभु सायंकालीं वनप्रदेशीं फिरण्यास जात असत. एके दिवशीं हे एका बगीचांत गेले. तेथे त्यांही पाहिले कीं, एक ब्राह्मण आसनावर बसून अगदी सद्गदित कंठाने गीता पाठ करीत होता. तो अशुद्ध उच्चार करीत होता, तरी पण तो पाठ करताना इतका तन्मय झाला होता कीं, त्यास बाह्य जगाचे भान नव्हते. त्याचे सर्व शरीर रोमांचित झाले होते व नेत्रांतून जलधारा सुरू होत्या. महाप्रभु पुष्कळ वेळ पावेतो उभे राहूनच त्याचा पाठ ऐकत होते. तो पाठ करून उठल्यावर प्रभुंनी अत्यन्त प्रेमाने त्यास विचारले–'काय हो पंडित, तुम्हास ह्या पाठांत असा काय आनन्द होत होता कीं, ज्या योगे तुमची अशी अद्भुत दशा होत होती. तुम्ही ह्याचे कारण मला सांगाल काय?'

त्या पुरुषाने उत्तर दिले–'भगवन्'! मी एक बुद्धिहीन, अपठित निरक्षर ब्राह्मण आहे. मला शुद्धाशुद्ध कांहीहि माहिती नाही. माझे गुरुंनी मला गीता पाठ करीत जाण्याचा आदेश दिला आहे. मी तर पाठ करते समयीं ह्याच गोष्टीचे ध्यान करतो कीं, चार शफेतरंगाचे घोडे जोडलेला एक अत्यन्त सुन्दर दिव्य रथ उभा आहे, त्याच्या विशाल ध्वजेवर हनुमान विराजमान आहेत, शस्त्रास्त्राने सुसज्ज अर्जुन कांहीसा शोकाकुलपणे त्या रथांत धनुष्य खाली ठेवून बसलेला आहे. भगवान् अच्युत सारथ्याच्या स्थानावरून हलके हलके मन्दस्मित करीत गीतोपदेश करीत आहेत. बस, भगवन्ताच्या ह्याच रूप-माधुर्याचे पान करीत करीत मी स्वतास विसरून जातो. लोक मला हसतात. मला वाटते आपण साक्षात् नारायणच असून माझे पाठाचे फल देण्यासाठी येथे आला आहात. आपण कोणी कां असाना. आपण कोणी दिव्य

पुरुष आहात व आपले चरणी माझे कोटीशः प्रणाम आहेत'. इतके म्हणून त्याने प्रभुच्या चरणीं लोटांगण घातले.

प्रभुंनी त्यास स्नेहपूर्वकपणे उचलून घेतले, व त्यास छातीशी घट्ट आवळून धरले व प्रभु मोठे गोड शब्दांत म्हणाले-'विप्रवर! तुम्ही धन्य आहा, यथार्थतः गीतेचा खरा अर्थ तुम्हीच समजला आहात, शुद्ध वा अशुद्ध पाठाने भगवान् प्रसन्न वा असन्तुष्ट होत नाही. ते तर भावाचे भुकेले आहेत. अर्थात् भावशुद्धीची अत्यन्त अवश्यकता आहे'.

महाप्रभुचे मुखांतील हे शब्द ऐकताच त्या ब्राह्मणास फार आनन्द झाला व त्याने त्याच वेळीं प्रभुस आत्मसमर्पण केले.

# धनी (लक्ष्मीपुत्र) तीर्थरामास प्रेमदान व वेश्यांचा उद्धार

रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितैः
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि ।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्ध मधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ॥

ज्याने प्रेमासवाचे पान केले आहे, जो त्या धुंदीत जगतांतील सर्व पदार्थमात्र विसरला आहे, त्याचे सन्मुख हे सर्व तुच्छ आहे. तो ह्या-कडेस दृष्टिपातहि करीत नाही. विषयी मनुष्य अशासाठी आपले सर्वस्वहि अर्पण करण्यास तत्पर असतो. ज्याच्या हृदयांत कामारिचेहि प्रभु निवास करतात, त्या हृदयांत काम (वासना) कसा राहील ! रवि व रजनी एकत्र कसे राहू शकणार ? दिपक घेऊन अन्धाराचा शोध करण्यास निघाल्यास अन्धःकार कसा सापडणार ? म्हणूनच म्हटले आहे–'जहां काम है, वहां राम नहीं, और जहां राम है वहां काम नहीं '.

एके दिवशीं दक्षिणेकडील सर्व तीर्थांत भ्रमण करीत करीत महा-प्रभु श्रीरंगास येत असता वाटेंत त्यांही अक्षयवट नावाचे तीर्थांत मुकाम केला. भिक्षेवरच ह्यांचा निर्वाह होत होता. एकादे दिवशीं भिक्षा मिळतहि नसे, त्याप्रमाणे आज कांहींच भिक्षा मिळाली नव्हती. त्या कारणाने प्रभुंना उपवासच घडला. एका निर्जनस्थानीं शिवालयांत श्रीकृष्ण-कीर्तनाचे आनन्दांत ते मग्न होते.

महाप्रभु जोरजोराने संकीर्तन करीत होते. श्रमजन्य थकवा त्यांचे

मुखावर प्रतीत होत होता. त्यांच्या शरीरांतून एक प्रकारे तेज निघत होते. इतक्यांत तेथे एक तीर्थराम नावाचा लक्ष्मीपुत्र एकाएकी येऊन पोचला. धन-मद व यौवन-मदाने तो कर्तव्यशून्य झाला असून स्वधर्मास त्याने तिलाञ्जलि दिली होती. 'खानापिना और मौज उडाना' हेच त्याच्या जीवनाचे ध्येय झाले होते. उत्तमांतील उत्तम भोज्य पदार्थांचे सेवन करावे आणि मनोरमातिमनोरम ललनांच्या संगतींत समय व्यतीत करणे हेच त्याने आपले जीवनाचे अन्तीम ध्येय ठरवून टाकले होते. त्याच्याबरोबर दोन अत्यन्त सुन्दर वेश्या होत्या. त्यांच्याशी हसत-खिदळत त्याने शिवालयांत प्रवेश केला. तेथे आपले कान्तिने आलोकित (प्रकाशित) करीत असलेले प्रेमावतार श्रीचैतन्यदेवास त्याने पाहिले.

तो त्यांची ती कान्ती पाहून फारच चकीत झाला व त्याने विचारले– 'आपण कोण आहात?' महाप्रभु कीर्तनानन्दांत निमग्न असल्याने त्यांनी कांहीहि उत्तर दिले नाही म्हणून तीर्थरामाने पुन्हा विचारले–'आपण कोण आहा व येथे एकान्तांत कां पडून आहात?'

कृपामय चैतन्यांनी आता उत्तर दिले–'भाई! आम्ही गृहत्यागी संन्यासी आहोत व आम्ही आमचे प्रियतमाच्या शोधार्थ घरांतून बाहेर पडलेले आहोत. एकान्तच आमचा आश्रय आहे. वैराग्य आमचा बन्धु व संकीर्तन आमचे एकमात्र कर्तव्य आहे व म्हणून आम्ही ह्या एकान्त स्थानीं पडल्या पडल्या आमचे प्याऱ्याच्या नामाचे उच्चारण करीत आहोत'. असे म्हणून त्यांही पुन्हा पूर्ववत संकीर्तनास सुरूवात केली.

इतके झाल्यावर तीर्थरामाने संतुष्ट होऊन स्वस्थ बसण्यास पाहिजे होते, परन्तु त्याचा तर प्रभुचेद्वारा उद्धार व्हावयाचा होता. त्याचे मनांत इर्षा उत्पन्न झाली. तो विचार करू लागला–'हा पण कोणी विलक्षण मनुष्य दिसतो. विधात्याने यास इतके सौन्दर्य दिले आहे. तारुण्य

विकसीत होत आहे, कोणे उच्चकुलांत उत्पन्न झाल्याचे प्रतीत होत आहे. असे असूनहि हा वैराग्याच्या बाता मारतो आहे. मला वाटते, माझे प्रमाणे ह्यास अद्याप रूपलावण्ययुक्त अशा ललना भेटल्या नाहीत. अशांशी एकदा तरी गांठ-भेट पडली कीं, हा वैराग्य व संन्यास सर्व विसरून जाईल'. ही गोष्ट त्याने येऊन आपले साथीदारणींना सांगीतली.

ते ऐकताच दोघीहि एकदमच म्हणाल्या–'अहो, जाऊ द्या गोष्टी. असे सर्व कामदेवाने दंडलेले असतात. ललनांची निन्दा करतात, म्हणून तर कामदेवाने ह्यांचे हातांत खापर देऊन ह्याना दारोदार भिक्षा मागत फिरण्यास लावलेले आहे'.

तीर्थरामाने म्हटले–'नाही, असे नाही, ह्याचे चेहेऱ्यामध्ये आकर्षण आहे. कोणी वैराग्यवान् साधु वाटतो'.

त्यावर त्यापैकीं एकजण म्हणाली–'हो, मिळत नाही म्हणून सर्व त्यागी, वैरागी असतात. खाण्यास मिळाले नाही म्हणजे सांगावे– 'एकादशी आहे', 'नारि मुई घर-संपत्ति नासी, मूंड मुंडाई भये संन्यासी' माझेसारखी एकादी मिळु द्या म्हणजे पाहाते कीं, हे कसे त्यागी राहातात ते?'

तीर्थराम ह्या दोघींनाहि उत्तेजन देत म्हणाला–'ठीक आहे, पाहू बरे तुमचा प्रताप. तुम्ही जर ह्यास आपले पकडींत पकडाल तर मी तुम्हास मागाल ते देईन'.

त्या दोघींना आपले रूप-लावण्याचा गर्व होता. त्या मत्त सिंहिणी-प्रमाणे प्रभुकडेस चालल्या. तीर्थराम जवळच आडून ह्यांच्या चेष्टा पहात होता.

महाप्रभु कुशीवर पडून श्रीकृष्ण-नाम स्मरण करीत होते. गोविन्द

आणि कृष्ण-दास कांहीसे दूर बसलेले होते. त्या दोघी वेश्या प्रभुंच्या समोर जाऊन बसल्या व आपले हाव-भाव-कटाक्षांनी प्रभुंचे अन्यन्यतेचा भंग करण्याचा प्रयत्न करू लागल्या. परन्तु कोण आले ह्याचा प्रभुस तर पत्ताहि नव्हता, ते तर नामसंकीर्तनाचे धुंदीत चूर होते. बराच वेळ झाल्यावर मोठा हिय्या करून त्यापैकीं एकजण म्हणाली– 'साधुबाबा ! आपणास कांही विचारण्याची माझी इच्छा आहे ?'

पतित-पावन प्रभु तर ह्यासाठी तयारच होते. ते लागलीच उठून बसले व करुणा-युक्त व विकार-नाशिनी दृष्टी टाकून सुमधूर स्वराने व प्रेमाने म्हणाले–'माताजी, ह्या दीन–हीन सन्तानास काय आज्ञा आहे ?' ह्यांच्या दृष्टींत व ह्यांचे मधूर शब्दांत कोण जाणे काय जादू होती, त्या दोघीहि स्तब्ध झाल्या. कापल्यास शरीरांतून रक्त निघणार नाही. त्यांचे बोलणे बन्द झाले, धैर्य सुटले व पश्चात्ताप-अग्निने त्यांच्या हृदयांत एक प्रकारची ज्वाला भडकविली. त्या तोंडे खाली घालून तेथून एकदम उठून उभ्या राहिल्या. तीर्थराम हे सर्व ऐकत होता. प्रभुच्या संकीर्तनानेच त्याचे धैर्य विगलित होऊ लागले होते व जे कांहीसे राहिले होते ते ह्या असम्भव घटनेने पुरे केले. परम सुन्दर दोन युवती एकांतात ज्याचे बरोबर प्रेमालाप करतात व तो त्यांना माता म्हणून संबोधितो, हा कोणी मनुष्य नसून, ईश्वरच आहे. हे संसारी प्राण्याचे काम नाही, हे तर देवतांच्याहि देवतांचे काम आहे. असा विचार करीत करीत तो महाप्रभुंचे पाद-पद्मावर लोटांगण घालून जोराने किंकाळी मारून म्हणू लागला–'हे प्रभो ! ह्या पाप्याचाहि उद्धार करा. प्रभो ! मला आपले चरणाजवळ घ्या '.

प्रभुंनी त्यास उचलून आपले छातीशी लावले व प्रेमांत विव्हल होऊन ते नाचू लागले. त्यांना शरीरावरील वस्त्राचीहि शुद्ध राहिली

नाही. त्या वेश्या पण हा सर्व चमत्कार पाहून स्वतास विसरल्या व भगवन्ताच्या नावाचे कीर्तन करीत त्याहि नृत्य करु लागल्या.

तीर्थरामाने श्रीचरण जोराने धरले व तो वारंवार मोटमोठ्याने म्हणू लागला–'प्रभो ! मज पाप्याचाहि कोणत्या रीतीने उद्धार होईल का ? दयामय ! माझे पापांचे प्रायश्चित कसे प्रकारे होणे शक्य आहे कां ?'

प्रभुंनी त्यास आश्वासन देत म्हटले–'तीर्थराम ! तुम्ही पापी नाही. जो भगवन्तास अन्यन्य भावाने शरण आला, त्याची पातके राहातच नाहीत'. तीर्थरामाने सर्वतोभावेन स्वतास महाप्रभुच्या श्रीचरणीं समर्पित केले. महाप्रभुनी त्यास हरि-नामाचा मन्त्र दिला व तोहि तिलक कण्ठी धारण करून शुद्ध वैष्णव झाला. त्या दोघी वेश्यांनीहि आपले पातकांचे प्रायश्चित केले व त्याहि निरन्तर हरि-नाम स्मरण करू लागल्या.

तीर्थरामाची पत्निहि प्रभुंना शरण आली व ती साध्वी पतिपरायणा असल्याने तिला तीर्थरामाकडून हरि-नामाचा उपदेश देवाविला.

ह्या सर्वांनी आपली धन-सम्पत्ति गरीबास वाटून दिली. महाप्रभु वटेश्वरीं सात दिवस राहून तीर्थरामास उपदेश करीत होते. प्रभुनी म्हटले–'फार ग्रन्थाच्या माला-जालांत पडू नका. भगवान् केवल विश्वासानेच प्राप्त होतात. सम्पूर्ण जगताचे वैभवास तृणा समान समजून निरन्तर भगवन्नाम-संकीर्तन करीत राहाणे, हेच वेद शास्त्राचे सार आहे'. ह्याप्रमाणे तीर्थराम व त्या दोन्ही वेश्यांचा उद्धार करून प्रभु श्रीरंगमास निघून गेले. श्रीरंगम् येथे चातुर्मास राहून वर्ष समाप्त झाल्यावर तेथून निघण्याचा प्रभुंनी विचार केला.

# दक्षिण-तीर्थभ्रमण-चालू

परोपकृतिकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः।
गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत्॥

चातुर्मास वितल्यावर महाप्रभुंनी वेंकटभटाची आज्ञा घेतली व श्रीरंगास जाऊन ते ऋषभ पर्वतावर गेले. तेथे त्यांही ऐकले कीं, स्वामी परमानन्दपुरी महाराज तेथेच थांबलेले आहेत. हे ऐकताच ते त्यांचे दर्शनासाठी त्यांचे निवासस्थानी गेले व तेथे जाऊन त्यांचे चरणीं प्रणाम केला. पुरी महाराजांनी प्रभुस प्रेमपूर्वक आलिंगन दिले व तीन दिवसपर्यन्त दोघांनीहि एकत्र राहून श्रीकृष्ण कीर्तन, नाम स्मरणांत काल व्यतीत केला. पुरींनी सांगीतले-'माझी इच्छा आहे कीं, श्रीपुरुषोत्तम भगवानाचे दर्शन घ्यावे व गंगास्नानासाठी नवद्वीपास जावे'.

महाप्रभुंनी सांगीतले-'आपण तसे करावे व नवद्वीपाहून परत आपण पुन्हा जगन्नाथासच यावे. मी सुद्धा सेतुबन्ध रामेश्वराचे दर्शन करून लवकरच पुरीस परतण्याचे विचारांत आहे. ईश्वरी इच्छा असल्यास आपण उभयताहि नीलाचलासच राहू'. याप्रमाणे म्हणून प्रभु सेतुबन्ध रामेश्वरास रवाना झाले व पुरी महाराजांनी जगन्नाथपुरीचा रस्ता धरला.

महाप्रभु अनेक वने, पर्वत आणि ग्रामे ओलांडित शैल पर्वतावर पोचले. तेथे ब्राह्मण-ब्राह्मणपत्निचा वेष धारण केलेले शिव पार्वतीचे अतिथ्याचे प्रभुंनी ग्रहण केले. तेथून कामकोष्ठीपुरीस जाऊन ते दक्षिण मथुरा (मदुरा) येथे पोचले.

तेथे एका ब्राह्मणाने प्रभुस निमन्त्रण केले. तो ब्राह्मण प्रतिक्षण

रडत रडत 'सीताराम सीताराम' असे सारखे म्हणत होता. प्रभुंनी त्याचे आमन्त्रण सहर्ष स्वीकारले व मध्यान्हकाल झाल्यावर त्याचे घरीं भिक्षेसाठी आले. महाप्रभु तेथे गेल्यावर त्यांही पाहिले कीं, त्या ब्राह्मणाने स्वयंपाक मुळीच केलेला नाही. तो उदासपणे स्वस्थ बसलेला आहे.

प्रभुंनी हसत विचारले-'विप्रवर! आपण अद्याप स्वयंपाक कां केलेला नाही?'

अगदी सरलपणे ब्राह्मण म्हणतो-'प्रभो! येथे अयोध्यापुरीप्रमाणे वैभव थोडेच आहे कीं, दास-दासी सर्व कामे एका क्षणांत करून टाकतात, हा तर अरण्यवास आहे. लक्ष्मण जंगलांतून फल-मूल आणतील. तेव्हा सीतामाता स्वयंपाक करतील व मग सरकार प्रसाद करतील'.

त्या ब्राह्मणाचा असा अगदी शुद्ध-भाव पाहून महाप्रभु फार आनन्दीत झाले, त्याची फार प्रशंसा केली व ते प्रेमांत गुंग होऊन नृत्य करू लागले.

तो ब्राह्मण नन्तर उठला व त्याने स्वयंपाक केला व तिसरे प्रहरानन्तर प्रभुंना मोठे भक्तिपूर्वक भिक्षा करविली. तो मात्र निराहारीच बसून राहिला.

तेव्हा प्रभुंनी विचारले-'विप्रवर! आपण प्रसाद नाही ग्रहण केला, ह्याचे कारण काय? आपण इतके दुःखी कां? आपले दुःखाचे वास्तविक कारण मला सांगा?'

ब्राह्मण अश्रु ढाळीतच म्हणतो-'प्रभो! जगज्जननी सीतामातेस तो दुष्ट रावण आपले पापी हाताने धरून घेऊन गेला, त्या दुष्टाने मातेस स्पर्श केला, हेच माझ्या दुःखाचे कारण. जेव्हा जेव्हा मला ह्या गोष्टीचे स्मरण येते तेव्हा तेव्हा माझे काळीज फाटू लागते'.

त्याचा असा अनुराग पाहून प्रभु अगदी मुग्ध झाले. अहाहा! किती उच्च भाव आहेत. महापुरुषावाचून हे कोण समजू शकणार आहे? प्रभुंनी त्यास धैर्य देत म्हटले–'विप्रवर! आपण इतके गाढे विद्वान असूनहि अशा भलत्याच गोष्टी कशा करता आहात. विचार तर करा, जगज्जननी सीतामातेस चोरून नेण्याची कोणांत शक्ति आहे? ती तर भगवन्ताची एक लीला होती. आपण भोजन करा व ही गोष्ट मनांतून काढून टाका'.

महाप्रभुंच्या आग्रहावरून त्याने थोडासा प्रसाद घेतला. परन्तु त्याचे पूर्ण समाधान झाले नाही. वाल्मिकी रामायणात तर स्पष्टपणे सीतेचेच हरण झाल्याचे स्पष्ट लिहिलेले आहे. त्या कारणाने तो ब्राह्मण चिन्ता-ग्रस्तच राहिला. महाप्रभु दुसरे दिवशीं पुढे निघून गेले.

दक्षिण मथुरेहून निघून महाप्रभुंनी कृतमाला तीर्थांत स्नान केले व महेन्द्र पर्वतावर जाऊन परशराम भगवानाचे दर्शन केले. तेथून सेतुबन्ध रामेश्वराचे दर्शन करून हे धनुस्तीर्थी पोचले व तेथे स्नान करून श्रीरामेश्वरास पोचले. तेथे शिवाचे दर्शन करून महाप्रभु परत फिरणार तोच त्यांही कांही ब्राह्मण तेथे बसून कूर्मपुराण श्रवण करीत होते असे पाहिले. प्रभु पण तेथे श्रवणास बसले. दैवयोगाने सीता हरणाचाच प्रसंग चालला होता. प्रभुंनी ऐकले–'ज्या वेळीं जनकनन्दिनी सीतादेवीने रावणास पाहिले, तेव्हा तिने अग्निची आराधना केली, त्याचवेळीं अग्नीने तिजला आपले पुरांत नेले व तिची छाया बाहेर राहू दिली. राक्षसराजा रावण सीतेच्या त्या छायेसच घेऊन गेला. जेव्हा रावणास मारून भगवान् रामचन्द्रांनी सीतेची अग्नि-परिक्षा केली, तेव्हा अग्नीने खरी सीता आणून दिली. वास्तवीक रावणाने सीतेच्या छायाचेच हरण केले होते. खऱ्या सीतेचा त्यास स्पर्शहि करणे शक्य नव्हते'.

प्रभु अत्यन्त आनन्दीत झाले व त्या कथा सांगणारे ब्राह्मणास विनंती केली की-'मी ह्या पृष्ठांची नकल करून आपणास देतो, आपण ही जुनी पृष्ठे मला द्यावी'. कथावाचकाने हे म्हणणे मानले. प्रभुंनी त्याची नूतन प्रतिलिपी करून त्यास दिली व त्याही ती जुनी पृष्ठे आपणाजवळ ठेवून घेतली.

ती पृष्ठे घेऊन दयालु गौराङ्गप्रभु दक्षिण मथुरेस आले व त्या रामभक्त ब्राह्मणाचे घरीं जाऊन त्यास ती कूर्मपुराणांतील पृष्ठे दाखवून प्रभु म्हणाले-'हे घ्या, आता तर आपली खात्री झाली ना? हे कूर्म-पुराणांत लिहिले आहे कीं, रावणाने सीतेची छाया हरण करून नेली'.

महाप्रभुची ही दयालुता पाहून तो ब्राह्मण ह्यांच्या पाया पडून अश्रु ढाळीत म्हणाला-'आज आपण माझे दुःख दूर केले. आपण माझे इष्टदेव रघुनाथच आहा. त्यावाचून अशी असीम-कृपा कोणी करूच शकणार नाही. आपण अनुग्रह करून शोकसागरांत बुडत असलेल्याचा उद्धार केला. प्रभो! मी आपली स्तुति करूच काय शकणार?'

त्या ब्राह्मणाची स्तुति करीत प्रभु म्हणाले-'विप्रवर! मी आपले भक्तिने फारच सन्तुष्ट झालो. अशी भक्ति मला इतर कोठेहि दिसली नाही'. ह्याप्रमाणे त्या ब्राह्मणास सन्तुष्ट करून महाप्रभु पुढील तीर्थांत जाण्याचे विचारास लागले.

# दक्षिणेंतील शेषतीर्थी भ्रमण

महद् विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् ।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥

दक्षिण मथुरेहून निघून महाप्रभु पाण्डु देशांत ताम्रपर्णी, नयत्रिपदी, चियड्तला, तिलकांची, गजेन्द्रमोक्षण, पानागढी, चामतापूर, श्रीवैकुण्ठ, मलयपर्वत, धनुस्तीर्थ, कन्याकुमारी आदि तीर्थांस जाऊन आपले अमोघ दर्शनाने लोकांना कृतार्थ करीत मल्लार देशास पोचले. तेथे भट्टथारी नावाचे साधु वेषधारी लोक त्यांना भेटले. ते एके ठिकाणीं राहात नाहीत. त्यांचा वेष साधुंच्या सारखा असतो, परन्तु त्यांचा आचार चांगला नसतो. कांही तर चोऱ्याहि करतात. चुकूनमाकून एकादी स्त्री ह्यांना दिसल्यास तिला बहकवून आपले बरोबर नेतात. अशाच प्रकाराने ते आपले दल वाढवितात. प्रभु रात्रीच्यावेळीं त्यांचेच समीप मुक्कामास राहिले होते. त्या लोकांनी महाप्रभुचा सेवक कृष्णदासास बहकविले. त्यास सुन्दर स्त्री व धनाचा लोभ दाखविला. तो गरीब, न शिकलेला, साधा, त्यांच्या गोष्टींनी फसला. तो महाप्रभुस सोडून त्या लोकांत जाऊन मिसळला. महाप्रभुस जेव्हा ही गोष्ट समजली, तेव्हा ते त्या लोकांजवळ जाऊन त्यांना अगदी सरलपणे म्हणाले–'दादांनो! आपले हे करणे योग्य नाही. माझे साथीदारास फसवून आपण त्यास आपले कडेस ठेवून घेतले आहे. आपणास हे उचित नाही. आपणहि संन्यासी आहा व मीहि पण संन्यासीच आहे. आपणाबरोबर पुष्कळसे साथीदार आहेत व माझेपाशी तर हा एकच आहे, म्हणून कृपा करून माझे मनुष्यास मला परत द्यावे'.

प्रभुंच्या प्रभावाने प्रभावान्वित होऊन त्यांही कृष्णदासास सोडून दिले व ते लोक पुढे निघून गेले.

तेथून निघून महाप्रभु पयस्विनी नामक नदीतटीं पोचले. तेथे त्यांना प्राचीनकालीं लिहिलेली ब्रह्मसंहिता प्राप्त झाली. तो अद्‌भुत ग्रन्थ घेऊन महाप्रभु शृंगेरी मठास आले. हा भगवान् शंकराचार्यांचा दक्षिण दिशेकडील प्रधानमठ आहे.

तेथून महाप्रभु मत्स्यतीर्थ करून उडूपीस मध्वाचार्यांचे मठाप्रत पोचले व तेथे त्यांही गोपाल भगवानाचे दर्शन केले. तेथील तत्व-वाद्यांच्याबरोबर प्रभुंनी दोन तीन दिवस शास्त्र विचार केला. तेथून फल्गुतीर्थ, त्रिकूप, पम्पापूर, सूपरिक, कोल्हापूर आदि स्थानी तीर्थस्नान करून ते पंढरपुरास आले. येथे एका ब्राह्मणाने प्रभुस भिक्षेस आमंत्रण केले. आमन्त्रणाचा स्वीकार करून तेथे ते भिक्षेस गेले. त्यांही मोठ्या श्रद्धेने प्रभुस भिक्षा करविली. गोष्टींत गोष्ट बोलतांना तो म्हणाला– 'येथे एक योग्य व भगवद्भक्त महात्मा आलेले आहेत. संभवतया आपण श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी महाराजांचे नाव ऐकलेच असेल. हे महात्मा त्यांचेच शिष्य आहेत व ह्यांचे नाव श्रीरङ्गपुरी आहे'. हे ऐकताच प्रभु एकदम म्हणाले–'विप्रयर! आपण मला लवकर श्रीरङ्गपुरी महाराजाकडेस घेऊन चला'.

तो ब्राह्मण महाप्रभुस श्रीरङ्गपुरीचे स्थानावर घेऊन गेला. प्रभुंनी दुरूनच पुरी महाराजांस पाहाताच त्यांना त्यांही साष्टांग प्रणिपात केला. त्यांही त्यांना उठवून छातीस लावले व प्रशंसा करीत श्रीरङ्गपुरी म्हणतात– 'आपले आकृतीवरून आपण कोणी सामान्य आहा असे वाटत नाही. संन्यासी असूनहि इतकी नम्रता, हे तर महान् आश्चर्य! इतकी सरलता,

इतकी भक्ति व इतके प्रेमाचे सात्विक विकार माझे गुरु देवांचे कृपापात्र संन्याशावाचून इतरत्र दिसणे शक्य नाही. आपण आपला परिचय करून द्यावा'.

प्रभुंनी अत्यन्त विनीत भावनेने सांगीतले–'संन्याशांमध्ये भक्ति भावाचे प्रवर्तक भगवान् माधवेन्द्रपुरीचे प्रधान शिष्य ईश्वरपुरी महाराज माझे मन्त्रदीक्षा-गुरु असून संन्यास-दीक्षा देणारे गुरु केशव भारती महाराज आहेत'.

श्रीरंगपुरी महाराजांनी विचारले–'पूर्वाश्रमीची आपली जन्मभूमि कोठे आहे?'

प्रभुंने सांगीतले–'हे शरीर गौड देशांत भगवती भागीरथीचे तटावरील नवद्वीपांत जन्मास आले आहे'.

अत्यन्त आनन्दाने श्रीरंगपुरी म्हणतात–'ओहो! तर तुम्ही आमचे निकट संबंधी आहात. आपण अद्वैताचार्यांना जाणत असालच. मी माझे गुरुंच्याबरोबर पहिल्याने नवद्वीपांत गेलो असता तेथे एक जगन्नाथ मिश्र नावाचे एक फार श्रद्धाळु ब्राह्मण आहेत, त्याच्या पत्नि तर साक्षात् अन्नपूर्णाच आहेत. मी एके दिवशी त्यांचे घरी भिक्षेस गेला होतो. त्यांचा एक सर्वगुणसंपन्न पुत्र संन्यासी झाला होता. दैवगति कांही विचित्र असते. संन्यास घेतल्यावर दोन वर्षांनी त्याहि तेथेच शरीर त्याग केला. संन्यासांतील त्यांचे नाव शंकरारण्य होते'.

हे ऐकल्यावर प्रभु कांहीसे विस्मित झाले, नेत्र आपले-आपुणच पाण्याने डबडबले आणि रुधित कण्ठाने प्रभु म्हणतात–'भगवन्! ते महाभाग शंकरारण्यस्वामी माझे पूर्वाश्रमीचे अग्रज होत'.

इतके ऐकताच पुरींनी पुन्हा प्रभुस आलिंगन दिले; व म्हणतात– 'काय आपण सगळेच संन्यासी झालात वा घरीं आणखीहि कोणी बन्धु आहे ?'

प्रभुंनी खाली मान घालून हळूच म्हटले–'घरीं तर तेच श्रीहरि आहेत. ज्यांचे आपण प्रथमच नांव घेतले ते माझे पूर्वाश्रमीचे पिता तर स्वर्गवासी झाले. आम्ही दोघेहि बन्धु आपणास शरण आलो. आता घरीं वृद्ध माता आहे'.

पुरीने म्हटले–'भाई ! खरोखरच आपलेच कुल धन्य आहे. आपलेच माता-पित्यांचे पुत्र उत्पन्न करणे सार्थक झाले'. ह्याप्रमाणे ह्या उभयतामध्ये परमार्थाच्या आणखीहि बऱ्याच गोष्टी झाल्या. दोन तीन दिवस उभयताहि एकत्रच राहिले व नन्तर पुरीमहाराज द्वारकेस जाण्यास निघाले व महाप्रभु श्रीविट्ठलाचे दर्शन घेऊन पुढे जाण्यास निघाले.

चन्द्रभागा व भीमेंत स्नान करून श्रीकृष्णा-वेण्याचे किनारी आले व तेथे ब्राह्मणापासून प्रभुंनी श्रीबिल्वमंगलकृत 'कृष्णकर्णामृत' नावाचा अपूर्व रसमय ग्रन्थ मिळविला. ब्रह्मसंहिता व कृष्णकर्णामृत– ह्या प्रमाणे दोन्ही पुस्तके बरोबर घेऊन महाप्रभु तापी नदीचे निकट आले व तेथे त्या नदींत स्नान करून महिष्मतिपूरावरून महाप्रभु नर्मदातटीं पोचले. तेथे ऋष्यमूक पर्वत अवलोकन केला आणि दण्ड-कारण्यांतील सर्व तीर्थे पावन करीत सप्त-ताल तीर्थाचा उद्धार केला. नीलगिरी प्रदेशी भ्रमण करीत असता प्रभुंनी असंख्य लोकांचा उद्धार केला. ह्या प्रमाणे भ्रमण करीत करीत महाप्रभु गुर्जरी नगरीस येऊन उपस्थित झाले. येथे कोणा एका अर्जुन-नामक शुष्क-वेदान्ती पंडीतास प्रभुंनी श्रीकृष्ण-तत्व समजाविले व त्यास प्रेम-दान दिले.

गुर्जरी नगरीहून महाप्रभु विजापूरचे पार्वत्य-प्रदेशी भ्रमण करून अनेक पुण्य-तीर्थी स्नान, दर्शन, मार्जन करीत पूर्ण नगरास पोचले. तेथे एका सरोवराचे काठी प्रभुंनी वास केला. नगर फार संमृद्ध असून त्यांत पुष्कळ पंडित होते व पुष्कळ पाठशालाहि होत्या. महाप्रभु त्यावेळी श्रीकृष्णविरहाने अत्यन्त व्याकुल झालेले होते. ते त्या सरोवराच्या काठी बसून अश्रुपात करीत मोठ्याने–'हा प्राणनाथ! हा हृदयेश्वर! तुम्ही कोठे आहात, नाथ! दर्शन द्या! प्राणवल्लभ शीघ्र या, तुम्ही कोठे लपून बसला आहात'. ह्या प्रमाणे म्हणत होते. हे ऐकून पुष्कळसे लोक एकत्र झाले. त्यांतील एक शुष्क हृदयाच्या पंडिताने सांगीतले– 'तुमचा कृष्ण तर ह्या जलांत लपून बसलेला आहे'. झाले, इतके ऐकण्याचाच अवकाश होता. प्रभु लागलीच कुदी मारून त्या जलांत पडले. लोकांत हाहाकार झाला. पुष्कळांनी त्या सरोवरांत उड्या घेतल्या व प्रभुंना बाहेर काढले. त्या पंडीताचा सर्वांनी धिक्कार केला. तोहि लज्जीत होऊन तेथून निघून गेला.

तेथून प्रभु भोलेश्वरास जाऊन जेजुरीस गेले. तेथे खण्डधारी खंडेराव देवाचे दर्शन केले. तेथील देवदासी उर्फ मुरळ्यांची स्थिती पाहून श्रीचैतन्यदेव त्याना म्हणाले–'तुम्ही धन्य आहा, तुमचे जीवन सार्थक झालेले आहे. अन्य स्त्रियांचे पति तर आस्ते-मांसाचे पुतळे नश्वर शरीर-धारी मनुष्ये आहेत, परन्तु तुमचा पति तर साक्षात् श्रीहरि आहे. गोपींनी श्रीहरी पति मिळावा म्हणून असंख्य वर्षे तप केले होते. खरा पति तर तोच नन्द-नन्दन आहे. तेव्हा तुम्ही सर्व प्रकारे मन लावून श्रीकृष्ण-नामाचे कीर्तन करीत राहा. ते पतितपावन आहेत. 'मी तुम्हास शरण आलो आहे', असे जो एक वेळे खऱ्या अन्तःकरणाने म्हणतो, त्याच्या सर्व पातकांची तो दयामय श्रीहरि क्षमा करतो'. असे म्हणून स्वता प्रभु

हरिनाम संकीर्तन करू लागले. हे ऐकून सर्व देव-दासी आपले बारीक सुलभ कण्ठाने—

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

ह्या महा-मन्त्राचे कीर्तन करू लागल्या. ह्यानन्तर महाप्रभुंनी पुढील प्रयाणास प्रारंभ केला.

# नौरोजी डाकूचा (लुटारू) उद्धार

संसारसिन्धुतरणे हृदयं यदि स्यात्
संकीर्तनामृतरसे रमते मनश्चेत् ।
प्रेमाम्बुधौ विहरणे यदि चित्तवृत्ति
श्रीचैतन्यचन्द्रचरणं शरणं प्रयातु ॥

प्रेमांत ना भय आहे, ना द्वेष. ज्याने प्रेमरसाचे पान केले, त्यास जगतांत सर्वत्र त्याच एका परम प्रेमास्पद प्रभुचेच रूप दिसते. जर सर्वच आपले प्रेमास्पद आहेत तर भय कोणाचे ! भय तर दुसऱ्यापासून असते, आपलेच आपल्यास भय नाही. द्वेष इतराशी केला जातो, जर सर्वच श्यामसुन्दराचेच तर द्वेष कोणाशी व कां करावा ?

महाप्रभुंनी जेजुरीस देव-दासींना श्रीकृष्ण-कीर्तनाचा उपदेश करून ते पुढील मार्गास लागले. तेथून थोडेच अन्तरावर एक चोरानन्दी वन होते. ह्या आरण्यांत पुष्कळसे लुटारू राहात होते. ह्यांचा दलपति नौरोजी लुटारू ह्या नावाचा होता. तो फारच क्रूर व हिंसक होता. त्याचे नाव ऐकताच सर्वजण थरथरा कांपत. त्या प्रदेशांत त्याचे नाव आतंक होते. ह्या अरण्यांतून जाण्यास लोकांनी प्रभुस ह्यासाठी अडकाठी केली, परन्तु प्रभु थोडेच ऐकणार होते. ते म्हणाले–'लुटारू लोक पैशासाठी लोकांना मारतात, लुटतात. आम्ही भिकारी, संन्यासी आम्हास मारून त्यांना काय मिळणार ? आमचा जीवच घ्यावयाचा असेल तर, त्यांही खुशाल घ्यावा, ह्या शरीराच्या योगे कोणाचेहि काम चालत असेल तर उत्तमोत्तम'. असे म्हणून प्रभु त्या घोर वनांत शिरले व तेथे एका वृक्षाखाली पडून राहिले, आणि हळूहळू सुमधूर हरिनाम संकीर्तन

करण्यास त्यांही सुरुवात केली. दलपति नौरोजीने ऐकले कीं, कोणी संन्यासी ह्या आमचे आरण्यांत आलेला आहे. तो आपले पुष्कळ साथीदारांसह प्रभुचे समीप आला व प्रभुंना त्यांही भोजनाचे निमन्त्रण दिले व स्थानी यावे अशी विनंती केली. प्रभुंनी म्हटले–'आम्ही तर संन्यासी, वृक्षतळींच आमचे आसन ठीक आहे. राहिली भोजनाची गोष्ट. भिक्षा हाच आमचा एकमात्र आधार. आपण जी भिक्षा आणाल ती आम्ही सहर्ष स्वीकारू'.

प्रभुंचे हे म्हणणे ऐकताच त्याने आपले दलांतील माणसांना आज्ञा केली व थोड्याच वेळेंत त्यांहि खाण्याचे जातजातीचे पदार्थ आणविले. महाप्रभु कृष्ण-प्रेमांत तल्लीन होते, त्यांना शरीराचेहि भान नव्हते. ते प्रेमभरांत गद्‌गद्-कण्ठाने कीर्तन करीत होते. नौरोजी आपले दलासहित प्रभुना गराडा देऊन बसलेला होता. महाप्रभुचे ते अभूतपूर्व अलौकिक प्रभु-प्रेम अवलोकन करताच, त्याचेहि दगडासारखे हृदय पाझरले. त्याने जन्मभर लोकांची हिंसा व लुटमारच केली होती. ह्या वेळीं त्याची अवस्था लगभग साठ वर्षांची होती. महाप्रभुचे ह्या अलौकिक प्रेमाने त्या साठ वर्षांच्या वृद्ध लुटारूवरहि आपली मोहिनी घातली. तो हळू-हळू प्रभुच्या पाद-पद्मांस धरून म्हणू लागला–'स्वामी महाराज! आपण हा कोणता मन्त्र उच्चारण करीत आहा, मलाहि ह्या मन्त्राचा उपदेश द्यावा. कोण जाणे आपण काय जादू मजवर टाकिली आहे कीं, त्यामुळे माझे मन हिंसा व लुटमारीपासून अगदी परावृत्त झाले आहे. मीहि आता आपणाबरोबर राहून निरन्तर श्रीकृष्ण-कीर्तन करीत राहाण्याची इच्छा करीत आहे. आपण मला मन्त्र-दीक्षा द्यावी. भगवन्! तसे पाहिले तर, माझा जन्म ब्राह्मण कुलांत झालेला आहे. परन्तु बाल्य-कालापासून मी हेच काम करीत आलो आहे, हा वेळ पावेतो मला

कधीहि ह्या कामापासून परावृत्त व्हावे असे वैराग्य उत्पन्न झाले नाही. परन्तु कोण जाणे, आज आपले दर्शनाने, काय झाले कोणास ठाऊक, आता कांहीं हे बरे वाटत नाही. मी आता आपले हे चरण सोडणार नाही. आपण मला ह्या मन्त्राची दीक्षा द्यावी कीं, ज्या योगे आपण इतके आनन्दांत मग्न झालेले आहात'.

प्रभुंनी त्याची आर्तवाणी ऐकून म्हटले—'नौरोजी! तुम्ही मोठे भाग्यशाली कीं, अशा वृद्धावस्थेंत कां होईना तुम्हास असा निर्वेद प्राप्त झाला. श्रीकृष्ण-कीर्तनच संसारांत सार आहे. हे धन-रत्न आदि सर्व नश्वर आहे. क्षणभंगुर आहे. तुम्ही घाबरू नका. भगवान् तर प्रतिज्ञापूर्वक सांगतात कीं, कोणी कितीका मोठा दुराचारी असेना, तो एकदा अनन्यभावाने माझे भजन करू लागला कीं, त्यास साधुच म्हटले पाहिजे. दयालु श्रीहरीने तुमचेवर कृपा केली व तुम्हास सद्बुद्धि प्रदान केली, तेव्हा तुम्ही सदैव हरिनामकीर्तन करीत राहा'. असा उपदेश करून प्रभुंनी त्यास महामन्त्राची दीक्षा दिली.

प्रातःकालीं उठून महाप्रभु पुढील प्रवासास निघाले. त्यांचेबरोबर नौरोजी लुटारूहि सर्वसंग परित्याग करून जाण्यास निघाला. त्याने आपले दलास तसे सांगीतले व मोठ्या प्रेमाने त्यांना निरोप दिला. त्याचे सर्व साथी अगदी गहीवरून आले व त्यांतील पुष्कळांनी तो व्यवसायच सोडला.

आजपर्यन्त पुष्कळांनी प्रभुंच्याबरोबर जाण्याची प्रार्थना केली परन्तु प्रभुंनी कोणासहि बरोबर घेतले नाही. परम भाग्यवान् नौरोजीच्या भाग्याची काय प्रशंसा करावी की, ज्यास प्रभुंनी प्रसन्न मनाने बरोबर येण्याची अनुमति दिली!

पुढे महाप्रभु, त्यांचे मागे गोविन्ददास व सर्वांच्या मागे नौरोजी

याप्रमाणे निघाले. हे सर्व खंडाळ्यास पोचले. तेथे लोकांनी प्रभुंचा सत्कार केला. तेथून प्रभु नाशकास गेले. तेथे पंचवटींत त्यांही मुकाम केला. प्रभु संकीर्तन व नृत्य करीत असता नौरोजी त्यांचा घाम पुशीत असे. त्यावेळीं बडोद्याचे महाराज तेथेच होते. त्यांही पुष्कळ द्रव्य खर्च करून एक भगवन्ताचे मंदीर बांधले होते. भगवन्ताची पूजा-आर्चा ते स्वयं करीत असून साधु-महात्म्यांचा परामर्ष घेत होते. महाप्रभु श्रीकृष्णाच्या मूर्ति पुढे प्रेमानन्दांत मग्न होऊन नृत्य करू लागले. महाराज ते पाहून अगदी स्थब्ध झाले व त्यांही महाप्रभुचा फार सत्कार केला. भेट करण्याचीहि इच्छा होती. परन्तु संन्यास धर्मानुसार मुष्टि-भिक्षेच्या अतिरिक्त प्रभुंनी कांहीहि ग्रहण केले नाही. बडोद्यासच येऊन नौरोजीने ह्या नश्वर शरीराचा त्याग केला. महाप्रभुंनी अश्रुभरीत नेत्राने आत्मीयतेने व एका भक्त-वैष्णवाप्रमाणे त्यास आपले हाताने समाधि दिली. ह्याप्रमाणे जन्मापासून हिंसा करणारा व धन-अपहरण करणारा एक लुटारू महाप्रभुस शरण आल्याने अमर झाला.

# नीलाचल येथे प्रभुचे प्रत्यागमन

उद्दामदामनकदामगणाभिराम–
मारामरामम्विरामगृहीतनाम ।
कारुण्यधाम कनकोज्ज्वलगौरधाम
चैतन्यनाम परमं कलयाम धाम ॥

बडोद्याहून निघून महाप्रभु अमदाबादेस आले. तेथे दोघा बंगाली वैष्णवांची गाठ पडली व त्यांचे मुखाने नवद्वीपाचा समाचार समजल्याने प्रभुंची पूर्वस्मृति पुन्हा जागृत झाली. त्यांना क्षेमकुशल विचारून प्रभु द्वारकेस गेले. तेथे मंदीरांत जाऊन प्रभु आनन्दांत मग्न होऊन कीर्तन करू लागले. तेथून समुद्र किनाऱ्याने प्रभु प्रभासास आले व तेथे सोमनाथाचे दर्शन घेऊन प्राची सरस्वतींत त्यांही स्नान केले. ह्याप्रमाणे सर्व तीर्थांत भ्रमण करून झाल्यावर नीलाचलास जाण्याची प्रभुची इच्छा झाली. त्याप्रमाणे गोदावरीचे किनाऱ्या-किनाऱ्याने प्रभु पुन्हा विद्यानगरास आले.

महाप्रभु आल्याचा वृत्तान्त समजताच राय रामानन्द लागलीच प्रभुचे दर्शनास आले. प्रभुंनी त्यांना आलिंगन दिले. रायांनी नम्रतेने म्हटले–'प्रभो! आपण ह्या अधमास विसरला नाही, आपणास ह्याचे अद्याप स्मरण आहे. या योगे मी इतका फुललो आहे की, कांही सांगवत नाही. आज आपण पुन्हा दर्शन देऊन मला आपले यथार्थ कृपापात्र केले आहे'.

प्रभुंनी म्हटले–'राय महाशय, यथार्थतः तर आपलेच दर्शनाने माझी सर्व तीर्थयात्रा सफल झाली होती, तरीपण मी आपला तीर्थास

उगीचच गेला होतो. येथे आपले संगतींत मला जितके सुख लाभले तितके मला इतर कोठेहि मिळाले नाही. त्याच आनन्दाचे प्राप्तीसाठी पुन्हा मी आज येथे आलो आहे. म्हण आहे–'लाभाल्लोभः प्रजायते' अर्थात् जितका लाभ होतो, तितकाच अधिक लोभ वाढतो. तेव्हा आता तर अशाच निश्चयाने आलो आहे कीं, आपले संगतींत सदैव वास करून त्याच आनन्दरसाचे आस्वादन करीत राहावे'.

राय रामानन्द म्हणाले–'आपले आज्ञेप्रमाणे मला राज-कार्यातून अवकाश देण्याची मी महाराजांना विनंती केली होती व त्यांहि माझे प्रार्थनेचा स्वीकार करून मला बोलाविलेहि आहे. तेव्हा आता निश्चयाने आपले चरणाजवळ राहाण्याचे भाग्य लाभेल असे वाटते'.

प्रभु म्हणाले–'म्हणून तर मी आलो आहे. आता आपणास बरोबर घेऊनच पुरीस जाणार आहे'.

राय महाशयांनी सांगीतले–'प्रभो! माझे बरोबर चालण्याने आपणास त्रास होईल. अद्याप माझी कामे शेष आहेत. माझे बरोबर हत्ती, घोडे, नोकर-चाकर पुष्कळसे असल्याने आपणास त्रास पोचेल, तेव्हा आपण प्रथम पुरीस जावे. मी मागाहून येतोच'.

राय रामानन्दांचे हे म्हणणे प्रभुंनी मान्य केले व तेथे तीन चार दिवस राहून आलेल्या रस्त्यानेच परत अलालनाथास पोचले. तेथून त्यांही कृष्णदासाबरोबर आपण आल्याचा समाचार नित्यानन्द आदि भक्तांना पाठविला. ती मंडळी ह्यांची सारखी मार्गप्रतिक्षा करीतच बसलेली होती. समाचार समजताच नित्यानन्दादि मंडळी धावतच आली. रस्त्यांत दुरूनच प्रभु येत असलेले त्यांही पाहिले व लागलीच त्यांहो त्यांना साष्टांग प्रणाम केला. त्या सर्वांना क्रमशः उठवून प्रभुंनी

प्रेमालिंगन दिले. आज दोन वर्षांनी प्रभुचे आलिंगन मिळाल्याने सर्वांच्या नेत्रांतून प्रेमाश्रु वाहू लागले व ते सर्व प्रभुच्या मागोमाग चालु लागले.

इतक्यांतच समोरून सार्वभौम भट्टाचार्य व गोपीनाथाचार्य येत असलेले प्रभुंनी पाहिले. अस्त-व्यस्तपणे धावतच जाऊन प्रभु त्यांना आलिंगन देण्याच्या बेतांत होते तोच, प्रभुच्या चरणीं त्यांही लोटांगण घातले. त्यांना उचलून प्रभुंनी त्यांना आलिंगन दिले, व त्यांच्या वस्त्रास लागलेली धूळ प्रभुंनी आपले हातानी झटकून टाकली. सर्व मंडळी प्रभुच्या मागे चालत होती. आधी महाप्रभु जगन्नाथाचे दर्शनास गेले. प्रभुंनी भगवन्तास साष्टांग प्रणिपात केला व ते नानाप्रकारे स्तुति करू लागले. पुजाऱ्याने माला व प्रसाद प्रभुस दिला. पुष्कळ दिवसांनी पुरुषोत्तम भगवानाचा प्रसाद मिळाल्याने प्रभुना फारच आनन्द झाला व त्यांही तो तेथेच ग्रहण केला. नन्तर मन्दीराची प्रदक्षणा करून प्रभु भट्टाचार्य सार्वभौमांचे घरीं आले, त्यांही प्रभुंना भिक्षेचे निमंत्रण केले. सर्व भक्तमंडळीसह प्रभुंनी तेथे भिक्षा केली.

महाराजा प्रतापरुद्रांचे अनुमतीने त्यांचे पुरोहित काशीमिश्र ह्यांचे एकान्त-निर्जनस्थान प्रथम पासूनच प्रभुंचे राहाण्यासाठी निश्चित करण्यांत आले होते. प्रभुंना ते स्थान फार आवडले व ते तेथे राहू लागले.

# प्रेम-रस-लोलुप भ्रमर-भक्तांचे आगमन

कचित् कचिदयं यातु स्थातुं प्रेमवशंवदः ।
न विस्मरति तत्रापि राजीवं भ्रमरो हृदि ॥

कस्तुरी कितीहि लपवून ठेवा, तिचा सुवास चहुकडे पसरतोच व ओळखणारे पुरुष दुरूनच समजून चुकतात कीं, ह्या ठिकाणीं कस्तुरी विद्यमान आहे. प्रेम लपविल्याने लपत नाही, त्यास विज्ञापनेची अवश्यकता नसते. कमल उमलल्यावर मधु-लोलुप भ्रमर आपले आपुणच त्यावर तुटून पडतात.

प्रेमार्णव गौराङ्गदेवाच्या संसर्गात राहून ज्यांनी पूर्वी प्रेम-रस-पान केले होते, त्यांना बरे ह्यांच्याविना तो रस दुसरे ठिकाणीं कोठून मिळणार? अशी मंडळी त्यासाठी ललायित झालेली होतीच. सार्वभौम भट्टाचार्यांचे मुखाने प्रभुंची प्रशंसा ऐकल्याने कटकाधिपति प्रतापरुद्र महाराजहि प्रभुचे दर्शनासाठी फारच उत्कंठित झालेले होते. श्री जगन्नाथाचे मंदीरांतील सर्व कर्मचारी, पुरीचे पुष्कळसे श्रेष्ठ-पुरुष व साधुसन्त प्रभुच्या दर्शनाची सारखी मार्गप्रतिक्षा करून होते. प्रभु पुरीस आल्याचा समाचार मिळताच भट्टाचार्य सार्वभौमासह पुष्कळसे प्रेमी पुरुष प्रभुंना भेटण्यासाठी आले. प्रभुंनी सर्वांना प्रेमपूर्वक बसण्यास सांगीतले. सर्वांनी प्रभुस नमस्कार केला व बसले. सर्वांच्यापूर्वी काशीमिश्रांचा परिचय करविला–'हे महाराजांचे कुलगुरू व राजपुरोहित आहेत. ह्यांचा प्रभुंच्या चरणीं फार अनुराग असून ते दर्शनासाठी फारच उत्कंठीत झाले होते. जेथे प्रभु राहिले आहे ते घर ह्यांचेच आहे'.

मिश्रांचेकडे प्रेमपूर्वक पाहात प्रभु म्हणतात–'मिश्रजी! मी आपले

दर्शनाने कृतार्थ झालो. आपले घरांत राहून मी भक्तासह कृष्ण-कीर्तन करीत कालयापन करीन. आपलेहि दर्शन नित्य होत जाईल. मजसारख्यास ह्यापेक्षा विशेष ते काय पाहिजे ?'

मिश्रजी हात जोडून म्हणाले–'प्रभो ! हे घर आपलेच आहे व दासहि आपले चरणांजवळ आहेच. निःसंकोचपणे आपणास योग्य वाटेल ती आज्ञा करावी'.

ह्यानन्तर जगन्नाथाचे अन्तरंग सेवकांची भट्टाचार्यांनी ओळख करून दिली. प्रभु त्यांची बढाई करीत म्हणाले–'आपण मंडळी खरोखरच धन्य आहात कीं, जे सदैव श्रीपुरुषोत्तमाच्या सेवापूजेंत निमग्न असता. मनुष्याचे मुख्य कर्तव्यच हे आहे'.

सर्वांनी प्रभुस प्रणाम केला व त्यांची आज्ञा घेऊन जो तो आपआपले घरीं गेला. नन्तर प्रभुंनी आपले बरोबर आलेले कृष्णदासास बोलाविले व प्रभुंनी म्हटले–'भट्टाचार्य ! ह्यास आपण माझेबरोबर पाठविले होते कीं, अचेतनावस्थेंत त्याहि माझे शरीराची देखरेख ठेवावी. यथाशक्ति ह्याने माझी चांगले प्रकारे सेवा-शुश्रुषा केली. परन्तु एके ठिकाणीं कांही दम्भी साधुंनी ह्यास बहकविले व कामिनी-कांचनाचे लोभांत हा फसला. हा मला सोडून त्याचे बरोबर गेला. ज्यास असा लोभ आहे व जो इन्द्रियांचे यत्किंचितहि निरोधन करू शकत नाही, त्यास माझेपाशी ठेविण्यास योग्य मी समजत नाही. त्याने पाहिजे तिकडे जावे.

प्रभुंचे हे म्हणणे ऐकून कृष्णदास मोठ्याने रुदन करू लागला. प्रभुंनी त्यास आपले जवळ ठेविण्याची संमति दिली नाही. तेव्हा तो निराश होऊन नित्यानन्दाकडेस गेला, व त्यांचे पाय धरून रडू लागला. प्रभु आल्याचा समाचार नवद्वीपांत कोणाबरोबर पाठवावा ह्या विचा-

रांत नित्यानन्द आदि सर्व भक्त होतेच. शचीमाता व इतर भक्तगण हा समाचार ऐकण्यास अगदी अधीर झालेली होती. विष्णुप्रियेचा एक एक दिवस युगाप्रमाणे जात असला पाहिजे तेव्हा कृष्णदासास पाठविल्यास ठीक होईल. या योगे प्रभुच्या आज्ञेचेहि उल्लंघन होणार नाही व ह्या विचाऱ्याचेहि समाधान होईल. सर्वांनी हा विचार प्रभुस निवेदन केला. प्रभुंनी उत्तर दिले–'श्रीपाद! मी तर आपला नर्तक आहे, जसे नाचवाल तसा मी नाचेन, आपले इच्छे विरुद्ध मला कांहीच करणे शक्य नाही. आपणास योग्य वाटेल ते करा'.

नित्यानन्द दीनपणे म्हणाले–'प्रभो! आपली अनुमति झाल्यासच आम्ही यास नवद्वीपास पाठविण्याचे करू, अन्यथा नाही'.

प्रभुंनी म्हटले–'आपली इच्छा आहे तेव्हा माझी अनुमतीच समजावी'.

ह्या प्रमाणे प्रभुंची आज्ञा झाल्यावर कृष्णदासास नित्यानन्दांनी जगन्नाथाचा प्रसाद देऊन नवद्वीपास पाठविले. इकडे महाप्रभु भक्तांसहीत नित्य नियमितपणे भजन-कीर्तन करू लागले. पुरीतील पुष्कळ भक्तमंडळी प्रभुच्या दर्शनास येऊन आपणास कृतार्थ करीत होते. राय रामानन्दांचे पिता भवानन्द ह्यांना प्रभुच्या आगमनाचा समाचार समजताच तेही आपले चारी पुत्रासह प्रभुच्या दर्शनास आले. त्यांच्या परिचयाने प्रभु फार आनन्दीत होऊन म्हणाले–'ज्यांचे रामानन्दासारखे भगवद्भक्त पुत्र आहेत, ते पुरुष देवतांनासुद्धा वन्दनीय आहेत. खरोखर आपण धन्य आहात, आपण साक्षात् पांडुसारखे आहात, आपले पाच पांडवच आहेत. राय रामानन्द युधिष्ठिरवत् सत्यप्रतिज्ञ, धर्मात्मा आणि भगवद्भक्त आहेत. आपल्या गृहिणी साक्षात् कुंतीच होत. आपण मला आपले पुत्राप्रमाणेच समजावे'.

हात जोडून भवानन्द म्हणाले–'मी शूद्राधम, प्रभुच्या ह्या असीम कृपेचा स्वतास अधिकारी समजतच नव्हतो, आपण भक्तवत्सल आहात, पतितपावन आपले नाव प्रसिद्ध आहे. तेच आपले नाव सार्थक करून दाखविण्यासाठी आपण मजसारख्या संसारी, विषयी पुरुषावर अहैतुकी कृपा करीत आहात. आपले चरणांची शरणागति द्यावी हीच ह्या अधमाची ह्या श्रीचरणांजवळ वारंवार प्रार्थना आहे. मी माझे परिवारासह आपले चरणांचा दास आहे. इच्छा असेल तेव्हा निस्संकोचपणे ह्या दासास आज्ञा करावी'. असे म्हणून आपला कनिष्ठ पुत्र श्रीवाणीनाथ यास प्रभुच्या सेवेसाठी नियुक्त केले.

इकडे महाप्रसाद घेऊन कृष्णदास नवद्वीपात शचीमाते सन्निध पोचला. पुत्राच्याच चिन्तनांत सदैव असणारी शचीमाता पुत्राचा समाचार समजताच आनन्दांत मग्न होऊन अश्रुविमोचन करू लागली. विष्णुप्रियाहि सासुच्या बाजूस येऊन बसली. मातेने हळूहळू सर्व गोष्टी विचारून घेतल्या. हा समाचार थोडेच वेळांत सर्व नगरांत पसरला. भक्तगण शचीमातेच्या अंगणांत एकत्रित झाले व हरिध्वनीचा एकच नाद घुमू लागला. कृष्णदासास सर्वजण नाना प्रकारचे प्रश्न विचारू लागले. ह्या प्रमाणे तो दिवस ह्या गोष्टींतच वितून गेला.

दुसरे दिवशी श्रीवास आदि भक्त कृष्णदासास बरोबर घेऊन शान्तीपुरास अद्वैताचार्याचे घरी गेले, व त्यांना अत्यन्त हर्षाने प्रभु पुरीस आल्याचा वृत्तान्त ऐकविला, व त्यांना महाप्रसादहि दिला. प्रभुंचा समाचार व महाप्रसाद मिळताच वृद्ध आचार्याचे सर्व अंग-प्रत्यंग पुलकित झाले व दीर्घश्वास घेत–'हा गौर, हा गौर' म्हणून ते प्रेमभरांत नृत्य करू लागले. थोडे वेळाने हा प्रेमावेग ओसल्यावर

प्रभुच्या दर्शनासाठी पुरीस जाण्याचे विचारांत सर्व बसले. सर्वांनी पुरीस जाण्याचे निश्चित केले.

पाठक, श्रीपरमानन्दपुरी महाराजांचे नाव विसरले नसतीलच. ते दक्षिण-यात्रेत प्रभुस भेटले होते व गंगास्नानाच्या इच्छेने नवद्वीपाकडेस निघाले होते. त्यांही पुरीस यावे व आपणाबरोबर राहावे अशी प्रभुंनी त्यांना प्रार्थना केली व त्यांही त्या प्रार्थनेचा स्वीकारहि केला होता. त्याप्रमाणे ते गंगाजीच्या दक्षिण किनाऱ्या किनाऱ्याने नवद्वीपास आले व शचीमातेस प्रभुचा संवाद सांगीतला. कृष्णदास आल्या वेळीं ते नवद्वीपासच होते. त्यांना हा समाचार समजताच ते प्रभुच्या एका कमलकान्त नामक ब्राह्मण भक्ताबरोबर पुरीस निघाले व वाटेतील सर्व तीर्थांत स्नान व दर्शन करीत ते पुरीस पोचले.

पुरींस पोचल्यावर महाप्रभुचा शोध करण्यासाठी ते जगन्नाथाच्या मंदीरांत गेले व तेथे प्रवेश करतात तोच पुष्कळ लोकांनीं गराडा दिलेले प्रभु त्यांच्या दृष्टीस पडले. पुरी महाराज तिकडेस लगबगीने जाऊ लागले. दुरूनच पुरी महाराजांना पाहताच प्रभुंनी त्यांना प्रणाम केला व पुरींनी त्यांना उठवून आलिंगन दिले. दोघेहि आनंदाने एकमेकाशी बोलू लागले. प्रभु म्हणाले–'आपण आता येथेच राहून आपले संगतीने मला आनन्दवीत जावे'.

पुरी महाराजांनी म्हटले–'येथे येण्याचे आमचे प्रयोजनच आपली संगती घडावी हेच आहे'. हे ऐकताच प्रभु त्यांना घेऊन श्रीजगन्नाथाचे दर्शनास गेले व दर्शन केल्यावर प्रदक्षिणा करून त्यांही त्यांना आपले निवासस्थानीं नेले. तेथे श्रीपरमानन्द महाराजांचेसाठी आपले समोरच एक नवीन कुटि दिली व एक स्वतन्त्र सेवकहि दिला.

प्रभुंच्या प्रत्यागमनाचे वृत्त काशीपर्यन्त पोचले होते. प्रभुंचे जे अन्तरंग भक्त होते ते पुरीस येऊ लागलेच होते. नवद्वीपांत एक पुरुषोत्तमाचार्य नावाचे प्रभुंचे फार प्रिय भक्त व विद्वान् ब्राह्मण होते. महाप्रभुंनी संन्यास घेतला तेव्हा त्यांना प्रभु वियोग असह्य झाला व त्याही बरदारांचा त्याग करून ते काशीधामास गेले व तेथे स्वामी चैतन्यानन्द महाराजाकडून त्यांही संन्यासदीक्षा घेतली. त्यांचे नाव 'स्वरूप' ठेविलेले होते. प्रभुंनी त्यांत 'दामोदर' आणखी वाढविले, म्हणूनच भक्तांत स्वरूपदामोदर नावाची इतकी ख्याति आहे.

स्वामी चैतन्यानन्द मस्तिष्क-प्रधान-विचारवान् संन्यासी होते. परन्तु स्वरूपदामोदर परम सहृदय, हृदयप्रधान व भक्त-हृदयी पुरुष होते. त्या कारणाने त्यांना गुरुचे पथाचे अनुकरण करता आले नाही. गुरूंनी त्यांना इतराप्रमाणे अद्वैतवेदान्ताचा व प्रचाराचा उपदेश केला, परन्तु ह्यांचे अन्तःकरण तर प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णाचे भक्तिसाठी तळमळत होते, या कारणाने त्यांना त्यांच्या गुरुंची आज्ञा पालन करणे अशक्य झाले. दक्षिण यात्रा संपवून महाप्रभु पुरीस परत आल्याची वार्ता ह्यांना कळल्यावर ह्यांना वाराणसीस राहवेना. हे गुरुची आज्ञा घेऊन सरल पुरीस प्रभुचे संनिध येऊन उभे राहिले. ह्यांना पाहताच प्रभुंनी ह्याना कडकडून मिठी मारली. तेव्हा हे प्रभुच्या बरोबरच राहिले.

प्रभुंच्या चरणी स्वरूपदामोदराची अलौकिक भक्ति होती. ह्यांना गौरभक्त गौराङ्गप्रभुचा दुसरा विग्रहच (अवतार) मानतात. खरोखर ह्यांचे गुण महाप्रभुप्रमाणेच होते. वर्णहि ह्यांचा गौर होता. बांधा एकेरी व दुसऱ्याचे मन सहज आकर्षित करण्यासारखा होता. हे विनयी, सदाचारी व सरल हृदयाचे होते. एकान्त ह्याना फार प्रिय होता, परन्तु प्रभुना

सोडून हे कोठेहि जात नसत. कोणाशी विशेष बोलत नसत. विद्वान् असून अति गंभीर होते. जेव्हा प्रभु बारा वर्षे सदा विरहावस्थेत भान रहीत होते, तेव्हा हे प्रभुचे मस्तक आपले मांडीवर घेऊनच निजत असत. महाप्रभु राधा-भावांत विरह वेदनांनी व्याकुल होऊन रुदन करीत, तेव्हा ह्यांना ललिता-सखी मानीत व ह्यांच्या गळ्यांत आपले हात टाकून रात्रभर प्रलाप करीत असत. निरन्तर छायारूपाने हे प्रभुच्या बरोबर न राहात तर प्रभुंच्या बारा वर्षांच्या गंभीरालीला आज जगतांत अप्रकटच राहिल्या असत्या. हे महाप्रभुंची नित्याची अवस्था आपले दैनन्दिनींत लिहित असत. तोच आज भक्तांना परम सुखद व मधुरभावाची पराकाष्ठा दर्शविणारा ग्रन्थ स्वरूपदामोदराचा 'कडचा' (दैनन्दिनी) ह्या नावाने प्रसिद्ध आहे.

महाप्रभुंना ह्यांचे आगमनाने सर्वात अधीक आनन्द झाला. प्रभु म्हणाले–'तुम्ही आल्याने मला किती आनन्द झाला हे मला व्यक्त करून दाखविता येत नाही. खरे पाहिल्यास तुमचेवाचून मी आंधळाच होतो. मी तुमचेच विचारांत होतो. तुम्ही येथे आलात हे फारच उत्तम काम केले. आता मला सोडून जाऊ नका'.

प्रेमपूर्वक स्वरांत हळूच स्वरूपदामोदर म्हणतात–'प्रभो! मी स्वतः होऊन आपले चरणांजवळ येऊच कसा शकणार आहे? माझी पातके उदयास आली, तेव्हा मी आपले चरणापासून पृथक् झालो. आता आपण कृपा करून बोलावले तेव्हा मी येथे आपले चरणाजवळ आलो व जोपर्यन्त आपण चरणाजवळ ठेवाल तो पावेतो मी अन्यत्र जाऊच कसे शकणार!' असे म्हणून त्यांही प्रभुंच्या चरणीं लोटांगण घातले. प्रभुंनी त्यांना हळूच उठवून त्यांचे पाठीवरून हात फिरविला. तेव्हा-पासून सदैव ते प्रभुंच्या समीपच असत.

एके दिवशीं एक पुरुषाने सरल येऊन प्रभुंचे चरणीं प्रणाम केला व हात जोडून तो दूर उभा राहिला. प्रभुंनी त्यास विचारले–'भाई! तुम्ही कोण आहा व कोठून आला?'

त्याने हलकेच उत्तर दिले–'प्रभो! मी ईश्वरपुरी महाराजांचा भृत्य आहे. ते मला 'गोविन्द' ह्या नावाने बोलावित असत. 'सिद्धि-लाभ करण्याचे वेळीं मी त्यांना, मला काय आज्ञा आहे, हे विचारले, तेव्हा त्यांही मला आपले सेवेंत राहाण्याची आज्ञा दिली. माझे एक दुसरे गुरुबन्धु काशीश्वर म्हणून आहेत, तेही तीर्थयात्रा करून श्रीचरणा समीप येणार आहेत. आता मला काय आज्ञा आहे?'

पुरी महाराजांचे स्मरण होताच महाप्रभुंचे नेत्र पाण्याने डबडबले, गळा दाटून आला व त्यांच्या प्रेमाची आठवण येऊन प्रभु म्हणाले–'पुरी महाराजांचे माझे ठिकाणीं पुत्रवत् प्रेम होते. ते मला मन्त्रदीक्षा देऊन कोठे गेले हे जरी मला आजपर्यन्त माहीत नाही, तरी पण ते मला विसरले नाहीत. शेवट पावेतो त्यांना माझे स्मरण होते. अन्तसमयीं माझे त्यांही स्मरण केले, ह्यापेक्षा त्यांची मजवर विशेष कृपा ती कोणती असणार? हे माझ्या गुरूचे सेवक असल्याने मलाहि पूज्य आहेत, तेव्हा सार्वभौम महाशय! आपणच मी कसे वागावे हे सांगा?'

सार्वभौम म्हणतात–'प्रभो! 'गुरोराज्ञा गरीयसी' गुरुची आज्ञाच प्रमाण मानून ह्यास आपले शरीराच्या सेवेचे कार्य सोपावे. या योगे गुरुच्या आज्ञेचा स्वीकार होऊन ह्याचीहि इच्छा पूर्ति होईल'.

भट्टाचार्यांची ही सम्मति प्रभुंनी स्वीकारून गोविन्दास आपले शरीर सेवेचे कार्य सोपले, तेव्हा गोविन्द प्रभुंची सर्व प्रकारे सेवा करू

लागला. प्रभुंना अर्पण करावयाच्या सर्व वस्तु ह्यांच्या विद्यमाने दिल्या जात.

एके दिवशीं प्रभु आंत बसले होते, इतक्यांत मुकुन्दाने हळूच येऊन सांगीतले–'प्रभो! श्रीमत् केशव भारती महाराजांचे गुरुबन्धु श्रीब्रह्मानन्द भारती आपणास भेटण्यास आले असून बाहेर उभे आहेत, आज्ञा असल्यास त्यांना आंत घेऊन येतो'.

प्रभु म्हणाले–'ते आम्हास गुरुतुल्य आहेत, त्यांना घेण्यास मीच जातो'. बाहेर आल्यावर मृगचर्म पांघरलेले ब्रह्मानन्दांना त्यांही पाहिले. त्यांही मुकुन्दास विचारले–'मुकुन्द! भारती महाराज कोठे आहेत?'

मुकुन्दाने सांगीतले–'प्रभो! आपणासमोर उभे आहेत हेच'.

महाप्रभु म्हणतात–'नाही, नाही, तूं खोटे बोलतोस, अरे, भारती महाराज, कधी तरी मृगाजिन पांघरून आलेल्याचा देखावा करतील काय? भारती महाराजांना समजले कीं, हे मृगचर्म महाप्रभुना रुचले नाही, तेव्हा त्याही ते तात्काल फेकून दिले. प्रभुंनी लागलीच त्यांचे चरणीं प्रणाम केला, तेव्हा ते म्हणाले–'आपण मला प्रणाम करु नका, आपण तर साक्षात् ईश्वर आहात'.

प्रभुंनी म्हटले–'आपण आमचे गुरु आहात, तेव्हा आपणास प्रणाम न करावा तर कोणास करावा? आमचे साकार भगवान् तर आपणच आहात'.

भारतीनी उत्तर दिले–'विधिनिषेध तर साधारण लोकासाठी असतात. आपला गुरु होऊच कोण शकणार? आपण स्वताच जगताचे गुरु आहात'.

ह्याप्रमाणे ते परस्पर स्तुति करू लागले. भारती तेथेच महाप्रभुंच्या समीपच राहू लागले.

ह्यानन्तर थोडे दिवसांनी काशीश्वर गोस्वामीहि तेथे येऊन पोचले त्यांनाहि प्रभुंनी आपले जवळच ठेविले.

श्रीजगन्नाथाचे मन्दीरांत रोज हजारो लोकांची सारखी भीड असते पर्वकालीं तर विचारूच नये. महाप्रभु दर्शनास जात तेव्हा सर्व भक्तांन बरोबर घेऊन जात असत. आपले सर्व परिवाराचेमध्ये नृत्य करीत असताना महाप्रभु फारच सुन्दर दिसत असत. दर्शनार्थी श्रीजगन्नाथाचे दर्शन घेण्याचे विसरून ह्यांचेच दर्शनास उभे राहात होते.

# महाराज प्रतापरुद्र प्रभु दर्शनास आतुर

हेलोध्दूलितखेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया
शाम्यच्छास्त्रविवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया ।
शश्वद्भक्तिविनोदया शमदया माधुर्यमर्यादया
श्रीचैतन्यदयानिधे तव दया भूयादमन्दोदया ॥

आम्ही ह्या पूर्वीच सांगून चुकलो आहोत कीं, सार्वभौम भट्टाचार्यांचेद्वारा महाप्रभुंची महती श्रवण केल्यावर कटकाधिपती प्रतापरुद्र महाराजांचे मनांत त्यांचेविषयी प्रगाढ भक्ती उत्पन्न झाली. तसे पाहिले तर महाराज धर्मात्मा होते, विद्याव्यासंगी व साधु-महात्म्यांच्या ठायीं त्याचे प्रेम होते. परन्तु कसेहि झाले तरी ते राजे होते. विषय-भोगात फसणे हे त्यांना साधारण होते. परन्तु जेव्हापासून महाप्रभुविषयी प्रेम त्याचे अन्तःकरणांत उत्पन्न झाले, तेव्हापासून त्यांची विषय-भोग-लालसा कमी होऊ लागली. हृदय कोटरी अर्थात् अन्तःकरणरूपी घरटे फारच लहान आहे. जेथे विषयांचे प्रेम आहे, त्यात साधु-महात्म्यांचे विषयीचे प्रेम राहू शकत नाही व जेथे साधु-महात्मे व भगवद्भक्ति यांचेविषयी श्रद्धा आहे, तेथे काम राहूच शकत नाही. तुलसीदास म्हणतात—

जहां राम तहं काम नहि, जहां काम नहि राम ।
तुलसी कैसे रहि सकै, रवि-रजनी इक ठाम ॥

महाराजाकडेस पुष्कळसे साधु, पंडित व विद्वान् स्वयं दर्शन देण्यास व आशीर्वाद देण्यास दरबारांत येत जात असत. म्हणून महाप्रभुंनीहि येऊन दर्शन द्यावे असे त्यांना वाटे. महाप्रभुंना तर कशाचीच

अभिलाषा नव्हती, तेव्हा ते दरबारांत काय म्हणून जाणार! शिवाय संन्याशास राजदर्शनाचा निषेध सांगीतला आहे. हां! कोणी राजा भक्तिभावाने येऊन दर्शन घेऊन गेल्यास ती दुसरी गोष्ट. महाराजांना आजपावेतो असा खरा संन्यासी केव्हाच भेटला नव्हता, म्हणून प्रभु पुरीस आल्याचा समाचार त्यांना समजताच, त्यांही भट्टाचार्यांना पत्र लिहून महाप्रभुंच्या दर्शनाची इच्छा प्रकट केली.

महाराजांचे आदेशानुसार भट्टाचार्य महाप्रभुच्या समीप आले व कांहीसे भीत-भीत म्हणाले–'प्रभो! आपणास कांही निवेदन करण्याची माझी इच्छा आहे. अभय प्रदान व आज्ञा असल्यास सांगतो?'

प्रभु हसत म्हणतात–'अशी कोणती गोष्ट आहे कीं, जी अहिताची असताहि आपण मला सांगाल? माझे हिताचेच आपण मला सांगाल'.

भट्टाचार्य कांहीसे प्रेमाने आग्रहपूर्वक म्हणाले–'आपणास माझी प्रार्थना स्वीकार करावीच लागेल.'

प्रभुंनी हसत उत्तर दिले–'वाः हे फार चांगले! अगोदरपासूनच वचन बद्ध करून घेत आहा! स्वीकार करण्यायोग्य असल्यास, स्वीकारीन, नसल्यास 'ना' म्हणेन. शिवाय आपणहि 'ना' म्हणण्यासारखे सांगालच कसे?'

प्रभुंचे हे चातुर्यपूर्ण उत्तर ऐकून भट्टाचार्य म्हणाले–'प्रभो! महाराज प्रतापरुद्र आपले दर्शनासाठी अत्यन्त उत्कण्ठित झालेले आहेत, त्यांना दर्शन देऊन अवश्य कृतार्थ करावे'.

प्रभुंनी कानावर हात ठेवून म्हटले–'श्रीविष्णु श्रीविष्णु! आपण शास्त्रज्ञ पंडित होऊनहि अशी धर्मविहीन गोष्ट कशी सांगता?

संन्याशाने राज-दर्शन करणे पातक सांगीतले आहे. आपणच अशा गोष्टीस संमति द्याल तर मी माझा धर्म येथे रक्षु शकणार नाही, व मला पुरी सोडावी लागेल. संसारी विषयांत फसलेल्या राजाचे दर्शन, कशी दुःखदायक गोष्ट आहे ! ऐका—

निष्किंचनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य ।
संदर्शनं विषयिणामथ योषिताञ्च
हा हन्त दन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु ॥

अर्थात् 'भगवद्भजनासाठी जे उत्सुख व अकिञ्चन होऊन हा अपार भवसागर पूर्णपणे पार करण्याची ज्यांची इच्छा आहे असे भगवन्ताचे पदीं विलीन झालेले भक्तास विषय-भोगांत फसलेल्या लोकांचे व स्त्रियांचे दर्शन, हाय ! हाय ! विषभक्षणापेक्षाहि अधीक वाईट आहे. विष-भक्षणाने मनुष्याचा इहलोकच नष्ट होतो, परन्तु ह्या दोहोंच्या संसर्गाने तर इहपरलोक असे दोन्हीहि नष्ट होतात. तेव्हा भट्टाचार्य महाशय आपण मला क्षमा करा'.

भट्टाचार्य म्हणतात—'प्रभो ! आपले हे वचन शास्त्रानुसारच आहे, परन्तु प्रतापरुद्र महाराज परमभक्त आहेत, जगन्नाथाचे सेवक असून आपले चरणीं त्यांचा दृढ अनुराग आहे, तेव्हा ते प्रभुंच्या कृपेस पात्र आहेत. ते राजे असे समजून आपण त्यांची भेट घेऊ नका. समजा कीं, ते विषयी आहेत, तरीपण आपली त्या योगे काय हानि होणार आहे, उलट त्यांचाच उद्धार होईल. आपले कृपेने संसारी लोकांची संसार-बन्धने तुटून जातात'.

प्रभु म्हणतात—'भट्टाचार्य महाशय ! असे नाही—

आकारादपि भेतव्यं स्त्रीणां विषयिणामपि ।
यथाऽहेर्मनसा क्षोभस्तथा तस्याकृतेरपि ॥

(त्यागी पुरुषास) स्त्रियांच्या व विषयी पुरुषांच्या आकृतीसहि (चित्रास) भ्याले पाहिजे; कारण सापाच्या स्मरणाने सुद्धा ज्याप्रमाणे चित्त-क्षोभ होतो, त्याचप्रमाणे ह्यांच्या आकृतीने मन क्षोभ होतो. तेव्हा त्यांचे बरोबर संभाषण वा संसर्ग तर दूरच राहिला'.

यायोगे भट्टाचार्य अगदी गप्पच झाले व ते विषण्ण मनाने घरी निघून गेले. राजास काय उत्तर लिहावे हेच त्यांना सूचेना. त्यांनी कांहीच उत्तर दिले नाही.

ह्याच सुमारास राय रामानन्द कटक येथे जाऊन पुरीस प्रभुचे दर्शनासाठी आले. त्यांना पाहाताच प्रभु प्रफुल्लीत झाले व त्यांना उचलून त्यांहि त्यांना गाढालिंगन दिले. प्रभु म्हणतात–'मला रामच नाही परन्तु आनन्द सहीत राम भेटले, आता माझे आनन्दास सीमाच राहिली नाही'.

स्वस्थ झाल्यावर राय महाशय म्हणाले–'प्रभो! ह्या राजकार्यांतून निवृत्त करावे अशी मी महाराजांना आपले आज्ञानुसार प्रार्थना केली व आता मी पुरीस राहून श्रीचैतन्य चरणाची सेवा करणार असे म्हटले. आपले नाव ऐकताच महाराज फारच प्रसन्न झाले व त्यांहि आपले संबंधाने पुष्कळशा गोष्टी मला विचारल्या'.

प्रभु म्हणाले–'राय महाशय! आपणावर भगवन्ताची कृपा आहे. आपण ईश्वराचे किंकर आहात. भगवत्-अनुचराचा सर्व लोक आदर

करतात'. ह्याप्रमाणे पुष्कळशा गोष्टी झाल्यावर सर्व भक्तांचा परिचय करून घेतल्यावर प्रभुची आज्ञा घेऊन ते श्रीजगन्नाथाचे दर्शनास गेले.

त्याचवेळीं कटकाधिपति महाराज प्रतापरुद्र भगवन्ताच्या रथयात्रेच्या निमित्ताने पुरीस आले. त्यांहि भट्टाचार्यांना बोलावून प्रभुच्या दर्शना-संबंधाने विचारले.

भट्टाचार्य म्हणतात–'मी वारंवार प्रार्थना केली, परन्तु त्यांहि आपली भेट घेण्याचे नाकारले'.

महाराज म्हणाले–'हे समर्थ असूनहि असे म्हणतात तेव्हा मजसारखे अधमाचा उद्धार कसा होणार?'

भट्टाचार्य म्हणाले–'राजाचे दर्शन घ्यावयाचे नाही अशी त्यांची प्रतिज्ञा आहे'.

महाराज अत्यन्त दुःखित स्वराने म्हणाले–'त्यांची अशी प्रतिज्ञा आहे तर माझीहि अशीच प्रतिज्ञा आहे कीं, प्रभुंची पूर्ण कृपा प्राप्त करीन वा ह्या शरीराचाच परित्याग करीन'.

महाराजांचा असा दृढ अनुराग पाहून, भट्टाचार्य त्याचे सान्त्वन करीत म्हणाले–'महाराज! आपण इतके अधीर होऊ नका, माझे मन मला सांगत आहे कीं, प्रभु आपणावर अवश्य कृपा करतील. काल राय रामानन्दांनी प्रभुचे सन्मुख आपली पुष्कळ प्रशंसा केली होती, त्याचा प्रभाव माझे प्रत्यक्ष अनुभवास आला. प्रभुचे मन आपणा संबंधाने बरेचसे मृदु झालेले आहे. आपण एक करावे. राजवेषांत त्यांची भेट होणे शक्य

नाही. रथयात्रेच्या वेळीं जेव्हा रथाच्या पुढे सर्व भक्तासह प्रभु नृत्य करीत चालतील, तेव्हा साधारण वेषांत आपण कांही भक्तियुक्त श्लोक म्हणत त्याचे समोर जावे, प्रभु भक्त समजून आपणास आलिंगन देतील व आपली इच्छा सफल होईल. आजपासून तिसरे दिवशीं रथयात्रा आहे'.

हे ऐकून महाराजांना संतोष झाला व भट्टाचार्य आज्ञा घेऊन स्वगृहीं गेले.

# गौर भक्तांचे पुरींत अपूर्व सम्मिलन

**वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।**
**पतितांना पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमोनमः ॥**

अहाहा ! किती सुखद उक्ति आहे. हृदयास प्रफुल्लीत करणाराच तो वृत्तान्त !! आपले प्रिय आपणास येऊन भेटणार ही वार्ता ऐकताच, असा कोण हृदय-हीन, जड-बुद्धि पुरुष असणार कीं, ज्याचे मन-कमल प्रफुल्लीत होणार नाही ! नीतिकारांनी योग्यच म्हटले आहे, 'अमृतं प्रियदर्शनम्'.

महाप्रभु पुरीस परत आल्याचा समाचार समजताच गौर भक्तांच्या आनन्दास सीमाच राहिली नाही. बहुतेक भक्तांनी ह्यांचे बरोबर कीर्तन सुखाचा आनन्द अनुभविला होता, परन्तु कांही असेहि होते कीं, त्यांहि प्रभुचे दर्शन सुद्धा केलेले नव्हते. सर्वांनी पुरीस जाऊन प्रभुंचे दर्शन घेण्याचा निश्चय केला. सर्वांचे अग्रणी अद्वैताचार्य होते. रथयात्रेच्या पूर्वी जाऊन पुरीसच पावसाळ्याचे चार महिने राहाण्याचा सर्वांनी निश्चय केला व त्याप्रमाणे आप-आपले घरची व्यवस्था लाविली. श्रीवास आदि भक्तांनी शचीमातेचीहि अनुज्ञा घेतली. वात्सल्य प्रेमाने त्यांहि पुष्कळशा वस्तु आपले संन्यासी पुत्रासाठी दिल्या. लगभग दोनशे भक्तगण गात नाचत, मृदुंग, झांझा, करताल वाजवीत पायीच निघाले. वृद्ध अद्वैताचार्य तरुणाप्रमाणे सर्वांच्या पुढे चालत होते. त्यांच्या मागे सर्व भक्त उत्साहाने—

**हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः ।**
**गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन ॥**

ह्या पदाचे संकीर्तन करीत करीत हे सर्व बीस दिवसांनी पुरी संनिध पोचले.

इकडेस श्रीजगन्नाथाचे स्नान-यात्रेचा समय जवळ आला. महाप्रभु मोठ्या उत्साहाने स्नान-यात्रोत्सवाची प्रतीक्षा करीत होते. स्नान-यात्रेच्या दिवशी महाप्रभु सर्व भक्तगणासह मन्दीरांत दर्शनास गेले. त्यावेळच्या त्यांच्या आनन्दाचे वर्णन कोण करू शकणार? महाप्रभु भानरहीत स्थितींत मन्दीरांतच कीर्तन करू लागले. लोकांची अपार गर्दी ह्यांचे भोवती एकत्रित झाली. कसे तरी करून ह्याना ह्यांचे स्थानी आणले.

स्नान-यात्रेनन्तर पंधरा दिवस भगवान् अन्तःपुरांतच राहातात, म्हणून पंधरा दिवस मंदीराची द्वारे बन्द असतात. दर्शनासाठीच प्रभु पुरीस राहिले होते, ते दर्शनच पंधरा दिवस होणार नसल्याने त्यांना पुरीस राहाणे असह्य झाले व ते एकाएकी अलालनाथास निघून गेले. महाराजा प्रतापरुद्रांनाहि हा समाचार समजला. त्यांही भट्टाचार्यांना प्रभुस परत आणावे म्हणून सांगीतले. ह्याच वेळीं गौडीय भक्त पुरीस येत असल्याचं वृत्त समजले. सर्वांना फार हर्ष झाला; व सार्वभौम, नित्यानन्द आदि भक्तांना बरोबर घेऊन प्रभुना आणण्यासाठी अलालनाथास गेले. तेथे जाऊन त्यांही प्रभुंची प्रार्थना केली कीं, पुरीचा भक्तवृन्द आपले दर्शनासाठी व्याकुल झालेलाच आहे, व आणखी गौड देशचे भक्तहि आपले दर्शनासाठी पुरीस येत आहेत. तेव्हा त्यांचेवर कृपा करण्यासाठी आपण पुरीस परत चलावे.

प्रभुंनी ही विनंती मान्य केली, गौडीय भक्त-वृन्द येत असल्याचे ऐकून त्यांना अधीकच आनन्द झाला व ते पुरीस परत आले. प्रभु

परत आल्याचा समाचार सांगण्यास भट्टाचार्य प्रतापरुद्र महाराजाकडेस गेले, त्याचवेळीं पुरुषोत्तमाचार्यहि तेथे आले. आचार्य सांगतात–'महाराज, दोनशे भक्तमंडळी पुरीस आले आहेत, त्यांच्या राहण्याची व महाप्रसादाची व्यवस्था केली पाहिजे; कारण हे सर्व महाप्रभुंच्या चरणीं अत्यन्त प्रेम ठेवणारे आहेत व त्यासाठी ते आले आहेत'.

महाराज मोठ्या प्रसन्नतेने म्हणतात–'ह्यांत विचारण्याची अवश्यकताच काय आहे? आपणच ह्याचा प्रबन्ध करावा. मंदीरांतील प्रबन्धकास महाप्रसादाची व्यवस्था करण्यास सांगावे व राहाण्याची व्यवस्था काशीमिश्रास सांगावी'.

महाराज भट्टाचार्यांना म्हणाले–'भट्टाचार्य! महाप्रभुच्या सर्व भक्तांचे दर्शन घेण्याची माझी इच्छा आहे, तुम्ही मला त्यांचा परिचय करवावा'.

भट्टाचार्यांनी सांगीतले–'महाराज! मी सर्वांना ओळखत नाही, परन्तु गोपीनाथाचार्य आपणास सर्वांचा परिचय करवितील. आपण वरील मजल्यावरील गच्चीवर चलावे, तेथून सर्वांचे दर्शनहि होईल व गोपीनाथाचार्य आपणास सर्वांची ओळख करवीतील'.

ते लागलीच वरील गच्चीवर गेले. इतक्यांत संकीर्तन व नृत्य करीत येत असलेली भक्तमंडळी त्यांच्या दृष्टीस पडली. सर्व भक्तमंडळी प्रेमांत अगदी तल्लीन झालेले होते. सर्वांच्या खांद्यावर स्वतांची पांघरण्याची व अंथरण्याची वस्त्रे होती. कोणाच्या गळ्यांत मृदुंग लटकतो आहे तर कोणाच्या हातांत करतालच आहेत. कोणी झांझाच वाजवीत होते, तर कोणी वर हात करून करून नृत्य करीत होते. ह्याप्रमाणे वेग-वेगळी ही चौदा भजनीमंडळी होती. महाराज अनिमिष दृष्टिने हे दृश्य पाहात होते.

गौडीय-भक्तांचे आगमनाचा समाचार ऐकताच महाप्रभुंनी स्वरूप-

दामोदर व गोविन्द यांना चन्दन-माला घेऊन भक्तांच्या स्वागतासाठी प्रथम पासूनच पाठविले होते. त्यांही जाऊन भक्तांग्रणी अद्वैताचार्य ह्यांचे प्रथम स्वागत केले. प्रथम स्वरूपदामोदरांनी आचार्यांचे गळ्यांत माला घातली व नन्तर गोविन्दानेहि श्रद्धापूर्वक आचार्यांना माला घालून त्यांची चरणवन्दना केली. गोविन्दास पूर्वी पाहिले नसल्याने त्याहि स्वरूप गोस्वामीस विचारले–'स्वरूप गोस्वामी, हे महाभाग भक्त कोण आहेत, मी ह्यांना पूर्वी कधी पाहिलेले नाही. काय हे पुरीचे आहेत?'

स्वरूप गोस्वामी म्हणतात–'नाही, हे पुरीचे नाहीत. हे श्रीईश्वर-पुरी महाराजांचे सेवक. सिद्धि-प्राप्तीचे वेळीं त्यांहि ह्यास प्रभुच्या सेवेंत राहाण्याची आज्ञा दिली. त्याप्रमाणे हे प्रभुच्या सेवेंत असतात. ह्यांचे नाव गोविन्द, हे अत्यन्त विनयी, सुशील व सरल आहेत'. आचार्यांनी त्यास आलिंगन दिले व सर्वांसह ते सिंहद्वाराकडेस निघाले.

गोपीनाथाचार्यांनी महाराजा प्रतापरुदांना सर्वांचा परिचय करून दिला.

त्याचवेळीं त्यांही पाहिले कीं, ही भक्तमंडळी मन्दीराकडेस न जाता प्रभुच्या निवास-स्थानाकडेस जात आहेत व भवानन्दाचे पुत्र वाणीनाथ पुष्कळसा प्रसाद घेऊन ह्या भक्तांच्या पूर्वी प्रभुंच्या सन्निध पोचण्याचा प्रयत्न करीत आहेत. हे पाहून महाराजांनी विचारले–'आचार्य! ह्यांचे प्रभुंच्या ठायीं किती विशेष प्रेम आहे. प्रभुंना बरोबर घेतल्यावाचून हे भगवन्ताचे दर्शनासुद्धा जात नाहीत. हे वाणीनाथ हा इतका प्रसाद कां घेऊन जात आहेत?'

आचार्यांनी म्हटले–'महाप्रभु ह्या प्रसाद-द्वारा सर्वांचे स्वागत करतील'.

महाराज म्हणतात–'तीर्थास आल्यावर प्रथम क्षौर व उपवास सांगीतला आहे. हे ह्यांचे पालन नाही करणार?'

आचार्यांनी सांगीतले–'करणार कां नाही, परन्तु प्रथम हेच झाले पाहिजे असा ह्यांचा आग्रह नाही महाप्रभुच्या हातांतील प्रसादाने आपला उपवास भंग झाला असे हे समजत नाही'.

महाराज म्हणाले–'आपण ठीकच म्हटले, प्रेमांत नेम नाही'.

# भक्तांची प्रभुशी भेट

यस्यैव पादाम्बुजभक्तिलभ्यः
प्रेमाभिधानः परमः पुमर्थः ।
तस्मै जगन्मंगलमंगलाय
चैतन्य चन्द्राय नमो नमस्ते ॥

महाप्रभु आपले भक्तांना भेटण्यासाठी फारच अतुर झाले होते. आज दोन वर्षांनी आपण आपले प्राणांपेक्षाहि प्रिय अशा भक्तांना भेटणार हे मनांत येताच प्रभु प्रेम-सागरांत बुटकळ्या मारू लागले. इतक्यांत त्यांचे कानीं संकीर्तनाचा ध्वनि पडला. तो ऐकताच प्रभुंना श्रीवासांचे घरच्या सर्व गोष्टींचे एकामागून एक स्मरण होऊ लागले, तोच त्यांना समोरून येत असलेले वृद्ध अद्वैताचार्य दिसले. आपले मंडळीसह पुढे होऊन प्रभुंनी त्यांचे स्वागत केले. आचार्यांनी त्यांना प्रणाम केला, प्रभुंनी त्यांना गाढालिंगन दिले. मोठ्या प्रेमाने अश्रु-विमोचन करीत ते आचार्यांना अगदी बिलगून पडले. त्या संमीलनातील सुखाचा स्वाद त्यांच्यावाचून इतरांना कसा समजणार ? ह्यानन्तर श्रीवास, मुकुन्द दत्त, वासुदेव आदि सर्व भक्तांनी प्रभूस प्रणाम केला व प्रभुंनीहि सर्वांना प्रेमालिंगन प्रदान करोत सर्वांची प्रशंसा केली. नन्तर ते वासुदेवास म्हणाले–'वसु महाशय ! आपणासाठी मी दाक्षिण देशाहून मोठ्या परिश्रमाने दोन अद्‌भुत पुस्तके आणीली आहेत. त्यांत भक्ति-तत्वाचे संपूर्ण रहस्य भरलेले आहे'. ह्या योगाने सर्वांना फार आनन्द झाला व सर्वांनी त्या दोन्ही पुस्तकाच्या प्रतिलिपी करून घेतल्या. तेव्हा-पासून ह्या पुस्तकांचा गोर-भक्त्यांत अत्यधिक प्रसार होऊ लागला.

महाप्रभु सर्व भक्तांना वारंवार न्याहाळित होते. त्यांचे नेत्र कोणा एका प्रिय भक्ताचा शोध करीत होते. जेव्हा पुष्कळ पाहूनहि तो प्रियभक्त दिसला नाही तेव्हा प्रभुंनी भक्तास विचारले–'हरिदास दिसत नाहीत, काय, ते नाही आले?'

भक्तांनी सांगीतले–'ते आम्हाबरोबरच होते, परन्तु कोणास ठाऊक ते वाटेंत कोठे मागे राहिलेले आहेत'. इतके झाल्यावर दोनचार भक्तांनी त्यांचा शोध केला. त्यांना दिसून आले की, महात्मा हरिदास, राजपथ सोडून एका निवान्तस्थानीं जमीनीवरच पडलेले आहेत. भक्तांनी म्हटले– 'हरिदास! चला, महाप्रभु तुमची आठवण करीत आहेत'.

हरिदास दीनपणे हळूच म्हणतात–'मी नीच पतित, मी बरे, मन्दीराचे समीप कसा जाऊ शकणार? माझे अपवित्र देहाचा सेवा-पूजा करणारे महानुभावास स्पर्श झाल्यास मला ते असह्य होईल. मी भगवन्ताचे राजपथावर कसे पाऊल ठेवू? महाप्रभुंना माझे बहुत प्रणाम सांगा व त्यांना माझेवती निरोपहि सांगा कीं, मी मंदीराचे समीप येऊ शकणार नाही, तेव्हा येथेच कोठेतरी पडून रहातो'.

भक्तांनी हे वृत्त महाप्रभुंना सांगीतले. हे ऐकताच महाप्रभुंना फार आनन्द झाला. ते वारंवार महात्मा हरिदासाचे शील, चरित्र व अमानी स्वभावाची प्रशंसा करू लागले. ते भक्तांना म्हणाले–'ऐकले आपण, जो ह्याप्रमाणे स्वतास तृणापेक्षाहि नीच मानील, तोच कृष्णकीर्तनाचा अधिकारी होईल'. प्रभुंनी काशीमिश्रांना सांगून आपले स्थानासमीप असलेले पुष्पोद्यानांत एक कुटि मागून घेतली व महाप्रभु हरिदासास आणण्यासाठी गेले. प्रभु येत असलेले दुरूनच पाहताच हरिदासांनी त्यांना साष्टांग प्रणाम केला. प्रभुंनी त्यांना तात्काल उचलून आलिंगन दिले.

हरिदास अगदी काकुळतेने म्हणतात–'प्रभो ! मला आपण स्पर्श करू नका. दयालो ! ह्यासाठी तर मी तेथे येत नव्हतो. आपला श्रीविग्रह माझेसारखे अशुद्ध अंगाचा स्पर्श करण्यास योग्य नाही'.

अत्यन्त स्नेहाने प्रभु म्हणतात–'हरिदास ! आपलेच शरीर परम-पावन आहे. आपले स्पर्शाने करोडो यज्ञांचे फल प्राप्त होत आहे. मला स्वतास पावन करण्यासाठीच मी आपला स्पर्श करीत आहे. आपले स्पर्शाने माझे कोटि जन्माची पातके क्षय पावतील. आपणासारखे भागवत-वैष्णवाचा अंग-स्पर्श देवतांनाहि दुर्लभ आहे'. असे म्हणून प्रभुंनी हरिदासांस आपलेबरोबर घेतले व ते उद्यान-वाटिकेंत आले व त्याना ती एकान्त कुटि दाखवून प्रभु म्हणाले–'ह्याच एकान्त ठिकाणी एकान्तांत राहून निरन्तर भगवन्नाम जप करीत राहा. आता आपण सदैव माझे सन्निधच आहा. येथेच आपणास भगवन्ताचा महाप्रसाद येत जाईल. दुरून भगवन्ताच्या चक्राचे दर्शन करून मनांत जगन्नाथाचे ध्यान करून दर्शन करीत जा. मी रोज समुद्र-स्नान करून आपले दर्शनास येत जाईन'.

ह्यानन्तर सर्व भक्त समुद्र-स्नानास गेले. प्रभुचे स्नान झाल्यावर सर्वांनी स्नान केले व सर्व भगवन्ताचे चुडा-दर्शनास गेले. दर्शनानन्तर सर्व भक्तगण प्रभुचे समीप आले. इतक्यांत मन्दीरांतून महाप्रसादहि आला. सर्वांना एकदमच बसविल्यावर महाप्रभुंनी स्वता सर्वांना प्रसाद वाढण्यास सुरुवात केली. सर्वांना प्रभुंनी आपले इच्छेप्रमाणे यथेष्ट प्रसाद वाढल्यावर सर्वांनी प्रसाद ग्रहण करण्यास सुरुवात केली. प्रभुहि प्रसाद घेण्यास बसले. हे झाल्यावर सर्वांनी थोडा थोडा आराम केला. थोडे वेळाने राय रामानन्द व भट्टाचार्य आले व त्यांचा सर्वाशी परिचय करविण्यांत आला. नन्तर सर्व भक्तांना घेऊन प्रभु जगन्नाथाचे मन्दीरांत

दर्शनासाठी गेले. तेथे जातांच प्रभुंनी संकीर्तनास आरंभ केला. चार पृथक् पृथक् संप्रदायांत विभागून भक्त-वृन्द प्रभुच्या भोंवती कीर्तन करू लागले. महाप्रभु प्रेमाने अगदी तल्लीन होऊन नृत्य करीत होते. पुरींतील लोकांनी असे कीर्तन पूर्वी केव्हाच पाहिलेले नव्हते. महाराज प्रतापरुद्रहि वरील मजल्यावर चढून हे अपूर्व दृश्य अवलोकन करीत होते. हे पाहिल्यावर प्रभुंना भेटण्याची त्यांची इच्छा अधीकच बळावली.

संकीर्तन करीत असताच प्रभुंनी मंदीराची प्रदक्षिणा केली आणि सायंकालीं भगवन्तांना पुष्पांजली अर्पणाच्या वेळींहि त्यांही पुन्हा दर्शन घेऊन भगवानाची नानाप्रकारे स्तुति केली. पुजाऱ्यांनी सर्वांना प्रसाद माला चन्दन दिले. ह्या नन्तर प्रभु आपले स्थानीं आले. सायंकालचे प्रसाद-ग्रहण झाल्यावर सर्वांनी प्रभुची अनुमति घेऊन जो तो आपआपले निवास-स्थानी निघून गेला. ह्याप्रमाणे जो पावेतो गौडीय भक्त पुरीत होते तोपावेतो महाप्रभु सदा सर्वकाल त्यांचेसहीत आनन्द-विहार व कीर्तन करीत होते.

# राजपुत्रास प्रेमदान

कटकाधिपस्य तनयं गौरवर्णं मनाहरम् ।
आलिंगते सुप्रेम्णा तं गौरचन्द्रं नमाम्यहम् ॥

मनुष्याचा एक असा स्वभाव असतो कीं, तो रहस्याच्या गोष्टी जाणण्यास फार उत्कण्ठित होतो. सर्वसाधारण गोष्टीस कोणास उत्कण्ठा वाटत नाही, परन्तु तीच गोष्ट सर्वसाधारणतेच्या दृष्टिपासून दूर ठेविली कीं, लागलीच त्यासाठी जिज्ञासा वाढत जाते. विशेष परिश्रमाने व विशेष प्रतिक्षेच्या पश्चात् जी वस्तु प्राप्त होते, त्या वस्तुविषयीं प्रेमहि तितकेच अधिक वाढतें. वस्तु स्वयं मूल्यवान् वा अमूल्यवान् नसते. ती प्राप्त करण्यांत जी सुलभतादुर्लभता असते त्यावर त्या वस्तुचे मूल्य स्थापित होते. ह्याचसाठी आम्ही वारंवार लोकांना सांगतो कीं, आपणास मूल्यवान् व्हावयाचे असल्यास, कोणत्याहि कार्यांत फार परिश्रम करा, सर्वसाधारण लोकांपेक्षा वरील पायरीवर स्वतास न्या, विश्व-प्रेम करण्यास शिका, तुम्ही मूल्यवान् झालाच म्हणून समजावे. जगतांतील सर्वश्रेष्ट समजले जाणारे राजे-महाराजे तुमचे चरणीं लोटांगण घालीत येतील, तुम्ही त्याचे मान-सन्मानाची काळजी करण्याचे कांहीच कारण नाही.

जोजो महाप्रभु राजांना न भेटण्याची इच्छा दर्शवीत होते, तोतो प्रतापरुद्र महाराजांची प्रभुंना भेटण्याची इच्छा अधिकाधिक वाढू लागली. त्यांच्या मनांत तोच विचार रात्रंदिवस घोळत होता. आता त्यांही राय रामानन्दांना ह्यासाठी प्रभुकडे पाठविले. राय रामानन्द नित्यानन्दांना घेऊन प्रभुंच्या समीप आले. नित्यानन्द कांहीसे संकोचाने

म्हणतात–'महाराज प्रतापरुद्र आपले दर्शनासाठी फारच उत्कण्ठित झालेले आहेत, आपण कां ना म्हणता, ते जगन्नाथाचे भक्त आहेत, त्यांचेवर कृपा व्हावी'.

महाप्रभु गंभीरतेने म्हणाले–'श्रीपाद ! समजत नाही, आपली मज-विषयीं काय कल्पना आहे ! माझी सर्वभर पुष्कळ ख्याति व्हावी असे कां आपणास वाटते? कटक येथे जाऊन मी महाराजांना भेटू. माझेच्याने हे होणे शक्य नाही'.

नित्यानन्द म्हणाले–'आपण कटक येथे जावे असे कोण म्हणतो? येथेच महाराज आहेत, मन्दीरांत त्यांना दर्शन द्यावे वा ते येथेहि येतील'.

महाप्रभु स्नेहाने म्हणाले–'मला अशी आवश्यकताच कोठे आहे कीं, मी त्यांना येथे बोलवू. मी संन्यासी व ते महाराज, माझा त्यांचा संबंधच काय?'

नित्यानन्द म्हणतात–'ते राजेपणाने दर्शन करावे अशी इच्छा करीत नसून, आपले भक्त ह्या नात्याने इतराप्रमाणे त्यांनाहि आज्ञा व्हावी व तशी इच्छा नसल्यास आपले शरीरावरील एकादे वस्त्र देऊन त्यांना कृतार्थ करावे. त्यानेच त्यांना संतोष होईल'.

महाप्रभु ममतेने म्हणाले–'श्रीपाद! आपणास बरे वाटेल ते करा'.

ह्याप्रमाणे प्रभुंची अनुमति मिळाल्यावर नित्यानन्दांनी गोविन्द-कडून एक उपवस्त्र घेऊन भट्टाचार्यांच्या हस्ते ते त्यांही महाराजाकडेस पोचविले. महाराजांना त्या योगे फार आनन्द झाला व ते वस्त्र त्यांही सन्मानपूर्वक आपलेजवळ ठेवून घेतले.

एके दिवशीं राय रामानन्द म्हणाले–'प्रभो! राजपुत्र तर येऊन आपले दर्शन करू शकतील?'

प्रभु म्हणाले–'जशी आपली इच्छा, मी काय सांगू? आपणास योग्य वाटेल ते करा. कोणीहि येण्यास हरकत अशी कांहीच नाही. परन्तु अभिमान्याचे सन्मुख अभिमान स्वयं जागृत होतो, म्हणून संन्याशाने राज-दरबारात जाण्यास निषेध सांगीतला आहे. कशीहि प्रकृति कां असेना, मान-सन्मानाच्या स्थळीं जाण्यांत तमोगुण उत्पन्न होतोच. मुले तर सरळ असतात, त्यांना मान-सन्मान, आदरातिथ्य कांहीहि समजत नाही म्हणून त्यांना भेटण्यात कोणत्याहि प्रकारचा उद्वेग वाटत नाही. राजपुत्र येणार असल्यास आपण सुखेनैव आणावे'.

प्रभुंची आज्ञा होताच रामानन्द लागलीच महाराजांच्या निवास-स्थानीं गेले व राजपुत्रास उत्तम रीतीने सजविले व त्यास आपलेबरोबर प्रभुच्या दर्शनास घेऊन आले.

राजपुत्रास पाहतांच प्रभुंना असाच भास झाला कीं, साक्षात् श्रीकृष्णच आपले सन्मुख येऊन उभे आहेत. प्रभु एकदम उठले व त्यांही राजपुत्रास जोराने आलिंगन दिले. प्रभुंनी आलिंगन देताच राजपुत्र भावावेशांत येऊन 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' म्हणत नृत्य करू लागला. त्यास रामानन्दांनी संभाळून धरले. प्रभु त्याचेबरोबर लहान बालकाप्रमाणे नाना प्रकारच्या गोष्टी बोलत होते. नन्तर पुन्हा येण्या-विषयीं पुष्कळदा सांगून त्यास त्यांही विदाय केले. महाराज तथा महाराणीने त्यास मांडीवर घेऊन महाप्रभुंच्या प्रेमाचा अनुभव अनुभविला. त्या दिवसापासून प्रायः राजपुत्र प्रभुंच्या दर्शनासाठी रोज येत असे. त्याची गणना प्रभुच्या अन्तरंग भक्तांत होऊ लागली.

# गुंटिचा (उद्यान-मन्दीर) मार्जन (साफ-सूफ करणे)

श्रीगुण्टिचा मन्दीरमात्मवृन्दैः
सम्मार्जयन् क्षालनतः स गौरः ।
स्वचित्तवच्छीतल मुज्ज्वलंच
कृष्णोपवेशोपयिकं चकार ॥

पृथ्वीवर रोज असंख्य घटना घडतात, परन्तु प्रेमाच्या संसर्गाने होणाऱ्या घटनाच अमर होतात व त्या प्रेमी भक्तांचे प्रेमवर्धन करण्यास कारणीभूत झालेल्या आहेत.

महाप्रभु गौडीय भक्तांबरोबर नित्य नव्या-नव्या क्रीडा करीत असत. त्यांचे भोजन, भजन, स्नान, संकीर्तन व हास-परिहास सर्व कांही प्रेममयच होत असे. सर्व भक्त क्रमशः नित्यप्रति महाप्रभुंना आप-आपले घरी भिक्षेस बोलावीत असत. भक्तांना आनन्द व्हावा म्हणून महाप्रभुहि एक-एका दिवशी तीनतीन चारचार ठिकाणी थोडे थोडे भोजन करीत. ते भक्तांना बरोबर घेऊनच मंदिरांत जात. त्यांचे बरोबरच स्नानहि करीत व सर्वांना जवळ बसवूनच प्रसाद घेत.

ह्याप्रमाणे हळूहळू रथयात्रेचा समय समीप येऊ लागला. पंधरा दिवस पावेतो एकान्तांत श्रीमहालक्ष्मीचेबरोबर एकान्तवास केल्यावर जगन्नाथाच्या मंदीराचे पट उघडण्याची वेळ जवळच आली. नत्रोत्सवाचे पूर्वी एक दिवस महाप्रभुंनी एक प्रेमकुतूहल करण्याचा निश्चय केला.

श्रीजगन्नाथाचे मंदीरापासून एक कोस अन्तरावर 'गुंटीचा' नावाचे एक उद्यान-मन्दीर आहे. रथयात्रेच्यावेळीं भगवन्ताची स्वारी येथेच

येऊन थांबते व लगभग एक सप्ताह भगवान येथेच निवास करतात व नन्तर परत मंदीरांत येतात, ह्याचेच नाव रथयात्रा आहे. रथयात्रेच्या पूर्वी नत्रोत्सव (दर्शनोत्सव) होतो. त्या दिवशी पंधरा दिवसांचे पश्चात कमलनयन भगवानाचे लोकांना दर्शन होते. नत्रोत्सवाचे पूर्वी एक दिवस प्रभुनी गुंटिचा भवन मार्जन म्हणजे साफसूफ करण्याचा विचार केला. ह्या मंदीराचे आंगण लगभग दीडशे गज लांब आहे. ह्यांत मुख्य मंदीरातिरिक्त एक दुसरे श्रीनृसिंह भगवानाचेहि मंदीर आहेत. महाप्रभुनी काशीमिश्र व आचार्य सार्वभौम ह्यांना आपले मनोगत प्रकट केले. सर्वांना फारच आश्चर्य वाटले. काशीमिश्र म्हणाले-'प्रभो! गुंटिचा-भवन तर स्वच्छच असते. ते काम आपण करून काय करणार, आपण तर संकीर्तनच करावे'.

प्रभु म्हणाले-'मिश्रजी! आपण विद्वान् व जगन्नाथाचे भक्त असूनहि असे म्हणत आहा. भगवन्ताची सेवा करण्यांत कोणतेच काम हलके नाही. अगदी नीचांतील नीच काम करण्याचे महत्भाग्य प्राप्त झाल्यास आम्ही आपणास धन्य समजू. लहान मोठा, हा विचारच भगवन्ताचे सेवेंत येता कामा नये. आमची तर अशी इच्छा आहे, आपण लवकर ह्याचा प्रबन्ध करावा'.

महाप्रभुची आज्ञा शिरोधार्य करून काशीमिश्रानी उद्यान साफसूफ करण्यासाठी, झाडू, टोपल्या व आणखीहि अवश्यक वस्तुंची व्यवस्था लावून दिली. ह्यानन्तर महाप्रभु भक्तांसह गुंटीचा-उद्यान साफ-सूफ करण्यासाठी निघाले. सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानन्द आदि प्रमुख-प्रमुख गण्य-मान्य पुरुष भक्तांच्या समवेत हातात झाडू, खुरपणी, टोपल्या घेऊन चालू लागले. प्रथम महाप्रभुंनी तेथील गवत खुरपविले व नन्तर सर्वांना झाडु घेऊन झाडण्यास सांगीतले. सर्व ह्या कामास लागले. सर्वांच्या

अंगांतून श्रमाने घामाच्या धारा वाहू लागल्या. महाप्रभुहि यंत्राप्रमाणे सारखे काम करीत होते. त्यांचे गौरवर्ण अरुण कपोल गर्मी व परिश्रमाने अधीकच अरुण झाले होते. त्यांतून निघणारे स्वेदबिन्दु प्रभुचे संपूर्ण शरीर ओले करीत होते. सर्व कचरा निघून उद्यान स्वच्छ झाले.

ह्यानन्तर मंदीर व आंगण धुण्यास प्रारंभ झाला. पुष्कळसे मातीचे घडे आणून दिले. प्रत्येक जण घडा घेऊन प्रभुजवळ येई व प्रभु आपले हाताने मंदीर धूत होते. त्यावेळचे दृश्य फारच चित्ताकर्षक व मनोहर होते. बंगाली भक्त-गण शरीराने अशक्तच होता. त्यांत तो झाडण्याचे परिश्रमाने थकून गेलेला होता. ते आपले सैल धोतर एका हाताने संभाळींत भरलेला घडा घेऊन जात.

ह्याप्रमाणे दोन्ही मंदीरे व आंगणे उत्तम रीतीनें साफ केली. नन्तर प्रभुंनी संकीर्तनास प्रारंभ केला. नंतर सर्व मंडळी स्नानास गेली व तेथून आल्यावर सर्वजण नृसिंह भगवानास प्रणाम करून जगमोहन म्हणजे सभा मंडपांत बसली.

ह्याचवेळीं महाराजांनी जगन्नाथाचा प्रसाद, चार-पाचशे मंडळीस पुरेसा पाठविला. महाप्रभु सर्व भक्तासहीत प्रसाद ग्रहण करू लागले. महाप्रसादाचे वेळीं स्पर्शास्पर्शचा विचार नव्हता. सर्व एकाच पंक्तीस बसून महाप्रसाद घेत होते. सार्वभौम भट्टाचार्यहि आपला आचार-विचार बाजूस ठेवून व पंडितपणाचा अभिमान विसरून भक्तांच्या बरोबर बसूनच प्रसाद घेत होते. त्यावर त्याचे मेव्हणे गोपीनाथाचार्य म्हणाले—'सांगा, आचार्य महाशय! आपला आचार-विचार व निराळे चूल-पोतेरे कोठे गेले?'

भट्टाचार्य प्रसन्नतेने म्हणतात—'आचार्य महाशय! आपले कृपेने

माझे चूल-पोतेऱ्यावर पोतेरे फिरले. आपण माझी सर्व पापे धुवून टाकिली'.

इतक्यांत महाप्रभु म्हणाले–'भट्टाचार्याचे वर आता भगवन्ताची अगणित कृपा झालेली आहे. त्यांच्या संगतीने आम्हा मंडळींच्या अन्तः करणांतहि कांही कांहीसा भक्तीचा उदय होऊ लागला आहे'.

हे ऐकताच भट्टाचार्य एकदम म्हणाले–'भगवत् कृपा मजवर झाली नसती तर, भगवानांनी ह्या अभिमान्यास आपले चरण-सेवेचे महत् भाग्य प्रदान केले असते कां? आणि भगवत् कृपेचे प्रत्यक्ष प्रमाण हे आहे कीं, साक्षात् भगवान् आपले समीप मला बसवून भोजन करवीत आहेत'. ह्याप्रमाणे परस्पर एक दुसऱ्याची गुप्त प्रशंसा करू लागले. भोजनोत्तर हरिध्वनि करीत सर्व उठले. महाप्रभुंचे उच्चिष्ठ गोविन्द व हरिदासास दिले व भक्तांनीहि थोडेथोडे वाटून घेतले. ह्यानन्तर स्वयं प्रभुंनी सर्वांना प्रसादी माला दिल्या व मस्तकावर चन्दन लाविले. ह्याप्रमाणे त्या दिवशीं अद्भुत लीला करून प्रभु भक्तांसहीत निजस्थानीं आले.

# श्रीजगन्नाथाची रथयात्रा

स जीयात् कृष्णचैतन्यः श्रीरथाग्रे ननर्त यः।
येनासीज्जगता चित्रं जगन्नाथोपि विस्मितः॥

गुंटीचा-उद्यान मार्जनाचे दुसरे दिवशीं नत्रोत्सव होता. महाप्रभु आपले सर्व भक्तांसह जगन्नाथाच्या दर्शनासाठी गेले. पंधरा दिवसानंतर आज जगन्नाथाचे दर्शन झाले, त्यायोगे महाप्रभुंना फार हर्ष झाला. ते सारखे टक लावून भगवन्ताचे मुखारविन्द निहाळीत होते, दोन्ही नेत्रांतून अश्रु प्रवाह वाहात होता. दोन्ही अरुण ओष्ठ नवपल्लवाप्रमाणे हलत होते व ते हळूहळू जगन्नाथाना, जणू काय, कांही सांगत होते. दुपारपावेतो येथेष्ट दर्शनानन्द घेतल्यावर ते स्वस्थानीं भक्तांसहीत परत आले व नन्तर महाप्रसाद ग्रहण केल्यावर पुन्हा कथा कीर्तनास प्रारंभ झाला.

दुसरे दिवशीं जगन्नाथाची रथयात्रा होती. प्रभुचे आनन्दास पारावारच नव्हता. रात्रभर ते जागेच होते. दोन घटका रात्र असताना सर्व भक्तांना त्यांही जागे केले. शौच-स्नानादितून निवृत्त होऊन सर्वांसह महाप्रभु 'पांडुविजय' समारंभाचे दर्शनास गेले. ज्येष्ठ पौर्णिमेपासून आषाढी आमावास्येपावेतो भगवान् महालक्ष्मीच्यासहीत एकान्तात वास करतात. प्रतिपदेच्या दिवशीं नत्रोत्सव होतो, तेव्हा जगन्नाथाचे दर्शन होते. द्वितीया वा तृतियेस रथावर आरुढ होऊन श्रीभगवान् श्रीराधेच्यासह एक सप्ताहापेक्षाहि कांही जास्त दिवस निवास करण्यासाठी सुन्दराचलास प्रस्थान करतात. यासच रथयात्रा म्हणतात. रथ जातो ती रथयात्रा व विश्रामानन्तर मंदीरांत परत येतात त्यास 'उलटी रथयात्रा' म्हणतात.

रथयात्रेंत तीन रथ असतात. सर्वांच्या पुढे जगन्नाथाचा रथ, त्यांचे मागे बलरामाचा रथ आणि शेवटी सुभद्रेचा रथ असतो. भगवन्ताचा रथ फारच विशाल असतो. एक लहानसा पर्वतच तो. रथ सुवर्ण मंडित असून, त्यांत हजारो घण्टा, टाळ, किंकिणी व झांझर असतात. त्याची छत्री अती उंच व मोठी असून त्यावर निरनिराळ्या प्रकारच्या ध्वजा-पताका फडकत असतात. एक लहानसे नगरच ते. शेंकडो लोक त्यावर उभे असतात. चहुबाजूस मोठ-मोठे आरसे त्यास लाविलेत. शेंकडो लोक त्यावर उभे राहून सफेत चौऱ्या प्रभुवर ढाळीत असतात. त्याचे चांदवे आणि छत फारच मौल्यवान् रेशमी वस्त्रांनी मढविलेले असते. अशा प्रकारे हा रथ अत्यन्त उत्तम रीतीने व नानाप्रकारच्या वस्त्रांनी सजविला जातो. त्यास पुढे फार मजबूत व लांब दोरखंड बांधलेले असून माणसे हा रथ गुंटीचा-उद्यानपावेतो ओढीत नेतात. त्यावेळचे दृश्य अत्यन्त अपूर्वच असते.

प्रातःकालीं रथ सिंहद्वारासमीप उभा असतो. त्यावर 'दयितागण' भगवन्तास आणून बसवितात. ज्यावेळीं भगवन्तास सिंहासनावरून उच-लून रथावर बसविण्यात येते, त्यास 'पाण्डु-विजय' म्हणतात. 'दयिता' जगन्नाथाचा सेवक गण आहे. तसे पाहिल्यास हे हीन श्रेणीचे असतात परन्तु भगवन्ताचे सेवक असल्याने त्यांना लोक विशेष मान देतात. अनवसराचे दिवसांत हेच भगवन्तास बालभोगांत मिष्टान्न अर्पण करतात व तदनंतर प्रकृति बिघडली म्हणून औषधहि अर्पण करतात. स्नानाचे दिवसापासून परत येईतो ह्यांनाच जगन्नाथाचे सेवेचा विशेष अधिकार असतो. हाच गण दोर लावून भगवन्तास सिंहासनावरून उचलून रथावर चढवितात. त्यावेळीं कटकाधिपति तेथे जातीने उपस्थित असतात.

दास, गदाधरदास, कृष्णदास व पुरंदर पंडिताना बरोबर घेऊन गौड-देशास निघाले. त्यांना स्वतःसाठी कर्तव्य असे कांहीच नव्हते. केवल जीवांच्या कल्याणासाठीच ते गौड-देशांत आले.

सर्व गौड-देश भक्ति-रस-पानासाठी अगदी तृषितसा झालेला होता. विशेषता नीच म्हणून म्हटली जाणारी जात भगवत्-भजनास अधिकारीच नव्हती. मोठमोठे पंडित ह्यांना परमार्थास अनधिकारी समजून साधन-भजनाचा उपदेशहि करीत नव्हते. सर्व श्रेणीचे (जातीचे) लोक प्रभुच्या पाद-पद्माप्रत पोचण्याचे अधिकारी ज्या योगे होतील, असा एक मार्ग सर्वजण शोधीत होते. अशा ह्या योग्य अवसरी नित्यानन्दांनी गौड-देशांत प्रवेश केला. ह्यांचे वाणींत जादू होती, मुखावर ओज होते, शरीरांत स्फुर्ति होती व होता प्रभुप्रेमाचा दृढ विश्वास. ह्या सर्व गोष्टीमुळे गौड-देशांत प्रवेश करताच थोडेच दिवसांत ह्यांचे उपदेशामृताची ख्याति सर्वत्र पसरली. ते भगवन्नामोपदेशांत कोणत्याहि प्रकारचा भेदभाव ठेवीत नव्हते. ज्यास वाटेल त्याने यावे व त्रितापहारी भगवन्नामाचा उपदेश घ्यावा. विशेषतः हे नीच मानले जाणारे जातीवरच सर्वापेक्षा अधिक कृपा करीत असत. उच्च जातीचे लोक तर आपले श्रेष्ठपणाचे अभिमानांत ह्यांचे बोलण्याकडेस लक्षच देत नव्हते. कनिष्ठ जातीचे लोक ह्यांचे म्हणणे श्रद्धापूर्वक ऐकत होते व म्हणून हेहि ह्यानांच मुख्यतः उपदेश करीत होते. ह्याप्रमाणे हे लोकांत भगवन्नामाचा निरन्तर वर्षाव करीत व त्या कृष्ण-कीर्तनरूपी अपूर्व रसाने लोकांना सुख शान्ति प्रदान करीत पानीहाटी ग्रामास आले व तेथे आपले भक्तांसहीत राघव पंडितांच्या घरीं त्याही मुक्काम ठेविला.

राघव पंडित स्वयं महाप्रभुंचे अनन्य भक्त होते. त्यांहि नित्यानन्दांचा त्यांचे साथीदारांसह पुष्कळ सत्कार केला व ते त्यांचे सह

प्रचारासाठी बाहेर फिरूहि लागले. तेथे तीन महिने राहून लोकांना ते श्रीकृष्ण-कीर्तनाचा उपदेश करीत होते. ह्याच अवसरांत ते अंबिका नगरास पंडित सूर्यदासाचे घरीं गेले, त्याहीं ह्याचा फार सत्कार केला. हे तेथे राहिले. सूर्यदासाचा समस्त परिवार नित्यानन्दांचे ठिकाणीं फार श्रद्धा ठेऊ लागला.

त्याचप्रमाणे पानीहाटी गांवी भगवन्नामाची व भगवद्भक्तीची आनन्दमय व प्रेममय धारा वाहवीत नित्यानन्द आपले परिवारासहीत एडहद्द येथे गदाधरदासांच्या घरीं राहिले. तेथून खडहद्द येथे गेले. तेथे चैतन्यदास व पुरन्दर पंडितांनी ह्याचा आदर-सत्कार करून ह्यांचे प्रचार कार्यात ह्यांना योगदान (मदत सहकार) दिले. ह्यापुढे हे सप्तग्राम येथे पोचले.

त्यावेळीं बंगाल्यांत सुवर्ण-वणिक् जातीचे लोक फारच नीच समजले जात असत. ह्यांचे हातचे पाणी पिणे तर दूरच. परन्तु मोठे मोठे पंडित ह्यांना स्पर्श करणेहि उचित समजत नव्हते. नित्यानन्दांनी सर्व प्रथम ह्यांनाच आपुलकीच्या भावनेने वागविले. हे लोक संपत्तिशाली होते. ह्यासाठी-म्हणजे भक्ति-भावामृत वा परमार्थ सेवनासाठी–ते अगदी अतुर झाले होते. प्रथम ह्यांनी त्यांची अस्पृश्यता नष्ट केली. हे एका उद्धरण दत्त नावाचे श्रीमान् स्वर्ण-वणिकाचे घरीं राहिले व सर्व स्वर्ण-वणिकांना भगवत्–भक्तिचा उपदेश करू लागले. ह्यामुळे स्वर्ण-वणिकामध्ये फार मोठी जागृति झाली. हे मोठेच साहस होते. उच्च वर्णीय लोक ह्यांचा धिक्कार करू लागले, किन्तु ह्यांनी कोणाचीच परवा केली नाही. नंतर ह्यांचा निर्भयपणा व खरे प्रभु-प्रेम, ह्यांच्या प्रभावामुळे सर्वजण ह्यांचे चरणीं शिर नमवू लागले. ह्या योगे ह्यांची कीर्ति चहुकडे पसरली व लोक ह्यांचे संबंधाने नानाप्रकारे अलोचना-प्रत्यालोचना (विचार-

विनिमय) करू लागले. सप्तग्रामाच्या जवळपासच्या गावीं भगवन्नामाचा प्रचार करीत करीत हे शान्तीपुरास अद्वैताचार्यांचे घरीं आले. ह्यांना पाहताच आचार्यांचे सर्व शरीर रोमान्चित झाले व त्यांही ह्यांना एकदम गाढ-आलिंगन दिले. दोघांच्या नेत्रांतून अश्रु-प्रवाह वाहात होता. प्रेमाचा आवेग ओसरल्यावर आचार्य म्हणू लागले– 'निताई! आपणच वास्तविक प्रभुंचा मनोगत भाव जाणला व आपण प्रभुंचे बाहेरचे प्राणच आहात'. ह्याप्रमाणे स्तुति करून काही दिवस राहाण्याचा त्यांही त्यांस आग्रह केला. आचार्यांचे आग्रहाने नित्यानंद कांही काल तेथे भगवन्नाम व संकीर्तनाचा प्रचार करीत राहिले.

तेथून निघून नित्यानन्द नवद्वीपास आले. नवद्वीपास हे येताच तेथे एकच धामधूम उडून गेली. चहुकडून भक्तमंडळी येऊन ह्यांना भिडली. ह्यांनी सर्व प्रथम प्रभुंच्या घरीं जाऊन शचीमातेचे चरणीं मस्तक ठेविले.पुष्कळ दिवसांनी आपले निताईस पाहताच शचीमातेच्या आनन्दास सीमाच राहिली नाही. येवढ्या मोठ्या निताईस आपले मांडीवर बसवून त्या ह्यांचे मुख-कुरवाळीत म्हणाल्या–'बेटा निताई! निमाई मला विसरला तर विसरला, तूंही पण मला विसरलास. बेटा! आज इतके दिवसांनी तुला पाहिल्याने मला परमानन्द झाला आहे. आता मी विश्वरूप व निमाईच्या संन्यासाचे सर्व दुःख विसरून गेले. माझे लाडक्या! आता तूं येथेच माझेजवळ राहून संकीर्तनाचा प्रचार कर व भक्तांच्यासहीत कीर्तनहि कर. तुला येथे माझे दृष्टीसमोर पाहत राहिल्याने मला फार सुख होईल'.

मातेच्या आज्ञेचा स्वीकार करून नित्यानन्द नवद्वीपांतच हिरण्य पंडिताचे घरीं राहू लागले. हे नवद्वीपांत राहिल्याने शिथिल झालेला संकीर्तनाचा ध्वनि पुन्हा जोराने शब्दायमान होऊन आकाशापर्यन्त घुमु

लागला. सर्व लोक महाप्रभुप्रमाणेच वेडे होऊन उद्दण्ड नृत्य करू लागले.

नित्यानन्दाचा प्रभाव पुष्कळच अधिक वृद्धिंगत झाला. आता त्यांचे राहणींतहि परिवर्तन झाले.

नित्यानन्द आता सुन्दरशी वस्त्रे-भूषणे धारण करू लागले. खान-पानामध्येहि नाना प्रकारचे पदार्थ असत. ह्यामुळे त्यांची निन्दाहि होऊ लागली. ह्याप्रमाणे जेथे ह्यांची ख्यातिहि पुष्कळ झाली होती, तेथे निन्दाहि कमी झाली नाही. हा तर जगाचा नियमच आहे. कार्यार्थी ह्याची क्षिति न बाळगता आपले कार्य करीतच राहातात. कांही कालाने निन्दक आपले-आपुणच थकून स्वस्थ बसतात. महापुरुषांचे कामांत लोक-निन्देने विघ्न न होता, उलट सहाय्यच होते. जर महापुरुषांच्या कार्यांत ह्याप्रमाणे जोराने आलोचना व निन्दा न झाली तर त्यांना पुढे पडण्यास प्रोत्साहन मिळणार नाही. निन्दा ही त्यांना प्रोत्साहन देणारी औषधी आहे. परन्तु समजून निन्दा-करणारे केव्हाहि उन्नत होत नाहीत. तेव्हा निन्देपासून दूर राहाण्याचा प्रयत्न करावा. सत्य व श्रेष्ठ मार्गाचे अनुसरण करीत असता लोक-निन्दा करू लागल्यास–व असा लोकांचा स्वभावच असतो–त्याची क्षिति मुळीच बाळगू नये. महत्ततेचा हाच महान् गुरूमन्त्र आहे.

# नित्यानन्दांचा ग्रहस्थाश्रमीं प्रवेश

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवागुणाम् ।
साधूनां समचित्तानाम् बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढयाद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥

महापुरुषांचे जीवनामध्ये कोठे-कोठे धर्म-व्यतिक्रम आढळतो. ह्याचे काय कारण? ह्याचे अगदी बरोबर उत्तर देता येत नाही. परन्तु ह्याचे असे कार्यांत अनुकरण न करण्याची आज्ञा शास्त्रांत सापडते. ब्रह्मतत्वाप्रत पोचलेले निर्मलचेता ऋषि-महर्षिनी अगदी स्पष्ट शब्दांत वेदांत आपले अनुयायी शिष्यांस सांगीतले आहे कीं—

**यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपासितव्यानि नो इतराणि ।**

आमची जी चांगली कामे असतील तीच तुम्ही आचरावी. अन्य जी आमचे जीवनांतील निषिद्ध आचरणे पाहण्यांत येतील त्यांचे अनुकरण केव्हाहि करू नये. परन्तु त्या बरोबरच ईश्वर व महापुरुष ह्यांचे कार्यांची निन्दाहि केव्हा करू नये. महर्षिनी महापुरुषांचे कार्यांची आलोचना व निन्दा करणे पाप म्हटले आहे, तेव्हा जे अज्ञानी निन्दा करतात ती त्याची चूक आहे. त्याजबरोबर निन्दकांना जे सदैव दोष देतात तेहि चुकतात. निन्दा करणे हा निन्दकांचा स्वभावच आहे, तुम्ही त्यांची निन्दा करून आणखी पापाचे भागीदार कां होता? निन्दक तर खरोखर उपकारकर्तेच आहेत. जगतांतील वाईट कामाची निन्दा होणे जर थांबले तर, हे जगत् रौरव नरक होईल. निन्देच्या योगाने महापुरुषांचे कांहीच बिघडत नाही, म्हणून ते निन्देस भीतहि नाहीत. हीन प्रकृतीचे

लोक निन्देच्या धाकाने वाईट कामे गुपचुपपणे करतात व सर्वसाधारण लोक निन्देच्या भयाने पाप-कर्मास प्रवृत्त होत नाहीत. ह्यासाठी लोक-निन्दा समाजरूपी-वृक्ष सुरक्षित राहावा म्हणून त्या सभोवती लावलेल्या काट्यासारखा आहे. त्यामुळे पापरूपी पशु तो वृक्ष एकदम नष्ट करू शकत नाही. ह्याचसाठी परमार्थ-पथाचे पथिकांनी महापुरुषांच्या वाईट आचरणाची निन्दा करू नये व त्याचे निन्दकांची निन्दा करू नये. निन्दा-स्तुतिपासून अगदी उदासीन राहाणे सर्वांत श्रेयस्कर. अगदी बोलण्यावाचून नच राहावेच तर दुसऱ्याच्या गुणांचेच वर्णन करावे. अस्तु!

नित्यानन्दाच्या प्रस्तुत राहणीची खुप चर्चा होऊ लागली. लोक त्यांची निन्दा करू लागले. निन्देचे कारणहि होते. एका अवधूत त्यागी मनुष्याचे असे आचरण लोकदृष्टिने अनुचित समजले जाई. जेव्हा ते संन्यास सोडून गृहस्थाश्रमी झाले, तेव्हा तर त्यांची निन्दा जास्तच वाढली. असे समजते की, त्याच निन्देच्या खंडणार्थ 'चैतन्य-भागवता'ची रचना झाली आहे. त्यांत तर नित्यानन्दांच्याच गुणांचे विशेषता वर्णन आहे व त्यांच्यावर न विश्वास ठेविणारांचा भरपूर समाचार घेतलेला आहे. चैतन्य-भागवतकारांनी ह्या प्रसंगाची उपेक्षा केली असती तरीहि नित्यानन्दांची कीर्ति आज कमी झाली नसती. परन्तु लेखकास तो मोह आवरला नाही. 'चैतन्य-भागवता'चे रचयिता गोस्वामी श्रीवृन्दावनदास नित्यानन्दाचे मन्त्र-शिष्य होते. त्यांना तर नित्यानन्दच सर्वस्व होते. नित्यानन्दाच्याच आशीर्वादाने गोस्वामी वृन्दावनदासांचा जन्म झाला होता. ते सदैव नित्यानन्दांच्याचजवळ राहात होते. ज्यांना आपण आपले सर्वस्व समजतो, त्यांची साधारण माणसे मनास येईल तशी निन्दा करतील तर, ती प्रतिभावान् पुरुष कशी सहन करणार? ह्या

चैतन्य-भागवतातील सुन्दर कविताने त्यांची अत्यन्त गुरु-भक्तिच प्रकट होते.

नित्यानन्दांची ही हकीकत महाप्रभुपर्यन्तहि पोचली. प्रभुच्या एका सहपाठी पंडिताने नित्यानन्दांची प्रभुपाशी यथेष्ठ निन्दा केली, परन्तु प्रभुंनी त्यावर विश्वासच ठेविला नाही.

गौडभक्त दुसऱ्याने पहिल्याप्रमाणे रथयात्रेच्या समयीं महाप्रभुंचे दर्शनासाठी आले. त्यावेळींहि नित्यानन्दासंबंधाने पुष्कळशा गोष्टी झाल्या. श्रीवास पंडितांनी निघताना सांगीतले कीं, नित्यानन्द अज्ञानावस्थेंतच घरांतून बाहेर पडले होते. त्यांही स्वेच्छेने संन्यास-ग्रहण केलेले नाही.

महाप्रभुंनी सांगीतले–'त्यांही स्वेच्छेने संन्यास घेतलेला असो वा परेच्छेने, त्यांचेसंबंधाने विधि-निषेध असा कांहींच नाही'.

दररोजच नानाप्रकारच्या गोष्टी ऐकून नित्यानन्दहि बरेच क्षुब्ध झाले. त्याही आपले दुःख शचीमातेस सांगीतले. मातेने सांगीतले कीं, 'तूं नीलाचलास जाऊन निमाईस भेटून ये व तो जसे सांगेल तसे वर्तन कर'. मातेची अनुमति घेऊन नित्यानन्द आपले दाहा-पांच अन्तरंग भक्तांसह नीलाचलास आले. त्यांना महाप्रभुंच्या समोर जाण्याची लाज वाटू लागली, म्हणून ते महाप्रभुंच्या स्थानीं न जाता बाहेरच एक बागेंत वृक्षाखालीं अश्रु ढाळीत बसले. हा समाचार प्रभुंना समजताच प्रभु धावत आले व नित्यानन्दांची स्तुति करीत त्यांही त्याना प्रदक्षिणा करण्यास प्रारंभ केला.

हे पाहतांच नित्यानन्द प्रभुंना प्रणाम करण्यास उठले, परन्तु प्रेमावेशांत तेथेच मूर्छित पडले. तशा दशेंतच त्यांची चरणधूलि प्रभुंनी

आपले मस्तकीं धारण केली व त्याचेच अनुकरण इतर भक्तांनीहि केले. प्रभु त्यांच्या चरणाजवळच बसले. बाह्य-ज्ञान होताच प्रभुंना नित्यानन्द कांही बोलणार तोच आपोआपच त्यांचे मस्तक प्रभुंच्या मांडीवर लुडकले. महाप्रभु ते मस्तक वारंवार सुंघीत होते व आपले कर-कमलाने त्यांच्या पुलकित शरीरावर हळूहळू हात फिरवित होते. बरेच वेळानन्तर प्रभु त्यांना आपले स्थानीं घेऊन गेले.

गदाधर क्षेत्र संन्यास घेऊन यमेश्वराच्या निर्जन मंदीरांत राहात होते. नित्यानन्दहि तेथेच त्याचेजवळ राहिले. गदाधराच्यासाठी सुन्दर तांदुळ व एक लाल वस्त्र आणीले होते. गदाधरांनी त्या सुगंधित तांदुळाचा भात केला. सर्वांना असे वाटले कीं, ह्यावेळीं महाप्रभु नाहीत. प्रभुंना निमन्त्रण करण्याचेहि कोणाचे धाडस होईना, इतक्यांत कोणी द्वार खडखडविले. गदाधराने दार उघडून पाहिले, तो महाप्रभु सन्मुख उभे आहेत. ह्या प्रभुंच्या भक्तवत्सलतेची सर्वजण स्तुति करू लागले. महाप्रभु भोजनास बसले. सर्वांनी एकदमच बसून प्रसाद ग्रहण करावा अशी आज्ञा झाली. सर्वजण प्रभुंच्या बरोबर बसून भोजन करू लागले. प्रभु म्हणतात–'अहाहा, आमचे महाभाग्य कीं, श्रीपादांनी आणलेले तांदुळ, गदाधरांनी तयार केलेला भात व श्रीगोपीनाथ भगवानाचा प्रसाद आम्हास प्राप्त झाला'. महाप्रभुच्या येण्याने व प्रसाद ग्रहण करण्याने सर्वांना आनन्द झाला.

रथयात्रेसाठी तिसरे वेळीं भक्त-मंडळी येण्याचा समय प्राप्त झाला. ह्यावेळीं भक्तांनी आपल्या स्त्रियाहि बरोबर आणील्या होत्या. भक्तांना निरोप देताना नित्यानन्दांना प्रभुंनी एकान्तांत बोलावून म्हटले–'श्रीपाद ! आपणास विधि-निषेध असा कांहींच नाही. आपण तर वृन्दावनविहारी श्रीगोपाल कृष्णाचे उपासक आहात. बिचारे गोपाल विधि-निषेध काय

महाप्रभु आपले भक्तांसह 'पांडु विजया'चे दर्शनास आले. व्यवस्था नीट ठेविली असल्याने दर्शन उत्तम प्रकारे झाले. दर्शनानन्तर रथ ओढण्याची तयारी झाली. भारतांतील विभिन्न प्रांतांतील लाखो नर-नारी येथे जमलेले होते. चहूकडून सारखा गगन-भेदी जयध्वनि ऐकू येत होता.

भगवान् रथावर विराजमान झाल्यावर महाराजा प्रतापरुद्रांनी सुवर्णाचे झाडुने पथ स्वच्छ केला आणि त्यावर चन्दन मिश्रित जलसिंचन केले. असंख्य इन्द्र, मनु, प्रजापति व ब्रह्मा ज्याचे सेवेंत सदैव उपस्थित असतात, त्यांची अगदी नीच प्रकारची सेवा करून महाराज आपले यश व प्रताप वाढवितात, तेव्हा ह्यांत आश्चर्य ते कोणते! त्यांच्या सन्मुख राजे-महाराजे तर काय, परन्तु ब्रह्मासुद्धा एक साधारण जीव आहे. मान-सन्मान संभाळून ह्यांची सेवा होणारच कशी, कारण जगतांतील सर्व प्रतिष्ठा ह्यांचेसमोर तुच्छांतील तुच्छ आहे. मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति व यशाचे तर हे उगम-स्थान आहेत. ऐश्वर्याने, साहित्यादी-पदार्थांनी वा अन्य वस्तुंनी कोणी ह्यांची पूजा करणारच कशी? हे तर केवल भावाचे भुकेले आहेत.

महाराजांची पूजा-आर्चा झाल्यावर गौडदेशीय भक्तांनी व नाना ठिकाणच्या आलेल्या नर-नारींनी भगवन्ताच्या रथाचे दोरदन्ड धरले. सर्वांनी मिळून जोराने 'जगन्नाथकी जय' असा जयघोष केला.जय-घोषा-बरोबरच असंख्य घण्टा-किंकिणी व टाळ एकदम वाजू लागल्या व घरघर शब्द करीत भगवन्ताचा रथ चालू लागला. त्यांचेमागे बलभद्र व सुभद्रा ह्यांचेहि रथ चालले. चहुकडे सारखा जय-ध्वनी होऊ लागला. सर्व* रस्त्या-वर वाळु पसरलेली होती, राजपथाच्या दोन्ही बाजूस नारळाची लावलेली झाडे फारच शोभा देत होती. सुन्दराचलास जात असलेल्या भगव-

न्ताच्या त्या रथाची शोभा त्यावेळीं कांही अपूर्वच होती. केव्हा रथ जोराने चाले, केव्हा हळूहळू तर केव्हा तो अगदी थांबून जाई. नन्तर तो वाटेल तितक्या प्रयत्नांनीहि पुढे चालेना. विचार करा, ज्यांचे पोटांत कोटी दोन कोटी नाही परन्तु असंख्य ब्रह्मांडे भरलेली आहेत, त्यांना हे कीट-पतंगसारखे बल असलेले पुरुष ओढणारच कसे? भगवान् तर स्वयं इच्छामय आहेत, जेव्हा त्यांच्या इच्छेस येते तेव्हा ते चालतात, नाहीतर थांबून उभे राहतात. लोकांनी कितीहि जोर केला तरी रथ पुढे सरकतच नाही, तेव्हा उडियाचा भक्तगण भगवन्तास लाखो अपशब्दाने गालीप्रदान करतात. ह्यानन्तर रथ सुरू होतो. गालिप्रदानाने रथ का सुरू होतो हे कांही समजत नाही!

महाप्रभु रथाच्या पुढे नृत्य करीत चालले होते. रथ चालु होण्याचे पूर्वी त्यांहि आपले हाताने सर्व भक्तांच्या गळ्यांत माला घातल्या व सर्वांना चन्दन लावले. ह्यानन्तर प्रभुंनी संकीर्तन मंडल सात भागांत विभागले.

प्रत्येक मंडळीमध्ये एक एक प्रधान गायक व एक नृत्य करणारा असे निश्चित करण्यात आले. श्रीअद्वैताचार्य, श्रीस्वरूपदामोदर, श्रीवास पंडित, अवधूत नित्यानन्द, श्रीमुकुन्ददत्त, महात्मा हरिदास, गोविन्द घोष, वक्रेश्वर पंडित आदि मंडळी ह्यांत प्रमुख होती. चार मंडळी तर भगवन्ताच्या रथाचे पुढे संकीर्तन करीत चालत असून एक उजवे बाजूस, एक डावे बाजूस व मागे ह्याप्रमाणे बाकीची तीन मंडळी चालत होती. ह्या संकीर्तनाचा तुमुल ध्वनि रथ पुढे पुढे सरकण्यास साह्यच करीत होता.

ह्या सातहि सांप्रदायाबरोबर चौदा मृदुंग बाजू लागले. असंख्य मंजीरांचा ध्वनि मृदुंग व करतालांच्या ध्वनिमध्ये मिळून एक

प्रकारचा विचित्र रस उत्पन्न होत होता. मृदुंग-करताल वाजविणारे वाजविता वाजविता अगदी दुमडे होत असून मृदुंग वाजविणारे अगदी मागील बाजूस झुकून जात. नृत्य करणारे, कुद कुदून, उसळून उसळून, भाव दर्शवीत नानाप्रकारे नृत्य करीत होते. महाप्रभु सर्व सातहि मंडळींत नृत्य करीत होते. एकांतून बोलता बोलता ते दुसरे मंडळींत जात व नृत्य करीत. ते दुसरे ठिकाणीं केव्हा गेले हे कोणासहि समजत नसे. सर्वांना वाटे प्रभु आमच्यांतच नृत्य करीत आहेत. यात्रीगण प्रभुंच्या नृत्याने अगदी आश्चर्यचकीत झाले. जो पाही तो तेथेच खिळला जाई. प्रभुवरून नेत्र काढावे असे कोणासच वाटेना. मनुष्याची तर गोष्टच राहु द्या, साक्षात् जगन्नाथसुद्धा प्रभुंचे नृत्य पाहून चकीत झाले व ते रथ थांबवून प्रभुची नृत्यकारी छबी निहाळून पाहू लागले, जणू काय, ते आश्चर्य चकीत होऊन चालण्याचे अगदी विसरूनच गेले.

महाराजा प्रतापरुद्रहि आपले परिवारासह हे प्रभुंचे नृत्य पाहून मनांतले मनांत फार आनन्दीत झाले. असे महाप्रभुचे अद्‌भुत नृत्य ह्या पूर्वी कोणीच पाहिले नव्हते. जे कोणी हा वेळ पावेतो महाप्रभुंची प्रशंसाच ऐकत होते, ते नर्तकारी गौराङ्गाना पाहून अगदी मुग्धच झाले व तेहि जोर-जोराने 'हरिबोल, हरिबोल' असे मोठ-मोठ्याने म्हणू लागले. ह्या प्रकारे जगन्नाथाचा रथ हळूहळू पुढे सरकू लागला व गौर-भक्त प्रेमाने उन्मत्त होऊन त्याचे मागे मागे कीर्तन करीत चालले होते.

नन्तर सातहि मंडळी एकत्र करून एकच मंडळ बनविले. श्रीवास पंडित, रमाई पंडित, रघुनाथ, गोविन्ददास, मुकुन्द, हरिदास, गोविन्दानन्द, माधव व गोविन्द असे प्रधान गायक व नृत्यकारी स्वयं महाप्रभु झाले. चौदाहि मृदुंगाचा तो गगनभेदी तुमुल ध्वनि भक्ताचे हृदय-

सागरास उचंबळवीत होता. महाप्रभुचे उन्मादित नृत्याने सर्व पाहणारे चकीत होऊन गेले. ते चित्राप्रमाणे स्थब्ध होऊन ते अलौकिक नृत्य सारखे टक लावून पाहात होते. आकाशांतहि कोलाहल होत असल्याचे ऐकू येऊ लागले. असेच समजाना कीं, देवतासुद्धा आपले-आपले विमानावर आरोहण करून महाप्रभुंचे हे नृत्य अवलोकित आहेत. सर्व भक्त महाप्रभुंना घेरा देऊन नृत्य करू लागले. थोडे वेळाने महाप्रभुंनी नृत्य थांबविले, सर्व वाद्ये बन्द झाली. चहुकडे अगदी शान्तता पसरली. तेव्हा महाप्रभु आपले कोकिल कुजित कण्ठाने व मोठे कारुण्यतेने जगन्नाथाची स्तुति करू लागले. भक्तांनींहि प्रभुचे स्वरांत स्वर मिळविला—

जयति जयति देवो देवकीनन्दनोऽसौ
जयति जयति कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः ।
जयति जयति मेघश्यामलः कोमलांगो
जयति जयति पृथ्वीभारहारो मुकुन्दः ॥
नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

'दासानुदासः' हे पद समाप्त झाले कीं, पुन्हा मृदुंग, झांझा आपसुखेच वाजू लागत. रथ घरघर शब्द करीत पुढे चाले, महाप्रभुहि पुन्हा पूर्ववत् उद्दाम नृत्य सुरू करीत. त्यांचे सर्व शरीरांत स्तंभ, स्वेद, पुलक, अश्रु, कंप, वैवर्ण, स्वरविकृति आदि सर्व सात्विक विकारांचा उदय होत होता. ते अलात चक्रवत् चहुकडे सारखे घुमत होते.

प्रभुच्या उद्दण्ड नृत्याने रथ चालण्याचे पुन्हा बन्द झाले. भक्तगण प्रभुची अशी विचित्र अवस्था पाहून भयाने कंपीत झाले. दर्शनार्थी तर सारखे तुटून पडत होते. नित्यानन्द फार घाबरले. लोकांची गर्दी आता प्रभुंच्या वरच येऊन पडते कीं काय असे झाले. तेव्हा नित्यानन्दांनी भक्तांचे एक गोल चक्कर केले व मध्ये महाप्रभुस घेतले. महाराजांनीहि त्याचवेळीं आपले नोकरांना आज्ञा देऊन भक्तांच्या चक्कराच्या बाहेर घेरा देवाविला.

महाराज प्रतापरुद्रहि हे प्रभुचे उद्दण्ड नृत्य, प्रधानमन्त्री श्रीहरिचन्देश्वराचे खांद्यावर हात ठेवून पाहात होते. महाराजांच्या समोरच स्थूल शरीराचे श्रीवास पण्डित भावावेषांत तल्लीन होऊन उभे होते. महाराज प्रभुकडे सारखी टक लावून पाहात होते, परन्तु समोर उभे असलेल्या श्रीवास पंडिताच्या वारंवार इकडे तिकडे होण्याने महाराजांचे आड ते येत होते. राजमन्त्री त्यांना वारंवार टोकून पलीकडे सरकण्याचा संकेत करीत होते. परन्तु हरिकीर्तनांत तल्लीन झालेले श्रीवास थोडेच कोणाचे ऐकणार होते. मंत्री मोठे असल्यास आपले राज्याचे. भक्तांना तर येथे सर्व समानच. वारंवार टोचल्याने श्रीवास एकदम रागावले व त्यांनी जोराने राजमन्त्राच्या श्रीमुखांत एक चापट हणली. जोराची चापट बसताच ते आपला सर्व मंत्रीपणा विसरले, गाल लाल झाला, शरीरांत झणझण्या उठल्या. त्यांहि चहुकडेस दृष्टिपात केला व त्यास ह्या अपमानाचे भान झाले. त्याचवेळीं त्यांहि आपले मंत्रीपणाची तेजस्विता दाखविली. श्रीवासास ह्याची ओळख पटावी म्हणून ते आपले लोकांना आज्ञा देऊ लागले, तोच बुद्धिवान महाराजांनी त्यांना शान्त करीत म्हटले–'आपण हे काय करीत आहा, पहात नाही, ते भावावेषांत तल्लीन आहेत. आपले मी तर महाभाग्य समजतो अशा भावांत भगवद्भक्ताने आपले गालाचा

स्पर्श केला. ही त्यांची आपले वर असीम कृपाच समजा. आम्ही तर हे महद्भाग्यच मानले असते, तेव्हा शान्त होऊन महाप्रभुंच्या कीर्तन-रसाचा आस्वाद घ्या'. या उपर राजमन्त्री शान्त झाले. श्रीवासहि बरेच लजीत झाले. महाप्रभुंना ह्या बाबतीचे मुळीच ज्ञान झाले नाही त्यांचे नृत्य सारखे सुरूच होते. ते कधी कोणास आलिंगन देत, तर कोणाचे चुंबन करीत, कधी कोणाचा हात धरून नृत्य करू लागत. दर्शनार्थी प्रभुंच्या चरणा-खालील धूळ उचलून आपले डोक्यावर ठेवीत होते. भक्त-वृन्द तो चरणरेणू आपआपले शरीरास चोपडीत होते. ह्याप्रमाणे पुष्कळ वेळपर्यन्त महाप्रभु नृत्य करीत होते. नृत्य करता करता महाप्रभु थकून खाली बसले व स्वरूपास एकादे पद गायन करण्यास सांगीतले. गायनाचार्य म्हणतात—

**सेई त परान-नाथ पाईनू। याहा लागि मदन-दहन झूरि गेनू॥**

पदाच्या बरोबरच वाद्ये सुरू झाली, हरि हरि म्हणून भक्त नाचू लागले, जगन्नाथाचा रथ पुढे चालू लागला व महाप्रभुहि नृत्य करीत करीत त्या पुढे चालले.

ह्यावेळीं प्रभु राधाभावाने भावान्वित झाले. त्यांना असे वाटू लागले श्रीश्यामसुन्दर पुष्कळ दिवसाचे अवकाशानन्तर भेटीस येत आहेत. ह्याच भावनेंत ते जगन्नाथाच्या सन्मुख प्रेम-भाव हाताचे द्वारा प्रदर्शित करीत नृत्य करू लागले. आता त्यांना वाटले की श्रीकृष्ण येऊन भेटले. परन्तु ह्या भेटींत, वृन्दावनाच्या पुलिन-कुंजांत जे सुख लाभले, ते नाही. ह्याच भावांत त्यांही पुढील श्लोक म्हटला—

**यः कौमार हरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-**
**स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढः कदम्बानिलाः।**
**सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ**
**रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥**

नायिका पुनर्मिलनाच्या समयीं म्हणते आहे–'ज्या कौमार-कालीं रेवानदीचे तटावर ज्याने माझे चित हरण केले होते, तेच ह्यावेळीं माझे पति आहेत. तींच मधु-मासांतील मनोहारिणी रात्र आहे, तोच उमललेल्या मालती-पुष्पांचा मनाला मस्त करणारा शीतल मन्द-मन्द सुगन्ध येत आहे, तोच कदम्ब-कानास स्पर्श करीत शीतल-मन्दवायु वाहात आहे. पतिचे बरोबर सुरत-लीला करणारी नाइकाहि मीच आहे व मनाचे हरण करणारे नायकहि तेच आहेत, तरीहि माझे चंचल मन सन्तुष्ट होत नाही. ते तर त्या रेवातटाकासाठीच उत्कण्ठित होऊन राहिले आहे'. हायरे! विरह! तुझे पुनर्मिलनाचे कौतुक किती करावे! हा श्लोक प्रभु कोणते भावनेने म्हणत होते, ते स्वरूपदामोदराशिवाय दुसरे कोणासहि समजले नाही. सर्वांना समजण्यासारखी ती गोष्टहि नव्हती. त्यांचे बहिश्चर-प्राण स्वरूपच ती नीट समजत होते. हा भाव एके दिवशीं श्लोकबद्ध करून महाप्रभुचे सन्मुख ठेविण्यांत आला होता. महाप्रभु तो श्लोक ऐकून फारच चकीत झाले व अत्यन्त प्रेमाने स्वरूप-दामोदराच्या पाठीवर हात फिरवीत म्हणू लागले–'स्वरूप जगन्नाथाचे रथासन्मुख नृत्य करीत असताना आमचे भाव तुम्ही कसे ओळखले?' कांहीसे लज्जीत स्वरांत स्वरूप म्हणाले–'प्रभो! आपले कृपेवाचून कोणी आपले मनोगत जाणूच कसे शकणार आहे?'

महाप्रभु वारंवार त्या श्लोकाची प्रशंसा करीत म्हणतात–'अहाहा! किती सुन्दर भाव आहे. खरोखर कवित्वाची, भावप्रदर्शनाची पराकाष्टाच केली आहे—

**प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलत–**
**स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः संगमसुखम्।**

तथाप्यन्तः खेलन्मधुरमुरली पंचमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपनाय स्पृहयति ॥

कुरुक्षेत्रांत पुनर्मीलन झाल्या वेळीं राधीका म्हणतात–'हे सहचरी माझे तेच प्राणनाथ हृदयरमण श्रीकृष्ण मला कुरुक्षेत्रांत भेटले आहेत. मीहि तींच वृषभानुनंदिनी कीर्तिसुता राधा आहे व दोघांच्या परस्पर भेटण्याने संगमसुखहि प्राप्त झाले आहे. तरीपण प्यारे सखी ! अन्तःकरणांतील सत्य गोष्ट कथन करते, ज्या वनामध्ये मुरलीमनोहराची पंचम स्वरांत वाजत असलेल्या मुरलीची मनमोहक तान ऐकली होती, त्या कालिंदी तटावरील वनासाठी माझा मन-मधुप अत्यन्त ललाइत होऊन राहिला आहे. हा भाव प्रभुच्या अगदी मनोगत भावाप्रमाणेच होता.

ह्याप्रमाणे राधेचे अनेक भाव प्रकटवीत महाप्रभु रथाच्या पुढे पुढे नृत्य करीत चालत होते. त्यांच्या आजचे नृत्यांत जगतास मोहित करणारी शक्ति होती. नृत्य करता करता महाप्रभु एकदा महाराज प्रतापरुद्राच्या अगदी समीप पोचले. महाराजांना ही सुसन्धी मिळताच त्यांही प्रभुचे चरण धरले, त्याचवेळीं प्रभुंना बाह्य ज्ञान झाले व ते म्हणाले– 'राजाने मला स्पर्श केला, मला धिक्कार असो !' ते तेथून पुढे निघून गेले. ह्या कारणाने राजास फार वाईट वाटले. सार्वभौम भट्टाचार्य म्हणाले–'आपण वाईट वाटून घेऊ नका, ही तर प्रभुची आपणावर कृपाच झाली आहे. आपणास कृतार्थ करण्यासाठीच प्रभु येथपर्यन्त आले होते'. ह्या योगे महाराजांना सन्तोष झाला.

महाप्रभु आता रथास प्रदक्षिणा घालु लागले. ते स्वताच आपले हाताने रथ ढकलु लागले. रथ घर-घर, हड् हड् शब्द करीत जोराने पुढे

जाऊ लागला. केव्हा प्रभु बलभद्रांच्या रथासन्मुख तर केव्हा सुभद्रेच्या रथासन्मुख नृत्य करीत, तर केव्हा पुन्हा जगन्नाथाच्या रथासन्मुख येत. ह्याप्रमाणे नृत्य करीत बलगंडीस पोचले. बलगंडीस रथ थांबला. आता भगवन्तास भोग (नैवेद्य) समर्पण करण्याची वेळ झाली.

श्रद्धावालू व अर्धासनी देवीच्या मध्ये बलगण्डी नामक एक स्थान आहे. ह्या ठिकाणीं जगन्नाथास भोग म्हणजे नैवेद्य समर्पण करण्यांत येतो. ह्या ठिकाणीं जगन्नाथ सहस्रशः वस्तुंचा रसास्वाद घेतात. राजा-प्रजा, धनी-गरीब, स्त्री-पुरुष, जे कोणी तेथे असतात ते आप-आपले श्रद्धेनुसार भगवन्तास भोग समर्पण करतात. मन्दीराप्रमाणे सिद्ध अन्नाचा भोग येथे समर्पण केला जात नाही. जो तो आपले इच्छेप्रमाणे वाटेल ती वस्तु भगवन्तास समर्पितो. रस्त्याचे डावे, उजवे, मागे पुढे, वाटिका-मध्ये ज्यास जेथे जागा मिळेल तेथूनच भोग समर्पण करण्यांत येतो. त्या-वेळीं लोकांची फारच गर्दी होते. त्यांचे नियन्त्रण करणे फार कठीण जाते.

महाप्रभु ती गर्दी पाहून एका बगीचांत विश्राम घेण्यासाठी गेले. भक्तवृन्दहि प्रभुच्या मागो-माग गेला. वाटिकेंत जाऊन प्रभु एका सुन्दरशा वृक्षाच्या शीतल छायेंत पृथ्वीवरच लांब झाले. मन्द-सुगन्धित-शीतल वायुच्या स्पर्शाने प्रभुंना आनन्द झाला. एक पाय दुसरे पायावर टेकून प्रभु सुखाने पडले होते. थकल्या कारणाने आपले कोमल हातावर शिरकमल ठेवून आडवे झालेले प्रभु फारच चांगले दिसत होते. ह्या बगीच्यांतील प्रत्येक वृक्षतलीं एक एक दोन दोन भक्त पडून आराम घेत होते.

# महाराज प्रतापरुद्रास प्रेम–दान

राज्यातिमानं सुकुलाभिमानं
श्रीकृष्णचैतन्यमर्यादयार्थम् ।
सर्वं त्यजेद्भक्तवरः स राजा
प्रतापरुद्रो मम मान्य पूज्यः ॥

कबीराने सत्य म्हटले आहे—

पियका मिलना सुगम है, तेरा चलन न वैसा ।
नाचन निकली बापुरी, फिर घुंघट कैसा ॥

खरोखर, जेथे पडदा आहे तेथे मिलन म्हणजे भेट कशी? मध्ये भिन्त असली कीं, दर्शन सुख कोठे? जो पावेतो पद-प्रतिष्ठा, पैसा-परिवार, पाण्डित्य व पुरुषार्थाचा अभिमान आहे, तो पावेतो आपले आवडत्या सन्निध पोचणे फारच कठीण आहे. अहंकाररूपी खोल खंदक मध्ये आहे तो पावेतो, प्याऱ्याच्या मंदीरीं पोचणे शक्य नाही. कबीरदास म्हणतात—

चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान ।
एक म्यानमे दो खडग, देखी सुनी न कान ॥

महाराज प्रतापरुद्र जो पावेतो राज्य-सन्मानाच्या अभिमानाने पछाडले होते व दुसऱ्याचे विद्यमाने सन्देश पाठवित होते, तो पावेतो ते महाप्रभुच्या कृपेपासून दूरच होते. जेव्हा त्यांहि सर्व कांही सोडून निष्कांचन भक्ताप्रमाणे प्रभु-पाद-पद्मांचा आश्रय सेविला, तेव्हा ते परम भागवत झाले व त्यांची गणना परम वैष्णव-भक्तांत होऊ लागली.

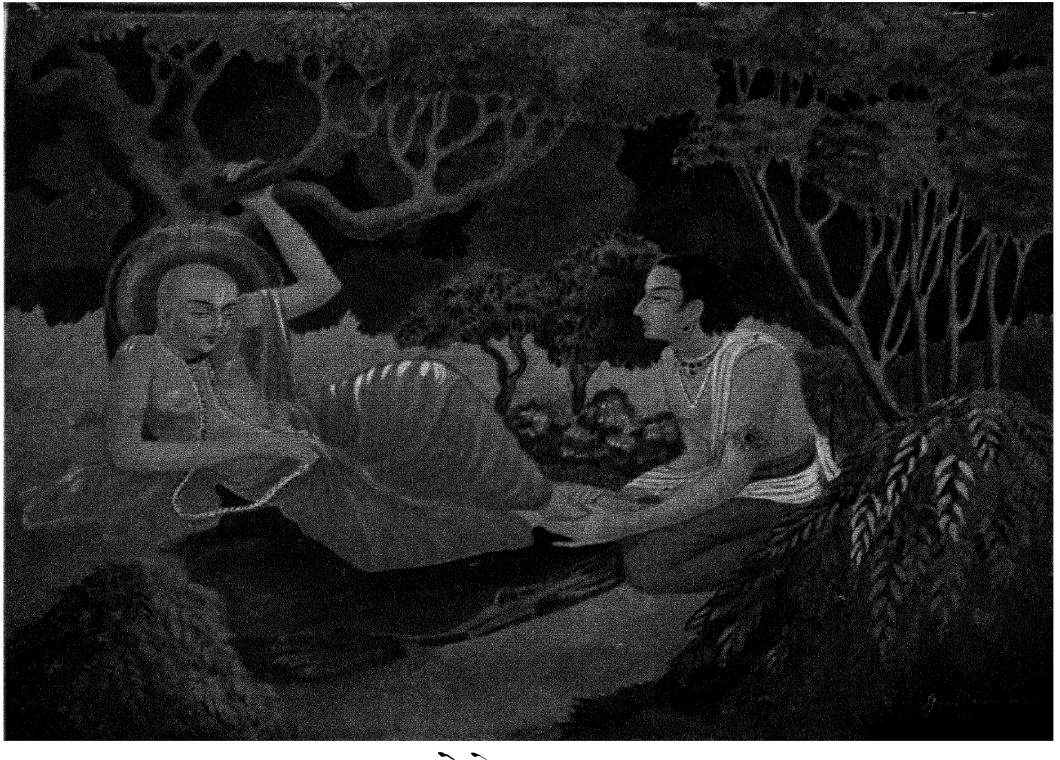

पद्मावतको पेण्टिङ्ग

महाप्रभु बलगण्डी येथील पुष्पवाटिकेंत सुखपूर्व आराम घेत होते. संकीर्तन व नृत्याच्या थकव्याने त्यांचे सर्व शरीर शिथिल झाले होते व त्यांचे कमलासमान नेत्र अर्धे उघडे व अर्धे मिटलेले होते. अशा स्थितींत सार्वभौम भट्टाचार्यांनी सुचविताच महाराज प्रतापरुद्र प्रभुच्या दर्शनासाठी चालले. महाराजांनी आपले राजचिन्हांकित वस्त्र, छत्र, चामर आदिचा परित्याग केला व साधारण वस्त्र अंगावर घेऊन व ते उघड्या पायांनी एकटेच प्रभुंच्या दर्शनासाठी निघाले.

महाराजांनी पाहिले, सर्व भक्त आनन्दाने वृक्षाच्या शीतल छायेंत आराम घेत पडलेले आहेत. महाराजांनी त्या सर्वांना प्रणाम केला. थोड्याच अन्तरावर अर्धोन्मीलित दृष्टीने पहुडलेले महाप्रभुंना त्यांही पाहिले. प्रभु सुखपूर्वक आराम घेत होते. महाराज प्रथम तर थबकले, परन्तु नंतर हलकेच जाऊन त्यांही त्यांचे चरण धरले व ते हळूहळू आपले कोमल हाताने ते दाबू लागले. पाय दाबीत असता त्यांही भागवतांतील गोपीगीत गाण्यास प्रारंभ केला.

रासमंडलांत श्रीकृष्ण एकाएकी अन्तर्धान पावले. त्यांच्या वियोग दुःखाने गोपीका दुःखी होऊन पशु-पक्षी व लतावृक्षांना प्रभुंचा समाचार विचारून विलाप करीत होत्या. त्या विरहाचे वर्णन गोपी-गीत 'जयतितेऽधिकम्' आदि एकोणवीस श्लोकांत केलेले आहे. महाराज फार मधुर स्वराने ते श्लोक गाऊ लागले. श्लोक ऐकता ऐकता महाप्रभुंची प्रेमसमाधि लागली. त्यांना त्या स्थितींत आपले पाय कोण दाबीत आहे व कोण हे अमृत रस-पान आपणास करवीत आहे, हे त्यांचे ध्यानांतच आले नाही. अर्धमूर्छित अवस्थेंत प्रभु, वाहवा, वाहवा! पुन्हा म्हणा, पुन्हा म्हणा, पुढे चालु द्या, पुढे म्हणा, असे म्हणत होते. दुसरे श्लोक म्हटल्यावर महाराज जेव्हा हा श्लोक म्हणू लागले—

तवकथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

तेव्हा महाप्रभु एकदम उठून बसले व महाराजांचे जोराने आलिंगन करून म्हणाले–'अहाहा! महाभाग आपण धन्य आहात, मी आपले ह्या ऋणांतून मुक्त कधीच होऊ शकणार नाही. मला हे अमूल्य रत्न प्रदान केले, ह्याचे बदल्यांत मी आपणास काय देऊ? मजजवळ तर हेच प्रेमालिंगन आहे, हेच मी आपणास प्रदान करतो. आपण आपला परिचय करून द्यावा. आपण कोण आहात? आपण अशी अहैतुकी कृपा मजवर काय म्हणून केली?'

अत्यन्त नम्रतेने महाराज म्हणाले—'प्रभो! आपले दासाचाहि दास व्हावे अशी इच्छा करणारा असा मी अकिंचन सेवक आहे. आज मला काय नाही मिळाले. प्रभुंच्या प्रेमालिंगनानन्तर आता मला जगतांत प्राप्य अशी वस्तुच कोणती राहात आहे? आज मी धन्य झालो, माझे मनुष्य जन्माचे साफल्य झाले. इतके दिवसांच्या जगन्नाथाच्या सेवेचे फळ मला प्राप्त झाले. आपले चरणीं माझे अक्षुण्ण प्रेम राहावे व आपले हृदयाचे एका लहानशा कोपऱ्यांत माझी स्मृति असावी, हीच मी आपले चरण धरून आपणापाशी भिक्षा मागत आहे'.

ह्याप्रमाणे महाप्रभुच्या प्रेमालिंगनाचा लाभ प्राप्त करून घेऊन महाराजांनी प्रभुंच्या चरणीं प्रणाम केला व ते निघून गेले. भक्तवृन्द महाराजांच्या भाग्याची फार-फार प्रशंसा करू लागले.

महाराजांनी वाणीनाथाच्या हस्ते पुष्कळसा प्रसाद प्रभुच्याकडेस

पाठविला. त्यांत शेकडो वस्तु होत्या. प्रसाद पाहतांच महाप्रभु फार आनंदित झाले व त्यांही तो सर्व भक्तांना वाटून दिला. महाप्रभुसह सर्वांनी तो प्रसाद अगदी अतिरिक्त सेवन केला. कांही वेळानन्तर सर्वांनी आराम केला.

इतक्यांत रथ पुढे चालण्याचा समय झाला. महाराजांनी रथ चालविण्याची आज्ञा दिली. हजारो लोक खेचीत असता रथ मुळींच हालेना, इतक्यांत महाप्रभु आपले भक्त-गणासह रथासमीप आले. प्रभुंनी 'हरि, हरि' म्हणत भक्त-मंडळीसह जोराने रथास धक्का दिला. रथ घर-घर-घड-घड शब्द करीत वेगाने चालु झाला. सर्व आनंदित झाले व 'जगन्नाथजीकी जय', 'गौरचन्द्रकी जय', 'श्रीकृष्णचैतन्यकी जय' आदि जयजयकारांनी भक्तांनी आकाश भरून टाकीले. ह्याप्रमाणे बोलता-बोलता रथ गुंटिचा-भवनाचे समीप पोचला. तेथे गेल्यावर भगवन्तास मंदीरांत आणीले व पुजाऱ्यांनी भगवन्ताची आरती आदि केली. महाप्रभुंनी मंदीराच्या समोरच कीर्तनास आरम्भ केला. पुष्कळ वेळ झाला, नंतर सायंकाळचे भोग-आरतिमध्ये महाप्रभु भक्तांसह सम्मिलित झाले. सर्वांनी भगवन्ताची स्तुति व वंदना केली. येथे नऊ दिवस उत्सव चालतो, तो पावेतो महाप्रभु भक्तांसहीत तेथेच राहिले.

# पुरीमध्ये भक्तांसहित आनन्द-विहार

परिवदतु जनो यथा तथा वा
ननु मुखरो न वयं विचारयामः।
हरिरसमदिरामदातिमत्ता
भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः॥

आनन्द व उल्लासाचा विध्वंस करणारी चिन्ता हीच राक्षसी आहे. संसारचिन्तेचे घर आहे. संसारी लोकांना धनाची, मान प्रतिष्ठेची, स्त्री-पुत्रांची व अशाच प्रकारच्या हजारो चिन्ता लागलेल्या असतात. ह्याच कारणाने त्यांचा आनन्द नष्ट होऊन ते सदैव आपण विपद्-ग्रस्त आहोत असे अनुभवितात. संसारी भोगांचाच संग्रह करण्याचीच ज्यांना चिन्ता, त्यांना सुख कोठचे? ते बिचारे आनन्द कसा अनुभविणार? आनन्दाची गोडी तर भोगाच्या इच्छेचा त्याग केलेले वीतरागी प्रभुप्रेमीच जाणू शकतात. ह्याच कारणाने परमार्थ-पथिक विषय भोगाचा परित्याग करून पुण्य-तीर्थांत या वनांत जाऊन निवास करतात.

संसारी लोकांवरहि ह्या पुण्य-स्थानांचा प्रभाव पडतो. एकादे धनिकास आपण जाऊन भेटल्यास तो मान-अपमान, स्त्री-पुत्र तथा परिवारांच्या चिन्ताजनक वातावरणांत परिवेष्टित असल्याने, धड आपल्याशी प्रेमपूर्वकपणाने भेटत नाही वा मोकळ्या मनाने गोष्टीहि करीत नाही, परन्तु त्याची जेव्हा एकादे साधु महात्म्याशी एकादे पुण्य-स्थानीं गाट पडते, तेव्हा तो फार सरलपणे अशांचे दर्शन घेतो, हसतो, खेळतो व लहान बालकाप्रमाणे निष्कपटपणे गोष्टी करतो. ह्याचे कारण असे आहे कीं, त्याचे अन्तःकरणांत आनन्दाचाहि व चिन्तेचाहि अंश असतो.

घरांत चिन्तेच्या परमाणुंचे प्राबल्य असल्याने तो त्यांना वशीभूत झालेला असतो. आनन्दाची पवित्र इच्छाच जर त्याचे हृदयांत नसती, तर तो सदाचारी एकान्तप्रिय महात्म्यांच्याजवळ जाताच कशाला? त्यांचे जवळ तो जातो, ह्या योगे हे प्रतीत होते कीं, तो खऱ्या आनन्दाचाहि इच्छु आहे व महात्म्यांच्या संगतींतच त्याचे ते आनन्दमय भाव परिस्फुटित होतात. ह्याचसाठी सांगतात—सदाचार व कल्याण-मार्गास जाणारे सद्-गृहस्थांनी वर्षांतून एक दोन महिने तरी एकादे पवित्र-स्थानीं वा कोणा एकादे महात्म्याचे संसर्गांत घालवावे.

गौडीयभक्त घर-दाराची चिन्ता सोडून चार महिने प्रभुंच्या चरणांजवळ राहाण्यासाठी आले होते. तसे म्हटले तर ते भगवद्-भक्त होतेच, त्यांतले त्यांत महाप्रभुंच्या कृपेतींलहि होते, व संसार-भोगांपासून ते उदासीन होते, म्हणून तर त्यांना जगन्नाथासारख्या परम-पावन पुण्यक्षेत्रीं प्रेमावतार श्रीचैतन्यदेवाचे संगतींत इतके दिवस निवास करण्याचे परम भाग्य लाभले. महाप्रभु तर आनन्दाची मूर्तिच होते. ह्या कारणाने चार महिने भक्तांनी प्रभुंच्या संगतींत अत्यन्त आनन्द अनुभविला.

रथयात्रेच्या पश्चात् जी पंचमी येते, तीस 'हेरापंचमी' म्हणतात. त्या दिवशीं श्रीमहालक्ष्मी भगवन्तास हेरते-शोधिते, म्हणून 'हेरापंचमी' हे नाव पडलेले आहे. जगन्नाथांत हेरापंचमीचा उत्सव मोठ्या धामधुमीने होतो. ज्याप्रमाणे जगन्नाथाचे मंदीरास नीलाचल म्हणतात, त्याचप्रमाणे गुंटीचा-उद्यानांतील मंदीरास सुन्दराचल म्हणतात. ह्या दिवशीं भगवान् तर सुन्दराचलासच असतात. जगन्नाथाचे मंदीर उत्तम प्रकारे शृंगारले होते. महाप्रभु आपले भक्त-गणासह हेरापंचमीचा लक्ष्मीविजयोत्सह पाहण्या-साठी सुन्दराचलाहून नीलाचल येथे आले होते. ह्यांना बसण्यासाठी

मंदीरांत नीट व्यवस्था करण्यांत आली होती, त्या ठिकाणीं महाप्रभु भक्तांसहीत बसले. इतक्यांत एका सुन्दर पाळण्यांत (डोली) बसून भगवन्ताचा शोध करीत लक्ष्मीदेवी आपले परिचारिकांसह आल्या. बहुमोल अलंकार त्यांच्या अंगावर फार शोभा देत होते. पुढे देवदासी नृत्य करीत चालत होत्या व त्यांच्या पुढे अनेक वाद्ये वाजत होतीं. येताच लक्ष्मीदेवीच्या दासींनी जगन्नाथाच्या मुख्य मुख्य सेवकांना बांधून त्यांना लक्ष्मीदेवीच्या सन्मुख आणले. दासी त्या सेवकांना मारीतहि होत्या. महाप्रभुनी विचारले–'स्वरूप! हे काय आहे बुवा, लक्ष्मीदेवी इतक्या कां रागावल्या आहेत?'

स्वरूपदामोदरांनी उत्तर दिले–'प्रभो! रागच काय! आपले प्रियकरापासून पृथक् झाल्याने कोणास अपार दुःख होणार नाही?'

महाप्रभुंनी विचारले--'मला हे सांगा कीं, भगवान् एकटेच गुपचुप चोरासारखे वृन्दावनास कां गेले, लक्ष्मीदेवीना कां बरोबर नेले नाही?'

स्वरूपदामोदर म्हणतात–'प्रभो! रासलीलेमध्ये वृजांतील गोपिकांचाच अधिकार आहे. ते भाग्य लक्ष्मीला लाभलेले नाही!'

ह्या संबंधाने बराच उहापोह चालला. इतक्यांत जगन्नाथांच्या सेवकांनी असे वचन दिले कीं, आम्ही आपले स्वामीस लवकरच आपले येथे आणतो. तेव्हा त्यांना बन्धमुक्त करण्यांत आले व ते आप-आपले ठिकाणीं गेले. महाप्रभुहि प्रसाद घेऊन भक्तांसह सुन्दराचलास परत गेले.

सुन्दराचलास आठ दिवसपावेतो महाप्रभु भक्तांसह आनन्द-विहार करीत राहिले. आता 'उलटी-रथयात्रे'चा समय आला. 'पांडुविजय' अर्थात् भगवन्त रथारूढ झाल्यावर रथ जगन्नाथाकडेस निघाला. महाप्रभुहि संकीर्तन करीत रथाच्या पुढे भक्तांसहीत निघाले. नीलाचलास

येऊन भगवान् मंदीरांत विराजमान झाल्यावर दर्शन घेऊन महाप्रभु आपले स्थानीं गेले आणि भक्तांसहीत प्रसाद घेतल्यावर सर्वांनी आराम केला.

गौडीयभक्त आळी-पाळीने नित्य महाप्रभुंना आप-आपले घरीं भिक्षेस बोलावित होते. ह्याप्रमाणे चालले असता जन्माष्टमी आली. तोहि उत्सव महाप्रभुंनी आपले भक्तगणासह मोठे थाटाने उजविला. त्यानंतर विजयादशमीचा उत्सव झाला. ह्यांत स्वता महाप्रभु महावीर हनुमान् झाले व भक्तांना वानर बनवून रावणावर विजय संपादण्यासाठी निघाले. तदनन्तर दीपावली, देवोत्थान आदि सर्व उत्सवांच्या लीला महाप्रभुंनी भक्तांसह केल्या. महाप्रभुंच्या सहवासांत किती समय व्यतीत झाला हे कोणासहि समजले नाही. घराचे कोणास स्मरणहि झाले नाही. आता महाप्रभुंनी सर्वांना आप-आपले घरीं परत जाण्यास आज्ञा दिली. ह्यायोगे सर्वांना दुःख वाटले.

# भक्तांची विदाई (बोळवण)

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठस्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषं चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीडयन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥

भक्त मंडळीचा परत जाण्याचा समय समीप आला. महाप्रभु अत्यन्त स्नेहाने, ममतेने, सर्व भक्ताना पृथक्-पृथक् एकान्तांत भेटू लागले. त्यांना त्यांच्या मनांतील गोष्टी विचारीत, आपले मनांतील त्यांना सांगत, त्यांना आलिंगन देत, त्यांच्या हातून थोडा प्रसाद घेत व थोडा त्यांना देत. ह्याप्रमाणे निरनिराळ्या रीतीने प्रेम प्रदर्शवीत सर्वांना सन्तुष्ट करू लागले.

सर्वांच्या पूर्वी प्रभुंनी नित्यानन्दांना बोलाविले व त्यांच्याशीं एकान्तांत पुष्कळ वेळपावेतो गोष्टी केल्यावर त्यांही गौडदेशांत जाऊन भगवन्नाम प्रचार करावा असे त्यांना सांगीतले. महाप्रभुंनी त्यांना आज्ञा दिली–'गौडदेशांत जाऊन ब्राह्मणापासून ते चान्डालापर्यन्त सर्वांना भगवन्नामाचा उपदेश करा. हे रामदास, गदाधर, आदि पुष्कळशी भक्तमंडळी तुम्हास ह्या कामी योगदान (सहाय) देतील. मंगलमय भगवान् तुमचे कल्याण करो, मीहि गुप्तरूपाने तुमच्याबरोबर आहेच'.

नन्तर ह्यांनी अद्वैताचार्यांना सांगीतले–'आचार्य! आपणच आम्हा सर्वांमध्ये श्रेष्ठ, मान्य, गुरु, पूज्य व अग्रणी आहात. आपण असा

उद्योग सदैव करीत राहा की, भक्तवृन्द संकीर्तन विमुख न व्हावा. त्यांना आपण संकीर्तनासाठी नेहेमी प्रोत्साहित करीत असावे.

ह्यानंतर श्रीवासांची पाळी आली. प्रभुंनी म्हटले–'पंडित! आपले ऋणांतून तर आम्ही केव्हाहि मुक्त होणे शक्य नाही. खरोखर आपण तर मला विकतच घेतले आहे. तेव्हा आपले अंगणांत जेव्हा जेव्हा संकीर्तन होईल, तेव्हा तेव्हा आम्ही गुप्त रूपाने तेथे अवस्थित राहू व सदैव आपले अंगणात नृत्यहि करीत राहू'.

नंतर नेत्रातून अश्रु वाहात असता प्रभु म्हणाले–'पंडितजी! त्या पूजनीय दुःखित वृद्ध मातेस आमचे शतशः प्रणाम सांगावे. आम्ही हा फारच मोठा अपराध केला आहे की, तिला एकटीलाच टाकून आम्ही निघून आलो. आम्हाकडून मातेची क्षमा (याचना) मागा व सांगा की, आम्ही नेहेमी त्यांहीच समर्पण केलेल्या नैवेद्याचेच भोजन करतो. सणाचे दिवशी जेव्हा तिला आमचे स्मरण होते तेव्हा आम्ही तेथे जाऊन तिने केलेले पदार्थ सेवन करतो. आपण तिचे सान्त्वन करावे व आमचे कुशल तिला सांगावे. आम्ही लवकरच येऊन त्यांच्या श्रीचरणांचे दर्शन घेऊ'. असे सांगून महाप्रभुचे बहुमूल्य प्रसादीवस्त्र व महाप्रसाद मातेसाठी दिला. त्यांही त्या दोन्ही वस्तु नीट बांधून घेतल्या.

ह्यानन्तर परम भागवत श्रीशिवानन्द सेन, रामानन्द, मालाधर वसु, मुरारी गुप्त, वासुदेव दत्त आदि सर्वांना निरनिराळ्या प्रकारे प्रेमपूर्वक निरोप दिला.

भक्तगण महाप्रभुंना सोडून जाण्यास तयारच नव्हता. त्यांची अन्तःकरणे धडधड करीत होती, ते अगदी विवश होऊन जाण्यास सिद्ध झाले.

महाप्रभुचे नेत्र पाण्याने भरून आले, भक्तांच्या नेत्रांतून अश्रु-प्रवाह सुरू होता. महाप्रभु प्रत्येकास आलिंगन देत होते. भक्तगण त्यांच्या चरणीं वारंवार प्रणाम करून आपले विरह-दुःख कांहीसे कमी करीत होते. बरेच लांब प्रभु त्यांना पोचविण्यास गेले. त्यांना विदाय करून प्रभु परत आले व पुरी भारती, जगदानन्द, स्वरूपदामोदर, दामोदर पंडित, मुकुन्द दत्त, काशीश्वर व गोविन्द ह्यांच्यासह प्रभु सुखपूर्वक निवास करू लागले. कांही गौडियभक्त थोडे दिवसासाठी मागे राहिले, त्यांना नित्यानन्दा-बरोबर गौड-देशांत प्रभुंनी पाठविले.

# सार्वभौमांचे घरीं भिक्षा व अमोघ-उद्धार

सार्वभौमगृहे भुंजन् स्वनिन्दकममोघम् ।
अंगीकुर्वन् स्फुटीचक्रे गौरः स्वां भक्तवत्सताम् ॥

गौडीय भक्त गेल्यावर सार्वभौम भट्टाचार्य प्रभुकडेस आले व म्हणाले–'प्रभो ! आजपावेतो भक्तमंडळी असल्याने मी कांही बोललो नाही, परन्तु आता ती मंडळी गेली असल्याने एक माझी प्रार्थना आहे, तिचा आपणास स्वीकार करावा लागेल'.

प्रेमाने परन्तु कांहीसा निषेध करीत प्रभु म्हणाले–'प्रथमच स्वीकार करून घ्यावा व नन्तर काय ते सांगावे, हे बरे कां ? सांगा काय आहे ते, मानण्यासारखे असल्यास मानीन व तसे नसल्यास ना म्हणेन'.

भट्टाचार्य म्हणतात–'नाही, अशी गोष्ट नाही, मानावीच लागेल'.

प्रभुनी तात्काल उत्तर दिले–'जर प्रथमपासूनच माहीत आहे कीं, गोष्ट मानण्यायोग्य आहे, तर मग सन्देह कां ? बरे, जाऊ द्या, ऐकू तर खरे काय गोष्ट आहे ती !'

कांहीसा विचार करीत हळू-हळू भट्टाचार्य म्हणाले–'माझीहि इच्छा आहे व घरांतूनहि पुष्कळ दिवसांपासून सांगत आहे कीं, प्रभुंना कांही दिवसपर्यन्त आपले घरींच ठेऊन घेऊन भिक्षा करवावी. जास्ती दिवस तर मी म्हणतच नाही, परन्तु कमीतकमी एक महिना आमचे नवीन घर आपले चरण-धुलीने पवित्र करावे, हीच माझी प्रार्थना आहे'.

प्रभु मोठ्याने हसून म्हणाले–'आपण तर म्हणत होता कीं, मानण्यायोग्य गोष्ट आहे. एक महिनाभर एकाच्याच घरीं भिक्षा करीत

राहाणे, ही गोष्ट आपणच सांगा की, कोणीहि संन्यासी स्वीकार करील कां? संन्याशाने तर घरोघर मधुकरी मागून निर्वाह करावा असे विधान आहे'.

भट्टाचार्य म्हणाले–'प्रभो! ह्या सर्व गोष्टी राहु द्या. आमची ही प्रार्थना स्वीकारून आमची व आमचे सर्व परिवाराची इच्छा तृप्त करावी'.

आश्चर्याने प्रभु म्हणाले–'आचार्य! आपणच अशा धर्मविरुद्ध कामासाठी मला गळ घालाल, तर मग मूर्खाची गोष्टच कशाला! एकाद दुसरे दिवस म्हटल्यास मी स्वीकारहि करीन. शेवट पुष्कळ वादविवादानंतर पांच दिवसांची भिक्षा निश्चित झाली. प्रभुंना एकान्तांतच भिक्षा करविण्याचा भट्टाचार्याचा मानस असल्याने अन्य भक्तांना इतर दिवशी निमन्त्रित केले.

ठरलेल्या वेळीं प्रभु भिक्षेसाठी भट्टाचार्यांचे घरीं गेले. भट्टाचार्यांना चन्दनेश्वर नावाचा एक पुत्र व षाठी नावाची एक पुत्री होती. षाठीचे पति अमोघ भट्टाचार्याचे जवळच राहात होते. हे महाशय फारच नास्तिक व अश्रद्धालु प्रकृतीचे होते, म्हणून महाप्रभुंच्या भिक्षेच्या वेळीं ह्यांना कांही तरी काम काढून सार्वभौमांनी बाहेर पाठवून दिले. महाप्रभुंना एकान्तांत बसून भट्टाचार्य त्यांना भिक्षा करवीत होते. सार्वभौमांच्या गृहिणीने अनेक प्रकारचे भोज्य-पदार्थ प्रभुंच्या भिक्षेसाठी केले होते. वीस प्रकारच्या भाज्या, कित्येक प्रकारची लोणची व मोरंबे, कित्येक प्रकारचे भात, नानाप्रकारची पक्वान्ने व आणखीहि कित्येक पदार्थ होते. कांहीतर षाठीच्या मातेने घरींच तयार केलेले होते व कांही भगवन्ताच्या प्रसादांतील पदार्थ मागवून घेतले होते. पन्नास पात्रांतून हे पदार्थ

सार्वभौमांनी वाढले होते. हे सर्व पदार्थ पाहून प्रभु फार प्रसन्न झाले व आश्चर्याने म्हणाले–'भट्टाचार्य महाशय! आपण खरोखरच धन्य आहा कीं, ज्यांचे घरीं भगवन्तास इतक्या वस्तुंचा भोग (नैवेद्य) अर्पण होतो. इतके हे सर्व पदार्थ खाणार कोण, ह्यांत तर वीस मनुष्याचे पोट भरेल व तरीहि शेष राहील. आपण ह्यांतील कांही कमी करा'.

भट्टाचार्यांनी म्हटले–'प्रभो! अधिक कांही नाही. मंदीरांतील छप्पन प्रकारच्या भोगापेक्षा पुष्कळच कमी आहे, आणि तेथे तर वीस वेळ भोग अर्पण केला जातो. येथे तर मी एकच वेळा थोडे थोडे वाढले आहे. इतक्यांचाच स्वीकार करून मला कृतार्थ करावें'.

सार्वभौमांच्या आग्रहावरून प्रभुंनी भोजनास सुरूवात केली. महाप्रभुंचा जो पदार्थ अर्धा संपे तो फिरून भट्टाचार्य पुरा करीत असत. प्रभुंना वाढतानाहि त्यांचे लक्ष्य आपले जामाताकडेसच होते. इतक्यांत अमोघ येतो असे त्यांही दुरूनच पाहिले व त्यास दुसरे बाजूस जाण्यास सांगीतले. त्यावेळीं तो दुसरीकडेस गेला, परन्तु आचार्य कांही पदार्थ आणण्यासाठी घरांत गेले, तेव्हा अमोघ एकदम प्रभुच्या समोर येऊन उभा राहिला. महाप्रभुंच्या पुढे शेकडो पदार्थांचा ढीग पडलेला पाहून तो जीभ चावीत म्हणाला–'बाप रे बाप! हा संन्यासी आहे वा कोणी संकटाचा पुतळा आहे? इतके जेवण तर वीस मंडळीनाहि खाता आले नसते. हे इतके कसे खाणार?'

हे म्हणणे ऐकताच भट्टाचार्य तेथे धावत आले व अमोघास दहा पाच शब्द ऐकविले व ते प्रभुंची क्षमा मागू लागले.

महाप्रभुंनी अगदी सरलतेने उत्तर दिले–'ह्यांत अमोघाचा अपराध तो काय? त्याने खरे होते तेच म्हटले. असे पहा, संन्याशास इतके

खाऊन घालून त्याने सदाचारी राहावे अशी आशा करणे व्यर्थ आहे. मला आपण आज इतके भोजन करविले आहे कीं, माझ्याच्याने उठवत सुद्धा नाही. अमोघ अगदी खरे तेच बोलला. आपण त्यास दोष देऊ नका. मला त्याजबद्दल कांहीच वाटत नाही. आपण कांहीहि मनांत आणू नका'. असे म्हणून भोजन झाल्यावर प्रभु आपले ठिकाणीं परत गेले.

ह्या घटनेने सार्वभौमांना व त्यांचे घरांतील सर्वांना फार वाईट वाटले. अमोघाने आपले श्वसुरांचे लाल झालेले नेत्र पाहताच तो घराबाहेर निघून गेला व त्यादिवशीं रात्रीसुद्धा तो परत आला नाही. ह्या मुळे सार्वभौमांच्या घरात त्यादिवशीं कोणीहि भोजन केले नाही.

भगवन्ताची विचित्र लीला तर पाहा! अमोघास आपले कृत्याचे फल मिळाले. दुसऱ्याच दिवशीं त्यास भयंकर विषूचिका (महामारी) रोग झाला. ही वार्ता समजताच सार्वभौम म्हणाले–'चला बरे झाले'. 'अत्युग्र पापपुण्यानामिहैव फलमश्नुते', अमोघाने जसे केले, तसे त्यास येथेच फळ मिळाले'. लोकांनी अमोघास सार्वभौमाच्या घरीं आणले. आचार्य गोपीनाथाने हे सर्व प्रभुंना विदित केले. हे ऐकताच प्रभु सार्वभौमाच्या घरीं दौडत आले. त्यांनी पाहिले, अमोघ बेशुद्ध होऊन पलंगावर पडलेला आहे. त्याचे जगण्याची कोणासच आशा नव्हती.

महाप्रभु त्याचे पलंगाजवळ गेले व त्याचे छातीवर हात ठेवून म्हणाले–'आहाहा, बालकाचे हृदय किती कोमल असते, त्यांत कुलीन ब्राह्मणाचे तर विचारूच नका. ब्राह्मणाचे स्वच्छ निर्मल अन्तःकरण प्रभुच्या निवासासच योग्य असते. कोण जाणे, हे राक्षसी मात्सर्य ह्या अमोघाच्या अन्तःकरणांत कोठून शिरले'. थोडा वेळ गुप राहून प्रभु

म्हणतात–'हे दुष्ट मात्सर्या! सार्वभौम भट्टाचार्याचे घरीं राहणारे अमोघाच्या अन्तःकरणांत प्रवेश करण्याचे साहस तूं कसे केलेस? सार्वभौमाच्या भीतीने तू आताच येथून चालता हो'. इतके म्हणून प्रभु पुन्हा अमोघास संबोधून म्हणतात––'अमोघ! तुझे हृदयांतील चाण्डाळ मात्सर्य पळून गेले, आता तूं उठून श्रीकृष्णाचे मधूर नावाचा उच्चार कर'.

इतके ऐकताच झोंपेतून जागा व्हावा ह्याप्रमाणे अमोघ उठून उभा राहिला व 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव' आदि भगवन्ताच्या नामांचे मोठमोठ्याने कीर्तन करू लागला. सर्व प्रभुंच्याकडेस आश्चर्याने पाहू लागले व हा ईश्वरीप्रसादच ते समजले.

अमोघाने प्रभुंचे चरण धरून आपले पूर्व-कृत अपराधांची क्षमा मागीतली. त्यास आलिंगन देत प्रभुंनी त्याचे सांत्वन केले. प्रभुनी त्यास श्रीकृष्ण-कीर्तनाचा उपदेश केला.

# नित्यानन्दाचे गौड-देशांत भगवन्नाम-वितरण

नित्यानन्दमहं वन्दे कर्णे लम्बितमौक्तिकम् ।
चैतन्याग्रजरूपेण पवित्रीकृतभूतलम् ॥

नित्यानन्दांचा स्वभाव अगदी अज्ञान बालकासारखा होता व ते नेहेमी तसेच वागत. त्यांच्यांत अनन्त गुण असतील, परंतु त्यांच्यांत सर्वश्रेष्ठ हा गुण होता कीं, ते महाप्रभुनाच सर्वस्व समजत होते. एके दिवशी महाप्रभुंनी त्यांना आपले समीप पाचारण करून म्हटले–'श्रीपाद ! आपले ठिकाणीं माझे किती प्रेम आहे, हे मीच जाणतो. आपणास पृथक् करण्याची माझी इच्छा नाही, परन्तु गौडदेशांतील मानव भगवताला अगदीच विसरले आहेत. त्यांतले जे कांही थोडे बहुत विद्या-संपन्न आहेत ते त्या अभिमानांतच नेहेमी चूर असतात. ते कृष्ण-कीर्तनाकडेस तुच्छतेने पाहतात. आपणावाचून गौड-देशाचा उद्धार दुसरा कोणीहि करू शकणार नाही. म्हणून जीवाचे कल्याणासाठी आपणास मजपासून पृथक् होऊन गौड-देशांत भगवन्नाम प्रचारासाठी गेले पाहिजे. उच्च नीच हा भेद-भाव न ठेविता आपणच हा उपदेश देण्यास समर्थ आहा'.

प्रभुंचे हे म्हणणे ऐकताच नित्यानन्दाचे नेत्रांतून अश्रुपात होऊ लागला व रुद्ध-कण्ठाने ते म्हणतात–'प्रभो ! आपण सर्व समर्थ आहा. आपली लीला आम्हास समजत नाही. आपले अनुपस्थितीत मी काय करू शकणार आहे ! मला आपले चरणांपासून पृथक् करू नका'.

महाप्रभुंनी सांगीतले–'आपण मधून मधून येऊन मला भेटत जा, व भगवन्ताचेहि दर्शन करीत जा. आपणास गेलेच पाहिजे'.

विवश होऊन त्यांही महाप्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य केली व अभिराम-

जाणणार? आता आपण एक करावे. आपण विवाह करावा व आदर्श गृहस्थ होऊन लोकांना प्रत्यक्ष प्रत्ययास आणून द्यावे कीं, गृहस्थाश्रमांत राहूनहि कोणते प्रकारे भजन-कीर्तन व परमार्थ-चिन्तन केले जाते'.

अश्रु ढाळीत, गद्‌गद्‌कण्ठाने नित्यानन्द म्हणाले–'प्रभो! आपण तर घरीं सन्तानहीन युवती स्त्री सोडून संन्यासी झाला व मला संन्याशास गृहस्थ होण्याचा उपदेश करीत आहा. आपल्या लीला समजणेज शक्य नाही'.

महाप्रभुंनी म्हटले–'श्रीपाद! मी आता गृहस्थाश्रमांत राहाण्याचे योग्य मुळीच राहिलो नाही. माझी स्थिति अगदी वेड्यासारखी झालेली आहे. माझेपासून आता कोणत्याहि कामाची आशा करणे व्यर्थ आहे. आता सर्व गौडदेशाचा भार आपणावरच आहे व ते कार्य आपण गृहस्थाश्रम स्वीकारण्यावरच साध्य होणार आहे'.

नित्यानन्द म्हणतात–'प्रभो! मी आपले आज्ञेपुढे लोक-निन्दा व शास्त्र मर्यादा ह्यांची क्षिति बाळगीत नाही. आपण आज्ञा द्याल तसे मी वर्तन करीन'.

महाप्रभु तर सर्वांच्या मनांतील गोष्टी समजत होते. कोणापासून कोणते काम घ्यावे हे प्रभु उत्तम प्रकारे जाणत होते. कोठे तर ते आपले अन्तरंग विरक्त भक्तांना स्त्री-दर्शन करणेहि पाप म्हणून म्हणत, तर कोठे ते–'हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु' स्त्रियांचे व स्त्रियांच्या संसर्गात असणाऱ्या विषयी पुरुषांचे दर्शनसुद्धा विष-भक्षणापेक्षाहि वाईट म्हणून म्हटले आहे'. आणि कोठे आज हे अवधूत नित्यानन्दांना गृहस्थाश्रम स्वीकारण्याची आज्ञा देत आहेत. नित्यानन्दांनी महाप्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य केली व ते पुन्हा पानीहाटी ह्या गांवीं राघव पंडितांच्या घरीं

येऊन राहिले. ह्या प्रांती पहिल्यापासूनच नित्यानन्दांचा प्रभाव पडलेला होता. तेव्हा जाताच त्यांही भक्तांसहीत मोठे धाम-धुमीने संकीर्तन प्रचारास सुरूवात केली. ह्यांना ह्या प्रांतांतील लोक श्रीगौराङ्गाचा दुसरा विग्रहच मानीत होते. पाठकांना स्मरत असेलच कीं, पूर्वी हे अंबिका नगरांत सूर्यदास पंडिताच्या घरीं राहिले होते व त्यांची ह्यांचे ठिकाणीं भक्तिहि प्रगाढ होती. पुन्हा ह्यावेळीं त्यांच्याच घरीं जाऊन हे उतरले. त्यांही ह्यांचा आदरसत्कार केला. त्यांच्या वसुधा व जान्हवी अशा दोन कन्या होत्या, त्यांचा विवाह नित्यानन्दाबरोबर केला.

ह्याप्रमाणे दोन लग्ने करून नित्यानन्द भागीरथीच्या तटीं खडदा नावाच्या गावीं राहूं लागले. भक्त-वृन्द ह्यांचा पुष्कळ सन्मान करीत होते. येथेच वसुधेच्या गर्भापासून परम तेजस्वी वैष्णव-संप्रदायाचे प्रवर्तक श्रीवीरचन्द्राचा जन्म झाला. ह्यांनी नित्यानन्दांचे तिरोभावानंतर आपला एक निराळाच वैष्णव संप्रदाय प्रस्थापित केला. त्यांचे पश्चात् त्याची पत्नी जान्हवीदेवी ह्यांनींहि भक्तिचा पुष्कळ प्रचार केला. ह्या प्रकारे नित्यानन्दांचे द्वारा गुरुकुलाची स्थापना झाली, ती अद्यापहि कोणत्याना कोणत्या रूपाने विद्यमान आहे.

नित्यानन्द महाप्रभुंचे अनन्य उपासक होते. त्यांही प्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य करून लोकांना दाखवून दिले कीं, ह्या प्रकारे निर्लिप्तपणे राहून गृहस्थाश्रमांतहि भगवत् भजन केले जाते. ते गृहस्थ असताहि उदासीन सारखेच राहात असत. प्रवृत्ति-मार्गांत राहून त्यांही निवृत्ति-मार्गाचे आचरण करणे दाखवून दिले. निवृत्ति प्रवृत्ति असे दोन मार्ग आहेत. निवृत्ति मार्गाचे तर कोणी लाखामध्ये एकादा-अर्धा आचरण करू शकतो, म्हणून तर भगवन्ताने 'कर्मयोगो विशिष्यते' हे सांगून निष्काम-मार्गाची स्तुति केली आहे. प्रवृत्ति-मार्ग दोन प्रकारचा असतो–

एक सकाम व दुसरा निष्काम. आजकाल इन्द्रिय-भोग भोगीत जे गृहस्थ केवल उदर-भरणच मुख्य मानतात, त्यांचा धर्म तर निष्काम वा सकाम असा कांहीच नाही. हा तर पशु-धर्म आहे. परस्पराच्या संसर्गाने निसर्गतः सन्तान-वृद्धि होतच जाते. जे वेदोक्त मार्गाने स्वर्गादि सुखाच्या इच्छेने केले जाते, त्यास सकाम-कर्म म्हणावे, आणि भगवत् प्रीतीसाठी जे कोणत्याहि प्रकारची सांसारिक इच्छा न ठेविता केले जाते, प्रभु-प्रसन्नता हेच ज्याचे एक-मात्र लक्ष्य असते ते निष्काम कर्म होय. निष्काम कर्म करणारे दोन प्रकारचे असतात. एक वीर्यजन्य कुल व दुसरे शब्द-जन्य कुल. वंशपरंपरेने जे उत्पन्न होतात त्यास वीर्यजन्य कुल म्हणतात व शिष्य परंपरेपासून ज्या शाखा चालतात त्यास शब्दजन्य कुल म्हणतात. हल्लींचे कालांतील महन्तपणा हे ह्याच कुलाचे विकृत व नीचावस्थेस पोचलेले स्वरूप आहे. नित्यानन्दद्वारा ह्या दोन्हीहि कुलांची सृष्टि उत्पन्न झाली. त्यांचे वंशजहि गोस्वामी व वैष्णवाचे गुरू झाले व त्यांची शिष्य परंपराहि अद्यावधि विद्यमान आहे.

# प्रकाशानन्दांचे बरोबर पत्र-व्यवहार

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा—
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

गौराङ्ग महाप्रभुंची सार्वभौम भट्टाचार्यांनी एका स्तोत्रांत एकशें-आठ नावे वर्णिली आहेत. त्यांतील एक नाव मला फारच आवडले, ते हे—'अदोष-दर्शी'. खरोखरच महाप्रभु 'अदोष-दर्शी' होते. ते मुखावाटे दुसऱ्यांचे दोषांचा उच्चारहि काढीत नसत इतकेच नाही, तर ते लोकांच्या दोषांकडेस लक्ष्यहि देत नसत. मोठ्यांच्या बरोबर ते अगदी सुशीलतेने राहात. संन्यासी असूनहि संन्यासीपणाचा त्यांना बिलकुल अभिमान वाटत नसे. आपलेपेक्षा ज्ञानाने वृद्ध व वयोवृद्ध पुरुषांबरोबर ते फार नम्रपणे वागत. लहान भक्तांशी फार स्नेहाने भेद-भाव न ठेविता वर्तन करीत. इत्यादि सर्व कारणामुळे भक्त-वृन्द त्यांच्यावर प्राणापेक्षाहि अधिक प्रेम करीत.

जेथे अत्यन्त प्रेम, तेथेच भगवान् प्रकट होतात. भगवन्ताचे न तर एक निश्चित रूप आहे न कोणते नियमित नाव आहे. नाम-रूपाच्या पलीकडे असूनहि त्यांची असंख्य रूपे आहेत व नामेहि आहेत. ज्यास जे नाम-रूप प्रिय असेल, त्याच नाम-रूपाने प्रभु प्रकट होतात. भगवन्त प्रेममय व भावमय आहेत. तुलसीदास गोस्वामी म्हणतात—

**जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥**

ज्यावर प्रभु-प्रेम असते, तो जेव्हा आपणावर प्रेम-करणारे भगव-

न्ताच्या अनुकंपेच्या भाराखाली दबला जातो, तेव्हा त्यास स्वयंस्फूर्त इच्छा होते की, अशा भगवन्ताच्या गुणाचे वर्णन करावे. त्याच्याच्याने प्रशंसा केल्यावाचून राहाववतच नाही. प्रेमांत हीच तर विशेषता आहे. आपला आनन्द सर्वांना वाटून द्यावा अशी त्याची इच्छा असते.

गौड-देशांतील सर्व गौरभक्त प्रेमामध्ये इतके तन्मय झाले होते कीं, ते प्रेम व्यक्त करण्यावाचून त्यांचेच्याने राहवले नाही. तेव्हा श्रीकृष्णाचेच मधुर नामाचे कीर्तन होत असे; गौर-संकीर्तन तोपावेतो प्रचलित नव्हते. भक्त-वृन्द महाप्रभुच्याठायीं भगवत्-भावना ठेवीत होते. ह्या सर्वांचे अग्रणी परमशास्त्रवेत्ते अद्वैताचार्यच होत. म्हणून त्यांहीच सर्व प्रथम नीलाचल येथे गौर-संकीर्तनाचा श्रीगणेश केला. तोपर्यन्त गौराङ्गाच्या संबंधाने पदे रचण्यांत आलेली नव्हती. अद्वैताचार्योंनीच स्वयं हे पद तयार केले—

**श्रीचैतन्य नारायण करुणासागर।**
**दुःखितेर बन्धु प्रभु मोर दयाकर॥**

ह्या पदाची रचना करून ते सर्व भक्तांकडून ताल सुरांत बसविले. सर्व भक्त आनन्दाने ह्या पदाचे संकीर्तन करू लागले. प्रभुहि तो कीर्तनाचा उल्लासमय, आनन्दमय, सुमधूर ध्वनि ऐकताच तेथे उपस्थित झाले. परन्तु त्यांहि जेव्हां स्वताच्या नामाचाच घोष ऐकला, तेव्हा ते मागल्या पायांनीच परतले. नन्तर कांहीसा प्रेमयुक्त क्रोध प्रकटवीत प्रभु श्रीवासास म्हणतात–'आपण हा काय अनर्थ मांडला आहे, कीर्तनीय तर तोच श्रीहरि आहे. त्यांचे नाम-स्मरण सोडून आपण असे आचरण सुरू केले आहे कीं, ज्यायोगे लोकांत माझी अपकीर्ति होऊन परलोकीं मी पापाचा भागीदार होईन'. इतक्यांत कांही गौडियभक्त संकीर्तन

करीत, जगन्नाथाचे दर्शनाहून परत फिरून प्रभुच्या दर्शनासाठी येत होते. ते मोठ्याने 'जय चैतन्यकी', 'जय सचल जगन्नाथकी', 'जय संन्याशी वेषधारी कृष्णकी', ह्याप्रमाणे जयजयकार करीत आले. तेव्हा श्रीवास म्हणाले–'प्रभो ! आम्ही तर आपले आज्ञेप्रमाणेच वागू, परन्तु आम्ही जगाचे मुख थोडेच बन्द करू शकणार आहोंत. आपणच सांगा कीं, ह्यांना कोणी शिकविले आहे?' ह्यामुळे प्रभुना कांहीसा संकोच वाटला व ते चुप झाले, त्यांहि काहीहि उत्तर दिले नाही. पुढे जस-जसा लोकांचा उत्साह वाढत गेला, तस-तसे भगवन्ताच्या नामाबरोबर निताई गौराचे नामहि जोडले गेले. त्यानन्तर तर निताई-गौराचेच प्राधान्यतः कीर्तन होऊ लागले.

अधिकांश भक्त-वृन्द ह्यांना खरोखरच ईश्वरच मानीत. ह्या कारणाने प्रभु फार सावधान असत. स्वता ते आपणास दासानुदासच मानीत व केव्हाहि कोणाचे सन्मुख स्वताची भगवत्ता स्वीकारीतहि नसत. ह्यांचे भक्त निरनिराळ्या प्रकृतीचे होते. पुष्कळांचे ह्यांचेवर वात्सल्यभावाचे प्रेम होते व हेपण त्यांना सदैव पितृ-भावाने मान देत. दामोदर पंडिताचे नाव पाठकगणास स्मरत असेलच. प्रभुंनी त्यांना मातेच्या सेवा-सुश्रेषेसाठी नवद्वीपास पाठविले होते. एक वेळ ते प्रभुच्या दर्शनासाठी पुरीस आले, तेव्हा गोष्टींत गोष्टी निघाल्या असता प्रभुंनी विचारले–'पंडितजी ! माता कृष्ण-भक्ति करते आहे ना?' झाले, मग काय विचारता. दामोदर पंडिताचा क्रोध फारच वाढला. त्यांची मातेच्या ठिकाणीं फार श्रद्धा होती व ते स्पष्ट वक्ता होते. त्याही रागाने म्हटले–'प्रभो ! मातेच्या भक्तिच्यासंबंधाने आपण विचारले?' तेव्हा खरी गोष्ट तर ही आहे कीं, आपणामध्ये जी थोडी-बहुत भगवत्-भक्ति दिसून येत आहे, हे मातेच्याच कृपेचे फल आहे'.

दामोदर पंडितांचे हे उत्तर ऐकताच प्रभु अगदी गहिवरले व प्रेममयी मातेच्या ममतेचे स्मरण करीत म्हणतात–'पंडितजी ! आपण अगदी सत्य बोललात. अहाहा ! मातेची भक्ति कोण कशी समजणार ? आपणच यथार्थतेने मातेस जाणले. खरोखर माझे अन्तःकरणांत जी कांही कृष्ण-भक्ति आहे, ती मातोश्रीचीच प्रसादी आहे. अरेरे ! अशा प्रेममयी जननीस सोडून मी निघून आलो'. असे म्हणून आपले मुख वस्त्रांत झांकून घेऊन प्रभु रुदन करू लागले. ही त्या महापुरुषाची दशा आहे, ज्यांना भक्त साक्षात् 'सचल जगन्नाथच' मानीत होते, त्यांही दामोदर पंडितांच्या ह्या स्पष्टोक्तिचा मुळीच विशाद न मानता उलट त्यांची प्रशंसाच केली. तेव्हा तर आज असंख्य पुरुष गौरचरणांचा आश्रय ग्रहण करून निस्सिम आनन्द अनुभवित आहेत.

महाप्रभुंची कीर्ति फार दूरवर पसरली होती. साधारण जनतेतच काय परन्तु विद्वान् मंडळींतहि ह्यांच्या अद्भुत प्रभावाची चर्चा होऊ लागली. सार्वभौम भट्टाचार्यांची विद्वत्ता, धारणा-शक्ति व पढविण्याचे सुगम व सरल शैलीची सर्वत्र प्रसिद्धि झालेली होती. काशीच्या विद्वत् समाजामध्ये त्यांचे नावाचा गौरवपूर्ण उच्चार केला जात असे. त्या कालीं काशींत प्रकाशानंद सरस्वती नामक एक दंडीसंन्यासी परम विद्वान् व वेदान्त शास्त्राचे प्रकाण्ड पंडित होते. ते सार्वभौमांची अलौकिक प्रतिभा व प्रचण्ड पाडित्याचे पूर्णपणे जाणते होते. त्यांही जेव्हा ऐकले कीं, पुरींत एक नवीन युवक संन्यासी विराजमान झालेले असून सार्वभौम भट्टाचार्यासारखे विद्वान् आपले वेदान्त ज्ञान तुच्छ मानून त्याचे चरणीं भक्ति-भाव करीत आहेत व त्यास साक्षात् ईश्वरच समजतात, तेव्हा तर त्यांना फारच कुतुहल वाटू लागले. तो पावेतो त्यांची अद्वैत-वेदान्तावर निष्ठा होती. तसे पाहिल्यास ते सहृदय होते. परन्तु

हा वेळ पावेतो त्यांचे प्रेम, सरसता सूत्रावस्थेत होती. त्यास मोठा धक्का बसलेला नसल्याने ते उसळून प्रस्फुटित झालेले नव्हते. त्यांही कौतुकवश एक श्लोक लिहून जगन्नाथास येणारे कोणा गौडिय-भक्ताच्या बरोबर तो प्रभुकडेस पाठविला. तो श्लोक असा—

यत्रास्ते मणिकर्णिका मलहरि स्वर्दीर्घिका दीर्घिका
रत्नं तारकमोक्षदं मृततनौ शम्भुः स्वयं यच्छति ।
एतत्त्वद्भुतमेव यत् सुरपुरो निर्वाणमार्गस्थितात्
मूढोऽन्यत्र मरीचिकासु पशुवत् प्रत्याशया धावति ॥

ह्या श्लोकांत ज्ञानास प्राधान्य दिलेले असून मोक्ष हाच परम पुरुषार्थ दर्शवून तत्प्राप्त्यर्थ निर्देश केलेला आहे. ह्याचा भावार्थ हा 'ज्या ठिकाणी मणिकर्णिका कुण्ड व पाप-ताप-हारिणी सुरदीर्घिका भगवती भागिरथी आहे, जेथे शुलपाणि स्वता मृतास तारकमन्त्र प्रदान करतात, मूर्खलोक अशा परम पावन मोक्षाचे मार्गात असलेल्या सुरपुरीचा त्याग करून पृथ्वीवर पशुवत् इकडे-तिकडे भटकत फिरतात, हेच आश्चर्य आहे'.

गौडीय-भक्तांनी यथावकाश नीलाचलास पोचल्यावर ते पूज्यपाद प्रकाशानन्दांचे पत्र प्रभुंच्या पादपद्मीं समर्पित केले. प्रभुंना त्या पत्राबद्दल व प्रकाशानन्दांचे नाव ऐकून फार संतोष वाटला. त्यांहि ते पत्र मोठ्या आदराने उघडले व वाचण्यास प्रारंभ केला. श्लोक वाचताच त्याचा हेतु प्रभुंच्या ध्यानांत आला व स्मितहास्य करीत प्रभु सार्वभौम आदि भक्तांच्याकडेस पाहू लागले. भक्तांनी जिज्ञासा प्रदर्शित केल्यावर स्वरूप-दामोदरांनी ते पत्र वाचून सर्वांना ऐकविले. प्रभुंनी श्रीपाद प्रकाशानन्दजींच्या पाण्डित्याची प्रशंसा केली व त्यांचे सन्मानार्थ स्वरूप गोस्वामीकडून एक श्लोक लिहवून, त्याच भक्तांच्या बरोबर उत्तराच्या स्वरूपांत त्यांच्याकडेस पाठवून दिला. तो श्लोक हा—

**घर्म्माम्भो मणिकर्णिका भगवतः पादाम्बु भागीरथी**
**काशीनाम्पतिरर्द्धमेव भजते श्रीविश्वनाथः स्वयम् ।**
**एतस्यैव हि नाम शम्भुनगरे निस्तारकं तारकं**
**तस्मात्कृष्णपदाम्बुजं भज सखे ! श्रीपादनिर्वाणदम् ॥**

ज्यांच्या घामाचे जलापासून मणिकर्णिकेची उत्पत्ति झाली, भगवती भागीरथी ज्यांचे चरण-जलापासून उत्पन्न झाली, स्वयं साक्षात् काशीपति भगवान् विश्वनाथ ज्यांचे अर्धे अंग झालेले आहेत, आणि काशीनगरींत ज्यांचे तारक-नाम जीवास संसार-सागरांतून तारण्यास समर्थ आहे, अशा मोक्षदायक श्रीकृष्ण-चरणांचे भजन तुम्ही कां करीत नाही ? अर्थात् त्याच चरणारविन्दांचे स्मरण करा'. ह्या श्लोकांत भगवत्-भक्तीस प्राधान्य दिलेले आहे व मुक्तीस भक्तिच्या पुढे तुच्छ मानले आहे.

हा श्लोक पोचल्यावर स्वामी प्रकाशानन्दांची काय दशा झाली असेल, ते तेच जाणे. परन्तु थोडे दिवसानंतर त्यांही आणखी एक श्लोक प्रभुकडेस पाठविला. महाप्रभुचा नियम होता कीं, ते भगवन्ताचा प्रसाद मिळताच ते वेळ-अवेळ न पाहता लागलीच तो ग्रहण करीत असत. भक्तांनाहि ते त्याचप्रमाणे विविध प्रकारचे पदार्थ खाऊ घालीत, व त्यांच्या आग्रहामुळे ते स्वताहि ते पदार्थ अनेक वेळा खात होते. संन्याशास तर एकच वेळा भिक्षा सांगीतलेली आहे व जे त्यावेळीं मिळेल त्याने उदर-पूर्ति केली पाहिजे. परन्तु महाप्रभु तर प्रेमी होते. ते संन्यासीहि होते, परन्तु प्रथम प्रेमी व नन्तर संन्यासी. प्रेमाच्यापुढे ते संन्यास-नियमहि केव्हा केव्हा विसरून जात असत. म्हण आहे कीं, 'प्रेममे नियम नही'. हे मस्तिष्क प्रधान (बुद्धि-प्रधान वा बुद्धि प्रामाण्यवादि) विचारक कसे समजू शकणार ? तो नियमासच ईश्वर

मानतो व कठोपणाने व हट्टाने नियमाचे पालन करतो. असाहि पुरुष वन्दनीय व पूजनीय खराच, परन्तु दुसऱ्यानेहि तसेच वागावे हा आग्रह योग्य म्हणता येणार नाही. प्रेमी-मनुष्याचा मार्गच भिन्न आहे. 'गोकुल गांवको पैंडोहि न्यारो', प्रेमी माणसाची मथुरा न्यारीच. प्रकाशानन्दजींनी नियमाचे काठिण्य दाखवीत भर्तृहरीचे शृंगारशतकांतील खालील श्लोक लिहून प्रभुकडे पाठविला—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुख पंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।

शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुंजन्ति दे मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत् सागरम ॥

ह्याचा भावार्थ असा कीं, विश्वामित्र पराशर प्रभृति ऋषि-महर्षि सहस्रशः वर्षपर्यन्त वायु तथा गलितपर्ण खाऊन घोर तपश्चर्या करणारे सुद्धा स्त्रिचे कमल मुख पाहताच मोहित झाले, तेव्हा जो नित्य घृत, पय, दधियुक्त उत्तम अन्न भक्षण करतो, त्याची इंद्रिये वश राहणे संभवेल तर, विन्ध्याचल पर्वतसुद्धा समुद्रावर तरत राहणे संभवनीय म्हणता येईल.

महाप्रभुंनी हा श्लोक वाचला व त्यांना कांहीसा संकोचहि वाटला व म्हणून ते पत्र त्यांही स्वरूपदामोदराच्या हातीं दिले. स्वरूपदामोदरांनी तो श्लोक वाचताच ते कांहीसे रागानेच म्हणाले–'मी ह्याचे उत्तर देतो'.

महाप्रभु अगदी सरलपणे म्हणाले–'ह्याचे उत्तरच काय? गालीप्रदानास

गालिप्रदान, परन्तु विवेकी पुरुष तसे करणे उचित मानीत नाहीत, तेव्हा मौन हाच उत्तम मार्ग.

सर्वांनी महाप्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य केली, परन्तु सर्वांतच महाप्रभुसारखी सहनशीलता कशी असणार? म्हणून महाप्रभुंना न समजु देता पुढील श्लोक लिहून त्यांही प्रकाशानन्दाकडेस ह्याचे उत्तरांत पाठवून दिला–

सिंहोबली द्विरदशूकर मांस भोजी
संवत्सरेण कुरु ते रतिमेकवारम् ।
पारावतस्तृणशिग्वाकणमात्रभोगी
कामी भवेदनुदिनं वद कोऽत्र हेतुः ॥

अर्थात् महाबली सिंह, शूकर व हत्तीचे मांसाचा पुष्टकारी आहार खातो, परन्तु वर्षांतून एकच वेळ काम-क्रीडा करतो. ह्याचे उलट कपोत तृणाची अग्रे व बारीक कण भक्षण करतो, तरीहि नित्यप्रति काम-क्रीडा करीत असतो. ह्यानन्तर पत्रव्यवहार बन्द झाला. सार्वभौम भट्टाचार्यांनी ह्यासाठी काशीस जाण्याची आज्ञा मागीतली. 'तेथे जाऊन प्रकाशानन्दांना शास्त्रार्थात पराजित करू व त्यांना भक्ति तत्व समजावून सांगू'– असे सार्वभौम म्हणाले. महाप्रभुंना हे जय-पराजयाचे सांसारिक कार्य पसन्त नव्हते, तरी पण सार्वभौमांचा फारच आग्रह पाहून महाप्रभुंनी त्यांना काशीस जाण्याची आज्ञा दिली. ते काशीस गेले, परन्तु जसे गेले, तसेच हात हालवित परत आले. तेथे महामहीम प्रकाशानन्दजींना शास्त्रार्थात ते पराजित करू शकले वा त्यांना ते भक्ति तत्व पटवू शकले. ह्या कारणाने ते कांहीसे लज्जित झाले व महाप्रभुंच्या सन्मुख येण्यास

लाजू लागले. तेव्हा महाप्रभु स्वयं त्यांना जाऊन भेटले व त्यांचे सान्त्वन करीत म्हणाले–'आपले कार्य खरोखर फारच सयुक्त होते. **भक्तिविहीन जीवांना भक्ति-मार्गात आणण्याची इच्छा एकादे भाग्यशाली पुरुषाचे हृदयांतच उत्पन्न होते**'. महाप्रभुंच्या ह्या सान्त्वनाने त्यांचा संकोच पुष्कळच कमी झाला, परन्तु महाप्रभुंच्या चरणीं मात्र त्यांचे प्रेम अधिक वाढले.

# पुरींत गौडीय-भक्तांचे पुनरागमन

अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम् ।
अमृतं शिशिरे वन्हिरमृतं प्रियदर्शनम् ॥

मान प्रतिष्ठा इच्छिणारास 'राजसन्मान' हेच अमृत. स्वादिष्ट पदार्थांची इच्छा करणारास 'क्षीरभोजन' हे अमृत, गरिबास थंडीच्या दिवसांत 'अग्नि' हाच अमृतासमान व प्रेमी मनुष्यास आपले आवडत्याचे 'दर्शन' अमृत-तुल्य असते. आपले आवडत्याच्या भेटींत काय काय आहे, हे सांगणे आमचे बुद्धिच्या बाहेरची गोष्ट आहे.

रथयात्रा हे उपलक्ष्य योजून गौडीय-भक्त प्रतिवर्ष नवद्वीपाहून नीलाचलास येत असत. वर्तमान कालीन् तीर्थ-यात्री त्यावेळच्या तीर्थ-यात्रेकरूना काय दुःख सहन करावे लागत होते त्याची कल्पना करूच शकणार नाहीत. पायी यात्रा, रस्त्यांत अनेक नदी, नद व ते होडीच्याद्वारा उतरणे व त्यासाठी तिष्ठत बसणे व होडीवाल्याकडून होणारा त्रास सहन करणे. ठिक-ठिकाणीं थोडेथोडे अन्तरावर राज्य-सीमा बदलत होती. विधर्मी शाशक तीर्थ-यात्रेकरूंची पर्वाच करीत नसत. मध्ये मध्ये कोणा राजांमध्ये युद्ध सुरू असल्यास यात्रेकरूंच्या कष्टांस सीमाच राहात नसे. इत्यादि सर्व प्रकारच्या अडचणीच्या कारणाने त्यावेळीं यात्रा करणे फारच कठीण कार्य समजले जात होते.

नवद्वीपाहून जगन्नाथास पायीं पोचण्यास वीस ते पंचवीस दिवस लागत. तरीहि प्रभुदर्शनाच्या लालेसेने गौर-भक्त मोठ्या उल्लासाने व आनन्दाने प्रतिवर्ष नीलाचलास येत असत.

प्रथम प्रायः पुरुषच येत होते, पुढे दुसरे वर्षापासून स्त्रियाहि

येऊ लागल्या. ही मंडळी येतांना प्रभुसाठी नानाप्रकारचे पदार्थ, मिठाई, लोणची, मोरब्बे तयार करून आणीत असत. पानीहाटीनिवासी राघव पंडिताची भगिनी महाप्रभुंच्या चरणीं फारच श्रद्धा ठेवीत असत. ह्या प्रतिवर्ष नाना प्रकारच्या वस्तु तयार करून पाठवित होत्या. पुष्कळ दिवस राहिल्या तरी ह्या वस्तु खराब होत नसत, अशी ह्यांची ख्याति होती. ह्या निघताना शचीमातेची आज्ञा घेऊन निघाल्या. शचीमाता अश्रु पुरीत नेत्राने व सद्गदित कण्ठाने सर्वांना आज्ञा देत म्हणाल्या– 'तुम्ही सर्व फार भाग्यशालो कीं, पुरीस जाऊन निमाईचे कमलमुख न्याहाळाल. कोण जाणे माझा भाग्योदय केव्हा होणार आहे! तुम्ही त्यास सांगा कीं, एक वेळ येऊन ह्या दुःखी मातेस दर्शन देऊन जावे'. विष्णुप्रियांनीहि आपले वयाचे स्त्रियांचेजवळ असाच निरोप सांगीतला.

महाप्रभु सर्वांना भेटले व आपले स्थानीं त्यांही त्यांना नेले. भक्तांची ते नानाप्रकारे इच्छापुर्ती करीत असत. दसऱ्यानन्तर सर्व भक्त मंडळी परत फिरण्यास तयार झाली. प्रभु सर्वांना भेटले व प्रत्येकास त्यांचे त्यांचे मनांतील गोष्टीं विचारल्या.

कुलीन ग्रामवासी प्रतिवर्ष महाप्रभुंना वैष्णवाची लक्षणे विचारीत असत.

पहिले वर्षी विचारल्यावर सांगीतले–'ज्याचे मुखांतून एकच वेळा कां होईना भगवन्नामोच्चारण झाले, तो वैष्णव.

दुसरे वर्षी पुन्हा विचारले तेव्हा प्रभुंनी सांगीतले–'जो निरन्तर भगवन्ताचे नामाचा उच्चार करतो तो वैष्णव.

तिसरे वेळीं पुन्हा वैष्णवाची परिभाषा विचारल्यावर प्रभुंनी सांगीतले–'ज्यांस पाहताच लोकांच्या मुखांतून स्वतः श्रीहरीच्या नामाचे

उच्चारण होऊ लागते तोच वैष्णव'. ह्याप्रमाणे तीन वर्षांत प्रभुंनी वैष्णव, वैष्णवतर व वैष्णवतम याप्रमाणे तीन प्रकारचे भक्तांची लक्षणे सांगीतली.

ह्याप्रमाणे ज्यांनी जे विचारले त्याचे प्रभुंनी उत्तर दिले. अद्वैताचार्यांना भक्तांची देखरेख करीत राहण्यास पुन्हा प्रभुंनी सावधान केले. नित्यानन्दांना सांगीतले कीं, प्रतिवर्ष नीलाचलास येण्याचे प्रयोजन नाही. त्याच ठिकाणीं राहून संकीर्तनाचा प्रचार करीत जावा. सर्वांनी प्रभुंना प्रणाम केला व ते गौड-देशास जाण्यास निघाले.

ह्याप्रमाणे चार वर्ष ही मंडळी पुरीस येत होती. नन्तर प्रभुंनी सर्वांना सांगीतले कीं, 'आता आम्ही वृन्दावन जाण्याचे इच्छेने गौड-देशास येऊन जननी व जन्मभूमीचे दर्शन घेणार आहोत, तेव्हा तुम्ही येथे येऊ नये'. हे ऐकून सर्वांना फार आनन्द झाला. महाप्रभु वृन्दावनास जाण्याचा कधीपासून विचार करीत होते, परन्तु रामानन्दजी सार्वभौम तथा महाराजा प्रतापरुद्रजी ह्यांच्या अत्यधिक आग्रहामुळे ते हा वेळपावेतो जाऊ शकले नाहीत. आता त्यांची वृन्दावनास जाण्याची इच्छा फारच प्रबल झाली व पुरीच्या भक्तांनीहि त्यांना अधिक विवश केले नाही. तेव्हा आता महाप्रभु वृन्दावन जाण्याची तयारी करू लागले.

# प्रभुच्या वृन्दावन जाण्याने भक्तांचा विरह

**सज्जनसंगो माभूद् यदि संगो, माऽस्तु तत्पुनः स्नेहः।**
**स्नेहो यदि मा विरहो यदि विरहो माऽस्तु जीवितस्याशा॥**

दक्षिण-यात्रा संपवून महाप्रभु नीलाचलास राहू लागल्यास चार वर्षे वितून गेली. वृन्दावनास जाण्याचा प्रभु प्रतिवर्षं विचार करीत होते, परंतु रथयात्रेनन्तर भक्त म्हणत चातुर्मासांत यात्रा निषेध सांगीतलेली आहे, तेव्हा दिपावलीनंतर जाण्यास सांगत. नंतर थंडी येई, थंडी संपल्यावर म्हणत फार गर्मी आहे व पश्चिमेच्याकडे तर गर्मी ह्याहीपेक्षा अधिक असते, तेव्हा आता कसे जाणार! ह्याप्रमाणे आजउद्या करता करता चार वर्षं व्यतीत झाले. महाप्रभु राय रामानन्द व सार्वभौम भट्टाचार्यांचे प्रेम-पाशांत इतके जखडले गेले होते कीं, ते स्वेच्छेने जाण्यास समर्थ असताहि, ह्यांच्या संमतिवाचून जाण्यास तयार नव्हते. ह्यावेळीं जेव्हा भक्तांनी पाहिले कीं, प्रभु आता गेल्यावाचून राहाणार नाही, तेव्हा त्यांही विवशतापूर्वक आपली संमति दिली. गौडीयभक्त रथयात्रा करून चातुर्मास्य न थांबता परत गेले. प्रभुंनी त्यांना सांगीतले कीं, 'तुम्ही चला, आम्हीहि मागाहून येतोच'. ह्याच आनन्दांत भक्त निघून गेले.

वर्षाकाल समाप्त झाला. विजयादशमीचे दिवशीं गौडदेशास जाऊन वृन्दावनास जाण्याचा प्रभुंनी निश्चय केला. प्रातःकालीं उठून ते नित्य कर्मांतून निवृत्त झाले. भक्तांची सारखी गर्दी लोटली होती. मुख्य मुख्य भक्तमंडळी ह्या ठिकाणींच एकत्र झाली होती. प्रभु सर्वांना घेऊन जगन्नाथाचे दर्शनास गेले. दर्शन घेऊन भगवन्ताची आज्ञा मागीतली, पुजाऱ्याने प्रसादी माला व महाप्रसाद प्रभुंना दिला, हीच

आज्ञा समजून प्रभु कटककडेस निघाले. प्रभुंच्या मागे शेकडों भक्त-मंडळी अश्रुपात करीत चालत होती. सर्वांना प्रभु परत जाण्यास सांगत, प्रेमपूर्वक आलिंगन देत. 'पुरुषोत्तम भगवन्ताची कृपा असल्यास पुन्हा मी लवकरच परत येईन'. ह्याप्रमाणे वारंवार सांगत असताहि कोणीहि परत फिरला नाही. ह्याप्रमाणे भवानीपुरास पोचले. रात्रीचा मुकाम तेथेच केला. राय रामानन्दहि महाप्रसाद घेऊन मागोमाग आलेच. महाप्रभुंनी आपले हातांनी सर्वांना तो जगन्नाथाचा महाप्रसाद वाटला व स्वताहि ग्रहण केला.

महाप्रभुच्या फार आग्रहाने कांही भक्तमंडळी परत फिरली. परन्तु कांहीतर बरोबर येण्याचाच हट्ट धरून बसले होते, त्यांत मुकुन्द, गोविन्द दत्त, गदाधर, दामोदर पंडित, वक्रेश्वर, स्वरूप गोस्वामी, गोविन्द, चन्दनेश्वर, सार्वभौम भट्टाचार्य तथा राय रामानन्द आदि मुख्य होते. ह्या सर्वांसह महाप्रभु भुवनेश्वर येथे आले व तेथे दर्शन घेऊन कटक येथे पोचले. तेथे स्वप्नेश्वर नामक एका ब्राह्मणाचे घरीं प्रभुंनी भिक्षा केली. शेष सर्वांना रामानन्दांनी भोजन घातले. महाप्रभुंनी-एका वृक्षा-खालीं आसन लावले.

कटकाधिपति महाराजा प्रतापरुद्रजी येथे महाप्रभुंना येऊन भेटले. त्यांही प्रभुंना साष्टांग प्रणाम केला. प्रभुंनी उठून त्यांना आलिंगन दिले. महाराजानंतर सर्व राजकर्मचाऱ्यांनी प्रभुंना प्रणाम केला. महाराजांनी प्रभुंच्या यात्रा पथांत सर्वत्र राहण्याची व नियत समयीं जगन्नाथाचा प्रसाद पोचविण्याची व्यवस्था केली होती. राज्याच्या सीमेपावेतो आपले दोन अधिकारी बरोबर देऊन प्रभुंची आज्ञा घेतल्यावर महाराज प्रतापरुद्रजी परत गेले.

ह्याप्रमाणे पुढे प्रवास करीत करीत महाप्रभु भक्तांसह चित्रोत्पला

नदी किनारीं आले. प्रथमपासून नौका तयारच होत्या, त्यांत बसून ते नदी पार उतरले. ह्या ठिकाणीं महाराजांनी एक स्मृति-स्थंभ उभा केला. ह्या ठिकाणीं तीर्थ समजून लोक स्नानास येतात.

गदाधर पंडिताचे नाव तर आमचे पाठक विसरले नसतीलच. ते महाप्रभुच्या आज्ञेने क्षेत्र-संन्यास घेऊन पुरीच्याजवळ गोपीनाथाच्या मंदीरांत त्यांची सेवा आर्चा करीत निवास करीत होते. कोणत्याहि तीर्थांत घरदार सोडून प्रतिज्ञापूर्वक राहण्यास क्षेत्र-संन्यास म्हणतात व तेथे राहून सर्व कार्ये भगवत्-प्रीत्यर्थ केली जातात. जेव्हा महाप्रभु गौडदेशास जाण्यास निघाले, तेव्हा हेहि सर्व कांही सोडून प्रभुच्याबरोबर निघाले.

ह्यांना प्रभुंनी अनेक प्रकारे समजाविले, तरीहि हे परत जाईनात. तेव्हा प्रभुंनी शपथ देऊन ह्यांना गाढालिंगन दिले व परत जाण्यास सांगीतले. आलिंगन मिळताच हे मूर्छित झाले व तोच सुयोग मानून सार्वभौम भट्टाचार्यांना प्रभुंनी ह्यांना आपले स्थानीं पोचविण्यास सांगीतले. आचार्यांनी प्रभुंना प्रणाम केला. त्यांचे मुखांतून शब्दच निघाला नाही तोच प्रभु पुढे निघून गेले.

उडीसा राज्याचे सीमेवर पोचताच राज कर्मचारी व राय रामानन्दजी ह्यांना प्रभुनी परत जाण्यास सांगीतले. त्यांही प्रभुंची पद-धूलि मस्तकावर धारण करून ते परत फिरले.

# जननीचे दर्शन

जननी जन्मभूमिश्च जान्हवी च जनार्दनः।
जनकः पंचमश्चैव जकाराः पंच दुर्लभाः॥

नीलाचलाहून प्रस्थान करताना महाप्रभुंनी सार्वभौम आदि भक्तांना सांगीतले होते–'गौड-देशीं जाऊन वृन्दावनास जाण्यांत माझे 'एक पन्थ दो काज' साधतील. प्रेममयी मातेचे दर्शन होईल. भागीरथीचे स्नान व भक्तांची भेट होऊन जन्म-भूमिचेहि दर्शन घडेल. महाप्रभु जनार्दनाचे झाले असताहि जन्म-भूमि व जान्हवीच्या ठिकाणचे प्रेम विसरू शकले नाहीत. ह्या तिघांच्या दर्शनासाठी ते फार व्यग्र झाले होते. उडीसा प्रांताच्या सीमेवर पोचताच त्यांना त्रितापहारिणी भागीरथीचे मनास आनन्दविणारे शुभ दर्शन झाले. 'गंगे-गंगे', असे म्हणत त्यांचे नेत्रांत प्रेमाश्रु उभे राहिले व त्यांहि गंगेची स्तुति करण्यास सुरूवात केली. थोडे वेळाने त्यांही भक्तांसह गंगेच्या निर्मल जलांत स्नान व आचमन केले. उडीसाच्या अधिकाऱ्यांनी प्रभुंच्या स्वागताचा प्रथमपासूनच प्रबन्ध करून ठेविलेला होता. सर्वांनी येऊन प्रभुंना प्रणिपात केला व हरिध्वनिने दिशा भरून टाकल्या.

पलिकडील काठापासून गौडदेशाची सीमा सुरू होत होती. तेथील शासक यवन होते. त्यांही आपला एक गुप्तचर ही काय गडबड आहे ह्याचा शोध घेण्यासाठी पाठविला. त्यावेळीं दोन्हीहि राज्यांमध्ये वितुष्ट पडलेले होते. तो हिंदुचा वेष घेऊन प्रभुंच्या समीप आला. प्रभुंचे दर्शन होताच तो आपले-आपणासच विसरून इतराप्रमाणे जोराने नृत्य करू लागला, व त्याच स्थितींत तो आपले स्वामी सन्निध पोचला व दाट-

लेल्या कण्ठाने तो म्हणाला–'सरकार! काय सांगू, ज्यास मी आता पाहून आलो, ते तर समजा कीं, सौंदर्याचे अवतारच आहेत, त्यांचे मुख पाहताच मी स्वतास विसरलो. त्यांच्या हृदयांत जादू आहे, मंद-हास्यांत व वाणींत माधूर्य आहे. आपण एक वेळ त्यांना पाहावे, म्हणजे आपली खात्री होईल'. यवनाधिकारीहि हिंदुचे वेषांत प्रभुंच्या दर्शनासाठी आले व त्यांही प्रभुंना प्रणाम केला व प्रभुंनीहि त्यांना प्रेमालिंगन दिले. जातांना त्यांही पलिकडे उतरण्याची तजवीज करण्याचे आश्वासन दिले व त्याप्रमाणे दुसरे दिवशीं होड्यांतून परतीरास ही सर्व मंडळी पिछलहद्द ह्या ठिकाणीं पोचली. यवनाधिकाऱ्यांना प्रसाद देऊन येथून परत पाठविले. त्याच होड्यांतून प्रभु भक्तांसह पानीहाटी घाटावर पोचले.

पानीहाटी घाटावर प्रभु आल्याचा समाचार हांहां म्हणता चहुकडेस पसरला. चहुबाजुंनी स्त्री-पुरुषांनी येऊन 'गौरहरिकी जय', 'शचीनन्दन-की जय' आदि जयजयकाराने आकाश व्यापून टाकले. राघव पंडित प्रभुंना मोठ्या कष्टाने आपले घरीं घेऊन गेले. दुसरे दिवशीं प्रातःकालींच हे कुमारहटीस पोचले. येथे श्रीवास पंडितांचेहि एक घर होते व ह्यावेळीं तेहि सपरिवार तेथेच होते. सर्वांनी प्रभुपादपद्मीं लोटांगण घातले. कांचन पाहुणे शिवानन्द ह्यांना आपले घरीं घेऊन गेले. एक दिवस तेथे राहून दुसरे दिवशीं प्रभु शान्तीपुरास अद्वैताचार्यांचे घराकडेस निघाले.

शान्तीपुरास पोचण्यापूर्वीच सर्व नगरांत प्रभुंच्या आगमनाचा समाचार पसरून गेला होता. लोक धावून धावून प्रभुंच्या दर्शनास येत होते. ह्या अपार गर्दीसह प्रभु अद्वैताचार्यांचे घरीं आले. आचार्यांनी आपले पुत्र अच्युतासह प्रभुंच्या चरणीं प्रणिपात केला. प्रभुंनी त्यांना उचलून छातीशी आवळून धरले.

इकडे शचीमातेसहि हा समाचार कोणी येऊन कळविला. शचीमाताहि आपले संन्यासी मुलाचे मुखावलोकन करण्यास अगदी उत्कण्ठित झाली. त्यांही आचार्य चन्द्रशेखरास बोलाविले. सर्व भक्त मंडळी लागलीच शचीमातेच्या अगणांत एकत्रित झाली. सर्व प्रभुंच्या दर्शनासाठी अगदी उताविळ झाले होते. त्याचवेळीं शचीमातेकरिता एक पालखी मागविण्यांत आली व त्यांही सुद्धा शान्तीपुरास जाण्याची तयारी केली.

जगामध्ये मनुष्य सर्व गोष्टींचा थोडा-बहुत अनुभव करतो; परन्तु सती-साध्वी आर्य-ललनांच्या विरह-वेदना समजण्याची व समजून अनुभव करण्याचे सामर्थ्य कोणांतहि असत नाही. भक्त आपले आवडत्या प्रभुंच्या दर्शनास जातील. शचीमाताहि पालखींत बसून शान्तीपुरास जाऊन आपले पुत्राचे मस्तकाचे अवघ्राण करून आपले चिरदिनाची लालसा पूर्ण करून येतील, परन्तु पतिव्रता विष्णुप्रिया! ह्यांची काय दशा होणार! दोन कोसावर येऊन बसलेल्या आपले प्राणेश्वराचे दर्शनापासून ती वंचितच राहील. त्यांचे दृष्टिने तर त्यांचे पति नीलाचलास असलेले व शान्तीपुरास असलेले सारखेच. हाय, रे, हाय, समाजा! तूं पतिव्रतेसाठी इतके कठोर निर्बन्ध कां घातलेले आहेस? रात्र-दिन ज्याची मूर्ति नेत्रासमोर नृत्य करीत आहे, प्रतिक्षण हृदय ज्याचे चिन्तन करीत आहे, तेच प्राणरमण, प्रियतम इतके जवळ असूनहि फार लांब असल्यासारखेच आहेत. विष्णुप्रिया आपली मनोव्यथा कोणास सांगणार! दुसऱ्याचे समोर प्रकट करण्याची गोष्टच नव्हती, तर ह्या हृदयांतील खोल जखमेच्या वेदना होत्या, ह्यातर कोणी अनुभवीच जाणू शकणार! गरीब बापडी वाणी! त्या वेदना कशा व्यक्त करणार!

विष्णुप्रिया आपले पतिच्या शयनगृहांत जाऊन गुपचुप बसली. त्यावेळीं तिच्या नेत्रांतून एकहि आसु निघाला नाही. तिचे

हृदय जळत नव्हते, परंतु हळूहळू पेटत होते, त्यांतून कडवट धूर निघून तो तिचे मुख म्लान करीत होता. विष्णुप्रिया समोरच्या खुंटीकडेस टक लावून पाहात होती. एकामागून एक अशा त्या रात्रींतील सर्व गोष्टी तिचे समोर प्रत्यक्ष नृत्य करू लागल्या. त्याच खुंटीवर त्यांचे अगदी पिवळे रंगाचे उपवस्त्र लटकत होते. याच पलंगावर मी त्यांचे अरुण रंगाचे चरण हळूहळू दाबीत होते, ते वारंवार मला आलिंगन देत होते–'तूं तर वेडी झाली आहेस, रडतेस कां, हास पाहू! एकदा तर हसा!' असे म्हणत ते वेळोवेळीं माझी हनुवटी आपल्या कोमल करांगुलींनी वर करीत; त्याच सुमारास माझा डोळा लागला. खरोखरच ह्याच विचारांत विष्णु प्रीयेचा डोळा लागला.

शचीमाता शान्तीपुरास जाण्यास अगदी उतावीळ झाल्या होत्या पंख असते तर उडून गेले असते, असे त्यांना वाटे. ऐन जाण्याचे वेळीं त्या विष्णुप्रियेस भेटून जावे म्हणून धुंडीत धुंडीत ह्याच शयनमंदीरांत आल्या. तेथे जाऊन विष्णुप्रियेस पाहताच त्या एकदम चकीतच झाल्या. विष्णुप्रियेचे नेत्र अगदी उघडे असून पापण्या खालीवर होत नव्हत्या. मुखावर विरहजन्य वेदनाच्या रेखा व्यक्त होत असून आंतील असह्य दुःख स्पष्ट करीत होत्या. शरीर जडवत् हालचाल रहीत झालेले होते, त्यांत जीवनाचे चिन्ह प्रतीत होत नव्हते. भयभीत होऊन मातेने हाका मारली–'मुली! मुली! विष्णुप्रिये! हाय! हाय! बेटा! तूंहि मला दुःखांत लोटून गेलीस काय?' हे म्हणून मातेने तिचे शरीर हलविले. ती लवकर लवकर उठून घाबरल्यासारखी इकडे तिकडे पाहू लागली, व म्हणते–'काय, खरोखरच ते मला निजलेलीच टाकून गेले, हाय! हाय! मी लुटली गेले, माझे सर्वस्वाचे अपहरण झाले. ही पहा! खुंटी तर रिकामीच पडलेली आहे. त्यांचा पीतांबर सुद्धा नाही'. असे म्हणत विष्णुप्रिया

धाडकन जमीनीवर पडली. मातेने हाताचा आधार देत म्हटले–'मुली, तूं काय म्हणते आहेस? ये वेडे, हे तुला काय झाले आहे, मी शान्ती-पुरास जाते आहे. तूं काय म्हणते?'

शचीमाता आपले सूनेच्या अन्तर्वेदना समजल्या. स्त्रीहृदयाच्या वेदना स्त्रीच जाणू शकते. विष्णुप्रिया आता सावध झाली. आपली मनो-भावना लपवीत त्या म्हणाल्या–'मातोश्री! मला झोप लागली होती, त्यांत मी कसेचसे स्वप्न पाहिले व त्यांतच कांही बडबडले असेन. बरे, आपण शान्तीपुरास जाता आहा, जावे, त्यांना पाहून या, माझे भाग्यांत त्यांचे दर्शन लिहिलेले नाही. नाही तर नाही! माझे हे भाग्य काय कमी आहे कीं, त्यांचे दर्शनास लाखो लोक जात आहेत. आपण जा, माझी चिन्ता नको!'

शचीमातेचे हृदय ह्या स्नुशेच्या वचनाने अगदी दुभंगले, परन्तु आपली छाती घट्ट करून ते दुःख बाहेर फुटु दिले नाहीं व सुनेकडे पाहात त्या पालखींत जाऊन बसल्या. नित्यानन्द, वासुदेव, चन्द्रशेखर, आचार्यरत्न व अन्य शेकडो भक्त संकीर्तन करीत शचीमातेच्या पालखीच्या मागो-माग चालले.

माता येत आहे, हा समाचार महाप्रभुंना समजताच ते दरवाजा-बाहेर आले व मातेस आपले हाताने पालखींतून उतरवून एकाद्या लहान बालकाप्रमाणे त्यांही त्यांच्या चरणीं लोळण घेतले. प्रभुंचे चरण इतर भक्तांनी धरले होते. बरेच वेळानन्तर मातेने आपले कापरे हाताने सिंहासमान आपले तेजस्वी पुत्रास उठवून छातीशी घट्ट आवळून धरले व त्यांही त्यांच्या अंगास लागलेली धूळ झटकली, मुखाचे चुंबन केले, मस्तक सुंघले व सर्व शरीरावर त्या हात फिरवू लागल्या. प्रेमातिरेकाने

त्यांचे मुखांतून कांहींच शब्द निघू शकला नाहीं. नंतर बरेच वेळाने प्रभु मातेस घेऊन घरांत गेले. त्यांही नानाप्रकारे मातेची स्तुति केली. आपले गृह-त्याग-रूपी अपराधाची क्षमा मागू लागले. माता, इतके दिवसानंतरच्या पुत्राच्या भेटीने फारच आनंदित झाल्या व आपले नेत्रांतील असूंनी त्यांचे वस्त्र त्यांही भिजविले व गोडगोड व प्रेमाने बोलु लागल्या. माता-पुत्राचे हे संमीलन अपूर्वच होते. रात्रीं सर्वांनी मिळून संकीर्तन केले. मातेने आपले हाताने स्वयंपाक करून आपले संन्यासी पुत्रास भोजन करविले. मातेला संतोष व्हावा म्हणून प्रभुहि अगदी तुडुंब जेवले. दुसरे दिवशीं प्रभुंनी मातेस भक्तांसह विदाय केले. मातेने घरीं येण्याचा आग्रह केला. सात आठ दिवसानंतर विचार आहे असे प्रभुंनी सांगीतले. माता पुन्हा भेट होईल, ह्या आनन्दांत नवद्वीपास परत गेल्या.

# विष्णुप्रियांना संन्यासी स्वामीचे दर्शन

**पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।**
**पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥**

माझा आपला असा विश्वास आहे व शास्त्राचांहि तोच सिद्धान्त आहे कीं, हे जगत् एकान्तवासी तपस्वी महापुरुषांचे पुण्याईने व पतिव्रतांच्या पातिव्रत्याच्या प्रभावाने स्थित आहे. शास्त्रांना हे अभिमत आहे कीं, जगत् धर्मावर स्थित आहे व पुरुषांनी संसारी भोग्य-पदार्थांची आसक्ति सोडून प्रभुच्या ठायीं प्रेम करावे व स्त्रियांनी मन, वचन व कर्माने पातिव्रत-धर्माचे पालन करावे, हाच परम धर्म सांगीतलेला आहे. तपस्व्यांना मागाहून मान-सन्मानाची इच्छा होते, भगवत्-भक्तिहि प्रसिद्धिच्या हेतूने करण्यांत येते, परंतु पतिव्रतेस तर जगताशी कांहीच कर्तव्य नाही. ती तर मालती कुसुमाप्रमाणे निर्जन प्रदेशीं विकसित होते व आपले आवडत्यास प्रसन्न करून अन्तीं कोमेजून जीर्ण होते. त्याचा गुप्त सुगन्ध जगतास व्यापून लोकांचे अवश्यमेव कल्याण करतो; परंतु हे तर महान् विवेकी विचारवानच समजू शकतात, सर्वसाधारण जनतेस तर अशांच्या अस्तित्वाचाहि पत्ता नसतो. म्हणून सांगतो कीं, पातिव्रत-धर्म, योग, यज्ञ, तप, पाठ-पूजा व अन्य सर्व साधनांहून परम श्रेष्ठ आहे. एक खरी पतिव्रता संपूर्ण जगतास हलवू शकते, परन्तु अशा पतिव्रता विरळाच.

पाठकवृन्द! आपण विष्णुप्रियेची मनोव्यथा पूर्णपणे जाणली. त्या अल्पवयांत तिला आपले प्राणेश्वराच्या विरहाच्या असह्य वेदना सहन कराव्या लागल्या. तिचे प्राणेश्वर भक्तांना भगवन्त आहेत. ते जीवाचा उद्धार सुद्धा करतात. असंख्य जीव त्यांच्या कृपेने हा संसार-सागर पार

करूनहि गेले. भक्तांना ते प्रत्यक्ष नारायण आहेत. असतील बापडे! परन्तु विष्णुप्रियेस तर ते हृदय-रमण पतिच आहेत. ते ह्यांच्याजवळ स्थूल शरीराने नाहीत तर नसोत; ह्यांच्या हृदयांत तर पतिची मूर्ति सदैव विराजमान आहे. त्या पतिवाचून दुसरे कोणाचे चिन्तनच करीत नाही. अहाहा! धन्य आहे अशा एकनिष्ट पतिभक्तीची!

एकवेळ तरी आपले आराध्यदेवतेचे प्रत्यक्ष दर्शन व्हावे अशी विष्णुप्रियेची अन्तःकरणांतून इच्छा होती, परन्तु ती ती प्रकट कशी व कोणाजवळ करू शकणार? कोणाकडून सांगविले तरी, येणे त्यांचे इच्छेवर अवलंबून आहे. तेव्हा त्यांही हे आपले मनांतच ठेवून आपले इष्टदेवतेचे चरणींच त्या प्रार्थना करू लागल्या. प्रेमाकर्षणावर विश्वास ठेवून विष्णुप्रिया म्हणतात–'ते तर माझे मनांतील एक एक गोष्ट जाणणारे आहेत, माझे जर प्रेम खरे असेल, तर तेच मला दर्शन देण्यास येतील'. असे म्हणून ती स्वस्थ बसली. खरोखर प्रेमांत फार मोठे आकर्षण आहे. अन्तःकरणांत तळमळ पाहिजे व आवडत्याच्या ठायीं पूर्ण विश्वास असल्यावर मग भेटीचा सन्देहच कोठे आहे?

**'जापर जाको सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू'** ॥

मने कांही दहा-वीस तर असत नाहीत. अग्नि समान सर्वत्र मन एकच आहे. पात्र-भेदाने मन स्वच्छ वा मलीन होते. जर दोन्ही मने पवित्र व निर्मल झालेली असतील, तर शरीर कोठे कां असेना, दोन्हीचे मनोगत भाव दोघांनाहि लाखो कोसावरून समजू शकतात. शान्तीपुरास बसलेल्या प्रभुंना विष्णुप्रियेचा बिनतारी तार पोचला. तिच्यावर कृपा करण्यासाठीच नवद्वीपास जाण्याच्या इच्छेने अद्वैताचार्यांची अनुमति घेऊन प्रभु विद्यानगराच्या मार्गास लागले. तेथे ते सार्वभौम भट्टाचार्यांचे बन्धु वाचस्पतिच्या घरीं उतरले. लोकांची अपार-गर्दी दर्शना-

साठी उलटली. सर्वजण जयजय करीत प्रभुच्या दर्शनासाठी सारखा कोलाहल करीत होते.

ही गर्दी व कोलाहल चुकवावा म्हणून प्रभु दोनचार भक्तांसहीत हळूच लोकांची दृष्टि चकवून कुलियाकडेस निघाले. प्रभु न दिसल्याने लोक वाचस्पतीना विचारून विचारून हैराण करू लागले. थोडेच वेळाने प्रभु कुलियागावाकडेस गेल्याचा समाचार मिळाला. तेव्हा वाचस्पति सर्वांचे अग्रणी होऊन कुलियाकडेस जाण्यास निघाले. तेथे पोचताच प्रभुदर्शनाची लोकांची व्यग्रता पाहाताच, प्रभु एका उंच गच्चीवर चढले व त्यांही आपले दर्शनाने लोकांना कृतार्थ केले. दर्शनाने धन्यता मानून पुष्कळसे लोक परत गेले, तरी पुन्हा लोक येतच होते. सायंकाळ पावेतो हे चालू होते. पाच सहा दिवस प्रभु तेथेच राहिले, व त्यामुळे सर्वांची दर्शनाची इच्छा सफल झाली. इकडे विष्णुप्रिया आपले घरांतच प्रभुंचे चिन्तन करीत एकान्तात बसून राहिली होती. प्रभु होडींतून नवद्वीपकडेस निघाले. गंगापार करून नवद्वीपाचे घाटावर पोचले. वर चढल्यावर ते शुक्लाम्बर ब्रह्मचाऱ्यांचे कुटीत शिरले. प्रभुंना पाहताच ब्रह्मचाऱ्यांनी प्रभुंच्या चरणीं लोटांगण घातले. क्षणांतच हा समाचार गांवात पसरला, लोकांची रीघ लागली. शचीमाताहि तेथे पोचल्या. प्रभुंनी मातेस वन्दन केले. प्रभु पायांत खडावा घालून उभे राहून कांही विचार करीत होते. हळूहळू शचीमातेसह ते घराकडेस निघाले. पांच सहा वर्षां पूर्वीच्या सर्व गोष्टी दृष्टि समोर दिसू लागल्या. मागाहून लोकांची अपार गर्दी हरिध्वनि करीत येत होती. घराच्या समोर येऊन प्रभु उभे राहीले. विष्णुप्रियेचे अन्तःकरण धड धड करू लागले. आपले प्रेमाचा हा मोठा आवेग ती आवरून धरू शकली नाही. झरोक्यांतून तिने आपले जीवन सर्वस्वास निहाळले. शिर

मुंडविलेले व गेरूच्या रंगाची वस्त्रे धारण केलेले प्रभुंना तिने सर्व प्रथम आताच पाहिले. त्याचा ते प्रकाशमान मुख पाहताच विष्णुप्रिया चित्रा-सारखी तटस्थ झाली. नेत्रांतून निघणारा अश्रुपातच सजीवतेचे समर्थन करीत होता.

आपले प्राणेशाच्या पाद-पद्मीं प्रणत होऊन कांही प्रार्थना करावी अशी विष्णुप्रियेची इच्छा होती; परन्तु इतके अपरंपार गर्दीत कुलवधू बाहेर कशी जाणार, ह्याच विचाराने तिचे मन द्विधा होत होते. तेव्हा तिनेच पुन्हा विचार केला कीं, ज्या अर्थी ते येथपावेतो आलेले आहेत, संन्यासी असताहि ज्यांनी इतकी अनुकम्पा केली आहे, तेव्हा मला बाहेर जाण्यांत काय लाज? लोक-लज्जा आदि सर्व ह्या चरणांचे प्राप्ती-साठीच आहेना? तेच चरण साक्षात् सन्मुख येऊन उभे असता, त्यांचे स्पर्श-सुखापासून मी आपणास वंचित कां करावे? हाच विचार करून ती प्रभुचे चरण-स्पर्श करण्यास निघाली.

तिने वेणी घालणे बन्द केले होते, शरीरावरील सर्व अलंकार काढलेले होते. ती आहारहि फारच थोडा घेत असल्याने तिचे शरीरहि कृश झालेले होते. ती सदैव प्रभुंचेच ध्यान करीत होती. प्रभु दर्शन लालसेने क्षीण काय, मलीन वस्त्र धारण केलेली विष्णुप्रिया आपले सर्व शरीर अगदी संकुचित करून प्रभु-दर्शनास निघाली. दृष्टि वर करून प्रभु कोणाकडे पाहत नसत, ते उभे उभे पृथ्वीकडेस पाहात होते, तोच एका मलीन वस्त्रा स्त्रीने आपले चरणीं लोटांगण घेतले असे त्यांही पाहिले. स्त्रीस्पर्शाने भय भीत होऊन प्रभु दोन हात मागे सरले. विष्णु-प्रिया हुंदके देत देत रुदन करीत होती. प्रभुंनी हळूच विचारले--'तुम्ही कोण आहात?'

हाय! रे वैराग्य! तुझे ह्या कठोरपणास धिक्कार असो!! जी

आपले शरीराचे अर्धे अंग म्हणविले जाते, जिला स्वामीवाचून दुसरा कोणीहि नाही, तोच तिचा निर्दय स्वामी, तिच्या जिवनाचे सर्वस्व, तिचे इष्टदैवत तिला विचारीत आहे–'तुम्ही कोण आहात?' आकाशा! तूं तुटून कां पडत नाही! पृथ्वी! तूं दुभंग कां होत नाही? विष्णुप्रियेने कांहीच उत्तर दिले नाही. विचार केला, दुसरा कोणी माझे स्मरण देईल काय? परंतु दुसरे कोणाची हिंमत होती? सर्वांच्या वाणी बन्द पडल्या होत्या. इतकी मोठी गर्दी पण अगदी शान्त होती. तेव्हा ही स्वताच करुण स्वराने सांगू लागली–'मी आपले चरणांची एक अत्यन्त क्षुद्र दासी आहे'.

प्रभु आता भानावर आले व कांही विचार करीत म्हणतात–'तुम्हास काय पाहिजे आहे?'

अगदी कांपऱ्या आवाजाने तिने सांगीतले–'मला आपली कृपा पाहिजे आहे'.

खाली दृष्टि करून प्रभु म्हणाले–'विष्णुप्रिये! तुम्ही तुमचे नाव सार्थक करा. जगतांत विष्णु-भक्तिच सर्व सार आहे, तीच प्राप्त करून जीवन सफल करा'.

रडत रडत विष्णुप्रिया म्हणतात–'आपले अतिरिक्त दुसरा कोणी विष्णु आहे, हे मला माहीत नाही व माहिती करून घेण्याची माझी इच्छाहि नाही. माझे तर विष्णु, कृष्ण, शिव जे कोणी असतील ते आपणच आहात. आपले चरणांवाचून मला दुसरा कांहीहि आधार नाही'.

उपस्थित स्त्री-पुरुषांची अन्तःकरणे विदारण झाली. सर्वांच्या नेत्रांतून जल-धारा वाहात होत्या. विष्णुप्रिया पुन्हा म्हणतात–'प्रभो!

ऐकते कीं, आपण जगताचा उद्धार करीत आहा, मग ह्या अभागिनी विष्णुप्रियेस जगताच्या बाहेर कसे काढून देता आहा, तिच्या उद्धारांची पाळी कशी येत नाही?'

प्रभुंनी विचारले–'तुमची काय अभिलाषा आहे?' हुंदके देत व अचकत विष्णुप्रियेने सांगीतले–'मला जीवन-कठण्यास कांही आधार हवा. हीच ह्या भिकारणीची या चरणाजवळ भिक्षा आहे'.

कांही वेळ विचार करून पायांतील खडावा काढीत प्रभुंनी म्हटले–'देवी! आम्हा संन्याशाजवळ तुम्हास देण्यासाठी असणारच काय? ह्या घ्या, तुम्ही दोन्ही पादुकांच्याच आधारावर आपले जीवन व्यतीत करा'.

इतके ऐकताच धुळीने लडबडलेले आपले मस्तक विष्णुप्रियेने वर उचलले व कापणाऱ्या बोटाने त्या दोन्ही खडावा उचलून आपले मस्तकावर धारण केल्या व ती रडू लागली. जमलेल्या मंडळींत एकच हाहाकार माजला. सर्वांचे नेत्रांतून अश्रु-प्रवाह सुरू झाला. मातेस प्रणाम करून प्रभु त्याचवेळीं परत फिरले. माता मूर्छित होऊन पडली. प्रभु मागे न पाहता गर्दीतून वाट काढीत पुढे चालत होते. ह्याप्रमाणे थोडेच वेळांत प्रभु गंगा उतरून पलिकडील कांठीं पोचले व वृन्दावनास जाण्यासाठी गंगा किन्याऱ्यानेच पुढील मार्ग कंठू लागले.

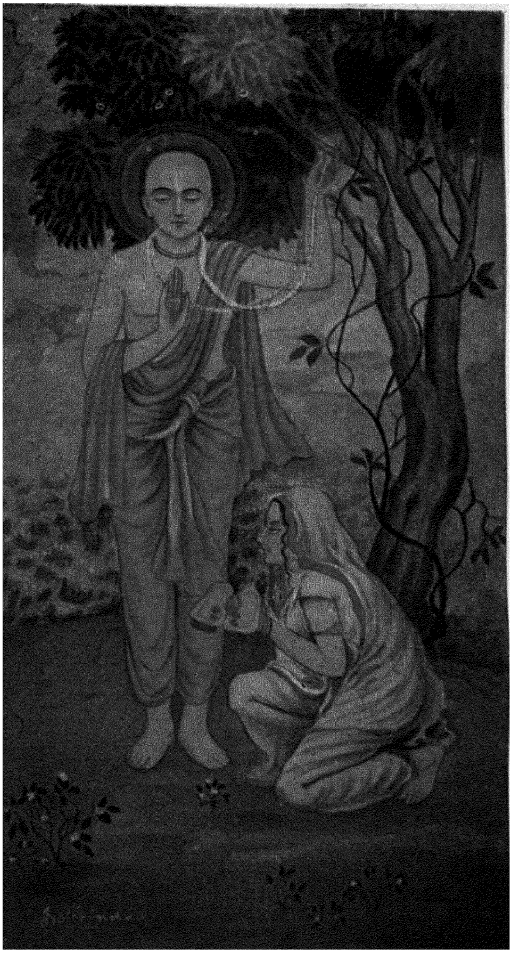

श्रीविष्णुप्रियाजीको पादुकादान

THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

# वृन्दावनाचे मार्गांत

सुजनं व्यजनं मन्ये चारुवंशसमुद्भवम् ।
आत्मानं च परिभ्राम्य परतापनिवारणम् ॥

पुरीहून पुष्कळसे भक्त प्रभुंच्या बरोबर वृन्दावनास जाण्यास निघालेले होतेच, त्यांतच आणखी नवद्वीपांतून निघालेल्या भक्तांची भर पडली. ह्याप्रमाणे प्रभुंच्याबरोबर वृन्दावनास जाणारांचा एक मोठाच जमाव झाला. ही सर्व मंडळी प्रभुंच्या संगतींत श्रीकृष्ण कीर्तनांत तल्लीन होऊन मोठे आनन्दाने व उत्साहाने चालली होती. गंगा किनाऱ्या-किनाऱ्यानेच हे जात होते. गावोगावची मंडळी ह्यांचे स्वागत करीत होती व ह्यांचे भोजनादिचा प्रबन्ध करीत होती. ह्याप्रमाणे महाप्रभु ग्रामवासीयांना श्रीकृष्ण-प्रेमामृताचे पान करीत पुढे जात.

एके दिवशीं भोजनोत्तर मुखशुद्धिसाठी प्रभुंनी गोविन्द घोषांच्या पुढे हात पसरला. भोजनोत्तर प्रभु मुखशुद्धिसाठी कांही तोंडांत टाकतात, म्हणून त्यांही गावातून एक हरीतिकी (बाळहिरडा) मागून आणीली होती. त्यांहि हरितिकीचा एक तुकडा प्रभुंच्या हातांत ठेविला व त्यांही तो तोंडांत टाकला.

दुसरे दिवशींहि भोजनोत्तर पुन्हा हात पुढे करताच, घोष महाशयांनी आदले दिवशीपैकी शेष असलेली हरितिकी, आपले वस्त्रांतून सोडून प्रभुच्या हातावर ठेविली. प्रभुंनी ती तोंडांत न टाकता, विचार करीत विचारले–'गोविन्द! ही हरितिकी तुम्ही कोठून आणीली?'

अत्यन्त नम्रपणे घोष म्हणाले–'प्रभो! कालच्यांतील शेष राहिलेली मी बांधून ठेविली होती, ती ही आहे'.

प्रभु गंभीरपणे म्हणाले–'तुम्ही कालची आजचेसाठी कां बांधून ठेविली?'

प्रभुंच्या बोलण्याने घोष कांहीसे विचारांत पडले व कांहीहि उत्तर न देता ते उदासपणे जमीनीकडे पाहू लागले. तेव्हा प्रभु त्याच गंभीर स्वराने म्हणाले–'ज्यांना संग्रह करण्याची टेव लागलेली असते, ती ते साधु झाल्यावर सुद्धा सोडीत नाहीत. अद्याप तुमची संग्रह करण्याची इच्छा तृप्त झालेली नाही. साधुना हे दूषण असून ग्रहस्थास थोडा-बहुत संग्रह करणे भूषण आहे. तेव्हा तुम्ही आता माझेबरोबर येऊ नका. येथेच कोठे तरी लहानशी कुटी बांधून राहा व विवाह करून अनासक्त-भावाने भगवत्-प्रीत्यर्थ कार्य करीत राहा.'

हे ऐकताच गोविन्द घोषांच्या नेत्रांतून अश्रु-प्रवाह सुरू झाला. प्रभुंनी त्यांचे पाठीवर हात फिरवीत म्हटले–'मी सहजच बोललो, तुम्ही स्वयं मोठे भगवत्-भक्त आहात. तुम्ही केवल मजवरील प्रेमामुळेच हे असे आचरण केले, कांही मनांत आणू नका. तुम्ही येथेच राहून गोपी-नाथ-भगवानाची सेवा-पूजा करा. भगवन्ताचे सेवेसाठी विवाह केला तर त्यांत वावगे असे कांहीच नाही!'

गोविन्द घोषांनी प्रभुंची आज्ञा शिराधार्य केली व ते तेथेच एक झोपडी गंगा-तटी बांधून राहू लागले. त्यांही प्रभु-आज्ञेनुसार विवाह केला. एक पुत्र झाल्यावर त्यांची पतिव्रता स्त्री परलोकवासी झाली. थोडे कालानंतर पुत्रानेहि मातेच्याच पथाचे अनुसरण केले. पुत्रशोकाने

दुःखी होऊन भगवानाची सेवा-पूजा सोडून हे प्राणत्याग करण्यास उद्यत झाले. त्यांही भगवन्तास नैवेद्य समर्पण केलेला नव्हता व स्वताहि त्यांही कांहो खाल्ले होते. तेव्हा एके दिवशीं भगवन्तानो स्वप्नात येऊन सांगीतले–'तुम्ही आमची सेवा व्यर्थ स्वीकारली, एक पुत्र तर तुमचा मेला, आता तुम्ही आम्हासहि मारण्याचे विचारात आहा, तसे असल्यास तुमची इच्छा. तुम्हास पिण्डदान देण्यास व श्राद्धादि कर्म करण्यास स्वयं आम्ही उपस्थित आहोत, तेव्हा तुम्ही ह्या दुसरे पुत्रास मरू द्याल का!' ह्या योगे घोष सन्तोषित झाले व ते पूर्ववत् गोविन्द-भगवानाची सेवा–पूजा करू लागले. ह्यांच्या मरणोत्तर भगवानाने पुत्ररूपाने ह्यांचे श्राद्धादि कर्म करून आपली भक्त-वत्सलता सार्थक केली. धन्य आहे त्या गोविन्द घोषांची !

महाप्रभु जाता जाता रामकेली नामक नगरासमीप पोचले. नगरांत प्रवेश करताच भक्तांनी हरिध्वनीच्या घोषाने सर्व नगर दुमदुमून टाकले. हजारो नर-नारी प्रभुच्या दर्शनासाठी येऊ लागल्या व भूत-बाधेचा संसर्ग झाल्यासारखे एक-दुसऱ्याचा हात धरून सर्वजण नृत्य करू लागले. रामकेली ग्राम गौडदेशाच्या राजधानीच्या समोर असून ते दोघा गौडीय-मंत्र्यांनी आपले राहण्यासाठी वसविले होते. बादशहानेहि तो तुमुलध्वनी ऐकला व तोहि आपले महालाच्या गच्चीवर चढून तिकडे पाहू लागला.

पाप्यास सदैव आपले पापाचे भय वाटत असते. त्यास शान्ति नसते. त्यावेळचे बादशहा हुसेनशाह ह्याने सुबुद्धिरायांना छलाने व बलाने पदच्युत करून स्वता राजा झाला होता, म्हणून तो हिंदुच्या-विषयीं नेहमी साशंक असे. भक्तांचा तो गगनभेदी हरि-ध्वनि ऐकून,

त्याला वाटले कीं, कोणी अकस्मात् हल्ला तर केला नाही ना? आपले एका हिंदु मन्त्र्यास बोलावून हे काय आहे म्हणून त्याने विचारले. प्रभुंची ख्याति पूर्वीपासूनच ह्या मन्त्र्यास माहित असल्याने तो म्हणाला– 'सरकार! भीतीचे कांही कारण नाही. पुरीचे कांही साधु, वृन्दावनास यात्रेस जात आहेत, ते उद्या येथून निघूनहि जातील. त्यांचेजवळ शस्त्रास्त्रे काय असणार? आणि राज्यनीतिशी त्यांना कांही प्रयोजनहि नाही'. ह्याने बादशहाचे समाधान झाले नाही, म्हणून त्यांही आपले 'दबिरखास' व 'शाकिरमल्लिक' नावाच्या आपले दोन विश्वासु मन्त्र्यांना बोलाविले व ह्यासंबंधाने पूसतपास केला. पहिल्या हिंदु-मन्त्र्यानेहि आपले विश्वासांतील एका ब्राह्मणाबरोबर प्रभुंना निरोप पाठविला कीं, येथून लवकरच निघून जावे.

दबीरखास व शाकिरमल्लिक, तसे तर जन्माने हिंदु होते, परन्तु बादशहाचे अत्यन्त कृपेंतील असल्याने ते आपले हिंदुत्व विसरून गेले होते. बादशहाचाहि ह्यांचेवर विश्वास होता. बादशहाने विचारल्यावर प्रभुंची प्रशंसा करीत त्यांही म्हटले–'हे नवद्वीपांतील गौराङ्गप्रभु आहेत, त्यांही आता संन्यास घेतलेला आहे. राजनीतिशी ह्यांचा कांहीच संबंध नाही. हे तर धर्मसंस्थापनार्थ प्रकट झालेले आहेत. ह्यांना साक्षात् नारायणच समजतात. ह्यांचे आशिर्वादाने आपलेहि कल्याण होईल. हे कृपा करण्यात कोणत्याहि प्रकारे भेद-भाव ठेवित नाहीत'. बादशहास या योगे फार सन्तोष झाला व त्यांही महाप्रभुंची फार प्रशंसा केली. याप्रमाणे बादशहांना समजावून ते आपले घरीं गेले. घरीं आल्यावर त्यांनाहि वाटले कीं, प्रभुंना ह्या बाबतींत नीट समजवावे व ह्या अशा लढाईच्यावेळीं वृन्दावन जाणे उचीत नाही म्हणून सांगावे.

हे प्रभुंच्या गुणांवर पहिल्यापासूनच मोहीत झालेले होते. ह्यांना प्रभुचे दर्शनाची चिरकालपासून उत्कंठा लागलेली होती. ते रात्र होण्याची मार्गप्रतिक्षा करीत होते. हे दोघेहि बन्धु प्रभुंचे एकान्त-प्रेमी, भक्त, सेवक, शिष्य व सुहृदय होते. हेच दोघे बंधु वैष्णवांत 'रूप' व 'सनातन,' ह्या नावाने प्रसिद्ध आहेत. तेव्हा ह्या उभयता बंन्धुचा संक्षिप्त परिचय करून देणे अवश्यक असल्याने तो परिचय पुढील अध्यायांत पाठक-गण प्राप्त करतील.

# श्रीरूप आणि सनातन

महाधीरौ भक्तिवीरौ प्रेमपीयूषभाजनौ ।
भक्तिभावेन तौ वन्दे श्रीमद्रूपसनातनौ ॥

ज्यास पश्चात्ताप झालेला आहे, तो कोणतेहि पराकोटीस पोचलेला कां न असो, तेथूनच तो स्वताची उन्नति करू शकतो; परन्तु ज्यास आपले वाईट कृत्याबद्दल दुःख होत नाही, ज्यास आपले नीच दशाबद्दल कांहीच वाटत नाही, वेळ व्यतीत होत असल्याचा ज्यास पश्चात्ताप वाटत नाही, तो किती का मोठा विद्वान असेना, कितीहि ज्ञानी असो, विवेकी असो, तो उन्नतीच्या शिखरांवर केव्हाहि पोचणार नाही. जेव्हा पूर्वकृत कर्माबद्दल खरोखरच मनःपूर्वक पश्चात्ताप होतो व सर्वस्वाचा त्याग करून भगवन्ताच्या चरणीं लीन होण्याची प्रबल इच्छा होते, तेव्हाच जाणावे कीं, त्याचे उन्नतीचा श्रीगणेश झाला. रूप आणि सनातन ह्या दोघांहि बन्धुचे पूर्वजीवन विषयीपुरुषासारखेच व्यतीत झाले असताहि, शेवटीं ते प्रभुच्या पादपद्मीं पश्चात्तापाचे प्रभावाने पोचू शकले व त्यांच्या भक्तीच्या प्रभावाने ते जगन्मान्य महापुरुष झाले.

रूप आणि सनातनाचे पूर्वज कर्नाटचे राहाणारे होते. ह्यांचे प्रपितामह पद्मनाभ कांही कारणाने आपला देश सोडून नवहट्टीस येऊन राहिले. ह्यांचा पुत्र मुकुन्ददेव, जो सर्वांत लहान होता, त्यास परमभागवत कुमारदेव नावाचा पुत्र झाला. कुमारदेव वाणिज्य-व्यापार करीत असत. कांही जातीय विरोधाने ह्यांना नवहट्ट सोडून यशोहर जिल्ह्यात फतेहबाद येथे येऊन राहावे लागले. येथे ह्यांचा विवाह हरिनारायण विशारद ह्यांची कन्या रेवतीदेवी ह्यांचेबरोबर झाला. ह्यांना परम-भागवत वैष्णव-

समाजाचे शिरो-भूषण असे तीन पुत्र झाले. त्यांची नांवे अमर, सन्तोष व अनूप अशी ठेविलेली होती व मागाहून हेच रूप, सनातन व वल्लभ ह्या नांवांनी प्रसिद्धिस आले.

पित्याने आपले पुत्रास सुयोग्य पंडित करण्याचे हेतूने नवद्वीपचे प्रसिद्ध पंडित सर्वानन्द सिद्धान्तवाचस्पति ह्यांचेजवळ संस्कृत पढण्यास ठेविले. त्यावेळीं फारसी राजभाषा होती. राजकीय कामांत फारसीचाच बोलबाला होता. फारसी शिकलेलाच सभ्य व विद्वान् समजला जात असे व त्यासच राज्यांत मोठ-मोठ्या नोकऱ्या मिळत होत्या. फारसी शिकलेला साधारण म्हणजे कमी योग्यतेचे काम स्वीकारीत नसे. **असे समजते कीं, जेव्हा पुष्कळ लोक फारसी शिकून तयार झाले तेव्हा ह्याचा भाव उतरला व त्या कारणानेच ही लोकोक्ति पडली असावी–'पढे फारसी बेचे तेल। यह देखो बिधनाका खेल'*** अस्तु! संस्कृताच्याबरोबर रूप-सनातन ह्यांना त्यांच्या पूज्य-पित्याने अरबी-फारसीहि उत्तम प्रकारे शिकविले. हे बुद्धिवान् असल्याने थोडेच दिवसांत संस्कृत, अरबी व फारसीचे उत्तम पंडित झाले. त्यावेळीं मालाधर वसु (गुणराजखा) गौडदेशाच्या बादशहाचे राजमन्त्री होते. ते गुणग्राही व कवि हृदयाचे होते. त्यांही 'श्रीकृष्णविजय' नावाचे एक बंगाली काव्य लिहिलेले आहे, ज्यांतील 'नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राणनाथ' हे पद प्रभुंना फारच आवडले होते. त्यांचेशी ह्यांचा परिचय झाला. ते ह्यांची कुशाग्रबुद्धि व प्रत्युत्पन्नमति पाहून फार सन्तुष्ट झाले व ह्यांना त्यांही राजदरबारांत नोकर ठेविले. थोडे दिवसांत हे आपले बुद्धिसामर्थ्याने व कार्यपटुत्वाने बादशहाचे परम कृपा-पात्र झाले

* हल्लीहि हे किती बरोबर लागु पडते, हे वाचकांनी आपले मनास विचारावे.

व बादशहाने प्रसन्न होऊन ह्यांना आपले मन्त्री-पद दिले. पद वृद्धिच्या बरोबर ह्यांची वैभव-वृद्धिहि होऊ लागली. त्या बरोबरच हिंदु-धर्माचा कट्टरपणाहि कमी होऊ लागला. मुसलमानाच्याबरोबर ह्यांचा व्यवहार सुरू झाला. ब्राह्मण असूनहि ह्यांचे खान-पान व वेष-भूषा आदि सर्व कांही मुसलमानासारखेच झाले. येथपावेतो कीं, ह्यांची नांवेहि मुसलमानासारखीच ठेविण्यांत आली. बादशहा सनातनास 'दबिरखास' व रूपास 'शाकिरमल्लिक' ह्या नावाने बोलावित असे. राज्यांत ह्याच नावाने हे प्रसिद्ध होते. ह्यांची मूळची जुनी नांवे कोणा-सच माहिती नव्हती. ह्यांनी आपले राहण्यासाठी गौडाचे जवळच रामकेली नावाचे एक नगर वसविले व तेथे आपला एक सुन्दर महाल बनवून हे मोठ्या थाट-माटाने राहात असत. ह्यांचे आचरण कसे कां असेना, हे विद्वानांचा व साधुवैष्णवाचा सदा सर्वकाल सन्मान करीत असत. रामकेलीपासून थोडे अन्तरावर ह्यांनी 'कन्हईनाटशाला' ह्या नावाचे एक मूर्ति-संग्रहालय तयार केले होते. त्यांत श्रीकृष्ण-लीले-संबंधाच्या अनेक प्रकारच्या मूर्ति होत्या. त्यांतील कित्येक तर अद्यापहि विद्यमान आहेत.

इतके अपार वैभव असताहि निरन्तरच्या साधु-संगाने व शास्त्र-चिन्ताने ह्यांना वैराग्य उत्पन्न झाले. आता त्यांची प्रवृत्ति हळूहळू धर्मा-कडेस वळली. ह्याचवेळीं ह्यांनी महाप्रभुंची प्रशंसा ऐकली. त्यावेळीं महाप्रभुंचा भगवन्नाम-संकीर्तन हा एक अगदी नवीनच उपक्रम होता. आजपर्यन्त लोकांची अशीहि एक धारणा होती कीं, ज्यांनी समजांच्या बन्धनाचा परित्याग केला, व समाजाने त्यास एकदा पतित मानले, तो सदैव पतितच होत असे. ह्यानन्तर त्याचे उद्धाराचा कांहीच उपाय नव्हता. महाप्रभुंनी ह्या मान्यतेचे फार जोराने खण्डन केले. ते ह्या गोष्टीवर विशेष जोर देत—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः समग्व्यवसितोहि सः ॥

कितीहि घोर पातकी असला, तरी जो भगवन्ताचे अनन्य भावाने भजन करतो, तो परमसाधुच म्हणावा. महाप्रभुंची ही उदार व सर्वभूतहितकारी भाषा ऐकून ह्यांनाहि आपले पूर्वजीवनाचा पश्चात्ताप वाटू लागला व गौडेश्वरांना न समजू देता ह्यांनी एक पत्र लिहून नवद्वीपास प्रभुकडेस पाठविले होते. त्यांत ह्यांनी आपले पतितावस्थेचे वर्णन करून आपले उद्धाराची याचना केली होती. प्रभुंनी ह्या पत्राचे उत्तरांत हा श्लोक लिहून पाठविला होता—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु ।
तमेवास्वादयत्यन्तर्नवसंगरसायनम् ॥

अर्थात् 'पर-पुरुषाशी संबंध ठेविणारी व्यभिचारिणी स्त्री दिसण्यांत ग्रहकार्यांत गुंग असताहि आंतले-आंत ती त्या नूतन जार-संगरूपी रसायनाचाच आस्वादन करीत असते. ह्याप्रमाणे तुम्ही दिसण्यांत राज-कार्य भलेहि करीत असा, परन्तु अन्तःकरणाने त्या हृदय-रमणाशींच क्रीडाविहार करीत राहा'.

प्रभुंच्या ह्या अनुपम उपदेशाने ह्यांची प्रभु दर्शनाची लालसा जास्त जास्त वाढू लागली. प्रभु संन्यास घेऊन पुरीस गेल्याचे जेव्हा ह्यांनी ऐकले तेव्हा तर हे फारच व्याकुल झाले. बादशहा हुसेनशाहाचा ह्यांचेवर फार विश्वास होता व ह्यांचा तो मानहि विशेष ठेवीत होता. त्यावेळीं कांही राज्यांत युद्ध सुरू असल्याने हे पुरीसहि जाऊ शकत नव्हते. जेव्हा वृन्दावन जाण्याचे इच्छेने प्रभु रामकेलीस आले तेव्हा तर ह्यांचे आन-

न्दास सीमाच राहिली नाही. एकान्तात प्रभु दर्शन कसे घेता येईल ह्या विचारांत ते पडले.

सर्व नगरांत अगदी साम-सूम झाल्यावर अर्धरात्रीचे समयीं हे महाप्रभुचे दर्शनासाठी अगदी साधारण वेशाने निघाले. अत्यन्त दीनतेने ह्यांनी दाता तृण धरले होते. अशा स्थितींत ते प्रभुच्या निवासस्थानीं पोचले. सर्व प्रथम ह्यांनी नित्यानन्द व हरिदासांना जागे करून आपण कोण हे सांगीतले. नित्यानन्दांनी हे हलकेच प्रभुंना जागे करून कळविले. प्रभुंनी त्याचवेळीं दोघांना आपले समीप बोलाविले. हे दोघेहि अत्यन्त दीनपणे व ज्यांचे शरीर रोमांचित झालेले आहे असे–प्रभुंच्या सन्निध आले व त्यांहि प्रभुंच्या चरणीं लोळण घेतले व प्रभुंनी ह्यांचे शरीरावर हात फिरवीत व ह्यांना आश्वासन देत प्रभु म्हणतात–'तुमचे रुदनाने माझे अन्तःकरण विदीर्ण होत आहे, तुम्ही दोघेहि परम भागवत आहा व माझे जन्म-जन्मान्तरींचे सखे आहात. मी तुमचे भेटीसाठी अधीर झालो होतो म्हणूनच रामकेलीस आलो. येथे येण्यांत माझा दुसरा कोणताच उद्देश नाही. आजपासून तुमचा नवीन जन्म झाला. आता ह्या मुसलमानी नावाचा त्याग करा. आज तुमची नावे रूप व सनातन समजावी'.

दोघेहि ह्या योगे परम सन्तोषित झाले व त्यांही प्रभुंची स्तुति केली. शेवटी सनातनाने प्रभुस सांगीतले–'प्रभो! ह्या युद्धकालीं व इतकी मंडळीं बरोबर घेऊन वृन्दावन जाणे बरे नाही. वृन्दावनास तर एकल्यानेच गेले पाहिजे'. प्रभुंनी हे म्हणणे कबूल केले व प्रातःकालीं ह्या दोघा बन्धुंना आलिंगन देऊन परत पाठविले व आपण सर्व भक्तांसह कन्हईची नाटशाला पाहून महाप्रभु शान्तीपुरास अद्वैताचार्यांचे घरीं येऊन थांबले.

# रघुनाथदासजींना प्रभुचे दर्शन

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥

किती सुन्दर कल्पना आहे! त्या महापुरुषांची अन्तःकरणे किती स्वच्छ व पवित्र असतील कीं, ज्यांच्या अन्तःकरणांतून काम, क्रोध व लोभ हे तीन राक्षस निघून गेलेले असतील, मन-मन्दीरास अपवित्र करणारे हे तिन्ही दैत्य निघून जाताच हे देवालय अगदी स्वच्छ होते, विषय-विकाराच्या धूलीने मलीन झालेले हे मंदीर, हे महापापी राक्षस निघून गेल्यावर प्रेम रूपी अमृताने आपले-आपुणच धुतले जाऊन चमकू लागते, तेव्हा त्यांत प्राण-प्रिय येऊन विराजमान होतात. मंदीरांत त्यांची प्राण प्रतिष्ठा होताच हे देहरूपी बाहेरचे आवरणहि त्याच्या दिव्य प्रकाशाने चमकू लागते. अहाहा! ज्या महाभागांच्या हृदयांत भगवन्ताच्या त्रैलोक्यपावनी मूर्तिची प्राणप्रतिष्ठा झालेली आहे, त्यांच्या चरण-स्पर्शानेच विकार एकदम पळून जातात! खरोखर अशा पतितपावनांचे जीवन धन्य आहे!

जगतांत सुन्दर दिसणाऱ्या, चमकणाऱ्या, स्वच्छशा भासणाऱ्या सर्व वस्तु कामोद्दिपन करणाऱ्या आहेत. त्या बलाने पुरुषास आपले-कडेस आकर्षित करतात. ह्यांतून कोणी धैर्यवानच निभावतो. तो नररूपी साक्षात् नारायणच समजावा. अशांतीलच महात्मा रघुनाथदासजी एक होत.

महात्मा रघुनाथदासजीचे पिता, हे दोघे बन्धु होते-हिरण्य

मुजूमदार व गोवर्धन मुजूमदार. हिरण्यदास सन्तानहीन असून गोवर्धन-दासास महात्मा रघुनाथदासजीचे पिता होण्याचे लोकविख्यात महत्-भाग्य लाभले होते.

उभयता बन्धु फार शहाणे, कार्यकुशल व लोकव्यवहारांत अति प्रवीण होते. ते गंगाकिनारी सप्तग्राम ह्या गावीं राहात असून त्यांना ह्या इलाख्याचा ठेका बादशहाकडून मिळालेला होता. ह्यांचे उत्पन्न वीस लाखाचे होते. परन्तु हे बारा लाख बादशहास देत व शेष आठ लाख ह्यांना बचत. त्यावेळीं आठ लाख म्हणजे आजचे एक कोटीपेक्षाहि जास्तच होते. बादशहाचे दरबारांत ह्या बन्धु-द्वयांची चांगलीच प्रतिष्ठ-असून हे धनिक व आस्तिक असल्याने ह्यांचे आश्रयास पुष्कळ शास्त्री पंडित होते. महाप्रभुंचे पिता जगन्नाथ मिश्रांचीहि हे कांहीना कांही प्रकारे सेवा करीत असत. अद्वैताचार्यांचे ठिकाणींहि ह्यांची फार भक्ति होती. त्याचप्रमाणे हरिदासजींच्या नाम-निष्ठेमुळे हरिदासावरहि ह्यांची श्रद्धा होती.

बालक रघुनाथदास बालपणापासूनच फार तेजस्वी, बुद्धिवान, परन्तु गंभीर स्वभावाचे होते. हे फार थोडे बोलत, कधी कोणास अपशब्द बोलत नसत. ह्यांचे कुलगुरू बलराम आचार्यांचे घरीं हे संस्कृत शिक-ण्यास जात होते. ह्यावेळीं महात्मा हरिदासहि आचार्यांचे घरींच राहून अहर्निश मोठमोठ्याने हरिनामोच्चारण करीत असत. सरल स्वभावाच्या व कोमल-प्रकृतीचे रघुनाथदासावर हरिदासांच्या धर्मनिष्ठेचा फारच प्रभाव पडला. ते घटका-न-घटका हरिदासाच्या मुखाकडे सारखी टक लावून बसत, व कधी कधी त्यांचेबरोबर भानरहीत होऊन नाम-संकीर्तनहि करू लागत. ह्या कारणाने हरिदासांचीहि ह्या मुजूमदाराचे कुमारावर ममता जडली.

हळुहळु रघुनाथदास मोठे झाले. इतके अतुल वैभव ह्यांना आकर्षित करू शकले नाही. विषय-भोग ह्यांना चावण्यास धावतातसे वाटे. काम-काजांत ह्यांचे मन लागेना. अनेक प्रकारचे प्रलोभनाने ह्यांचे मन वळविण्याचा प्रयत्न अगदी निष्फल झाला. ह्याचवेळीं संन्यास घेऊन महाप्रभु शान्तीपुरास अद्वैताचार्याचे घरीं राहिले होते. तेव्हा पित्याची आज्ञा घेऊन हे प्रभुच्या दर्शनासाठी आले होते व प्रभुंचे दर्शन करून गेले. ह्यांचे चार पांच दिवसांच्या मुक्कामांत प्रभुंनी ह्यांचा राग-रंग पुरा ताडला कीं, हे संसारांत संसारी होऊन राहणारे नसून जन्मसिद्ध महा-पुरुष आहेत. त्यावेळीं त्यांना समजावून अनासक्तभावाने ग्रहस्थ-पणांत राहून संसारी कामे करीत जाण्याचा उपदेश केला व ह्यांना महाप्रभुंनी घरीं परत पाठविले.

पित्याने जेव्हा पाहिले कीं, पुत्राचे चित्त संसारी कामांत मुळीच लागत नाही, तेव्हा त्यांही एका सुन्दर, रूपवान् कन्येशी ह्यांचा विवाह केला. रघुनाथदास तरूण असल्याने अशी पत्नी मिळाल्याने ते आपली उदासीनता विसरतील असे ह्यांना वाटले. परन्तु पित्याचा हाहि प्रयत्न विफल झाला.

आता जेव्हा रघुनाथदासजींनी ऐकले कीं, प्रभु वृन्दावनास न जाता रामकेलीहून परत फिरून अद्वैताचार्यांचे घरीं आलेले आहेत, तेव्हा त्यांही प्रभुंचे दर्शनास जाण्यासाठी पित्याची आज्ञा मागीतली.

हे ऐकतास गोवर्धनदास किंकर्तव्यमूढ झाले, परन्तु ते आपले बरोबरीचे युवक पुत्रास जबरदस्तीने थांबवू शकले नाहीत. त्यांचे नेत्र पाण्याने भरूर आले व ते म्हणाले–'बेटा आमचे कुलांत तूंच काय तो एक दीपक आहे. आम्हा सर्वांना तुझाच एकमात्र आधार आहे. तुझे वाचून आम्ही जीवन कसे कंठणार? महाप्रभुंच्या दर्शनास जाण्यास

आम्ही तुला ना म्हणत नाही, परन्तु आमची ही प्रार्थना आहे कीं, ह्या आमचे पांढरे केसाकडेस पाहून तूं लवकर परत ये. कोठे बाहेरच राहण्याचा विचार मनांत आणू नकोस'.

पित्याचे हे म्हणणे ऐकताच रघुनाथदासजीच्या नेत्रांतून अश्रु वाहू लागले व ते म्हणाले–'पिताजी! मी काय करू, कोणास ठाऊक कीं, माझे चित्त संसारी काम काजांत कां रमत नाही, मला पुष्कळ वाटते कीं, माझ्यामुळे आपणास दुःख न व्हावे, परन्तु माझा कांही उपाय चालत नाही, मी लवकरच परत येतो'.

पुत्रासाठी पालखी, दहा-वीस नोकर आदिची व्यवस्था केली व भेटीची सामग्री बरोबर देऊन पुत्रास दर्शनासाठी पाठविले. शान्तीपुर दृष्टीस पडताच रघुनाथदास पालखींतून उतरले व पायांतहि कांही न घालता उन्हांतून चालत प्रभुच्या समीप पोचले. लांबूनच ह्यांनी प्रभुंना साष्टांग प्रणाम केला. प्रभुंनी लागलीच उठून ह्यांना छातीशी आवळून धरले व ह्यांचे केश नीट करीत प्रभुंनी ह्यांच्या मस्तकाचे अवघ्राण केले व आपले मांडीवर ह्यांना बसवून प्रभु म्हणतात–'तुम्ही इतके उन्हांत एकटेच कसे आलात, काय पायीच येत आहा कां? कोणी बरोबर नोकर-चाकर नाही कां? तुमचे तोंड अगदी सुकून गेले आहे, ह्याचे काय कारण?' रघुनाथदासांनी ह्याचे कांहीच उत्तर दिले नाही. ह्यांच्या नेत्रांतील अश्रुंनी प्रभुंचे काषाय वस्त्र ओले होत होते. इतक्यांत ह्यांचे बरोबरील नोकरांनी येऊन प्रभुंना साष्टांग प्रणाम केला व भेटीच्या वस्तु प्रभुंच्या समोर ठेविल्या. रडत रडत रघुनाथदास म्हणतात–'प्रभो! पितृ-गृह मला खरोखरच कारावासच झालेले आहे. माझ्यावर सदैव पाहरा आहे. विचारल्यावाचून मी कोठेहि जाऊ शकत नाही, वा स्वतन्त्रपणे बाहेर फिरूहि शकत नाही. हे जगताचे त्राता! माझा हा गृह-बन्ध

तोडून छिन्न-भिन्न करून टाका. ह्या यातनांतून मला सोडवून आपले चरणांचा आश्रय द्या. आपले चरणांचे चिन्तन करीत, माझे जीवन व्यतीत होईल, असा आशीर्वाद द्यावा'.

प्रभुंनी प्रेमाने सांगीतले–'रघुनाथ! तुम्ही वेडे तर नाही झालात ना? घर तर कोठे बन्धन होत असते? त्यांतील 'आपलेपणा' काढून टाका, झाले, मग राहतेच काय? जोपावेतो ममत्व आहे, तोपावेतो दुःख, ममत्व दूर झाले कीं, सर्व आपलेच-आपले आहे. आसक्ति सोडून व्यवहार करा. धन, स्त्री तथा कुटुंब परिवारांतील 'आपलेपणा'चा भाव विसरून व्यवहार करा'.

रघुनाथदासजी रडत रडत म्हणतात–'प्रभो! मला लहान मुला-प्रमाणे भोळवू नका, मी हे चांगले समजतो कीं, आपण सर्वांच्या मनांतील भाव ओळखून त्याचे आधिकारपरत्वे त्यास उपदेश करता. मुला-बाळांत अनासक्त राहून व त्यांचे मध्येच राहत असता भजन करीत राहावे, हे म्हणणे, नदींत स्नानास पडल्यावर शरीर ओले करू नको, असे म्हणण्यासारखेच आहे. प्रभो! असे करणे तर ईश्वरासच साध्य आहे. आपण जो उपदेश करीत आहा, तो ज्यांची संसाराचे ठिकाणी थोडी-फार वासना उरलेली आहे, त्यांना योग्य आहे. मी आपले चरणास स्पर्श करून म्हणतो कीं, माझी संसारी विषयांत मुळींच आसक्ति उर-लेली नाही, मला घरांतील वैभव चावण्यास धावते, तेव्हा मी आता जास्त वेळ घराच्या बन्धनांत राहाणे शक्य नाही'.

प्रभुंनी म्हटले–'तुम्ही जे म्हणता ते सर्व ठीक आहे, परन्तु मर्कट-वैराग्य खरे नाही. केव्हा केव्हा मनुष्यास क्षणिक वैराग्य होते व ते तात्काल नष्ट होते. तेव्हा कांही दिवस घरांतच राहा, पुढे पाहता येईल'.

अत्यन्त करुण-स्वरांत रघुनाथदासजी म्हणाले–'प्रभो! आपले चरणास शरण आल्यावर, मग, वैराग्य नष्ट होणारच कसे? अमृताचे पान केल्यावरहि जरा-मृत्युचे भय असते कां? आपण आपले चरणापाशीं मला स्थान द्या'.

प्रभु हळूच प्रेमाने म्हणाले–'ठीक आहे, पुढे पाहू. आता, तुम्ही घरीं जा. माझा आता वृन्दावनास जाण्याचा विचार आहे. येथून पुरीस जाईन व तेथून लागलीच वृन्दावनास जाण्यास निघेन. वृन्दावनाहून परतून आल्यावर तुम्ही मला पुरीस भेटा'. प्रभुंच्या ह्या आश्वासनाने रघुनाथदासांना कांहीसे समाधान झाले. ते सात दिवस शान्तीपुरासच राहिले व नन्तर प्रभुंची आज्ञा घेऊन सप्तग्रामास परत गेले.

श्रीमन्माधवेन्द्रपुरींची पुण्य-तिथी जवळ आली होती, म्हणून अद्वैताचार्यांचे प्रार्थनेवरून प्रभु दहा दिवस शान्तीपुरास राहिले. नवद्वीपाहून पुष्कळ भक्त प्रभुंच्या दर्शनासाठी येत होते. शचीमाताहि आपले पुत्रास पाहण्यासाठी पुन्हा आल्या व तेथेच सात दिवस राहून प्रभुंना आपले हातच्या स्वयंपाकाने भिक्षा करवीत होत्या. ह्यामध्येच एके दिवशीं प्रभु गंगापार पंडित गौरीदासांना भेटण्यास गेले होते. ह्या गौरीदासांचे प्रभुंच्या ठिकाणीं फार प्रेम होते. त्यांही प्रभुजवळ वरदान मागीतले कीं, आपण निमाई व निताई ह्या दोघा बन्धुंनी माझे येथेच वास करावा. प्रभुंनी ह्याचा स्वीकार केला. त्यांही निमाई व निताईच्या प्रतिमा स्थापित केल्या. महाप्रभु गौराङ्गदेव व नित्यानन्द ह्यांच्या ह्याच आदि-मूर्ति मानण्यांत येतात. ह्या दोन्ही मूर्ति फारच दिव्य आहेत.

कालनाहून परत फिरल्यावर प्रभु शान्तीपुरास आले, तेथून सर्व भक्तांना परत पाठवून आपले अन्तरंग दोन चार भक्तांसहीत प्रभु श्रीजगन्नाथपुरीस जाण्यास निघाले.

# पुरीस प्रत्यागमन व वृन्दावनाची पुन्हा यात्रा

गच्छन् वृन्दावनं गौरो व्याघ्रेभैणखगान् वने ।
प्रेमोन्मत्तान् सहोन्नृत्यान् विदधे कृष्णजल्पिनः ॥

शान्तीपुराहून निघून महाप्रभु श्रीहट्ट, पानीहाटी आदि ठिकाणावरून पुन्हा पुरीस आले. प्रथम श्रीजगन्नाथाचे दर्शनास गेले व भगवन्तास साष्टांग प्रणिपात करून ते सद्गदित कंठाने त्यांची स्तुति करू लागले. पुजाऱ्याने प्रभुंना माला-प्रसाद दिला. प्रसाद मिळताच मंदीराची प्रदक्षिणा करून प्रभु आपले निवास स्थानीं आले. थोडेच अवकाशांत प्रभु पुरींत आल्याचा समाचार चहुकडेस पसरला. ज्यास समजले तो धावतच प्रभुंच्या दर्शनासाठी आला. सार्वभौम, राय रामानन्द, काशीमिश्र, गदाधर आदि सर्व भक्त-गण प्रभुच्या निवास-स्थानीं आले. सर्वांना बरे वाटले व म्हणाले–'प्रभो! आम्हा सर्वांचे महत्-भाग्य कीं, इतके लौकर आपले दर्शन झाले. खरोखरच हा वेळ तीर्थ-यात्रेस योग्य नाही'.

प्रभुनी म्हटले–'दुसरे कांही नाही, मला गदाधराचा शाप नडला. ह्यांना बरोबर नेले नाही, म्हणून मी वृन्दावनास जाऊ शकलो नाही'.

हात जोडून गदाधर दीनपणे म्हणाले–'प्रभो! आपणास वृन्दावन काय, आपण जेथे बसाल, तेथे वृन्दावनच आहे. परन्तु लोक शिक्षेसाठी आपण तीर्थ-यात्रादि करीत आहा, ही आपली लीला आहे'.

प्रभु म्हणाले–'सनातनांनी मला फार चांगला सल्ला दिला. ते दोघेहि बन्धु भागवत-वैष्णव आहेत. त्यांचे अन्तःकरणांत प्रभु-प्रेम अगदी ओत-प्रोत भरलेले आहे. इतके भारी राज-कार्याची धूरा शिरावर असताहि ते

त्यांतून उदासीनच असतात व सदैव भगवत्-चिन्तन करीत असतात. त्यांची अशी संमति आहे कीं, वृन्दावनास एकट्यानेच गेले पाहिजे. तेव्हा आता मी एकटाच वृन्दावनास जाईन'.

राय रामानन्दजींनी म्हटले–'प्रभो! वर्षाकाल सन्निकट आहे, रथ-यात्रेचा उत्सव आलेला आहे. अतः रथयात्रा करून वर्षाकाल वितून गेल्यावर जसा विचार होईल, तसे करावे'. सर्वांचे ह्यास अनुमोदन पडले. प्रभुंनी सर्वांची संमति पाहून मान तुकविली व ते वर्षाकाल संपेतो राहाण्यास राजी झाले. रथयात्रा पार पडली व वर्षाकालहि संपला.

वर्षाकाल वितून गेल्यावर प्रभुंनी सर्व भक्त-गणाची अनुमति घेतली व वृन्दावनास जाण्यास ते उद्यत झाले. प्रभु एकटेच जात असलेले पाहून कण्ठ दाटून येऊन स्वरूप गोस्वामींनी म्हटले–'प्रभो! माझी एक प्रार्थना आहे. आपण एकटेच वृन्दावनास जाता आहा, हे आम्हास अगदी रूचत नाही, तेव्हा निदान ह्या बलभद्र भट्टाचार्यास तरी आपण बरोबर न्यावे. हा कुलीन ब्राह्मण असून सेवा करण्यांत प्रवीण आहे व प्रभुंच्या पादपद्मीं ह्याची दृढ भक्ति आहे. ह्याशिवाय ह्याची स्वताचीहि वृजमंडळांतील तीर्थांची यात्रा करण्याची इच्छा आहे. तो आपले भिक्षेची म्हणजे भोजनाची सोय करीत जाईल; व असे झाल्याने आम्हासहि आनन्द वाटेल. भक्तांची ही इच्छा जाणून भक्तवत्सल प्रभु म्हणाले–'आपले इच्छेविरुद्ध मी कांहीच करू इच्छित नाही, तेव्हा आपले केलेले विचाराप्रमाणे मी बलभद्रास बरोबर घेऊन जाईन'. सर्वांना ह्याने फार समाधान वाटले व आनंद झाला. परन्तु प्रभु कधी वृन्दावनास जाणार ह्याची कोणासच माहिती नव्हती.

सायंकाल नन्तर प्रभु एकाएकी भगवन्ताचे दर्शनास गेले व त्याच

वेळीं त्यांची आज्ञा घेऊन दुसरे दिवशीं अगदी अंधारांतच बलभद्रास बरोबर घेऊन ते वृन्दावनास जाण्यास निघून गेले. प्रातःकालीं ही गोष्ट सर्वांना समजली.

इकडे प्रभु राज-पथ सोडून व कटकादि बाजूस टाकून झाडी-खण्डांत शिरले व तेथून सरळ त्यांहो वृन्दावनास जाण्याचा मार्ग धरला. रस्त्यांत बरेच दिवसपर्यन्त गावेहि लागत नसत, तेव्हा वनांतील फल-मूल-शाखा आदिवरच निर्वाह करावा लागला. केव्हा केव्हा गावांतून बलभद्र तीन-तीन चार-चार दिवस पुरेल इतकी सामग्री एकदमच भिक्षा मागून आणीत असे व जेथे मिळत नसे तेथे त्यांतील अन्न तयार करून ते प्रभुस भिक्षा म्हणजे भोजन करवीत. हे फार सावधानपणे प्रभुची सेवा करीत असत व ह्यामुळे प्रभुंनाहि समाधान वाटे व ते कृतज्ञता प्रकट करीत. प्रभुंची माया कोण जाणू शकणार? हरितिकीचा अर्धा तुकडा दुसरे दिवसासाठी ठेवून राखला म्हणून, प्रभु असन्तुष्ट झाले हे, व आता बलभद्र अन्न-संग्रह करीत आहे, ही गोष्ट प्रभुंना आवडली हे, पाहिले म्हणजे—

'लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमीश्वरः'

ह्या महापुरुषांची ही वागणुक संसारी पुरुषाहून विलक्षण असते. त्यांचे मनोगत जाणण्यास कोण समर्थ आहे?

महाप्रभु आपले अनुपम प्रभावाने मार्गातील पशु-पक्षी व हिंसक जीव-जन्तुनाहि प्रेम-प्रदान करीत पुढे चालले होते. हिंसक-पशुहि आपला क्रूर स्वभाव टाकून प्रभुच्या पादपद्मों लोटांगण घेत होते. ज्या ग्रामांतून प्रभु जात त्या गांवातील नर-नारी प्रभुना 'हरिबोल, हरिबोल' जय-घोष करीत गराडा देत. ह्याप्रमाणे मार्गातील जीव-जन्तुना सुद्धा कृतार्थ करीत,

महाप्रभु कांही दिवसांनी अविमुक्त क्षेत्र श्रीवाराणसीपुरीस पोचले. येथे पोचताच प्रथम हे मणिकर्णिकेच्या घाटावर स्नानास गेले. स्नान करून बसतात तोच तपनमिश्र नावाचा एक बंगाली ब्राह्मण तेथे आला. पाठकास स्मरत असेलच कीं, हाच तपनमिश्र महाप्रभुंना पूर्व बंगालच्या यात्रेंत भेटला होता व ह्यासच त्यांही भगवन्नामाचा उपदेश करून काशीस पाठविले होते. आज एकाएकी संन्यासी वेशांत प्रभुचे दर्शन होताच, त्याने त्यांचे पायावर लोटांगण घातले. प्रभुंनी यास उठवून कुशल प्रश्न विचारले. मिश्राने सद्गदित कण्ठाने म्हटले–'प्रभो ! आज आपण आपले भक्तवत्सल नाम सार्थक केले. मज अधमास येथे येऊन आपण दर्शन दिले, तेव्हा आता थोडे दिवस ह्या कंगालाचे कुटीमध्ये राहून यास कृतार्थ करावे'. प्रभुंनी ह्याची प्रार्थना स्वीकारली व त्यास बरोबर घेऊन प्रथम ह्यांनी विश्वनाथाचे दर्शन केले व नंतर बिन्दुमाधवाचे दर्शन केल्यावर हे तपनमिश्राच्या घरीं आले. मिश्राने ह्यांची पाद्य, अर्घ्य, आचमन, धूप-दीप, फूल-फल, नैवेद्य आदिंनी यथोचित पूजा केली व ह्यांचे चरणामृत घेतले व ते सर्व घरांत शिंपडले. प्रभु ह्यांचे घरीं सुखपूर्व राहू लागले. ह्याचा मुलगा रघुनाथ प्रभुंची मनोभावे सेवा करीत होता.

ह्याच ठिकाणीं चन्द्रशेखर नावाचे एक बंगाली वैद्यहि ह्यांना भेटले. हे येथे पुस्तके लिहून आपला जीवन-निर्वाह करीत होते. प्रभुंना हे एकदा नवद्वीपांत भेटले होते. प्रभुंच्या दर्शनाने ह्यांना फार आनन्द झाला व प्रभुंना हे आपले घरीं भिक्षेस बोलावित असत. दहा बारा दिवस प्रभु काशीस राहिले. ह्याचवेळीं एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण प्रभुंच्या दर्शनास येऊ लागला. तो स्वामी प्रबोधानन्द महाराजांकडेहि जात ये असे. ह्याने ह्या स्वामीजवळ प्रभुंच्या संकीर्तनाची व

अद्‌भुत नृत्याची प्रशंसा केली. परन्तु त्याही ह्या त्यांच्या भक्ती-भावाची उपेक्षा केली. त्या ब्राह्मणास हे बरे वाटले नाही, म्हणून त्यांची हे प्रभुस सांगीतले. प्रभुंनी म्हटले–'जगतांत भिन्न भिन्न प्रकृतीचे पुरुष असतात. ज्याच्यावर प्रभु-कृपा होते, त्यासच प्रभु-प्रेम लाभते. आपणास दुसऱ्याशी काय काम, लोक वाटेल ते म्हणतील, आपण प्रभु-प्रसाद प्राप्त करण्याचाच सतत प्रयत्न केला पाहिजे'. ह्यानन्तर महाप्रभु तीर्थराज प्रयागास गेले. येथे गंगा-यमुनेचा संगम झालेला आहे. महाप्रभु आपले श्रीकृष्णाचे आवडती कालिन्दीचे दर्शन होताच तींत एकदम कुदून पडले. तीर्थराजाची अपूर्व-शोभा पाहून प्रभु स्तोत्र पाठ करू लागले.

तीन दिवस प्रयागास राहून प्रभु वृन्दावनाकडेस निघाले. प्रथम मथुरेस पोचले. प्रथम विश्राम घाटावर जाऊन यमुनेंत स्नान केले. व्रज-भूमिचे पवित्र रजामध्ये लोळण घेत प्रभु आपला आनन्द प्रदर्शीवीत होते. कालिन्दीच्या नीलजलामध्ये ते पुष्कळ वेळ स्नान करीत राहिले, व नन्तर बाहेर निघून ओल्याच वस्त्राने कीर्तन करू लागले. हे अद्‌भुत नृत्य पाहून दर्शनार्थीहि 'कृष्ण, कृष्ण' म्हणून ह्यांचे बरोबर नृत्य करू लागले. पुष्कळ गर्दी झाली. प्रभु नृत्य करीतच होते. ह्यांचे बरोबर एक वैष्णव ब्राह्मण फार प्रेमाने कीर्तन करीत होता. त्याचा हात धरून प्रभु नृत्य करू लागले.

संकीर्तन पुरे झाल्यावर प्रभुंनी त्या ब्राह्मणास विचारले–'महाभाग! आपणास ह्या अद्‌भुत प्रेमनिधीची प्राप्ती कशी झाली?'

ब्राह्मणाने फार नम्रपणे सांगीतले–'प्रभो प्रेमावतार माधवेन्द्रपुरींनी मजवर कृपा करून मजला मन्त्र-दीक्षा दिली. तेच माझे दीक्षा-गुरु माझेंत जे कांही थोडेसे प्रेम दिसते आहे, ती त्यांचीच कृपा'.

श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीचे नाव ऐकताच प्रभुंनी त्या ब्राह्मणास साष्टांग प्रणिपात केला. तो कांपत कांपत म्हणाला–'स्वामिन्! आपण हा कोण अनर्थ करीत आहा. संन्यासी असल्याने आपण आम्हास पूजनीय, वन्दनीय व माननीय आहात, व आपण आश्रम-गुरुहि आहात. तेव्हा माझे पायास स्पर्श करून आपण मला पापाचे भागी कां करीत आहा?'

कण्ठ दाटून प्रभु म्हणतात–'विप्रवर! मी जाणूनच होतो, कीं इतके प्रेम माझे परमगुरु श्रीमाधवेन्द्रपुरींच्याच शिष्यांत संभवते. भक्तिचे उद्यमस्थानच ते भगवत् माधवेन्द्रपुरी होत. मी त्यांचे शिष्याचा शिष्य आहे. म्हणून आपण मला गुरु समान आहात'. प्रभुच्या परिचयाने त्या ब्राह्मणास फार आनन्द झाला व त्याने प्रभुंना आपले घरीं नेऊन भिक्षा करविली. तो प्रभुंची फार सेवा करू लागला. ह्या ब्राह्मणास बरोबर घेऊन अविमुक्त घाट, अधिरूढ घाट, गुह्यतीर्थ, प्रयागतीर्थ, कनखल तीर्थ, तिन्दुक, सूर्यतीर्थ, वटस्वामी, ध्रुवघाट, ऋषितीर्थ, मोक्षतीर्थ, बोधतीर्थ, गोकर्णघाट, कृष्णगंगा, वैकुण्ठघाट, असिकुंड, चतुःसामुद्रिक कूप, अकूटतीर्थ, याज्ञिक विप्रस्थान, कुब्जाकूप, रंगस्थल, मंचस्थल, मल्लयुद्धस्थान, दशाश्वमेध, आदि यमुनेच्या चोवीस घाटावर प्रभुंनी स्नान केले व स्वयंभू विश्रामघाट, दीर्घविष्णु, भूतेश्वर, महाविद्या, गोकर्णादि तीर्थांचे दर्शन केले. ह्यानन्तर व्रजमंडळांतील बाराहि वनांचे दर्शनासाठी प्रभु त्या ब्राह्मणास बरोबर घेऊन निघाले.

# श्रीवृन्दावन आदि तीर्थांचे दर्शन

कचिद्भृङ्गीगीतं कचिदनिलभङ्गीशिशिरता
कचिद् वल्लिलास्यं कचिदमलमल्लीपरिमलः।
कचिद् धाराशाली करकफलपालीरस भरो
हृषीकाणां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम् ॥

मथुरेहून निघून मधुवन,तालवन,कुमुदवन,बहुलावन आदि वने पाहात व वाटेंत अनेक तीर्थकुण्डांत स्नान, आचमन करीत, प्रभु भगवन्ताचे प्रधान लीलास्थान जे त्रैलोक्यपावन श्रीवृन्दावन येथे पोचले. वृन्दावनांत प्रवेश करताच प्रभु भावावेशांत येऊन मूर्छित होऊन भूमिवर पडले. ते चहुकडे एकाद्या वेड्यासारखे डोळे फाडफाडून पाहात होते. त्यांनी पाहिले, कोठे तर कदम्ब-वृक्षांच्या पंक्ति उभ्या आहेत, कोठे-कोठे करीलच्या वृक्षावर लहान फळे व लाल-लाल फुले लागलेली आहेत, कोठे गाई चरत आहेत, तर कोठे व्रजांतील गवळयांची मुले नाचत-बागडत व ओरडत आहेत. कोठे मयूर नाचत आहेत, तर कोठे सारस, हंस, चकवे, पाण-कोंबडे आदि जलांतील पक्षी उडून उडून कालिन्दीचे वाळवन्टाकडेस जात आहेत. प्रभु नेत्र ताणून चहुकडे प्रेमाने पाहात आहेत. केव्हा तर ते एकदम उठून वृक्षास आलिंगन देत व वरून पुष्पांचा वर्षाव होऊन प्रभुंची पाद-पद्मे झांकली जात. पूर्वपरिचितासारखे प्रभु गाईंच्याकडे धांवत व आपला कोमल कर त्यांच्या पाठीवरून फिरवीत. गाई हंभरडा फोडून पुच्छ उंच करून प्रभुकडे धावत येत व त्यांचे हात-पाय चाटीत. व्रजांतील पक्षी प्रभुच्या अगदी निकट येऊन त्यांना आप-आपले भाषेत कांहीसे सांगत, प्रभु त्यांचे प्रेम-युक्त म्हणणे ऐकून आपले मस्तक डोलवीत, जणु काय हे त्यांची भाषा समजून संकेताने

त्यांना उत्तरच देत आहेत. प्रभुंच्या आनन्दास सीमाच राहिली नाही. वृन्दावनांत येताच ते सर्व कांही विसरले व ज्याप्रमाणे जलापासून पृथक केलेला मासा पुन्हा महासागरांत टाकल्याने परमानन्दाचा अनुभव घेतो, त्याप्रमाणे व्रजांतील पावन रजांत लोळून महाप्रभु त्याच परमानन्द सुखाचा अनुभव घेत होते. येथून निघाल्यावर प्रभुंनी प्रायः व्रजमंडलांतील सर्व तीर्थांचे दर्शन केले. त्यावेळीं वृन्दावन खरोखरी वनच होते. दहा वीस ब्राह्मणांची व गवळ्यांची घरे त्यांत होती, सर्व वनच वन होते. पुष्कळ लोक दर्शनास येत व दर्शन करून परत मथुरेस जात. व्रजमंडलांतील पुष्कळशी तीर्थे व कुण्ड लुप्त-प्राय झाले होते. संन्यास घेण्याचेपूर्वी प्रभु नवद्वीपांत असताना त्यांही भूगर्भ पंडित व लोकनाथ गोस्वामी ह्यांना ही लुप्त-स्थाने प्रकट करून त्यांचा जीर्णोद्धार करण्यासाठी पाठविले होते. प्रभुंनी संन्यास धारण केल्याचे जेव्हा ह्यांनी ऐकले तेव्हा हे प्रभु दर्शनासाठी वृन्दावनाहून नवद्वीपास निघून गेले. ह्यायोगे प्रभुंची व ह्यांची भेट झाली नाही. प्रभुंनी कांही लुप्त-तीर्थे उदयास आणली.

ज्या ठिकाणीं भगवन्तांनी आरिष्टासुराचा वध केला होता, तेथे 'आरिष्टा' नावाचे एक गाव आहे. तेथे जाऊन प्रभुंनी चौकशी केली कीं 'येथे राधाकुण्ड असल्याचे पुराणांत वर्णन आहे, तेव्हा ते कुण्ड कोठे आहे?' ग्रामवासी यांनी ह्याचे कांहीच उत्तर दिले नाही. त्यांतील कोणासच राधाकुण्डाची माहिती नव्हती. तेव्हा प्रभुंनी ध्यान-मग्न होऊन राधा-कुण्डाची जागा निश्चित ठरविली व दोन शेताच्यामध्ये असलेल्या थोडेशा पाण्यामध्ये स्नान करून राधाकुण्डाचे महात्म्य वर्णिले. त्या दिवसापासून तेच राधाकुण्ड म्हणून प्रसिद्धिस आले. राधा-कुण्ड प्रसिद्ध केल्यावर प्रभु कुसुम-सरोवरावर आले व तेथे त्यांही गोवर्धन पर्वताचे दर्शन केले व ह्यांचे अंग त्यायोगे रोमांचित झाले. भूमीवर लोटांगण

घालून त्यांही गिरीराजास प्रणिपात केला. गोवर्धन पर्वत भगवन्ताचा अभिन्न विग्रह आहे. शास्त्रांत ह्यास भगवन्ताचे शरीरच म्हटले आहे. येथेच ब्रह्मकुण्डांत स्नान करून प्रभुंनी भिक्षा केली.

गोवर्धन पर्वतावर गोपाल भगवन्ताचे मंदीर होते, व ते श्रीमन्माधवेन्द्रपुरींनी उदयास आणले. त्यांचे दर्शनाची प्रभुस इच्छा झाली, परन्तु गिरीराजावर चढून जाण्याची त्यांची इच्छा नव्हती. तेव्हा गोपालभगवानाचे दर्शन कसे होईल याचा ते विचार करू लागले. सर्वान्तर्यामी भगवन्तांनी आपले भक्ताची इच्छा ओळखली. ते तर भावाचे भुकेले आहेत. त्यांना पर्वताच्या खाली उतरणे कांहीच नव्हते. त्यावेळीं गोपालभगवानाची स्थिती अस्थीर होती. मुसलमानाच्या उत्पाताच्या कारणाने ते इकडून तिकडे-तिकडून इकडे फिरत होते. कधी कोठे एकाद्या झाडींत पूजा होते आहे तर कधी एकादे गांवात हे विराजमान असत. हे तर व्रजवासी यांचे सखा-सुहृदय होते. ईश्वर या परमात्मा असतील तर ते शिव, ब्रह्मा अथवा लक्ष्मीचे असतील. व्रजांत तर ते, तोच जुना 'कान्हाच' आहेत. व्रजवासी गौळयांची मुले जेथे जात तेथे गोपालास बरोबर घेऊन जात. ह्या सुमारास गोपालभगवान गठौली नामक गांवात असल्याची माहिती मिळाली व त्यामुळे प्रभुंना फार आनन्द झाला. हा गाव पर्वताच्या पायथ्याशीच आहे. प्रभुंनी आपले साथीदारांसह गोवर्धनाची सात कोशाची प्रदक्षिणा केली व ते गठौलीस आले. मंदीरांतील ती मन-मोहिनी गोपालभगवन्तांची मूर्ति पाहताच प्रभुंना फार आनन्द झाला व त्यांही संकीर्तन व नृत्य करणे सुरू केले. या ठिकाणीं तीन दिवस राहिल्यावर महाप्रभु नन्दीश्वर, पावन-सरोवर, शेषशायी, लक्ष्मी, खेलातीर्थ, भांडीरवन, भद्रवन, लोहवन, गोकुल, महावन, आदि भगवन्ताच्या लीलास्थलींचे दर्शन करीत पुन्हा मथुरेस परत

आले व त्याच ब्राह्मणाचे घरीं उतरले. तेथे नगरवासीजनांची फार गर्दी होतेसे पाहाताच प्रभु अक्रूर घाटावर एकान्त पाहून तेथे राहू लागले. तेथून वृन्दावनास जाऊन प्रभुंनी कालीह्रद, प्रस्कन्दनक्षेत्र, द्वादशादित्य, केशीतीर्थ, रासस्थली आदि पुण्यतीर्थांची दर्शने केली. येथेहि पुष्कळ लोक प्रभुंच्या दर्शनासाठी येऊ लागले. तेव्हा हे आता वृन्दावनांत यमुना किनारी एकान्तात राहू लागले. ह्या ठिकाणीं कृष्णदास नांवाचा एक रजपूत क्षत्रिय प्रभुना शरण आला व घरदार सोडून प्रभुंच्या संगतीतच राहू लागला.

महाप्रभु प्रतिदिनी वृन्दावनांत स्नान-जपांतून निवृत्त झाल्यावर अक्रूर तीर्थास येत असत. ग्रामवासी ब्राह्मण व इतर द्विजातीय लोक नित्य भिक्षेसाठी प्रभुंना आग्रह करीत असत. ह्याच ठिकाणीं डुबकी मारताच अक्रुरास भगवन्ताचे दर्शन झाले होते. ह्या गोष्टीचे जेव्हा प्रभुंना स्मरण होत असे तेव्हा त्यांची दशा अगदी विचित्र होई व ते तात्काल यमुनेत उडी घेत, म्हणून भट्टाचार्यांना ह्यांची फारच काळजी घ्यावी लागत असे. ह्या कारणाने त्या ब्राह्मणाच्या संमतीने प्रभुंना परत घेऊन जाण्याचा त्यांही निश्चय केला व प्रभुस म्हटले–'प्रभो! येथे आता एकान्त राहिला नाही, निमन्त्रणेहि फार येऊ लागली आहेत, आपलीहि येथे विचित्र दशा होते, तेव्हा माझी अशी विनंती आहे कीं, आपण येथून आताच चलावे. माघांतील मकर-संक्रमणहि जवळ आलेले आहे, ह्यावेळीं गेल्यास प्रयागास मकर-स्नानहि करता येईल. या उपर जशी प्रभुंची आज्ञा!'

प्रभुंनी फार प्रेमाने म्हटले–'भट्टाचार्य महाशय, तुमच्याच कृपेने मला भगवन्ताच्या पुण्य-लीला स्थलीचे दर्शन घडले, तुम्हीच मला वृन्दावनाचे दर्शन करवून माझे ह्या जन्माचे सार्थक केले, तेव्हा हे

शरीर तुमचेच आहे, तुम्ही ते वाटेल तेथे घेऊन चला, माझी त्यास कांहीच हरकत नाही'.

प्रभुंच्या संमतीने सर्वांना बरे वाटले. तो रजपूत ठाकूर व तो साधु ब्राह्मणहि ह्यांचे बरोबर येण्यास सिद्ध झाले. भट्टाचार्यासह चौघेहि मथुरेस आले व तेथून यमुना उतरून प्रयागाच्या दिशेने निघाले. व्रजभूमिचा परित्याग करताना प्रभुंना अपार दुःख झाले. ते शोकाने विव्हल होऊन जमीनीवर धाडकन पडले व बरेच वेळपावेतो अचेतनावस्थेतच होते. जेम तेम प्रयत्न करून तिघांनी प्रभुंना सावध केले व त्यांना बरोबर घेऊन पुढे निघाले.

# पठाणास प्रेम-दान व प्रयागास प्रत्यागमन

मलयाचलगन्धेन त्विन्धनं चन्दनायते ।
तथा सज्जनसंगेन दुर्जनः सज्जनायते ॥

यमुना उतरून प्रभु अनिच्छापूर्वक चालत होते. वृन्दावनाची पुण्यभूमि सोडण्याने त्यांना अपार दुःख होत होते. भट्टाचार्य आदि त्यांचे साथी त्यांना हाताने धरून चालत होते. महाप्रभु फार वेळ चालु शकले नाही. एक घनदाट वृक्ष पाहून त्याच्या छायेंत हे आपले साथीदारासह बसले. जवळच कांही गाई चरत होत्या व त्यांचे रक्षक गोपाळ-बाल खेळत होते. व्रजमंडलांतील अगदी न शिकलेली गवळयाची मुले सुद्धा श्रीकृष्ण-लीलेचीच गाणी गाताना ऐकण्यांत येते. ऐकता ऐकताच त्यांतून जणू काय रस टपकू लागतो. कांही गोपाळ-बाल असेच कांही गीत गात होते व बांसरीहि वाजवीत होते. हे ऐकताच प्रभुहि नाचु लागले व नाचता नाचता भानरहीत होऊन जमीनीवर पडले. इतक्यांत कोणी मुसलमान राजपुत्र आपले धर्मगुरुसह, कांही घोडेस्वार बरोबर आहेत असा, तेथे येऊन पोचले. त्यांतील एकाने प्रभुंना पाहिले. महाप्रभुंच्या मुखांतून फेस निघत असून त्यांचे नेत्र वर चढून गेलेले होते. प्रभुंचीहि दशा पाहताच त्याने हे आपले स्वामीस कळविले. सर्व स्वार घोड्याच्या खाली उतरले. प्रभुंचे रूप-लावण्ययुक्त मुख पाहून सर्वांना प्रभुविषयीं एक प्रकारे प्रेम उत्पन्न झाले. ह्या संन्याशाजवळ कांही द्रव्य असले पाहिजे व त्या लोभाने ह्याच्या जोडीदाराने ह्यांना कांही खाऊ घातले असावे. ह्या विचाराने त्या स्वारांनी सर्व साथीदारांना बांधले व म्हणू लागले कीं–'येथेच ह्यांचा शिरच्छेद करा'.

भट्टाचार्य विचारा कापू लागला. त्या मथुरेच्या साधु ब्राह्मणाने म्हटले–'आम्ही येथीलच आहोत, आपण आम्हास अधिकाऱ्याकडेस न्यावे, तेथे आम्हास ओळखणारे पुष्कळ आहेत. आम्ही असे कधी करणार नाही'. तो रजपुत म्हणाला–'आम्हास तुम्ही ओळखले नाही. आम्ही रजपूत आहोत रजपूत. शस्त्र हातांत घेऊन लढाई करणेच आमचे नित्याचे काम आहे'.

ह्या बोलण्याने ते लोक कांहीसे विचारांत पडले व ते पीरसाहेब आपले धर्मगुरुकडे पाहू लागले. पीरसाहेबांनी शांतपणे विचारले–'आम्हास हे सांगा कीं, हा इतका सुन्दर तेजस्वी, गंभीर युवक संन्यासी बेसावध कां पडलेला आहे?'

कृष्णदासाने सांगीतले–'हे आमचे गुरु आहेत, ह्यांना फेफऱ्याचा रोग असल्याने कधी कधी असे होते'.

कृष्णदास हे सांगत आहेत तोच प्रभु सावध झाले व उठून उभे राहून नृत्य करू लागले. तेव्हा राजकुमाराने विचारले–'साधू महाराज! आपण आतापर्यन्त बेहोश कां पडला होता? वाटते आपले साथीदारांनी आपणास कांही तरी खाऊ घातले असावे! आपले पैसे-टके तपासून पाहा. ह्यांना आपण सांगाल ती शिक्षा करण्यांत येईल'.

प्रभुंनी अगदी सरळपणे सांगीतले–'महाराज! हे माझे जोडीदार माझे दुसरे शरीरच आहेत. ह्यांच्याच कृपेने मी व्रजमंडळाची यात्रा करू शकलो. मी भिक्षुक संन्यासी असून कामिनी-कांचनाचा कधीहि स्पर्श करीत नाही. मला कांही खाऊ घालण्याने ह्यांना काय मिळणार होते? मला फेफरे येते. त्यामुळे मी बेहोश झालो होतो'. प्रभुंचे हे म्हणणे ऐकून सर्वांना त्यांही बन्ध-मुक्त केले.

आता प्रभुंच्या व त्या राजकुमाराचे धर्मगुरुच्या परस्परांत कांही धार्मिक गोष्टी होऊ लागल्या. तो यवन-राजकुमार फारच सहृदय सुशील, शान्त व कोमल प्रकृतीचा असल्याने प्रभुच्या दर्शनाचा त्याजवर फार प्रभाव पडला. तो प्रभुचा सरळपणा, भाविकपणा व तन्मयता पाहून अगदी मुग्ध झाला व अन्तःकरणाने तो त्यांचेवर प्रेम करू लागला. पीरसाहेब पण धर्मान्ध नव्हते. त्यांचे मनांत सदसद्विवेक, विचार प्रभु-प्रेम आदि समजण्याची शक्ति होती. प्रभुच्या ह्या प्रेमाच्या गोष्टी ऐकून तो आपले इस्लामीपणाचा आग्रह सोडून प्रभुंना शरण आला व त्याने प्रभुंचे पाय धरून म्हटले–'आपण खरोखर नारायण आहा, आपले दर्शनाने मला खरी शान्ती लाभली. आपण मला माझे उद्धाराचा कांही रस्ता दाखवा. मी माझे मिथ्याभिमानांत विनाकारण गुरफटलेलो आहे'.

प्रभुंनी म्हटले–'आपले अन्तःकरण शुद्ध आहे, त्यांत अभिमान राहूच शकत नाही. अन्तर्यामी भगवान सर्वांच्या अन्तर्यामांतील गोष्टी जाणतो. तो सर्व शक्तिमान् व सर्व कांही करण्यांस समर्थ आहे. त्यास कोणत्याहि नावाने बोलवा, त्याच्या कोणत्याहि रूपाचे शुद्ध मनाने ध्यान करा, त्याने तो प्रसन्न होतो. जगतांत जितकी नाम-रूपे आहेत, ती सर्व त्याचीच आहेत. त्यावाचून नाम-रूपाची प्रतीतीच होऊ शकत नाही. भगवन्तास दास्य-भावाने भजले पाहिजे. आपणास गुरू, आचार्य वा शिक्षक न समजले पाहिजे'.

झाले, त्याचवेळीं तो 'कृष्ण, श्रीकृष्ण' म्हणत नृत्य करू लागला. राजकुमाराचे मन तर प्रथमपासूनच प्रभुंच्या ठायीं रंगले होते. आपले गुरूचा त्याच्यावर प्रभाव पडून त्यानेहि गुरूचेच अनुकरण केले. प्रभुंनी

त्यांना प्रेमालिंगन दिले. त्यांही इसलामी धर्माची पद्धती सोडून वैष्णव-धर्म स्वीकारला. हे सर्वहि 'पठाण वैष्णव' ह्या नावाने प्रसिद्ध आहेत.

ह्याप्रमाणे पठाणांना प्रेम-दान करून प्रभु गंगा किनारा-किनाऱ्याने सूकरक्षेत्री पोचले व तेथून हे प्रयागास यथावकाश पोचले. तेथे पुन्हा संगमावर यमुनेचे दर्शन ह्याना झाले, तेथेहि हे संकीर्तन व नृत्य करू लागले. पुष्कळसे लोक प्रभुंच्या बरोबर नृत्य करीत होते व मुखाने—

**श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव।**

ह्या सुमधूर नामांचा घोष करून आकाश दुमदुमवीत होते.

# श्रीरूपास प्रयागांत महाप्रभुचे दर्शन

देशे देशे दुराशाकवलितहृदयो निष्कृपाणां नराणाम्
धावं धावं पुरस्तादतिकुमतिरहं जन्म संपादयामि ।

आधायाधाय राधाधव तव चरणाम्भोजमन्तःसमाधा-
वन्तेऽरण्येऽतिपुण्ये पुलकितवपुषो वासरान् वाहयन्ति ॥

गौडेश्वराचे मन्त्री रुप आणि सनातन-ह्या बन्धुद्वयांना पाठक विसरले नसतीलच. रामकेली गावीं प्रभुचे दर्शन करून नूतन जन्म मिळवून ते प्रभुची आज्ञा घेऊन गेले. प्रभुच्या दर्शनानेच ह्यांच्यांत दडून बसलेली भावुकता व भगवद्भक्ति एकदम प्रस्फुटित झाली. त्यांना आपले पूर्वकर्मांचा पश्चाताप झाला. साधु-संगाने मनुष्यास ह्या शरीराची सार्थकता कशांत आहे ह्याचा बोध होतो व तेव्हाच त्यास आपले गत-जीवनाच्या निरर्थकतेचे भान होते. ज्या प्रतिष्टेसाठी व ज्या पदासाठी मनुष्य वाटेल ते करण्यास तयार होतो, तेच राज-मन्त्राचे पद ह्यांना बन्धनासारखे वाटू लागले. रूप तर परतून गौडदेशास गेलाच नाही. त्याने आपली धन-संपत्ति नौकेंत भरली व दहावीस नोकर बरोबर घेऊन तो आपली जन्म भूमि फत्तेहबाद येथे निघून गेला. तेथे त्याने आपले अर्धे धन ब्राह्मणास व गरीबास वाटून दिले, काही आपले परि-वारास दिले व दहा हजार रुपये गौडांत एका सावकाराकडेस जमा केले.

इकडे महाभाग सनातनाची स्थिति रूपापेक्षाहि विशेष विचित्र झाली. ते राजधानींत तर गेले, परन्तु त्यांचे राज-काजांत मुळीच मन लागेना. ह्यांची खात्री होती कीं, बादशहा आपणावर फार प्रेम करीत

आहे, तेव्हा मी एकदम त्यागपत्र (राजीनामा) दिल्यास, बादशहा ते केव्हाहि स्वीकार करणार नाही व अशा युद्धाचे वेळीं तो मला सोडणारहि नाही. ह्या सर्व बाबतींचा विचार करून ह्यांनी बादशहास सांगून पाठविले–'मी मांदा पडलो आहे, माझ्याने काम होणे शक्य नाही, तेव्हा मला कांही अवसर द्यावा'.

बादशहांना ह्यांचे मांदगीमुळे फार चिन्ता उत्पन्न झाली. त्यांही आपले दरबारांतील प्रधान म्हणजे मुख्य हकीमास ह्यांचे औषध-पाणी करण्यासाठी पाठविले. त्या बिचाऱ्यास ह्यांचे रोगाचे निदान कसे करता येणार? त्याने ह्यांचे शरीराची सर्व प्रकारे परिक्षा करून म्हटले—

'महाशय, मला तर आपले शरीरांत कांही रोग दिसत नाही!' हे ऐकून सनातनांनी मन्दस्मित केले व कांहीच उत्तर दिले नाहीं.

दरबारी हकीमाने हे सर्व बादशहास सांगीतले.

बादशहाने ह्यांना समजावून कामावर येण्यासाठी नाना प्रयत्न केले परन्तु त्याचा कांहीच उपयोग झाला नाही. बादशहाने ह्यांना बंदी-खान्यांत घातले.

आता दुसरे भावाची हकीकत ऐका. आपले भावास बन्दीत टाकण्याची हकीकत समजण्याचे पूर्वीच रूपाने प्रभुचे शोधासाठी दोन सेवक पुरीस पाठविले होते व प्रभु वृन्दावनास रवाना झाल्याचे जेव्हा त्यांही येऊन सांगीतले तेव्हा रूपानी आपला धाकटा बन्धु अनूप यास बरोबर घेऊन प्रभुच्या शोधासाठी ते उभयता वृन्दावनाकडेस निघाले. निघताना त्यांही एक पत्र सनातनास पाठवून कळविले कीं–'आम्ही श्रीचैतन्याचे शोधासाठी वृन्दावनाकडेस निघालो आहोत, माझे आता

येथे राहाणे अशक्य झाले आहे. आपण कांहीहि काळजी करू नये. मंगलमय चैतन्य आपले कल्याण करील व तो आपणास ह्या कारागृहाचे बन्दीवासांतून व संसारी बन्धनांतूनहि उन्मुक्त करील म्हणजे सोडवील. आमूक सावकाराचे पेढीवर मी आपणासाठी दहा हजार रुपये जमा ठेविलेले आहेत, त्याचा कारागारांतून मुक्त होण्याचे कामी उपयोग होण्यासारखा असल्यास करावा व होईल त्या उतावळीने वृंजास येऊन श्रीचैतन्याचे दर्शन करावे. हे पत्र गुप्तरीतीने मी पाठविले आहे. ईश्वर आपले भले करो!' पत्र सनातनास पोचताच, ते कारावासांतून सुटण्याच्या विचारास लागले.

तिकडे रूप व अनूप काशीहून प्रभुंच्या शोधासाठी प्रयागास आले. हे उभयता प्रयागाचा प्रतिष्ठानपुर (झूसी) घाट ओलांडून वर्तमान दारागंजांत आले. तेथे त्यांना अनेक मंडळीनी घेरलेले महाप्रभु चैतन्य-देवाचे दर्शन झाले.

महाप्रभु प्रेमाने नृत्य करीत भक्तांसह वेणी-माधवाचे दर्शनास चालले होते. हे दोघे बन्धुहि त्या गर्दीच्या बरोबरच निघाले. वेणी-माधवाचे दर्शन करून प्रभु परत फिरले, तेव्हा एका दक्षणी ब्राह्मणाने प्रभुंना भिक्षेचे आमन्त्रण केले. महाप्रभु त्या ब्राह्मणाचे घरीं जाताच हेहि मागोमाग त्या घरांत घुसले. त्या ब्राह्मणाने घराच्या बाहेरील लहानशा उद्यानांत दगडी चौरंगावर प्रभुसाठी आसन घातले होते, प्रभु त्यावर बसून त्या वाटीकेची शोभा अवलोकन करीत होते, तोच ह्या दोघांनी येऊन प्रभुच्या पाद-पद्मीं मस्तक ठेविले. प्रभु एकदम उभे झाले व त्यांही ह्या दोघांना छातीशी घट्ट आवळून धरले व त्यांचे मस्तकावर ते हात फिरवू लागले.

प्रभु बसल्यावर त्यांच्या पायाजवळ बसून रूपांनी आपला बन्धु अनुपची ओळख करविली व सनातनांचा समाचार विचारला. रूपांनी सर्व वृत्तान्त निवेदन केला व नंतर म्हटले–'प्रभो! ते श्रीचरणाचे दर्शनासाठी कारावासाचे कृष्ण-कोठडींत पडून तळमळत आहेत'.

प्रभु हसत म्हणाले–'आता त्यांना कारावास कशाचा? आता तर ते सुटलेहि असतील. ईश्वर करील तर ते लवकरच तुमचे भेटीस येतील. तुम्ही आता कांही दिवस येथेच थांबा'. असे म्हणून प्रभुनी आपले जवळच त्याचे राहाण्याची सोय करून दिली. बलभद्राने ह्या दोघांच्याहि भोजनाचा प्रबन्द केला व प्रभुंचा प्रसादहि ह्यांना दिला. ह्याप्रमाणे हे दोघेहि बन्धु प्रभुच्या सेवेंत आनन्दाने राहिले.

# महाप्रभु वल्लभाचार्य

श्रीमदाचार्यचरणं पुष्टिमार्गप्रचारकम् ।
वल्लभं गोपवंशाख्यं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥

आम्ही पूर्वीच सांगून चुकलो आहोत कीं, पुष्टिमार्गीय संप्रदायाचे प्रवर्तक भगवान् श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु चैतन्यदेवाचे समकालिनच होते. ह्या उभय महापुरुषांच्या जीवनांत पुष्कळ साम्य आहे. दोघेहि भगवन्ताचे महान् भक्त होते. दोघेहि लोक-शिक्षक आचार्य होते. दोघेहि भक्तिमार्गाचे प्रवर्तक असून ते आप-आपले संप्रदायांत भगवन्ताचे अवतार मानले जात होते. दोघांनाहि 'महाप्रभु' म्हणत असत. दोघांच्याहि जन्मांत आगेमागे सहा वर्षांचे अन्तर आहे. भगवान् वल्लभाचार्य महाप्रभुचे सहा वर्षे पूर्वी ह्या अवनीतलावर अवरित झाले व दोन-अडीच वर्षे पूर्वी तिरोभावाप्रत प्राप्त झाले. दोघांच्याहि जीवनांत त्याग, वैराग्य व प्रेमाचे भाव पूर्णरीत्या विकसित झालेले होते. दोघांनीहि आपले महान् प्रेमप्रभावाने प्रेमामृतरूपी भक्ति-रसाच्या योगे पृथ्वी हलवून (परिप्लावित) सोडली. दोघेहि नम्र, रसीक, गुणग्राही, शान्त, अदोषदर्शी व प्रेमोपासक होते. दोन वेळा ह्यांचा एकमेकाशी समागम झाला होता, परन्तु ह्याचे निष्पक्ष विवरण प्राप्त झालेले नाही. तरीपण इतके समजले आहे कीं, ह्या उभयतांत फार स्नेह होता. कां असणार नाही ! जे जगतास आपले प्रेमामृताने अमर करू शकतात, ते आपसांत संकुचित वा विद्वेषयुक्त भाव ठेवणारच कसे ? प्रसंगवश भगवान् वल्लभाचार्याचा संक्षेपाने परिचय करून देणे अवश्यक आहे.

महाप्रभु वल्लभाचार्याचा जन्म भारद्वाजगोत्रीय-तैतरीय शाखा-शुक्ल यजुर्वेदीय शुद्ध व कुलीन ब्राह्मण-वंशांत झाला. ह्यांचे पूर्वज भट्ट उपाधि-

धारी दक्षणी ब्राह्मण होते. ह्यांचे कुल बेलनाट ह्या नावाने प्रसिद्ध होते. ह्यांच्या पित्याचे नाव लक्ष्मण भट व मातेचे नाव यल्लमागारू होते. आन्ध्रदेशांत व्योमस्थम्भपर्वताचे जवळ कृष्णा-नदीचे दक्षिण तटाकी काकरवाड नामक नगरांत राहात होते. पुढे ह्यांचे पूज्य पिता अग्रहार नावाचे गांवी येऊन राहू लागले.

श्रीलक्ष्मण भट एकदा सपत्निक तीर्थ-यात्रेच्या निमित्ताने काशीस आले व तेथेच हनुमान घाटावर एक घर घेऊन राहू लागले. त्यावेळीं काशींत असाच एक मोठा लढा सुरू होता म्हणून भट्ट महोदय आपले पत्निसहीत स्वदेशी परत येण्यास निघाले. वाटेंत चंपारण्याचे समीप चोडा-नगर (चतुर्भद्रपूर) येथे महाप्रभु प्रादुर्भूत झाले. पित्याने चंपारण्याहून सामुग्री आणून पुत्राचे यथोचित जातकर्मादि संस्कार केले व पुन्हा काशींतच येऊन राहू लागले. महाप्रभु वल्लभाचार्यांचा जन्म वैशाख कृष्ण ११ संवत १५३५ (शके १४००) ह्या दिवशीं रात्रौ झाला. पाच वर्षांची अवस्था झाल्यावर पित्याने ह्यांचा यज्ञोपवीत संस्कार केला. तेव्हापासून हे वेद-शास्त्राची शिक्षा घेऊ लागले. ह्यांचे अकरावे वर्षी ह्यांचे पिता परलोकवासी झाले. तेव्हा हे आपले मातेसह, कांईक शिष्य बरोबर घेऊन स्वदेशी गेले. इतक्या ह्या लहान अवस्थेंत ह्यांनी विद्यानगराच्या राजसभेंत पंडिताच्या बरोबर शास्त्रार्थ करून विजय प्राप्त केला व 'आचार्य' पद मिळविले. विद्यानगराच्या महाराजांनी ह्यांचा उत्तम सन्मान केला. ह्यायोगे ह्यांची ख्याति सर्वत्र पसरली. नंतर आपले पुष्कळशा अनुयाया-सह विद्यानगराहून कन्याकुमारी, पंढरपूर आदि क्षेत्रांची ह्यांनी यात्रा केली. पंढरपुराहून हे नाशिक, त्र्यंबक, नर्मदातट, ओंकारेश्वर, माहि-ष्मति, उजनी, सिद्धवेट, चैद्यपूर, दतिया, ग्वालियर, धोलपूर, आदि ठिकाणीं आपले प्रतिपक्षास पराजित करीत, राजसभेंत सन्मान प्राप्त

करून मथुरेहून गोकुळांत आले. ह्याच ठिकाणीं ह्यांनी भक्तिमार्गाचा प्रचार करावा अशी ह्यांना भगवन्ताची आज्ञा झाली व स्वप्नांत ह्यांना भगवन्ताने गद्यात्मक मन्त्रोपदेश केला, ज्यायोगे जीवाचा ब्रह्माचे बरोबर संबंध जोडला जातो. ह्याच ठिकाणीं ह्यांचे कांही शिष्य झाले व येथेच राहून शास्त्र-प्रणयन हे करू लागले.

ह्यानंतर ह्यांनी सर्व व्रजमंडलाची यात्रा केली. पुढे हे भक्ति-मार्गाचा प्रचार करण्यासाठी गुजराथ, काठीयावाड, सिंध आदि ठिकाणीं फिरले. ह्या ठिकाणीं हजारो सोनार, भाटिये, बनिये, ह्यांचे शिष्य झाले व ह्यांचा सत्कारहि ह्या लोकांनी चांगले प्रकारे केला. नंतर ह्यांनी उत्तर व पूर्व दिशेकडील यात्रा केल्या व जगन्नाथाचे दर्शन करून हे आपले अग्रहार ह्या गावीं परत आले.

कांही काल अग्रहार येथे राहिल्यावर पुन्हा भारत-यात्रा करण्याचे ह्यांनी ठरविले व हे मंगलप्रस्थ, विद्यानगर, लोहगढ इत्यादि ठिकाणाहून पंढरपुरास आले व येथे ह्यांनी पंढरीनाथाचे दर्शन केले. हा वेळपावेतो हे जटा, दण्ड, मेखला, कृष्णाजिन आदि ब्रह्मचाऱ्याची चिन्हे धारण करीत होते. ह्याच ठिकाणीं भगवन्तांनी ह्यांना विवाह करण्याची आज्ञा केली. भगवन्ताच्या आज्ञेचा ह्यांनी स्वीकार केला. येथून गुजरात, काठीयावाड इत्यादि ठिकाणीं फिरून आपले शिष्य-सेवकांस उपदेश करीत हे पुष्करास आले व तेथून पुन्हा हे व्रजांत गेले. गोवर्धन येथे गोवर्धननाथाचे प्राकट्य झालेले होते. येथे सेवा-पूजा करून ह्यांनी येथील काम श्रीमन्माधवेन्द्रपुरींना सोपले. पुन्हा उत्तरची यात्रा करून जगन्नाथाचे दर्शन घेतल्यावर हे काशीस येऊन राहिले.

येथे ह्यांनी भगवत्-आज्ञेनुसार आपले सजातीय देवभट ब्राह्मणाची

सर्वगुणसंपन्न कन्या लक्ष्मीदेवी हिच्या बरोबर विवाह केला. कांही दिवस काशीस राहिल्यावर हे पुन्हा गोकुलास आले. पुन्हा फिरत फिरत शेवट हे प्रयागास आले व तेथे संगमाचे पलीकडील तटावर गंगाकिनारी अरैली नामक गावीं घर करून राहिले. ह्यांचा शिष्य-संप्रदाय वर्ग धनिक असल्याने ह्यांना द्रव्याची कमतरता नव्हती व त्याचा ते धर्मार्थव्यय करीत होते. काशीस ह्यांनी आपले मातेचे आज्ञेने तीस हजार ब्राह्मणास श्रद्धापूर्वक भोजन घातले होते.

ह्यांना गोपीनाथजी व विठ्ठलनाथजी असे दोन पुत्र झाले. शेवट ह्यांनी काशीस भागवताच्या रीतीने संन्यास धारण केला. घरदाराचा परित्याग करून, शिखासूत्र, दंड, कमंडलु सहीत काषायवस्त्र धारण करून हे भिक्षेवर आपला निर्वाह करू लागले. इतकी अवाढव्य संपत्ति, जग-विख्यात प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र व शिष्य-परिवार इत्यादिचा एकदम त्याग करून हे सदैव आर्चा-पूजा, नाम-संकीर्तन ह्यांतच गढलेले असत. ह्या-प्रमाणे ह्यांनी आपले परम त्यागमय जीवनाने आपले शिष्य-प्रशिष्य व वंशजास त्यागाचा आदर्श दाखवून संवत् १५८७ चे आषाढ शुद्ध तृतीयेस हे हा अपार संसार सोडून वैकुण्ठवासी झाले.

महाप्रभु वल्लभाचार्य विशेषत: गोकुल, अरैल, चुनार व काशीस राहात होते. ह्या चारहि ठिकाणीं ह्यांची बैठक आतापर्यन्त आहे. 'महा-प्रभुंची बैठक' या नावाने प्रसिद्ध आहेत.

ह्यांनी आपला सिद्धान्त समजाविण्यासाठी अनेक ग्रन्थ लिहिलेले आहेत. त्याचप्रमाणे पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा व श्रीमद्भागवतावर उत्तम भाष्ये लिहिली आहेत. आपले ह्या सर्व ग्रन्थाचे सार ह्यांनी पाच श्लोकांत वर्णिले आहे. पुष्टिसंप्रदायी ह्या पाच श्लोकास भक्ति-प्रकरणाचे सन्दोहन समजतात—आचार्य आज्ञा करतात—

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्युक्तुं न शक्यते ।
कृष्णार्थं तत्प्रयुंजीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः ॥

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्युक्तुं न शक्यते ।
ससद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः संगस्य भेषजम् ॥

भार्यादिरनुकुलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाः ।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत् ॥
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतः विष्णुपराङ्मुखाः ।

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलविसर्जनम् ॥
रक्षिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं यथा ।
आत्मनैवेद्यकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

ह्याचा अगदी स्पष्टार्थ असा—

१ सर्वोत्तम गृहत्याग–असमर्थावस्थेंत घरांत राहूनच कृष्णप्रीत्यर्थ भगवत्-सेवारूपीं कामे करणे.

२ सर्वसंग परित्याग–असमर्थ असल्यास साधु–संग करणे.

३ भगवत्-सेवेचा अनुकूल भाव व पदार्थांचे ग्रहण, प्रतिकुलांचा परित्याग.

४ जर परिवार अनुकूल असेल तर त्यांत राहून, नसल्यास परित्याग करून एकान्त भावाने भगवत्-सेवा-पूजा करणे.

५ प्रभुंच्या ठायीं दृढ विश्वास.

६ आत्मनिवेदन पूर्वक गुण व दीनता धारण करणे.

किती उच्च व सर्वसम्मत सिद्धान्त आहेत. इतक्या स्पष्टते नन्तरहि कोणी शंका काढील व आपले म्हणण्याच्या पुष्ठ्यर्थ त्यागाचे आड

दडून जन्मभर विषय-भोगण्याचेच समर्थन करील तर त्यास उपाय काय? भगवन्ताचे शब्दांत आम्ही हेच म्हणू कीं, 'मम माया दुरत्यया'.

ह्याप्रमाणे श्रीचैतन्याचे समकालींनच असून गोकुलांत राहून भगवान् वल्लभाचार्यांनी बालकृष्णाचे पूजा-पद्धतिचा प्रचार केला. ज्यावेळीं महाप्रभु गौराङ्गदेव, रूप-अनूप यांच्यासह प्रयागास राहिले होते, त्यावेळी भगवान् वल्लभाचार्य अरैलीसच विराजमान होते. महाप्रभुचे भक्ति-भावाची प्रशंसा ऐकून ते ह्यांना स्वतः भेटण्यासाठी आले होते, त्याचे वर्णन पाठक पुढील अध्यायांत वाचतील.

# महाप्रभु वल्लभाचार्य व महाप्रभु गौराङ्गदेव

श्रीगौरवल्लभभगवत्परायणौ
महाप्रभु भक्तिप्रियौ सुनायकौ ।
भक्तिपरौ कृष्णकथातिगायकौ
भक्तिविहीनस्य प्रसीदतां मे ॥

महाप्रभु गौराङ्गदेव आपले सुमधूर संकीर्तन व उद्दण्ड नृत्याने प्रयागवासी नर-नारीना पावन व प्रसन्न करीत कांही काल त्रिवेणी तटाचे समीपच राहिले. त्यानन्तर तेथे विशेष गर्दी होऊ लागल्याने एकान्तासाठी हे दारागंजांत दशाश्वमेध घाटाजवळ राहण्यास आले. प्रभुंची प्रसिद्धि प्रयागांत पसरल्याने येथेहि लोकांची गर्दी होऊ लागली. भगवान् वल्लभाचार्यांनीहि महाप्रभुंची कीर्ति ऐकली ते स्वतः आपले कांही शिष्यगणासह ह्यांचे दर्शनासाठी आले. येताच संन्यासी ह्या नात्याने त्यांही ह्यांना प्रणाम केला व ते एकाबाजूस जाऊन बसले. महाप्रभुंनीहि ह्यांची ख्याति प्रथम पासून ऐकलेली होती व जेव्हा ह्यांना समजले कीं, हेच आचार्य शिरोमणि वल्लभभट आहेत तेव्हा तर ह्यांनी त्यांना कडकडून आलिंगन दिले व त्यांची ह्यांनी फार फार प्रशंसा करण्यास प्रारंभ केला.

थोडे वेळाने प्रभुंनी आपले जवळच बसलेले रूप व अनुप ह्यांची भेट करविली, तेव्हा आचार्य ह्या दोघांना आलिंगन देण्यास पुढे सरकले, तोच, हे दोघेहि मागे सरकत अगदी दीनता दर्शवीत म्हणाले— 'भगवन्! आपण आम्हास स्पर्शहि करू नका, आम्ही ब्राह्मण-कुलांत उत्पन्न होऊनहि, यवनाच्या संसर्गाने यवनच झालो आहोत, आचारहि आमचे यवनासारखेच झालेले आहेत, आपण आचार्य आहात, कुलीन ब्राह्मण आहात, पंडित, लोकपूज्य आहात, तेव्हा आपले स्पर्शास आम्ही

अपात्र आहोत'. इतके म्हणत ते पलिकडे झाले व आचार्यांना प्रणाम करू लागले.

आचार्यांनी ह्यांची अशी विलक्षण शालीनता, नम्रता व दीनता पाहून आश्चर्यचकीतपणे श्रीमद्भागवतांतील 'अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्' हा श्लोक म्हटला व त्यांना आलिंगन देऊन ह्यांची त्यांही प्रशंसा केली.

ह्यानंतर आचार्यांनी महाप्रभुंना आपले घरीं येऊन भिक्षा करण्याची प्रार्थना केली. प्रभुंनी आपले साथीदारासह हे निमन्त्रण स्वीकारले व आपले भक्तांसह हे जाण्यास निघाले. यमुना उतरून अरैलास जावे लागते. श्रीमद्वल्लभाचार्यांनी एक नौका मागवून तीवर सर्वांना बसविले व हे आपणहि एक बाजूस बसले. यमुनेचे मेघवर्ण श्याम रंगाचे सुन्दर सलील पाहताच प्रभुंनी भावावेशांत येऊन नौकेवरच नृत्य करण्यास प्रारंभ केला. नौका डगमगू लागली. सर्वजण घाबरले परन्तु प्रभुंचे नृत्य चालुच होते व ते चालु असताच प्रेमांत उन्मत्त होऊन हे यमुनेंत कुदून पडले व जोराचे प्रवाहांत वहात जाऊ लागले. सर्वजण घाबरले. महाप्रभुचे सुवर्णासमान शरीर यमुनेच्या नीलजलांत खालीवर होत असताना फार छान दिसत होते. महाप्रभु प्रवाहांत वाहात चालले, नावाडी पाण्यांत कुदून पडले व महाप्रभुंना त्यांही धरून नावेवर चढविले. थोडे वेळाने सर्वजण अरैल येथे पोचले.

आचार्यांचे शिष्यांनी व ग्रामवासी यांनी प्रभुंचे फार स्वागत केले. आचार्यांनी श्रद्धापूर्वक महाप्रभुंची अभ्यर्थना केली व त्यांना प्रेमपूर्वक भिक्षा करविली. नन्तर सर्व भक्तांनी प्रभु-प्रसाद घेतला. सर्वांचे भोजन झाल्यावर, आचार्य महाप्रभुचे समीप आले व अतिथि-सेवा-महत्व संरक्षण करण्यासाठी ते महाप्रभुचे पाद-संवाहनास उद्यत झाले. प्रभुंनी आपले

पाय अवरीत म्हणतात–'आचार्य! आपण मला लज्जित कां करीत आहा, आपण आचार्य, पूज्य, वयोवृद्ध व माझे पित्यासमान आहात, तेव्हा आपण हा असा अनर्थ कां करीत आहां?'

आचार्यांनी अगदी सरलपणे उत्तर दिले–'भगवन्! आपण संन्यासी असल्याने आश्रमगुरू आहात व त्यांही उपरांत आपण अतिथी म्हणून माझे घरीं आला आहात. चांडाल अतिथीस सुद्धा नारायण स्वरूप समजून पूजावे अशी शास्त्राज्ञा आहे. आपले पादचर्येने मी कृत-कृत्य होईन'.

स्वाभाविक नम्रतेने महाप्रभु म्हणाले–'आचार्यदेव! आज आपले घरील भगवत् प्रसाद सेवन करून फारच सन्तुष्ट झालो आहे. आपल्या सारख्याचेकडील अतिथ्याग्रहणाचा सुअवसर मला लाभला हे माझे महद्भाग्य मी समजतो'. ह्याप्रमाणे त्या दोघा महापुरुषांमध्ये पर-स्परांची स्तुति चालु होती. नन्तर आचार्य प्रभुंची आज्ञा घेऊन भोजनास गेले, व पुन्हा भोजनोत्तर प्रभुजवळ येऊन कृष्ण-कीर्तन करू लागले.

त्याचवेळीं तिरुहुत निवासी एक मैथिली ब्राह्मण रघुपति उपाध्याय-प्रभुंच्या दर्शनासाठी तेथे आला. तो उत्तम कवि असून साधु-महात्म्यांच्या ठिकाणीं त्याचा अनुराग होता. प्रणाम करून तो एका बाजूस बसला. परिचय करून घेतल्यावर त्यास प्रभु म्हणाले–'ऐकले आहे कीं, आपण मोठे कवि आहात. खरे म्हणजे तेच काव्य, काव्य म्हटले जाते कीं, ज्यांत श्रीकृष्ण-लीला व गुणांचे वर्णन केलेले आहे. आपले कांही स्वरचित श्रीकृष्ण-लीलेचे श्लोक ऐकवा'.

दोन्ही हात जोडून फार लीनतेने उपाध्याय कवि म्हणतात–'प्रभो!

कविता मी काय समजणार ? अशीच इकडची तिकडची पदे जोडून घेतो; श्रीकृष्ण-लीला तर अवर्णनीय आहेत. एक पद म्हणतो, आपणास आवडेल कां नाही कोण जाणे !' असे म्हणून त्यांनी पुढील पद गाण्यास सुरूवात केली—

**श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः ।**
**अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥**

हा श्लोक ऐकताच प्रभु आडवे झालेले एकदम उठून बसले व उपाध्यायांना आलिंगून म्हणतात–'वाहवा! वाहवा! धन्य आहे! अहाहा! नन्दांच्या भाग्याची बरोबरी कोण करू शकणार ? कसे म्हटले –'अहमिहनंन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म', खचित फारच सुन्दर श्लोक. आणखी कांही असाच ऐकवा'.

कवीच्या कवितेची यथोचित प्रशंसा केली कीं, त्यास परमानन्द प्राप्ति झालीच म्हणून समजावे. यथोचित प्रशंसा हाच पद्याचा सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार आहे. उपाध्याय म्हणू लागले—

**कम्प्रति कथयितुमीशे सम्प्रति को वा प्रतीतिमायातु ।**
**गोपतितनयाकुंजे गोपवधूटीविटं ब्रह्म ॥**

प्रभु प्रसन्नतेने म्हणतात–'कविवर महोदय! आपले प्रखर प्रतिभेची प्रशंसा करणे बुद्धिच्या पलीकडील गोष्ट आहे. मी आपणास विचारतो कीं, सर्व रूपांत सर्वश्रेष्ठ रूप कोणते?'

उपाध्यायांनी म्हटले–'प्रभो! सावळ्याची श्याम रंगाची मनमोहिनी सूरतच मी सर्वश्रेष्ठ समजतो'.

प्रभुने पुन्हा विचारले-'ठीक आहे, वासस्थानांमध्ये सर्वश्रेष्ठ वासस्थान कोणते?'

उपाध्यायांनी उत्तर दिले-'मधुपुरीचे माधुर्याचे सन्मुख सर्व वासस्थाने तुच्छ आहेत'.

प्रभुने विचारले-'हे तर सर्व ठीकच आहे, परन्तु भगवन्ताच्या बाल, पौगन्ड व किशोर-ह्यापैकीं कोणती अवस्था आपण उत्तम समजता?'

उपाध्यायाने गद्‌गद् कंठाने म्हटले-'प्रभो! हे तर कांही विचारण्याचे कारण आहे; त्या काळ्याची कमनीय कुमारावस्थाच परम-श्रेष्ठ आहे. ह्याचेच ध्यानाने तर मन आनन्दसागरांत उन्मत्त होऊन विहार करीत राहाते'.

प्रभुने पुन्हा विचारले-'झाले, एक गोष्ट आणखी सांगा. रसांमध्ये सर्वश्रेष्ठ रस कोणता?'

अत्यन्त दीनपणाने उपाध्याय म्हणतात-'प्रभो! ही सांगण्याची गोष्ट नाही, हा तर अनुभवगम्य विषय आहे. शृंगाराच्यापुढे सर्वश्रेष्ठ दुसरा रसच कोणता असू शकणार? दुसरे रस तर नाममात्राचेच आहेत. वास्तविक रस म्हणता येईल, असा आदि रस शृंगारच होय'. प्रभु प्रेमामध्ये अगदी उन्मत्त होऊन उपाध्यायास त्यांही आलिंगन दिले व श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीचा हा श्लोक म्हणू लागले—

**श्याममेव परं रूपं पुरी मधुपुरी वरा।**
**वयः कैशोरकं ध्येयमाद्य एव परो रसः॥**

ह्याप्रमाणे प्रभु व उपाध्याय ह्यांची प्रश्नोत्तरे ऐकून जमलेल्या सर्वांना फार आनन्द झाला. सायंकाल होण्याचा समय होत आला,

प्रभुंनी आचार्याजवळ जाण्याची आज्ञा मागीतली; ग्रामवासी ब्राह्मणांनीहि प्रभुंना भिक्षेचा आग्रह केला. तेव्हा आचार्य म्हणाले–'बाबांनो, ह्यांना येथे ठेवणे बरे नाही, हे प्रेमामध्ये येऊन यमुनेंत उडी घेतात. येथून यमुना समोरच आहे, तेव्हा जेथून मी ह्यांना आणीले आहे, तेथेच पोचवून येतो. नंतर ज्यांची इच्छा असेल त्यांनी ह्यांना घेऊन यावे'.

आचार्यांच्या ह्या म्हणण्याने सर्व चुप झाले. आचार्यांनी आपले स्त्री, पुत्रासह प्रभुंना प्रणिपात केला व त्यांना नौकेवर बसवून दशाश्वमेध घाटावर पोचवून आले.

# रूपाची विदाई व प्रभुंचे काशी-आगमन

यः प्रागेव प्रियगुणगणैर्गाढबद्धोऽपि मुक्तो
गेहाध्यासाद् रस इव परो मूर्त एवाप्यमूर्तः ।
प्रेमालापैर्दृढतरपरिष्वङ्गरङ्गैः प्रयागे
तं श्रीरूपं सममनुपमेनानुजग्राह देवः ॥

प्रयाग येथे आपला बन्धु अनूप यासह श्रीरूप हे दहा दिवसपर्यन्त प्रभुंच्या जवळ राहिले. हे विद्वान्, भाविक, बुद्धिवान् आस्तिक होते, त्याचप्रमाणे प्रेमावतार चैतन्यदेवाचे परम कृपा-पात्र होते. असे असल्यावर, बरे, ह्यांचे कल्याण होण्यांत सन्देह तो कसला ? एकवेळ ज्याचेवर गुरुंची कृपा झाली, तो नंतर ह्या नश्वर जगतांतील क्षणिक व अनित्य भोगांत सुखाचा अनुभव कसा घेणार ? हंस झाल्यावर तो मग कावळ्याचे भोजनाचा स्पर्श कां करील ? गुरुकृपेने काय होऊ शकत नाही ? एकदा कां होईना गुरुकृपा झाली कीं, तो किती कां महान् पातकी असेना, त्याचे संसार बन्धन बोलता बोलता छिन्न-भिन्न होऊन जाईल व नंतर तो गुरुच्या परम कृपेचा अधिकारी होईल. सद्गुरुच ईश्वर आहे, ब्रह्माच्या साकार स्वरूपाचे नावच ईश्वर आहे. अस्ति-मांसाचा पुतळा गुरु होऊच शकत नाही. सर्वशक्तिमानतेचे पद अत्यल्प जीवास प्राप्त होणारच कसे ! श्रीरूपाचे दृष्टिने श्रीचैतन्यदेव अस्ति-मांसाचे शरीरधारी जीव नव्हते. ते तर ह्यांना प्रेमाचे साकार स्वरूप होते, सविशेष ब्रह्म होते. त्यांही प्रभु अवतारी असल्याचे सिद्ध करण्याचा प्रयत्न केला नाही. आपले गुरुंना श्रीकृष्णाचा विग्रह समजूनच त्यांही श्रीकृष्णलीला कथन केल्या आहेत. त्यांचे दृष्टिस श्रीकृष्ण व

श्रीचैतन्य ह्यांचेत भेद दिसला असता तर, त्यांही श्रीचैतन्यदेव अवतार वा अवतारी होते हे सिद्ध करण्याचा प्रयत्न केला असता. लोक वाटेल ते समजो, त्यांना तर श्रीचैतन्यच श्रीकृष्ण होते. वास्तवीक हे सत्यहि आहे. जेथे भेदबुद्धि वास करते तेथेच अशा गोष्टींचा आग्रह धरला जातो. श्रीरूपाचे दृष्टींत हा भेदभाव नव्हता, म्हणूनच ते 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' ह्याचे मंगलाचरणांत लिहितात—

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि ।
तस्यहरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य ॥

ह्या दहा दिवसांतच बुद्धिवान् श्रीरूपाने प्रभुपासून भक्तिचे अत्यन्त गूढ रहस्य समजावून घेतले व त्याचे त्यांही अनेक आपले ग्रन्थांत वर्णन केले आहे.

महाप्रभु ह्यांचे हृदयांतील खरे प्रेम जाणत होते, म्हणून ह्यांना वैराग्याचा उपदेश करीत सांगू लागले–'रूप! पाहा, हे जगत् विषयभोगांत कसे वेडे झालेले आहे. पद, प्रतिष्ठा, पैसा, पुत्र, परिवार तथा आवडते पदार्थांच्या प्राप्तिच्या चिन्तेतच हे अमूल्य जीवन व्यतीत होऊन जाते. कामिनी, कांचन व कीर्ति ह्या तीन दोऱ्यांनी जीव करकचून बांधून ठेव-लेला आहे. ह्या कारणाने तो यत्किंचितहि इकडेतिकडे हलू शकत नाही. भगवंताच्या प्राप्तीचा मार्ग ह्या तिहीच्याहून निराळाच आहे. ह्या तिहीचा जेव्हा पुरुष मनाने त्याग करून टाकतो, तेव्हा तर तो ह्या मार्गाकडेस जाण्याचा अधिकारी होतो. ह्या तिहींतच ज्यांना सुख प्राप्ती असल्याचा भास वा झालीसे वाटते त्यास भक्ति कोठली? प्रभु-प्रेम कशाचे? अशी मंडळी तर भगवंताच्या संबंधाने एक शब्दहि काढण्यास अधिकारी नाहीत. जो स्वताच बांधला गेलेला आहे, त्याने न पाहिलेल्या मार्गाचे

वर्णन करणे म्हणजे केवल विनोदच. चव घेतल्यावाचून अमृताचा स्वाद कसा सांगू शकणार? चव घेतल्याधरहि नीटपणे सांगणे शक्य नाही, तेथे ऐकल्याने कोणी सांगू शकेल हे म्हणणेच व्यर्थ!

रूप! तुम्ही विचार करून पाहा, ज्या स्त्रीच्या मागे जग वेडे होते आहे, ती वास्तवतः काय आहे? ह्याच पंचभूतांची एक पुतळी मात्र आहे. कोण्या एका सुन्दरांतील सुन्दर स्त्रीस एकान्तांत अशा स्थितींत पाहा कीं, जेव्हा तिला संग्रहणीचा रोग झालेला आहे व तिच्याजवळ सेवा-सुश्रेस कोणीहि नाही, तेव्हा तुम्हास दिसून येईल कीं, तिचे सर्व शरीरास दुर्गन्ध सुटलेला आहे, तिचे वस्त्रास स्पर्श करण्यासहि मन धजणार नाही. तिचे नाकांतून दाट-दुर्गन्धयुक्त मल वाहातो आहे, सारखी परसाकडे होत असल्याने तिचे गुलाबासारखे मुख सुकून पिवळे पडलेले आहे, डोळे खोल गेलेले आहेत, स्तन ढिले व चपट होऊन वाईट दिसू लागलेले आहेत. डोळ्यांचे कोपरे मळाने भरलेले आहेत, पोट पाठीशी भिडले आहे, मूत्र व मलाने मांड्या सुजलेल्या आहेत, जिला पाहताच तिरस्कार वा करुणा वाटते, नखे पिवळी पडलेली आहेत, तोंडास दुर्गंधी सुटलेली आहे, मुखांतून शब्दहि निघत नाही. चार दिवसापूर्वीच तिचा पति तिचे आलिंगनांत महान् सुखांतील सुख अनुभवीत होता, तो अशा स्थितींत हिचे आलिंगन करणे तर राहोच परन्तु जवळ बसूहि शकत नाही. जे रूप अशा रीतीने विकृत होते, ज्याचे सौन्दर्य पोटांत भरलेला दुर्गन्ध-मल निघून जाताच क्षणभरांत नष्ट होऊन जाते. त्यांत सुखाचा शोध करणे व त्यासच जीवन-सर्वस्व समजणे व अशाचे प्राप्तीचे मागे वेडे होणे किती मूर्खता आहे! अरे, ह्या पंचभूताचे बनलेल्या व ज्यास नऊ छिद्रे आहेत व जे मल-मूत्रानी भरलेले आहे, त्यांत सुख कोठे, शान्ती कोठे व सौन्दर्य व आनन्द कोठे! ही तर त्या ब्रह्मानन्दाच्या आनन्दाची

छाया मात्र होती, ती विकृती होताच कुरूप झाली. तेव्हा छाया सोडून खरे आनन्दाचा शोध करा, तुम्हास शान्ति प्राप्त होईल.

रूप ! हीच दुर्दशा कांचनाची आहे. पृथ्वीचे नाव आहे वसुन्धरा. वसु म्हणजे रत्ने. ह्या पृथ्वींत असंख्य रत्ने भरलेली आहेत. ह्या पृथ्वींत सात द्वीपे आहेत, सात समुद्र आहेत. समुद्रांत असंख्य रत्ने पडलेली आहेत. परन्तु सप्तद्वीप पृथ्वीचे आधिपत्य प्राप्त झाल्यावरहि मनुष्यास शान्ति मिळत नाही, तो तिन्ही लोकांचे स्वामित्वाची इच्छा करतो. त्रिलोकेश झाल्यावर चौदा भुवनांच्या स्वामित्वाची त्यास लालसा उत्पन्न होते. संपूर्ण ब्रह्माण्डाचा लाभ झाल्यावरहि शान्ति नाही, तेव्हा दहा-वीस गांवे वा हजार पांचशे गांवांचे आधिपत्य अथवा स्वामित्व मिळवून जो स्वतःस सुखी करण्याची इच्छा करतो, तो किती भारी मूर्ख म्हणावा ? तुम्ही विचारपूर्वक पाहा, सोन्यांत व मातींत काय फरक आहे. ज्याप्रमाणे पृथ्वीच्या पोटांतून सफेत माती, पिवळी माती, हिरवी व काळी माती स्थान-भेदाने निघते, तसेच सोने चांदीहि पिवळी व सफेत मातीच आहे. तुम्ही त्यांत श्रेष्ठपणाचा भाव स्थापित केलेला आहे म्हणून ती श्रेष्ठ आहे. तुम्ही स्वतःस त्यांस श्रेष्ठ पद दिले व स्वतः तुम्हीच त्याचे प्राप्तीसाठी वेडे होऊन प्रयास करीत आहा. छाया म्हणजे सावलीचे तुम्हापासून भिन्न अस्तित्व नाही. छाया तुमचे शरीराचीच आहे. आता तुम्ही भ्रमाने त्या छायेस पकडण्यासाठी पळत सुटाल तर कितीहि प्रयास केले तरी छाया तुमचे हातीं केव्हाहि येणे शक्य नाही. अहो ! मागे पळत सुटल्याने कां कधी छाया धरली जाईल कां ? छायेचे अस्तित्व तर तुम्ही पृथक् समजून चालले आहा, तेव्हा, जेव्हा तुम्ही छाया आपलीच समजून तिला सोडून पळत सुटाल,

तेव्हा ती तुमचे मागे येईल. तुम्हास सोडून ती जाणारच कोठे? मी सांगतो हे नीट लक्षांत घ्या.

रूपाने हळूच म्हटले–'होय प्रभो! कांही कांहीं समजलो. हेच कीं, वास्तवीक सोन्यांत श्रेष्ठत्व नाही व मातींत कनिष्ठत्व नाही. हे आमचे हृदयाचे भाव आहेत. पाहिजे त्यास वेळीं मोठा म्हणा वा पाहिजे तेव्हा लहान म्हणा.

प्रभुंनी म्हटले–'होय, बरोबर! आता असे पाहा, तुम्ही हा वेळ रुपायासच श्रेष्ठ मानीत होता. त्यांच्याच प्रातीसाठी तुम्ही हुसेनशहाचे दरबारांत राहिला होता. हुसेनशहा जातीने यवन होता, तुम्ही ब्राह्मण होता. तो स्वामीद्रोही कृतघ्न होता, तुम्ही धर्माने निर्वाह करणारे होता. तो मूर्ख होता, तुम्ही पंडित होता. तो प्रमाद करणारा होता, तुम्ही जागरूक होता. तो अधर्मी होता, तुम्ही धर्मात्मे. सर्व गोष्टींत तो तुम्हाहून हीन होता, तुम्ही त्यापेक्षा श्रेष्ठ होता. परन्तु त्याचे बरोबरीने संपत्तिशाली नव्हता. तोपावेतो तुम्ही धन-संपत्तिसच सर्वश्रेष्ठ सुखाचे साधन समजत होता. त्यासाठी आपली कुलीनता, विद्वत्ता, धार्मिकता, जागरूकता आदि सर्वास तुच्छ समजून त्या मूर्खाच्यासमोर सदैव थर-थर कापत भ्यालेल्या-सारखे उभे राहात होता. आता जेव्हा तुम्हास समजून चुकले कीं, धन-संपत्तींत खरे सुख नाही, जी संपत्ति तुम्ही घामाच्या ऐवजी रक्ताधारा वहावीत मिळविली होती, तीच भक्तिमार्गांत प्रवेश करताच मातीचे समान लुटवून तुम्ही निघून आलात. कां बरोबर आहेना?'

हळूच रूपांनी म्हटले–'होय प्रभो! ते रुपये मला भार म्हणून वाटू लागले व एका दिवसांत कसेतरी ते लुटवून-बिटवून त्यांतून हा माझा पिण्ड सोडविला'.

प्रभुंनी रूपाचा हात आपले हातांत घेऊन त्याच स्वरांत म्हटले– 'तेव्हा, तुम्हीच आता विचार करा कीं, रुपायांत मोठेपणा आहे? हुसेनशहास तुम्ही भित नव्हता, तुम्ही ह्यासाठी भीत होता कीं, कांही विघ्न उत्पन्न होऊन आपले प्राप्तींत कमतरता न पडावी. आता जेव्हा तुम्हास धन-संपत्तिचे तुच्छतेची जाणीव झाली, तेव्हा एक हुसेनशहा काय लाख हुसेनशहा आले तरी तुम्ही भिणार नाही. कारण ज्या कारणाने भिती वाटत होती, ते कारणच नष्ट झाले. ज्याप्रमाणे विषवेलच उघडून टाकल्यावर त्याच्या फलापासून मरणाची भीतीच राहात नाही, त्याप्रमाणे अन्तःकरणांतून धन-संपत्तिची श्रेष्ठता हाकून दिल्यावर कोणापुढे दीन-हीनपणा दाखविण्याचे वा लोटांगण घालण्याचे कारणच राहिले नाही. जोपर्यंत आम्ही लोकांना गुणांवरून मोठे मानीत नसून धन असले म्हणजेच मोठे मानतो व त्याच कारणाने त्याचा आदर करतो, तोपावेतो समजावे कीं, आपलेमध्ये धनासच सुख-साधन मानण्याची आसुरी वृत्ति विद्यमान आहे. ज्याचे दृष्टित धनास कांही महत्व राहिलेले नाही, जो धनास पृथ्वीचा एक विकार मानतो, तो कोणासमोर दीनता कां दाखवील? त्याच्या दृष्टीने धनी-गरीब सर्वच समान. धनाची तृष्णाच गरीब-श्रीमान् हा भेदभाव उत्पन्न करून देते. जेव्हा मनांत कोणापासून कांही घेण्याची इच्छाच राहात नाही, तेव्हा धनी व गरीब सारखेच!'

'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।'

हीच दशा कीर्तिची आहे. कीर्तिहि धनाप्रमाणेच अनित्य व तुच्छच आहे. वास्तविक तर कीर्ति हे धनाचेच एक अंग मानले पाहिजे. धन व कीर्ति प्रयत्न करून थोडीच प्राप्त होतात, हे तर पूर्वजन्माचे कर्मा-

नुसार प्राप्त होतात. जडभरताप्रमाणे असंख्य ज्ञानी-मूर्खाप्रमाणे जीवन वितवून मुक्त होऊन गेले असतील, त्यांची नावेहि कोणास माहीत नाहीत. जडभरताचे भाग्यांतच अवधूतपणाचा आदर्श उपस्थित करणारी कीर्ति लिहिलेली होती. पुष्कळसे धनिक अगदी मूर्ख असतात. मोठ-मोठे विद्वान् धनासाठी प्रयत्न करतात, परन्तु तितकी धन-प्राप्ति होत नाही. म्हणून तर म्हटले आहे—

'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या नच पौरुषम्।'

अर्थात् सर्वत्र भाग्यच फलीभूत होते. विद्या व पुरुषार्थानेच सर्व कांही होत नाही. तेव्हा धन कीर्ति आम्हास भाग्यतःच प्राप्त होते आहे, तर कीर्तिसाठी प्रयत्न करणे मूर्खपणा आहे. कीर्तिची इच्छा करून आम्ही वासनाजन्य एका नवे पातकाची सृष्टि उत्पन्न करतो, याचसाठी जे कीर्तिसाठी प्रयत्न करतात ते मूर्ख म्हणावे. बरे पहा! ज्यांनी चौदा भुवनाचे अनेक ब्रह्माण्डाचे अधिपत्य केले, असे असंख्य ब्रह्मदेव उत्पन्न झाले व नष्टहि झाले, त्यांची नावेहि कोणास माहित नाही, तेव्हा हा क्षुद्र प्राणी आपली कीर्ति अमर व्हावी म्हणून बाग-बगीचे कूप-मन्दीर बांधून आपले नाव अजरामर ठेविण्याची इच्छा करतो, तो किती मोठा मूर्ख म्हणावा! बाबा! कीर्ति तर पतिव्रता आहे, ती व्यभिचारिणी नाही, तिने तर एकच पुरुष श्रीहरीस वरलेले आहे, तेव्हा तुम्ही तिची आशा सोडा, सोडा, सोडा! तुम्हास कीर्ति मिळणार नाही! मिळणार नाही! मिळणार नाही! कीर्तिचे पति तर श्रीहरि आहेत, तेव्हा त्यांचीच कीर्ति कथन करण्यांत कल्याण आहे. कीर्ति वाढविण्याचीच आहे तर श्रीहरि-चीच वाढवाना. तुम्ही ही कीर्ति प्राप्त करून घ्या कीं, आम्ही कीर्ति-पतिचे कीर्तन करणारे सेवक आहोत. हो, हे सत्य! हरीचे कीर्तनकार होण्याने कीर्ति तुम्हावर प्रेम करू लागेल, कारण आपले पतिची प्रशंसा

ऐकून सर्वांना सुख होते, व प्रशंसा करणाराविषयी स्वाभाविकच अनुराग वाटू लागतो.

रूपाने हात जोडून नम्रपणे म्हटले–'हो, प्रभो! श्रीचरणाच्या अनुरागाने मी इतके तर समजलो कीं, भक्तिमार्गाकडेस प्रवृत्त झालेले साधकाने, कामिनी-कांचन व पद, प्रतिष्ठा, पैसा, पुत्र, परिवार व यावत् प्रेमपदार्थ ह्यांचा परित्याग करून नंतर पुढे पाऊल टाकले पाहिजे. आता कांही साधन-तत्व समजून घेण्याची माझी इच्छा आहे?'

प्रभुने म्हटले–'रूप! जीवाचे स्वरूप शास्त्रांत असे सांगीतले आहे कीं, एका केसाचा अग्रभाग घ्या, त्याचे शंभर तुकडे करा, त्यांतून एक घ्या, पुन्हा त्याचे शंभर तुकडे करा, ह्याहिपेक्षा सूक्ष्म असे जीवाचे स्वरूप आहे, अर्थात् जीव अति सूक्ष्म आहे. जीव ह्या ब्रह्माण्डांत–ह्या चराचर विश्वांत समानरूपाने व्याप्त आहे. एक तीळ ठेविण्यासहि अशी जागा नाही कीं, तेथे जीव नाही. आता जीवाचे दोन भेद आहेत— एक जड व दुसरा चेतन अथवा स्थावर-जंगम, दगड, लाकूड आदि स्थावर असून हालचाल-आदि क्रिया करणारे ते जंगम. स्थावरापेक्षा जंगम श्रेष्ठ म्हटले जाते. जंगमांतहि हत्ती, घोडा, आदि बुद्धिवान प्राणी श्रेष्ठ व त्यांतहि मनुष्य श्रेष्ठतम आहे. मनुष्यांत ब्राह्मण, ब्राह्मणांत विद्वान्, विद्वानांतहि परिष्कृत बुद्धिवान् श्रेष्ठ, त्यांतहि सदाचरण आपले जीवनांत परिणत करणारा श्रेष्ठ व त्यांतहि तो श्रेष्ठ आहे कीं, ज्यास ब्रह्मज्ञान झालेले आहे. ब्रह्मज्ञान्यांतहि जो मुक्त झाला आहे तो श्रेष्ठ व मुक्तांतहि जो श्रीकृष्णभक्त आहे तो सर्वश्रेष्ठ. ज्याचे अन्तःकरणांत खरी कृष्ण-भक्ति आहे त्यापेक्षा कोणीहि श्रेष्ठ नाही. श्रेष्ठपणाची हीच पराकाष्ठा आहे. जसे भागवतांत म्हटले आहे—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः।
सुदर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वाप महामुने ॥

संसारांत प्रयत्न करण्याने सर्व कांही प्राप्त होऊ शकेल, परन्तु कृष्ण-भक्ति प्राप्त होणे अत्यन्त दुर्लभच आहे. झाले, भक्ति प्राप्तिचाहि एकच उपाय आहे. सर्व ठिकाणीं, सर्व अवस्थांमध्ये व सर्वकालीं, श्रीहरिच्या-नामाचे संकीर्तन करीत राहाणे हाच तो उपाय. श्रवण, कीर्तन हेच प्रभुप्रेम प्राप्तिचे मुख्य उपाय आहेत. ह्याविना सर्व उपायांचा परित्याग करून श्रीहरीसच शरण आले पाहिजे. सर्वधर्माचा परित्याग करून एक त्यांचेच स्मरण-चिन्तन करीत राहिले पाहिजे. मी तुम्हास भगवत्-कृपा व अहैतुकी-भक्तिची एक मोठ्यांत मोठी ओळख सांगतो, त्यायोगे तुम्हास समजून येईल कीं, भगवत्-भक्ति कशी केली पाहिजे. जसे श्रीमद्भागवतांत कपिल महामुनींनी स्वता सांगीतले आहे—

मद्गुणश्रितमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगांभसोऽम्बुधौ ॥

प्राणिमात्रांचे हृदयरूपी गुहेंत राहणारे मज सर्वान्तर्यामी ईश्वराची भक्तवत्सलता आदि गुणांचे श्रवणमात्रानेच, ज्याप्रमाणे गंगेचा प्रवाह कोठेहि न अटकता समुद्राकडेस वाहात जातो, त्याप्रमाणे ज्याच्या मनाची गति माझेकडेसच वाहात राहते, तेव्हा समजावे कीं, त्यास एकांतिकी या अहैतुकी भक्ति प्राप्त होऊन चुकली आहे. ती प्राप्त झाल्यावर श्रीकृष्ण नंतर लांब असतच नाही. ते तर येऊन भक्तास बिलगुन पडतात. हीच तर त्यांची भक्तवत्सलता आहे.

आरंभीं साधन-भक्ति असते. साधन-भक्तिपासून रति-भक्ति व रति-भक्तिपासून शुद्धा-भक्ति या प्रेमरूपा-भक्ति प्राप्त होते. रति-भक्तिचे

पाच प्रकार भक्ति-शास्त्रांत सांगीतले आहेत. त्यांची नावे—शान्तरति, दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति व मधुररति, अशी आहेत. शान्तरसाचे उपासक म्हणून शुकदेव जनक हे दाखविता येतील. दास्यरसाचे उपासक अनेक भक्त आहेत. व्रजांतील गोपाल-बाल व अर्जुनादि सख्यरतीची उदाहरणे आहेत. नन्द, यशोदा, देवकी व वासुदेवादि वात्सल्यरतिचे उपासक समजावे, मधुररसाचे उपासनेंत तर व्रजांतील गोपीच सर्वश्रेष्ठ मानल्या जातात. तसे पाहिल्यास रुक्मिणी आदि हजारो राण्या तथा लक्ष्मीआदि, ह्याची उदाहरणस्वरूप आहेत. शान्तरसांत स्वतास लहान मानण्याची भावना आहे. दास्यांत आपणास लहान समजून विविध प्रकारे आपले सेव्याची सेवा-चाकरी करण्याची इच्छा होत असते. सख्यरतीचा उपासक स्वतास लहानच मानतो, सेवाहि करतो, परन्तु उपास्याचे सन्मुख निस्संकोचपणे वागतो, तो शान्त व दास्य उपासकाप्रमाणे भीत भीत वागत नाही. वात्सल्यरूपाचे उपासक मनाने आपले उपास्यास श्रेष्ठच समजतात, परन्तु तसे ते वरून दाखवीत नाहीत. सेवाहि करतात व निस्संकोचहि असतात. शिवाय ह्यांच्यांत ह्या तिन्हीहि उपासकांपेक्षा आपले सेव्याचे प्रति एक स्वाभाविक ममताहि असते. हेच ह्या रसांत विशेष आहे. कान्ताभावांत ह्या पांचहि गोष्टी असतात. सेव्यास मनाने मोठाहि मानतात, सेवा करण्याचीहि उत्कट इच्छा असते. त्याच्या सन्मुख कोणत्याहि प्रकारचा संकोच असा नसतोच. प्रगाढ ममताहि असतेच व आपले शरीर व शरीराचे सर्व व्यापार आपले आवडत्यासच समर्पित केले जातात. ह्याच कारणाने कान्ताभाव सर्वश्रेष्ठ मानला आहे. ह्या उपासनेचा उपासक कोट्यावधींत काय परन्तु असंख्यांत सुद्धा कोणी एकादाच उत्पन्न होतो. शान्त, सख्य आदिचे उपासक सुद्धा जर दुर्लभ आहेत, तर कान्ताभावाचे उपासकासंबंधाने विचारणेच कशाला? हे भक्ति-तत्व तुम्हास मी

फारच संक्षेपाने सांगीतले आहे. तुम्ही बुद्धिमान् आहा, कविहृदय आहात, रसग्राही आहात, भगवत्-कृपेचे अधिकारी आहात, अतः हे भाव विस्ताराने वर्णन करून भक्तांच्या सन्मुख ठेवा. आता मी उद्या वाराणसीस जाण्याचा विचार करीत आहे'.

प्रभुच्या चरणीं मस्तक ठेवून दाटून आलेल्या कंठाने श्रीरूप म्हणाले–'प्रभो! मी कृतकृत्य झालो, मला विश्व-ब्रह्माण्डाचे अधिपत्या-नेहि जी प्रसन्नता प्राप्त झाली नसती, ती आज मला प्राप्त झाली आहे. आता मला काय आज्ञा आहे? श्रीचरणाचे सन्निकट राहावे अशी उत्कट इच्छा आहे, या उपर आज्ञा होईल तसे करीन'.

प्रभुंनी सांगीतले–'रूप! तुम्ही समर्थ आहात, तुम्हास यापुढे माझे संगतीचीच विशेष अवश्यकता नाही. आता तुम्ही सरळ वृन्दावनास जा व तेथील सर्व तीर्थांची यात्रा करून, शक्य तितके करून लुप्त झालेली तीर्थे प्रकट करण्याचा प्रयत्न करा. कांही दिवसांनीं गौडदेशास जाऊन पुरीस येऊन मला भेटा'. ह्याप्रमाणे प्रभु तर नौकेवर बसून गंगापार झाले व रूप, अनुप, माधुरी ब्राह्मण आणि कृष्णदास ह्यांनाही प्रभुंनी येथूनच विदा केले.

महाप्रभुचे चरणांचे चिन्तन करीत रूप आपला भाऊ अनूप यासह मथुरेस पोचले. तेथे त्यांना भूतपूर्व गौडदेशाचे महाराजा सुबुद्धिराय भेटले. आम्ही ह्यापूर्वीच सांगीतले आहे कीं, हे लाकडे विकून एक पैशाचे चण्यावर आपला निर्वाह करीत होते. शेष पैशांतून बंगाली साधुंची सेवा करीत असत. एकाएकी विश्राम घाटावर त्यांची श्रीरूप व अनूप ह्यांची भेट झाली. सुबुद्धिरायांनी आपले पद्धतीने स्वागत-सत्कार केला व नन्तर ते ह्यांचे बरोबर व्रजाचे यात्रेस निघून

गेले. विधिघटना तर पाहा, कालपर्यन्त एक महाराजा होते व एक महामन्त्री होते. दोघेहि भिकारी होऊन निर्वाहासाठी घरोघरीं भिक्षा मागत साधुवेषांत फिरत आहेत. ज्यांच्या आश्रयास राहून हजारो पंडित व विद्वानांचा निर्वाह होत होता, तेच आज एका भाकरीचे तुकड्यासाठी एकादे कंजुशाचे द्वारापाशी तिष्टत उभे राहून आता कोणी घरांतून तुकडा आणून घालील ह्याची वाट पाहतात! विधाता! दैवाचा खेळ फारच विलक्षण असतो! ह्याच विधिचे विडम्बनाकडे दुर्लक्ष्य करून कोणी कवीने किती सुन्दर व मार्मिक कवन केले आहे.

**जातः सूर्यकुले पिता दशरथः क्षोणीभुजामग्रणीः**
**सीता सत्यपरायणा प्रणयिनी यस्यानुजो लक्ष्मणः।**
**दोर्दण्डेन समो न चास्ति भुवने प्रत्यक्षविष्णुः स्वयं**
**रामो येन विडम्बितोऽपि विधिना चान्येजने का कथा॥**

सर्वश्रेष्ठ सूर्यकुलांत ज्यांचा जन्म झाला, महाराजांचेहि पूजनीय चक्रवर्ती दशरथ ज्यांचे पिता होते, सत्यावर निष्ठा ठेवणारी त्रैलोक्यांत अद्वितीय रूपलावण्ययुक्त पतिपरायण सीतादेवी ज्याच्या पत्नि, युद्धामध्ये यमराजा समान साहसी, शूरवीर व परमपराक्रमी लक्ष्मण, ज्यांचे धाकटे बन्धु, ज्याचे समान त्रैलोक्यांतहि कोणी धनुर्धारी शूर नव्हता, असे रामचन्द्र स्वयं साक्षात् विष्णुचेच अवतार होते, त्या श्रीरामचन्द्राचीहि ज्या विधिने वंचना केली, ज्यांना चौदा वर्षे विपत्तिचे फेऱ्याने राना-वनांत काट्या-कुट्यांत भटकत फिरावे लागले, तेव्हा मग इतर लोकांची गोष्टच कशाला! हे देवा! तुमचे चरणीं आमचा नमस्कार आहे! वस्तुतः श्रीरामचन्द्रासंबंधाचे हे कवीचे म्हणणे केवल कवि विनोदच आहे!

इकडे महप्रभु गंगेच्या किनाऱ्या किनाऱ्याने श्रीवाराणसी क्षेत्रास पोचले. नगराच्या बाहेरच ह्यांना चन्द्रशेखर भेटले. त्यांही प्रभुंना साष्टांग प्रणिपात केला. त्यास आलिंगन देत प्रभुंनी विचारले–'चन्द्रशेखर! तुम्ही येथे कोठे? तुम्हास कसे समजले कीं, मी आज येईल?'

चन्द्रशेखरांनी सांगीतले–'प्रभो! काल रात्रौ मी स्वप्न पाहिले कीं, आज आपण काशींत आलेले आहात, म्हणून शोधासाठी आलो होतो, येथे आलो तोच श्रीचरणाचे एकदम दर्शन झाले. आता माझी कुटी आपले चरण-रजाने पवित्र करावी'.

वैद्य चन्द्रशेखराच्या आग्रहाने प्रभु त्यांच्या घरीं गेले. समाचार मिळताच तपनमिश्र, त्यांचे पुत्र रघुनाथ, तो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण व आणखीहि पुष्कळसे भक्त प्रभुंच्या दर्शनासाठी आले. तपनमिश्राने दोन्ही हात जोडून प्रभुस प्रार्थना केली–'प्रभु जो पावेतो काशीस राहतील तो पावेतो माझे घरींच भिक्षा करावी'. प्रभुंनी मिश्रांची विनंती स्वीकारली व ते वैद्य चन्द्रशेखराच्या घरीं राहू लागले. ह्यावेळीं महाप्रभु लगभग दोन महिने काशीस राहिले. येथेच श्रीरूपाचे बन्धु सनातन प्रभुंना येऊन भेटले, तो वृत्तान्त पुढील अध्यायांत येईल.

# श्रीसनातनाची कारागृहांतून मुक्तता व काशींत प्रभु-दर्शन

छिद्रान्वेषणतत्परः प्रियसखि प्रायेण लोकोऽधुना
रात्रिश्चापि घनान्धकारबहला गन्तु न ते युज्यते ।
मा मैवं सखि ! वल्लभः प्रियतमस्तस्योत्सुका दर्शने
युक्तायुक्तविचरणा यदिभवेत् स्नेहाय दत्तं जलम् ॥

श्रीरूपाने तर प्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य करून ते प्रयागाहून वृन्दावनास गेले. आता त्यांचे धाकटे बन्धु श्रीसनातनाचा समाचार श्रवण करा. वास्तवीक सनातनजी श्रीरूपाहून मोठे होते, परन्तु त्यांचे पूर्वीच श्रीरूपास प्रभुचे सन्निध राहून भक्तिमार्गाचा उपदेश प्राप्त झाला होता. भक्तिमार्गांत वयावर मोठेपणा मानीन नसून गुरुकृपेच्यावरूनच मोठेपणाचा विचार करण्यांत येतो. प्रथम महाप्रभुंची कृपा श्रीरूपावर झाली म्हणून सनातन त्यांना आपले श्रेष्ठ व गुरु समजत होते. सर्व वैष्णवांतहि हीच मान्यता होती. ह्याच कारणाने वैष्णवसमाजामध्ये श्रीसनातन-रूप न म्हणता श्रीरूप-सनातन म्हणण्याचा प्रघात पडलेला आहे. अवस्थेने लहान असतानाहि प्रथम गुरुकृपा झाल्याचे कारणाने श्रीरूपाचेच नाव प्रथम घेतले जात आहे.

कारावासाच्या काळ्या कोठडींत पडले असताहि श्रीसनातनजी श्रीचैतन्याचे मनोहर मूर्तिचेच सदैव ध्यान करीत होते. त्यांना अन्न-जल कांहीहि गोड लागत नव्हते. निद्रा कशी ती साफ उडून गेली. ह्याप्रमाणे दिन-रात्री व्यतीत होत असता आपल्या बन्धुंचे पत्र त्यांना मिळाले.

सावकराकडेस दहा हजाराची रकम जमा ठेविली असल्याचे समजताच त्यांही विचार केला-'ह्या चांदीच्या ठिकऱ्याच्यांच द्वारा माझी ह्या कारागृहांतून मुक्तता होऊन मी चैतन्यचरणाचे दर्शन घेऊ शकल्यास हे जीवन सार्थक होईल'. प्रेमाच्या आवेशांत हेहि ते विसरले कीं, लाच देऊन चोरून ह्या कारागृहांतून निसटून जाणे हे पाप आहे. हे नियमाविरुद्ध आहे, परन्तु प्रेममध्ये नियम कोठचा? त्यांही लागलीच कारावासाचे प्रधान कर्मचाऱ्यास बोलावून सांगीतलें-'मला तुम्ही ओळखतच आहा कीं, मी कोण आहे?'

कर्मचारी म्हणाला-'श्रीमान्, मी सर्व काही जाणत आहे'.

'ठीक आहे, तुम्ही हे सांगा, जे लोक भजन करण्याची इच्छा करतात त्यांना मदत करणे पाप आहे कां पुण्य?' सनातनजीनी हलकेच विचारले.

कर्मचाऱ्याने उत्तर दिले-'ह्या व्यतिरिक्त मोठे असे पुण्यकारक दुसरे कामच नाही'.

सनातनजींनी चहुकडे पाहात हळूच त्याचे कानांत सांगीतले-'तुम्ही मला ह्या कारागृहांतून सुटण्याचे कामीं मदत करा. माझे भावाने दहा हजार रुपये अमुक अमुक सावकाराचे येथे जमा ठेविलेले आहेत, ते आणवून तुम्हास देतो. तुम्ही कुटुंब-परिवारी आहात, तेव्हा विचार करा'.

कांहीसा हर्ष दावून परन्तु विवशता दर्शवित तो कर्मचारी म्हणाला-'श्रीमान्, पैशाशी काय कारण आहे, मी आपला गुलाम आहे, परन्तु बादशहा विचारतील काय सांगू?'

सनातनजी समजून चुकले कीं, आपले मन्त्राने बरोबर काम केले. त्यांही निश्चित स्वरांत सांगीतले-'मी कांही चोर-गुन्हेगार नाही, मी राज-बन्दी आहे व माझेशी व्यवहार तसाच होतो आहे. तेव्हा सांगा कीं, गंगास्नानास गेले व तेथेच गंगेच्या प्रवाहांत स्नान करीत असता वाहात गेले, पुढे बराच शोध केला परन्तु ते कांही सापडले नाहीत. मी आजच गौडदेश सोडून चालता होईन व पुन्हा ह्यांच्या सीमेंत येणार नाही'. ही युक्ति त्या कर्मचाऱ्यास पटली व त्याने ह्यास संमति दिली. लागलीच सावकाराकडून दहा हजार रुपये मागविण्यांत आले. चोरून पळून जाण्याचा सर्व प्रबन्ध बरोबर करण्यांत आला.

रात्रीचा घोर अन्धःकार चहुकडे पसरलेला होता, सर्व जण निद्रेंत होते, कारागृहांतील चौकीदार जड आवाजाने मधून मधून 'ताला, जंगला, लालटैन सब ठीक है सा—हब' म्हणून अर्ध निद्रेंत ओरडत होते व पुन्हा भिंतीच्या आसऱ्याने डोके टेकीत होते. सर्वांवर निद्रा-देवीचा पूर्ण प्रभाव पडलेला होता, परन्तु दोनच प्राणी जागत होते. एकतर प्रभु दर्शनाचे उत्सूक श्रीसनातन व दुसरे दहा-हजाराचे उबेने फुलले गौडदेशाचे कारागृहाचे अधिपति. एकास प्रभुची चिन्ता लागलेली होती, तर दुसऱ्यास पैशाचा हर्ष झाला होता. हळूच सनातनजींच्या कोठडीचे द्वार उघडले. एक विश्वासु नोकरासह अधिपति कोठडींत आले. ते अगदी हळूच म्हणाले-'सर्व व्यवस्था झालेली आहे, श्रीमान्, आता आपण निघण्याचाच अवकाश'. सनातनजीहि तशाच आवाजांत म्हणाले-'मीहि अगदी तयार आहे'. त्यांही आपला नोकर ईशान यास जागे केले व ह्यांचे संकेतानुसार आपली गोदडी घेऊन तो ह्यांचे मागे चालु लागला. फांसी घराच्या दरवाजाने सर्व लोक गंगातटावर आले. तेथे नौका तयारच होती. सर्व त्यावर स्वार झाले. नौका चालु लागली.

सनातनजींनी गौडदेशाचे राजधानीस शेवटचा प्रणाम केला व थोड्याच वेळांत गंगेच्या पलिकडील तटावर पोचले. अधिपतीनी सनातनजीना प्रणाम केला, त्यांही त्याचे आभार मानले व तो परत आला व सनातनजी राजमार्ग सोडून झाड-खंडाचे रस्त्याने चालु लागले. कांही दिवसानंतर ह्यानी आपले स्वामीभक्त इशानास परत पाठविले.

ह्यांचा वेष फकिरासारखा होता. भिक्षा मागत व गारनामाचा जप करीत हे काशीस पोचले. तेथे पोचल्यावर त्यांना समजले कीं, प्रभु चंद्रशेखराच्या घरीं राहिले आहेत. ते त्या घराजवळ गेले व बाहेरच प्रभुची मार्गप्रतिक्षा करीत बसले.

प्रेमांत किती मोठे आकर्षण असते. महाप्रभुंनी सनातनजी आल्याचे घरांत बसल्या-बसल्याच जाणले, व जवळ बसलेले चन्द्रशेखरास प्रभु म्हणतात–'चन्द्रशेखर! बाहेर एक वैष्णव-साधु बसलेले आहेत, त्यांना बोलावून आणा'.

त्यांनी बाहेर येऊन पाहिले तर त्यांना कोणी वैष्णव साधु दिसला नाही. आंत येऊन ते प्रभुस म्हणाले–'प्रभो! तेथे कोणी वैष्णव-साधु तर नाही, परन्तु एक फकीर बसलेला आहे'.

प्रभु म्हणाले–'तोच तो, फकीर नसून परम भागवत वैष्णव आहे. त्यासच माझेजवळ घेऊन या'.

प्रभुंच्या आज्ञेने चन्द्रशेखर सनातनजींना आंत घेऊन आले. त्यांही दुरूनच प्रभुंना साष्टांग नमस्कार घातला. प्रभु उठून त्यांना आलिंगन देण्यास धावले. ते बिचारे भीतीने मागे सरत दीनपणे म्हणाले–'प्रभो! मला स्पर्श करू नका, नाथ! मी त्यास योग्य नाही'.

भक्तवत्सल गौरांग थोडेच हे ऐकणार होते, त्यांही सनातनजींचे प्रेमाने आलिंगन केले व म्हणू लागले–'मी आज पावन झालो कीं, मला सनातनजीच्या देहाचा स्पर्श झाला. पाप्यांतील पाप्यासहि ह्यांचे स्पर्शाने श्रीकृष्ण प्रेम-प्राप्ती होते'.

सनातनांना आपलेजवळ बसून कारावासांतील सर्व वृत्तान्त विचारला व तो ऐकल्यावर प्रभु म्हणाले–'तुमचे दोघे बन्धु प्रयागास भेटले व ते आता वृन्दावनास गेले आहेत. तुम्ही कांही दिवस येथेच मजजवळ राहा'. प्रभुंच्या आज्ञेप्रमाणे सनातनजी तेथेच राहिले. प्रभुंचा ह्यांचेच संबंधांत विचार चालु होता.

# श्रीसनातनाचे अद्भुत वैराग्य

शरीरं व्रणवत् बोध्यमन्नं च व्रणलेपनम् ।
व्रणशोधनवत् स्नानं वस्त्रं च व्रणपट्टवत् ॥

महाप्रभुंचे संपूर्ण जीवन त्यागमय होते. त्याग त्यांना सर्वांत अधिक प्रिय होता. संसारी सुखोपभोगाचा जेव्हा, जितका त्याग केला जाईल, तितके चांगलेच आहे, परंतु त्याग वैराग्यावाचून टिकत नाही, म्हणून ते मरकट वा स्मशान वैराग्याचे विरुद्ध होते. आपले शरणापन्न भक्तांना ते नीट ठोकून वाजवून पारखींत असत कीं, ह्यांचेंत वैराग्य उत्पन्न झाले आहे वा नाही. वैराग्य दिसून आल्यास त्यास महान् वैराग्याचा उपदेश करीत व वैराग्याची कमतरता आहे असे वाटल्यास त्यास संसारांतच राहून निष्काम भावनेने श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थच कर्मे करीत राहाण्याचा उपदेश करीत. ज्ञानीपुरुषहि आपले प्रकृतीचे अनुसार व्यवहार हा करीतच असतो. म्हणून विषयापासून पराङ्मुख होण्याचा एकदम कोणासहि आग्रह करीत नसत व त्याग न करणारास ते वाईटहि म्हणत नसत. कारण कीं, विषयांचा त्याग सर्वच करू शकत नाही, त्याग करणारे तर कोणी विरळाच.

श्रीरूप व सनातनाच्या व्यवहारावरून प्रभु समजून चुकले होते कीं, ह्यांना महान् वैराग्य बाणलेले आहे. खरोखर, हे उभयता बन्धु प्रथम जितके भोगी होते, त्यांहीपेक्षा ते नंतर अधिक त्यागी झाले. सनातनजींच्या संबंधाने तर ऐकतो कीं, झोपडी करून राहाणे तर राहोच, परन्तु ते एक दिवसापेक्षा अधिक एका झाडाखालीहि राहात नसत. व्रजांतून भिक मागून भाकरीचे तुकडे आणावे व ते यमुना

जलाचे बरोबर कसे तरी गळ्याचे खाली उतरावे. पांघरण्यास चिंध्याची गोदडी. पात्र म्हणून एक मातीचा तोटीचा कमंडलु. 'कर करुवा (कमंडलु) गुदरी गले' हा त्यांचा बाणा होता. ह्याप्रमाणे त्यांही वीस वर्षे वृन्दावनांत काढले. महाप्रभु जो कोणी वृन्दावनांतून येई त्यास ह्याचा समाचार विचारीत व त्यांच्या ह्या अशा प्रकारचे वैराग्याने ते फार सन्तुष्ट होत.

महाप्रभु व श्रीसनातन ह्याचे भेटीचा हा प्रकार पाहून वैद्य चन्द्रशेखर फारच चकीत झाले. प्रभुंनी वैद्याचे मनोगत ताडले. तेव्हा श्रीसनातनाचा परिचय करून देत महाप्रभु म्हणतात–'चन्द्रशेखर तुम्ही ह्यांना जाणत नाही, हे गौडदेशाचे बादशहाचे प्रधान मन्त्री होते. हे महान् पंडित असून अद्वितीय भगवद्भक्त आहेत. पद प्रतिष्ठा, धन सम्पत्ति, कुटुंब परिवार आदि सर्वांवर लात मारून हे भगवद्भजनासाठी बाहेर पडलेले आहेत. ह्यांचे दोघे बन्धु अशाच रीतीने घरादाराचा त्याग करून वृन्दावनांत वास करण्यास गेलेले आहेत, ते मला प्रयागास भेटले होते. खरोखर ह्यांच्या पद-धूलीने आज तुमचे घर तीर्थच झाले आहे. सनातनजी बिचारे खाली मान घालून गुपचुप बसले होते.

सनातनाचा परिचय होताच चन्द्रशेखरांनी त्यांना लोटांगण घालून प्रणिपात केला. नंतर प्रभुंनी सांगीतले कीं, ह्यांना गंगेवर नेऊन क्षौर व स्नान करवून यावे. स्नान करून आल्यावर प्रभु ह्यांना घेऊनच तपनमिश्राचे घरीं भोजनास गले. ह्यानंतर तो महाराष्ट्रीय ब्राह्मणहि तेथे आला व त्यांचा व ह्यांचा परिचय झाल्यावर त्याने सनातनांना आमंत्रण दिले. परन्तु सनातनजींनी सांगीतले कीं, 'मी ह्यापुढे एकाचेच घरीं

भोजन करणार नाही. मधुकरी मागून मी माझा निर्वाह करण्याचे ठरविले आहे'. प्रभुंना ह्यांचे हे वैराग्य पाहून सन्तोष वाटू लागला.

ह्याच वेळीं सनातनांनी आपली भारी किंमतीची कांबळ (शाल-फर्द) टाकून देऊन एक चिन्ध्या झालेली गोदडी अंगावर घेतली होती. सर्वजण सनातनाच्या ह्या अद्भुत वैराग्याची फार प्रशंसा करू लागले.

# श्रीसनातनास शास्त्रीय शिक्षा (उपदेश)

अथ स्वास्थाय देवाय नित्याय हतपाप्मने ।
त्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः ॥

महाप्रभुंची असीम कृपा प्राप्त झाल्यावर कांही शास्त्रीय प्रश्न प्रभुंना विचारावे अशी सनातनजींना इच्छा झाली. दोन्ही हाताची अञ्जली करून ते म्हणतात–'प्रभो! मी साधन-विहीन, परमार्थ-पथाचा अनभिज्ञ व संसारी, विषयीलोकांचा संसर्गात वाढलेला असा असल्याने परमार्थ संबन्धी प्रश्न कसे करावे हेहि मला अवगत नाही. अतः ज्याप्रमाणे आपणच दया करून विषयासक्त अशा आम्हा पशुंना आमचे घरांत येऊन जागृत केले, तदनुसार आता आमचे हे पशुत्व घालवून आम्हास मनुष्यता प्रदान करावी, आमचे योग्य अशीच शिक्षा म्हणजे उपदेश आम्हास द्यावा. आम्ही कोण आहोत? आमचे कर्तव्य काय? भगवन्ताशी आमचा काय संबन्ध आहे? भगवन्ताचे काय स्वरूप आहे, आदि सर्व गोष्टी मला संक्षेपाने समजावून द्याव्या'.

प्रभु म्हणाले–'सनातन! तुम्हावर भगवत्-कृपा आहेच. तुम्हास शंकाच काय असू शकणार? तुम्ही जाणते असूनहि लोक कल्याणाच्या इच्छेनेच तुम्ही हे प्रश्न करीत आहा. अस्तु, साधु पुरुषांचा हा स्वभावच असतो. त्यांचे सर्व प्रयत्न जगताचे हितासाठीच होत असतात. विचारा, तुम्हास काय विचारावयाचे असेल ते?'

'प्रभो! हे जाणून घेण्याची माझी इच्छा आहे कीं, जीवांत जी ही विभिन्नता प्रतीत होते, ती कां होते?'

प्रभुंनी सांगीतले–'सनातन! शास्त्रांत मुक्त, नित्य, मुमुक्षु व बद्ध

ह्याप्रमाणे चार प्रकारचे जीव सांगीतले आहेत. सनक सनन्दनादि हे मुक्त जीव आहेत, ते जगतांत असताहि त्यांना कोणतेहि बन्धन बाध करू शकत नाही. ते अहर्निश श्रीकृष्ण-संकीर्तनांतच निमग्न असतात. मनु, प्रजापति, इन्द्र व सप्तर्षि आदि हे सर्व नित्य जीव आहेत. सृष्टिच्या निमित्ताने हे सदैव क्रियाशीलच असतात. जे ह्या अनित्य संसाराचे नश्वर व क्षणभंगुर भोगांचा त्याग करून प्रभुपादपद्मांचा आश्रय ग्रहण करण्याची इच्छा करतात, ते मुमुक्षु जीव म्हटले जातात. त्यांत प्रायः सर्व परमार्थपथाच्या पथिकांची गणना केली जाते. ह्यांच्या अतिरिक्त जे स्वभावतः जन्मतात व मरत असतात, ज्यांना कर्तव्याकर्तव्य विवेक नाही, ते बद्धजीव म्हटले जातात. विषयांतच फसलेले अज्ञानी पुरुष, पशु, पक्षी आदि सर्व जीव ह्याच श्रेणींत येतात. ते साधन-भजन कांहीच करू शकत नाही. अशांचेसाठी सांगीतले आहे—

**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।**

शास्त्रांत जीवाच्या चौऱ्यांशी लाख योनी वर्णिल्या आहेत. भगवत्पादपद्मापासून प्राणी पृथक् होऊन ह्या नाना योनींत परिभ्रमण करीत राहातो. चिरकालापासून भगवत्-विच्छेद झाल्याकारणाने त्याची वृत्ति बहिर्मुख झालेली असते, तो मायापतिस विसरून मायेच्या बन्धनांत पडलेला आहे व भगवन्ताची अत्यन्त दुरूह गुणमयी अशी ही दैवी माया त्यास नाना योनींत फिरवीत आहे.

सनातनजींनी विचारले—'प्रभो! ह्या मायेपासून सुटका कशी होणार? जर जीव मायेच्या आधीन होऊनच फिरत राहातो तर, त्याची सुटका होण्यास उपायच नाही?'

प्रभुंनी सांगीतले—'होय, उपाय आहे व तोहि एकच उपाय आहे.

जो मायेस सोडून मायापतीस शरण जाईल, त्याची मायेपासून सुटका होते'.

सनातन–'प्रभो! मी हेच तर विचारतो आहे. मायापतीस शरण कसे जाता येईल?'

प्रभुंनी सांगीतले–'सनातन! ह्यांत तर भगवत् कृपाच मुख्य आहे—शास्त्रकृपा, गुरुकृपा व परमात्मकृपा ह्या तीनच कृपा मुख्य आहेत. ह्यापैकी कोणाचीहि कृपा झाल्यास मनुष्याची संसारी बन्धने सैल होतात व तो प्रभुकडे पुढे सरकू शकतो'.

सनातन–'प्रभो! मला हे सांगा कीं, हा जीव प्रभु–विमुख होऊन कां नाना योनींत भटकत फिरतो. पृथ्वीवर तर सर्व दुःखच दुःख पसरलेले आहे. स्वर्गादि ठिकाणीं सुखच असेल, परन्तु तेथेहि जीवास शान्ति नाही, तेव्हा त्यास अन्तीम शान्ति कोठे गेल्याने प्राप्त होणार आहे?'

प्रभुंनी सांगीतले–'सनातन! मुंगीपासून ब्रह्मापर्यन्त सर्व प्राणी मायेच्या गुणाने आबद्ध आहेत. स्वर्ग काय, ब्रह्मलोकापर्यन्त शान्ति नाही, परमशान्ति तर प्रभुचे पादपद्मप्रत पोचल्यानेच प्राप्त होत असते'.

सनातन–'प्रभो! ब्रह्माजींना तर असेलच, कारण ते तर चराचर विश्वाचे ईश्वर आहेत, त्यांना दुःख काय असणार! ते तर संपूर्ण जगत् उत्पन्न करतात'.

प्रभुंनी हसत उत्तर दिले–'सनातन! ईश्वर तर तोच एक श्रीकृष्ण आहे. कोणास ठाऊक किति असंख्य ब्रह्मा प्रतिक्षणीं ह्या जगांत उत्पन्न होत असतात व नष्ट होत असतात'.

आश्चर्याने सनातन म्हणाले–'प्रभो! हे आपण कसे म्हणता? संपूर्ण ब्रह्मांडाचे ईश्वर तर ब्रह्माजी एकटेच आहेत. ब्रह्मदेव असंख्य आहेत, ही गोष्ट माझे ध्यानांत येत नाही. हे आपण मला समजावून द्यावे'.

मोठ्या प्रेमाने प्रभु सांगू लागले–'ठीक आहे, तुम्ही आता ऐका. तुम्ही आता ज्या काशीपुरीत बसलेले आहात, अशा पुण्यकारक व पापनाशिनी सात पुऱ्या ह्या भारतवर्षांत आहे व लाखो नगरे आहेत. अशा प्रकारचे नव खण्डयुक्त द्वीपास जंबुद्वीप म्हणतात. त्या नऊ खंडाची नावे–भारतवर्ष, किन्नरवर्ष, हरिवर्ष, कुरुवर्ष, हिरण्मयवर्ष, रम्यकवर्ष, इलावृत्तवर्ष, भद्राश्ववर्ष व केतुमालवर्ष–अशी आहेत. ह्या नऊ खंडयुक्त द्वीपासच जंबुद्वीप म्हणतात. जंबुद्वीपाचे दुप्पट शाकद्वीप आहे, शाकद्वीपाचे दुप्पट शाल्मलीद्वीप आहे, व त्याचे दुप्पट कुशद्वीप. कुशद्वीपापेक्षा दुप्पट क्रौंचद्वीप. त्याहीपेक्षा दुप्पट प्लक्षद्वीप व प्लक्षद्वीपाचे दुप्पट पुष्करद्वीप आहे. ह्याप्रमाणे पृथ्वीवर सात द्वीपे व सात समुद्र आहेत. कलियुगांतील पुरुष जंबुद्वीपसुद्धा पूर्णपणे जाणु शकत नाही. त्यांना क्षारसागराचाहि अन्त लागत नाही, तेव्हा दधि, घृत, मधु, क्षीरसागर ते समजूच काय शकणार? एक एक द्वीपानंतर एक एक समुद्र आहे. जंबुद्वीप सर्वांत लहान द्वीप आहे. पृथ्वीवर ही सात द्वीपे आहेत म्हणून पृथ्वी सप्तद्वीपा म्हटली जाते. इजला भूलोकहि म्हणतात. ह्याचप्रमाणे भू नन्तर भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः व सत्य हे लोक वर आणि तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, पाताल व रसातल, हे सात लोक खाली आहेत. ह्या प्रत्येक लोकामध्ये अनेक लहान-लहान लोक आहेत. स्वर्गांतहि पाहा असंख्य लोक आहेत. रात्रीचे वेळीं जे हे असंख्य तारे चमकतात, ते सर्व स्वर्गांतील निरनिराळे लोक

आहेत. तेथेहि पृथ्वीप्रमाणे असंख्य जीव आहेत. चन्द्रलोक, भौमलोक, बुधलोक, सूर्यलोक ह्यासारखे असंख्य लोक स्वर्गात आहेत. त्यांना सूर्याचे प्रकाशाचीहि अपेक्षा नसते. ते सर्व आप-आपले प्रकाशाने प्रकाशित असतात. लाखो, करोडो नाही असंख्य लोक इतके मोठे आहेत कीं, ज्यांचे समोर सूर्यप्रकाश अन्धुक दिसतो. हे सर्व लोक स्वर्गातच समाविष्ट आहेत असे म्हटले जाते. स्वर्गाच्या वरती महर्लोक आहे. त्यांतहि असंख्य जीव आहेत. ह्याचप्रमाणे जन, तप व सत्यलोकांत असंख्य लहान लहान स्वतन्त्र लोक आहेत. खालील सात लोकांतहि स्वर्गाप्रमाणेच सुख आहे. नरकांतील लोकहि तेथेच आहेत व नरकही लाखो प्रकारचे आहेत. ह्या चौदाहि लोकांचे स्वामी ब्रह्मदेव आहेत. ब्रह्मलोक सर्वांहून श्रेष्ठ आहे. ह्या चौदाहि लोकांस ब्रह्मदेवाचे अण्ड म्हणजे ब्रह्माण्ड म्हणतात. ह्या ब्रह्माण्डाचे स्वामी सदैव एकच ब्रह्मदेव असत नाही. शंभर वर्षांनंतर ते बदलतात. ती शंभर वर्षेहि आमची नाहीत, ब्रह्मदेवाची स्वताची ती शंभर वर्षे'.

सनातन–'प्रभो! ब्रह्मदेवाचे वर्षाचे परिमाण सांगावे?'

प्रभु सांगतात–'ठीक आहे, तुम्ही हिशेब करा. जे कोणत्याहि प्रकारे दिसू शकत नाही व ज्याचे कोणत्याहि प्रकारे विभाग होऊ शकत नाही, त्यास 'परमाणु' म्हणतात. दोन परमाणुचा एक 'अणु' होतो. तीण अणुंचा एक 'त्रसरेणु' होतो. 'त्रसरेणु' दिसतो. झरोक्यांतून वा लहानशा खिडकींतून येणारे सूर्यप्रकाशांत जे लहान-लहान कण उडतातसे दिसतात, तेच 'त्रसरेणु' होत. हे इतके हलके असतात कीं, ते जमीनीवर पडतंच नाहीत. ते आकाशांतच उडत असतात व सूर्यप्रकाशाबरोबर झरोक्यांतून दृष्टिस पडतात. जितके वेळांत सूर्य तीन 'त्रसरेणु' उलंघून पुढे सरकतो त्यावेळास 'त्रुटि' म्हणतात. अशा तीनशे त्रुटिंचा एक 'बोध'

होतो. तीन बोधांचा एक 'लव' व तीन लवांचा एक 'निमेष' म्हणतात. तीन निमेषांचा एक क्षण व पाच क्षणांचे कालास एक काष्ठा ही संज्ञा आहे. पंधरा काष्ठांचा एक 'लघु' व पंधरा लघुंची एक 'घटका'. दोन घटकेचा मुहूर्त व सहा किंवा सात ( दिवसाचे वाढणे घटनेच्या कारणाने ) घटकांच्या मनुष्यांचा एक 'प्रहर' होतो. चार प्रहरांचा दिवस व चार प्रहराची रात्र, ह्याप्रमाणे आठ प्रहरांची दिवस-रात्र म्हणतात. अशा सात दिन रात्रीचा एक 'सप्ताह' व पंधरा दिवसांचा 'पक्ष' होतो. शुक्ल व कृष्ण-भेदाने 'पक्ष' दोन आहेत. दोन पक्षांचा एक 'मास'. दोन मासांचा एक 'ऋतु' व तीन ऋतुंचे एक 'अयन'. उत्तरायण व दक्षिणाय अशी दोन अयने. अशा दोन अयनांचे मनुष्याचे एक वर्ष होते. उत्तरायणास देवतांचा 'दिवस' व दक्षिणायनास देवतांची 'रात्र' म्हणावी. अर्थात् ज्यास आम्ही वर्ष म्हणतो, ते देवतांचे एक दिवस असते. देवतांचे तीनशे-साठ दिवसांचे एक वर्ष होते. ह्यास दिव्य-वर्ष म्हणतात. देवतांच्या चार हजार वर्षांचे एक सत्ययुग, तीन हजार वर्षांचे त्रेता, दोन हजार वर्षांचे द्वापार व एक हजार वर्षांचे कलियुग. एक युग वितून गेल्यावर लागलीच दुसरे युगाचा प्रारंभ होत नाही, म्हणून त्या पूर्वीचे व पश्चातचे कालास सन्धि व सन्ध्यांश म्हणतात. सत्ययुग आठशे दिव्य वर्षांचे, त्रेताची सहाशे वर्षे, द्वापार चारशे वर्षे व कलियुग दोनशे वर्षे. ह्याप्रमाणे सन्धि-सन्ध्यांश काल सांगीतलेला आहे. चार युगास 'चौकडी' म्हणतात. देवतांचे बारा हजार वर्षांची ( अर्थात् मनुष्यांची त्रेच्याळीस लाख वीस हजार वर्षे ) एक चौकडी व अशा जेव्हा एकहत्तर चौकड्या होतात, तेव्हा एक 'मन्वन्तर' होते. एक मन्वन्तर पुरे होताच पूर्वीचे इन्द्र, मनु, सप्तर्षि आदि बदलून जातात व त्या ऐवजी नवीन नेमले जातात. अशी चौदा मन्वन्तरे वितून गेल्यावर 'ब्रह्मदेवाचा एक दिवस' होतो व तितकीच

मोठी त्यांची रात्र असते. त्यांच्या एका दिवसांत चौदा इन्द्र व चौदा मनु बदलतात. ब्रह्मदेवाचे एक दिवसास 'कल्प' म्हणतात. दिवसा ते सृष्टिचे काम करीत असतात व रात्रौ सर्व सृष्टिचा संहार करून ती आपणांत लीन करून ते झोपी जातात व दिवस उगवताच पुन्हा कामास लागतात. ह्याप्रमाणे हा ब्रह्मदेवाचा रोज व्यापार सुरू असतो. ब्रह्मदेवाचे तीनशे साठ दिवसाचे 'ब्रह्मवर्ष' होते व अशा वर्षांनी ब्रह्मदेवाची आयु शंभर वर्षांची असते. कल्पात तर तीनच लोकांचा नाश होतो. ब्रह्मदेवाच्या आयुष्याचे नंतर ह्या चौदा भुवनाचे ब्रह्माण्डाचाच नाश होतो, ह्यास 'महाप्रलय' म्हणतात. तेव्हा ब्रह्मदेव ब्रह्मलोकांतील मुक्तपुरुषांसह भगवन्ताचे शरीरामध्ये प्रवेश करतात व नन्तर नवीन ब्रह्मदेव निर्माण होतात'.

प्रभुंच्या मुखाने हे ब्रह्मदेवाचे आयुर्मान श्रवण करताच परम विस्मित झालेले सनातनजी विचारतात–'प्रभो! हे तर महान् आश्चर्य आहे. हे ऐकू तर पराकाष्ठेचे वैराग्य बाणते. ह्या हिशेबाने आमची शंभर वर्षांची आयु तर कांहीच नाही. ती ब्रह्मदेवाचा एक क्षण काय 'लवा'च्याहि कोटी अशांच्या बरोबर भरत नाही. अशांतच हा प्राणी इतका गर्व करतो!'

प्रभुंनी उत्तेजन देण्यासाठी उल्लासाने उत्तर दिले, 'सनातन! हा प्राणी समजत नाही म्हणून तर तो मायांत फसला जाऊन आपला क्षुद्र परिवारच सर्व कांही समजतो. कुव्यांतील बेडूक समुद्राचे अनुमान काय करू शकणार? त्यास तर कुव्यापेक्षा मोठा असा दुसरा समुद्रच नाही. तुम्हास प्रत्यक्ष दिसतच आहे कीं, तुम्ही ज्यास एक दिवस म्हणता त्यांत लाखो जीव असे आहेत कीं, जे अनेक वेळा मरतात व अनेक वेळा नवा जन्म धारण करतात. तुमचा एकच दिवस होतो त्यांत ह्यांचे

अनेक जन्म वितून गेलेले असतात. देवता व ब्रह्मदेवाच्या तुलनेने तुमची आयु तर केवल कसपटा समान आहे. सर्व पुराणांत ह्या विषयींचे फारच सुन्दर वर्णन केलेले आहे. पुराणांत हे नीट समजावे म्हणून एक फार मनोहर कथा सांगीतलेली आहे.

सत्ययुगांत रैवत नामक एक महान् पराक्रमी व सर्वशक्तिमान राजा होता. ब्रह्मदेवाच्या वरप्रदानाने तो सर्व लोकांत जात-येत असे. सत्य-युगांतील माणसे आजच्यापेक्षां चौपट उंच होते. त्यांना एक रेवती नांवाची कन्या होती. ती साधारण मुलीपेक्षा कांहीशी जास्त उंच होती. पुष्कळ तपास करूनहि महाराजांना तिचे योग्य वर मिळाला नाही. तेव्हा ब्रह्मदेवांनाच विचारून निर्णय करून घेण्याच्या विचाराने तो आपले कन्येसह ब्रह्मलोकांत आला. ब्रह्मदेवास प्रणाम करून बसल्यावर ब्रह्मदेवाने हास्यवदन करून विचारले–'सांगा, राजे महाराज! कां आगमन झाले?'

हात जोडून दीनपणे महाराजांनी सांगीतले–'भगवन्! आपले चरणांचे दर्शनासाठी आलो आहे. असाहि विचार केला कीं, ह्या मुलीचे पतीचे संबंधानेहि आपणास विचारावे. आपण आज्ञा कराल त्यासच हिजला मी देईन'.

ब्रह्मदेव हास्यमुखाने म्हणाले–'तुम्हीच सांगा. तुम्हास कोणता राजकुमार पसंत आहे?'

कांहीसा विचार केल्यावर महाराजांनी सांगीतले–'प्रभो! अमुक अमुक राजकुमार मला सर्वांत अधिक बरा वाटतो, मग आपण ज्यास आज्ञा कराल, त्यासच मी ही मुलगी देईन. आपली आज्ञा घेण्यासाठीच आलो आहे'.

इतके ऐकल्यावर भगवान् ब्रह्मदेव आपली पांढरी शुभ्र दाढी हलवीत मोठ्याने हसू लागले व म्हणाले–'राजन्! ज्या राजकुमाराचे तुम्ही नाव सांगत आहा, ते कुल तर कधीच नष्ट होऊन गेलेले आहे. तुम्हास माहीत नाही कीं, ह्या अर्धा घटकेच्या कालावधींत पृथ्वीवर वीस वेळा सत्ययुग, त्रेता व द्वापार होऊन गेले. आता तर त्या वंशाचे नाव-निशाणहि नाही. तुमची राजधानी अन्य राजाने आपली राजधानी केलेली आहे. आता तर तेथे कलियुग येण्याची तयारी आहे. तुम्ही आताच जा, व्रजांत श्रीकृष्णाचे वडील बन्धु शेषाचे अवतार बलराम अवतीर्ण झालेले आहेत, तेथे जाऊन ही कन्या त्यांना द्या, ते सर्व बरोबर करून घेतील'. ब्रह्मदेवाची आज्ञा शिरोधार्य करून व प्रणाम करून, महाराज पृथ्वीवर आले, आणि रेवती बलरामास देऊन ते हिमालयात तपश्चर्येसाठी निघून गेले.

सनातन म्हणतात–'प्रभो! ब्रह्मदेवहि स्थिर राहात नाही. ह्या जगताचे एकमात्र स्वामीची ही गति होते आहे!'

प्रभु म्हणतात–'जो उत्पन्न होतो, त्याचा अन्त हा अवश्य होणारच. मग तो आज हो वा उद्या! हो, मी तुम्हास हे सांगत होतो कीं, जसे हे चौदा लोकांचे ब्रह्माण्ड आहे, अशी असंख्य ब्रह्माण्डे ह्या विश्वांत आहेत व त्यांचे स्वामी, असंख्य ब्रह्मदेव, विष्णु व महेश आहेत. ज्याप्रमाणे औदुंबराचे झाडास असंख्य फळांचे झुमके लागतात, त्याप्रमाणे विश्वांत अनन्त झुमके लागलेले आहेत. ब्रह्माण्डांतील समस्त प्राणी ह्या फळांतील घुंघरटाप्रमाणे आहेत. महाविष्णुचे नाभिकमलापासून ब्रह्मदेव उत्पन्न होतात व ते सृष्टि उत्पन्न करण्याची सुरूवात करतात. असंख्य ब्रह्मदेव गंगेच्या प्रवाहाप्रमाणे निघून सृष्टि करण्यास प्रवृत्त होतात. त्यांच्या श्वासोश्वासाबरोबर सृष्टिची उत्पत्ति व

नाश होतो. ह्याच व्यापाराचे नाव आहे जगच्चक्र. कुंभाराचे चाकाप्रमाणे हे संसारचक्र वा जगच्चक्र सारखे फिरत राहाते व त्यायोगे सृष्टिची उत्पत्तिहि सुरू राहाते'.

सनातनजी अगदी वैराग्याचे स्वरांत म्हणाले–'प्रभो! ह्यांतून सुटण्याचा उपाय कृपा करून दाखवावा?'

प्रभुंनी सांगीतले–'श्रीकृष्ण ह्या चक्रापासून अगदी पृथक् आहेत. त्यांचा ह्या सृष्टि, स्थिती व लय ह्यांच्याशी कांहीच संबंध नाही. हे तर ब्रह्मा, विष्णु व महेश ह्यांना उत्पन्न करीत असतात, आणि स्वतः नित्य गोपींच्या बरोबर आनन्दाने रासक्रीडा करीत असतात. ते वृन्दावन सोडून एक पाऊलहि इकडे तिकडे जात नाहीत. ह्याचसाठी सर्वात्मना व सर्वभावेन त्यांनाच शरण जाण्याने ह्या चक्रांतून मुक्ति होऊ शकते'.

सनातन–'प्रभो! मला उपाय सांगावा'.

प्रभुंनी म्हटले–'सनातन! मी तर सांगीतलेच आहे. ते तपाने, जपाने, योग-यज्ञाने तथा पाठ-पूजेने प्रसन्न होत नाही, त्यांचे प्रसन्नतेचे एकच साधन अनन्यः होऊन त्याची भक्ति करणे हे आहे. प्रेमा-भक्ति-विना कोणीहि त्यांना प्राप्त करू शकत नाही. ज्यास ते आपला म्हणून स्वीकारतात, त्यास ते आपली सखी वा गोपी ह्या स्वरूपाने आपल्या लीलेंत सम्मिलित करून घेतात. सखी झाल्यावाचून दुसरे कोणास त्यांच्या क्रीडेचा अनुभव घेणे शक्य नाही. सखी कोणास स्वताहोऊन थोडेच होता येते. जो आपले पुरुषार्थाने त्यांच्या क्रीडेंत सम्मिलित झाल्याचा अभिमान बाळगतो, असा पुरुष त्यांचेपर्यन्त केव्हाहि पोचू शकत नाही. जेव्हा अनन्य होऊन, दीनपणे, निराश्रय होऊन, सर्व प्रकारचे पुरुषार्थांचा त्याग केल्यावर, केवलमात्र त्यांचाच आश्रय ग्रहण करण्यांत येतो, तेव्हा कोठे तिकडे पाऊल टाकण्याचा अधिकार प्राप्त होऊ शकतो'.

सनातन–'प्रभो! अनन्यता कशी प्राप्त होते, भक्तिचा अंकुर कसे रीतीने हृदयांत उत्पन्न होईल?'

प्रभुंनी सांगीतले–'सनातन! अनन्यता प्राप्त करण्याचा सर्वोत्तम असा एकच उपाय आहे. परमहंस शिरोमणी जडभरताने रहूगण राजास सांगीतले आहे कीं—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

भगवान् जडभारत सांगतात–'राजन् रहूगण! महात्म्यांच्या चरणरजांत लोळल्यावाचून भगवत्-कृपेची प्राप्ति तपाने, यज्ञाने, दानाने, घरदाराचे त्यागाने, वेदपठणाने, जल, अग्नि, या सूर्याच्या सेवनाने होत नाही'. त्याच्या प्राप्तीचे एकच साधन आहे साधु-सेवा हे आहे. त्यावाचून भगवत् कृपा व्हावी अशी इच्छा करणारा, नौकेवाचून हातांच्याच जोरावर समुद्र तरण्याची इच्छा करतो आहे असे समजावे. प्रल्हाद आपले पित्यास म्हणतात—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किंचनानां न वृणीत यावत्॥

हे तात! ज्यांचे हृदयांतून विषय-विकार अगदी निघून गेलेला आहे, अशा परम पूजनीय भगवद्भक्तांच्या चरणरजांत मनुष्य सर्वतोपरि

आपाद मस्तक स्नान करीत नाही तो पावतो वेदवाक्याने शुद्ध झालेल्या बुद्धिचाहि पुरुषहि प्रभुंच्या पादपद्मासमीप पोचण्यास सुद्धा समर्थ होऊ शकत नाही. अर्थात् तत्वदर्शी ज्ञान्यांची जोपावेतो श्रद्धापूर्वक, भक्ति-युक्त होऊन प्रेमाने सेवा केली जात नाही तोपावेतो, तो भगवत्-कथा श्रवण करण्याचाहि अधिकारी होऊ शकत नाही. भगवान् स्वयं म्हणतात—

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥**

अर्थात् 'हे अर्जुन! तूं दण्डवत्-प्रणाम-सेवा व निष्कपट भावाने केलेले प्रश्नद्वारा ते ज्ञान जाणशील. (विनीत भावाने विचारल्यावर) ते तत्त्वदर्शी महात्मागण तुला त्या ज्ञानाचा उपदेश करतील'.

ज्याचे अन्तःकरणांत देवता, द्विज, गुरुजन व भगवत्-भक्तांचे विषयीं श्रद्धेचा भाव आहे, तो उपदेशास अधिकारी आहे. ज्यांचा ह्यांचे ठिकाणीं श्रद्धेचा-भाव नाही, तो परमार्थाकडेस पुढे सरकणेच शक्य नाही, मग प्रभु-कृपा-पात्रतेची गोष्टच कशास? सनातन! पुष्कळ बोलण्यांत काय ठेविलेले आहे, मी तुला सारातिसार सांगतो. श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्ति करून घेणे हाच प्राणिमात्राचा परमपुरुषार्थ आहे. परम आराध्य तेच श्रीनन्दनन्दन वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रच आहेत. आपले सर्व पुरुषार्थांचा अभिमान सोडून अनन्य भावाने व्रजांगनेप्रमाणे संसारी बन्धनांतून तोंड फिरवून पतिभावाने त्यांची आराधना करणे, हीच उपासनेची उत्तमांतील उत्तम प्रणाली आहे व पठनीय शास्त्रांत श्रीमद्-भागवतच सर्वोपरि शास्त्र आहे. कारण हे भगवान् व्यासांनी सर्व पुराणानन्तर, ज्याप्रमाणे दही घुसळून त्यांतून सारभूत लोणी काढून घेतात, त्याप्रमाणे सर्व शास्त्रांचे मंथन करून सार काढलेले आहे. झाले,

हाच कल्याणाचा मार्ग आहे. हेच तुम्ही माझे मताचे सार समजा, ह्याचेपेक्षा अधिक कोणी एकादे गोष्टीचा आग्रह धरील तर ते अन्यथा माना.

'आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नापरः॥'

माझे हे ज्ञान नीट ध्यानांत धरा. साधु-महात्मा-सन्त तथा भवद्भक्तांचे चरणीं दृढ अनुराग ठेवा. ते कसेहि असले, तरी त्यांची निन्दा करू नका. सर्वांना ईश्वरबुद्धिने नम्र होऊन प्रणाम करा, तुमचे कल्याण होईल, हा मी तुम्हास अन्तःकरणपूर्वक आशीर्वाद देतो. माझे ह्या अमल-विमल शास्त्र सम्मत ज्ञानाचा तुम्ही विस्तारपूर्वक भक्तिचे ग्रन्थांत वर्णन करावे. मंगलमय भगवान् तुमचे मंगल करील'. इतके म्हणून महाप्रभु चुप झाले.

महाप्रभु चुप झाल्यावर सनातनांनी भक्तिभावाने महाप्रभुचे चरणीं प्रणाम केला व महाप्रभुंनी त्यांचे शरीरावर हात फिरवून त्यांना आशीर्वाद दिला. ह्याप्रमाणे दोन महिने महाप्रभुंच्या सन्निध काशींत राहून सनातन निरनिराळे शास्त्रीय प्रश्न विचारित होते व महाप्रभुहि त्यांना फार प्रेमाने सर्व गुप्त रहस्य समजावून सांगत होते. ह्या दोन महिन्यांतच सनातनजींनी भक्ति मार्गांतील गुढातिगुढ अशा पुष्कळशा गोष्टी समजावून घेतल्या, ज्यांचे विस्तारपूर्वक त्यांही आपले अनेकशः ग्रंन्थांत वर्णन केले आहे.

# स्वामी प्रकाशानन्दजी मनाने भक्त झाले

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः
हटेन केनापि वयं शठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन

श्रीपाद प्रकाशानन्दस्वामींचे नाव तर पाठकांना पूर्व परिचित आहेच. त्यांची जन्मभूमि तेलंग देशात होती. दक्षिण-यात्रेंत महाप्रभुंनी श्रीरंगक्षेत्रांत बलगंडी ह्या गावीं वेंकटभटाचे घरीं चातुर्मास व्यतीत केला होता. वेंकटभट वैष्णवसांप्रदायीक होते. त्यांचे चिरंजीव गोपाल-भटाने प्रभुंची उत्तम प्रकारे सेवा केली होती व पित्याचे परलोक गमनानंतर प्रभुंचे आज्ञेनुसार गोपालभट वृन्दावनांत वास करण्यास गेले व तेथे अन्तपर्यन्त श्रीराधारमणाची सेवा करीत होते.

वेंकटभट व मधले त्रिमल्लभट व सर्वांत लहान श्रीपाद प्रकाशानन्दजी. संन्यासापूर्वीचे ह्यांचे काय नाव होते त्याची माहिती मिळु शकली नाही. हे संन्यासी झाल्यावरहि आपले पुतणे गोपाळभट ह्यांचेवर ह्यांचे अत्यधिक प्रेम होते. आपला पुतण्या फार मोठा पांडित होईल अशी त्यांची अपेक्षा होती, परन्तु जेव्हा त्यांही ऐकले कीं, एका बंगाली युवक साधुचे संसर्गाने गोपालभट शास्त्राचे पठण-पाठण सोडून 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' बडबडत आहे. तेव्हा त्यांना कांहीसे दुःख झाले व त्या युवक संन्याशाशी शास्त्रार्थ करावा अशीहि ह्यांना इच्छा झाली. ह्यानन्तर त्यांनी जेव्हा ऐकले कीं, आपले पुतण्यास ज्या संन्याशाने बहकविले, त्याच संन्याशाने सार्वभौम भट्टाचार्यासारखे परम विद्वान् पंडितासहि वश करून घेतले असून ते त्यास अवतार समजत आहेत. या योगे त्यांची जिज्ञासा

आणखी वाढली व त्याच जिज्ञासेचे फलस्वरूप त्यांही प्रभुकडे व्यंगपूर्ण पत्रे पाठविली होती, जी पाठकांनी ह्या पूर्वीच वाचलेली आहेत.

तोच युवक संन्यासी आता काशीस आला असल्याचे जेव्हा त्यांना समजले, तेव्हा कसे रीतीने भेट घ्यावी ह्याचा ते विचार करीत होते. परन्तु भेट व्हावी कशी? प्रकाशानन्दजी काशींतील प्रसिद्ध पंडित व सन्माननीय संन्यासी. तेव्हा ते असल्या अज्ञात संन्याशाचे भेटीस कसे जाणार? असल्या भेटींत वाद-विवाद होणार हे जाणून प्रभुनेहि त्यांचे कडेस जाण्याचे टाळले व दहाबारा दिवसानन्तर प्रभु वृन्दावनास गेले.

वृन्दावनाहून परत आल्यावर महाप्रभु दोन महिने काशींत राहिले. ह्या अवधींत ते अगदी साधारण संन्याशाप्रमाणे राहात होते. आपले दोनचार भक्तांसह भगवन्नाम संकीर्तन व जप ते करीत असत.

जो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण प्रभुच्या चरणीं विशेष प्रेम करीत होता, तो श्रीप्रकाशानन्दजीकडेस प्रायः जात असे व यथाशक्ति तो त्यांची द्रव्यादिनी सेवा-सुश्रुषाहि करीत असे. जेव्हा जेव्हा महाप्रभुंच्या संबंधाने गोष्टी निघत तेव्हा तेव्हा प्रकाशानन्दजी त्यांचेबद्दल निन्देच्या शब्दांत बोलत असत. तसे पाहिले तर त्यांचे हृदय सरस, कोमल व भावुक होते. ते प्रणयाचे ऐकान्तिक उपासक होते, परन्तु हा वेळपावेतो त्यांचा भाविकपणा अद्वैतवेदान्ताचे प्रखर युक्तींनीं प्रच्छन्न केलेला होता. त्या कारणाने त्यांचा सरसपणा व भाविकपणा प्रस्फुटित झालेला नव्हता. प्रायः पाहण्यांत येते कीं, असे गुण महापुरुषांचे संसर्गानेच एकदम विकसित होतात. स्वामी विवेकानन्द प्रथम नास्तिक असून फार कुर्तकवादी होते. परमहंस रामकृष्णदेवांचा मस्तकावरून हात फिरताच कोण जाणे ती त्यांची नास्तिकता कोठे नष्ट झाली. त्याचप्रमाणे स्वामी प्रकाशानन्दांच्या ललित-वृत्ति श्रीचैतन्य-चरणांच्या दर्शनानेच विकसित

झाल्या. शेवटी त्यांही श्रीचैतन्य गुणवर्णनपर इतकी सुन्दर कविता लेहिली कीं, ज्यायोगे कठोरातिकठोर हृदयसुद्धा द्रवीभूत होऊ लागले. त्यांही लिहिलेले श्रीचैतन्य चन्द्रामृत काव्याची जितकी प्रशंसा करावी तितकी थोडीच आहे ! अस्तु !

एके दिवशीं सहज गोष्टींत गोष्ट काढीत त्या महाराष्ट्रीय सज्जनाने स्वामीजीस म्हटले–' स्वामिन् ! त्या चन्द्रशेखर वैद्याचे घरीं जे संन्यासी उतरलेले आहेत, त्यांचे मुखावर किति आकर्षता आहे, जो एकवेळ त्यांना पाहातो तो लागलीच त्यांचे भजनीं लागतो. त्यांची वाणी कारुण्यमय आहे. भगवत्-गान करता करता ते एकदम मूर्छित होऊन जातात'.

प्रकाशानन्द म्हणाले–' अरे, काय आम्ही त्यास जाणत नाही ? नीटपणे ओळखतो. ते कांही आकर्षण-मन्त्र जाणतात, म्हणून तर त्यांही सार्वभौम भट्टाचार्यासारखे विद्वान् सुद्धा बहकविले. परन्तु येथे मात्र त्यांची दाळ शिजणार नाही. ह्या विश्वनाथाचे पुरींत त्यांचे भक्तिस दोन कवड्यासहि कोणी विचारणार नाही. येथे स्त्रियांप्रमाणे नाचणारे नाहीत. बंगाली लोकांप्रमाणे येथे भाविक व न शिकलेली माणसे नाहीत. येथील भंगी-मोचीसुद्धा ब्रह्मज्ञानाच्या गोष्टी समजतात'. हे ऐकून त्या महाराष्ट्रीय ब्राह्मणास फार वाईट वाटले. तो विचार करू लागला– 'इतके महान्' विद्वान् व त्यागी पुरुषाचे अन्तःकरणांतहि ह्याप्रमाणे द्वेषाग्नि प्रबल असतो. इतके ज्ञान झालेले असताहि लोक दुसऱ्याची प्रशंसा ऐकून घेऊहि शकत नाही. खरोखरच प्रतिष्ठा-पिशाचिका अत्यन्त प्रबल असते, हेच खरे ! महान् पंडितांतील पंडितहि स्वताची प्रतिष्ठा वाढावी ह्यासाठी दुसऱ्यांची निन्दा करण्यांत संकोच करीत नाहीत. 'लोकेषणा किती प्रबल आहे'! दुसरे दिवशीं त्या भाविक सज्जनाने ह्या

सर्व गोष्टी प्रभुंना सांगीतल्या व तो पुढे म्हणू लागला–'प्रभो! स्वामीजी म्हणतात कीं, येथे आपले भक्तिस कोणी दोन कवड्यांनीहि विचारणार नाही'.

प्रभुंनी म्हटले–'आम्हास दोन कवड्यांशी करावयाचेच काय आहे? विनामूल्य तर कोणी घेईल ना? आम्ही तर तसेच लुटवून देऊ आणि इतक्यावरहि कोणी घेणार नाही तर फेकून चालते होऊ. कधी कोणी उचलून तर घेईल'.

प्रभुंचे ह्याप्रमाणे सरल व विद्वेष रहित उत्तर ऐकून त्या महाराष्ट्रीय सज्जनाची प्रभुंच्या चरणीं श्रद्धा आणखीन वाढली व तो विचार करू लागला कीं, 'ह्यांचे एक एक गोष्टीचा माझेवर इतका प्रभाव पडतो आहे, तर प्रकाशानन्दाना ह्यांचा साक्षात्कार झाल्यास त्याचा उद्धारच होईल. ते मूर्ख नाहीत, हट्टी नाहीत, सुखाचे इच्छु नाहीत. प्रभुशी गोष्टी करता करताच ते पाणी पाणी होऊन जातील व निन्दा करण्याचे विसरून त्यांचे सेवक होतील. परन्तु भेटच कशी व्हावी? ते येथे येणार नाहीत, प्रभु तिकडे जाणार नाहीत'. तेव्हा तपनमिश्र, चन्द्रशेखर व आणखीहि चारपाच भक्तमंडळीसह विचार केला व संन्याशांना निमन्त्रण करून एकत्र करण्याचे व तो खर्च त्या महाराष्ट्रीय ब्राह्मणाने करण्याचे निश्चित झाले.

त्या महाराष्ट्रीय ब्राह्मणाने काशींतील सर्व मठवासी व विरक्त संन्याशांना निमन्त्रित केले. सर्व संन्यासी नियत समयीं त्या सज्जनाचे घरीं येऊन उपस्थित झाले. सर्वांना बसण्यासाठी गादी तक्ये, लोड आदिची व्यवस्था करण्यांत आली होती. मोठ-मोठे मठधारी संन्यासी लोड, तक्याला टेकून बसले असून त्यांचा शिष्य-समूह जवळच बसला होता. आप-आपसांत चर्चा सुरू झाली. कोणी विवेक-चूडामणींतील श्लोक

म्हणत तर कोणी शंकरभाष्यांतील पंक्ति म्हणत व निर्विशेष-ब्रह्माची सिद्धि करण्यांतच आपले सर्व पांडित्य खर्च करीत होता. सर्वांच्या मध्यभागी मुख्य आसनावर श्रीमद्प्रकाशानन्द सरस्वती विराजमान झाले होते. देवतांनी वेष्टित ब्रह्मदेवाप्रमाणे तो सर्व समूह दिसत होता.

त्या सज्जनाने फारच प्रार्थना व आग्रह केल्याकारणाने प्रभुहि येण्यास सहमत झाले. चालताना प्रभुंनी सनातनजींच्या स्कन्धावर हात ठेवलेला होता. मागे तपनमिश्र, चन्द्रशेखर व आणखी चार पाच भक्त चालत होते. घराच्या द्वाराजवळ पोचताच प्रभुंनी सनातनांच्या खांद्यावरील हात उचलला व खाली दृष्टि करून ते हळूहळू घरांत शिरले. पाय धुण्यासाठी सेवक पाणी घेऊन आला परन्तु प्रभुंनी स्वतःचे हातानेच पाय धुतले व तेथेच ते तसेच अस्ताव्यस्तपणे बसले.

संन्यासी मंडळांत एकदम स्तब्धता पसरली. सर्वजण टक लावून प्रभुस निरखु लागले. तीस-बत्तीस वर्षांचा एक संन्यासी, परम तेजस्वी, देखणा कोणत्याहि प्रकारे दिखाऊपणा न करता गुपचुपपणे अगदी शेवटी एका बाजूस बसला, ह्या योगाने सर्व आश्चर्यचकित झाले. प्रभुचे शरीर फारच सुकुमार होते, त्यांना दाढी-मिशा फारच कमी निघालेल्या होत्या व त्यांही अगदी मुंडविलेल्या होत्या, त्या कारणाने दिसण्यांत ते सोळा वर्षांचे युवकाप्रमाणे दिसत होते. सर्व समजले तर खरे कीं, हेच महाप्रभु चैतन्यदेव आहेत, परन्तु सर्वांच्या समक्ष स्वतःची प्रतिष्ठा राहावी म्हणून प्रकाशानन्दांनी गृहपति त्या महाराष्ट्रीय ब्राह्मणास विचारले–'हे स्वामी कोठून आलेले आहेत?'

त्यांहि हळूच सांगीतले–'हेच ते बंगाली संन्यासी, ज्यांचे संबंधाने मी आपणास सांगीतले होते'.

मोठा आनन्द दर्शवीत प्रकाशानन्द म्हणतात–'हेच कां ते श्रीकृष्ण-चैतन्य भारती ? ह्यांची ख्याति तर आम्ही पुष्कळ दिवसांपासून ऐकत आहोत. आज ह्यांचे एकाएकी दर्शन झाले. (प्रभुकडे पाहून) आपण तेथे कां बसलात, इकडे या, तेथे आपण शोभत नाही'.

मान खाली घालून प्रभुनी हळूच उत्तर दिले–'भगवान्! मी हीन संप्रदायाचा आहे, तेव्हा आपणाबरोबर कसा बसू शकणार ? येथेच ठीक आहे'.

प्रभुंची सरलता व नम्रता पाहून प्रकाशानन्द स्तब्ध झाले. दोन तीन वेळा म्हटल्याने प्रभु आपले ठिकाणावरून उठत नाहीत, असे पाहिल्या-वर प्रकाशानन्द स्वता उठले व त्यांहि प्रभुंचा हात धरून त्यांना आपले समोरच गादीवर बसविले. अत्यन्त विवशपणे व शरीर आवरून प्रभु बसले. प्रभु हलके स्वरांत भगवन्नाम-स्मरण करीत होते. कांही बोलावे म्हणून प्रकाशानन्द म्हणतात–'स्वामिन्! आपणापाशी आमची एक तक्रार आहे, आपण पहिल्याने येथे आला होता व मला न भेटताच निघून गेलात. साधुंचे संबंधी साधुच असतात. वाराणसींत आपला एक मठ आहे, तेथे न राहाता आपण गृहस्थाच्या घरींच मुक्काम केलात. मलाहि भेटला नाहीत. आपण मला परका मानतासे वाटते'.

प्रभुंनी ह्याचे कांहीच उत्तर दिले नाही, त्यावर एक चुळबुळ्या युवक संन्यासी हळूच म्हणाला–'मौनम् स्वीकृति लक्षणम्'. हे ऐकताच सर्व संन्यासी मंडळांत जोराचा हंशा पिकला. सर्व शान्त झाल्यावर प्रभुंनी हळूच म्हटले–'आपणासारख्या गुरुजनाच्या समोर मी काय तोंडाने येणार ? माझेंत इतकी योग्यता आहेच कोठे कीं, मी आपले दर्शन घेऊ शकेन, म्हणून संकोचाने आलो नाही'.

गोष्ट फिरवीत प्रकाशानन्द म्हणतात-'तुम्ही कटव्याचे केशव भारती पासूनच संन्यास घेतला आहे ना?'

प्रभुंनी पुन्हा हलकेच उत्तर दिले-होय, तेच माझे दीक्षागुरू होत'.

कांहीसे अटकत प्रकाशानन्दानी विचारले-'तुम्हास वाईट न वाटेल तर, एक गोष्ट विचारतो?'

प्रभुंनी अगदी दीनपणे उत्तर दिले-'आपण कसे म्हणता, आपण तर माझे हिताचेच विचाराल, आपण गुरुजन आहात, माझे कल्याणाचीच सदैव आपली इच्छा असणार'.

प्रकाशानन्द म्हणाले-'हां! हां! मी असे विचारतो कीं, संन्याशाचा मुख्य म्हटला म्हणजे भिक्षेवर निर्वाह व वेदान्त चिन्तन. युक्तिने, शास्त्रप्रमाणाने, आप्त पुरुषांचे वाक्यद्वारा ह्या सत्यसे प्रतीत होणारे जगताचे निस्सारतेचाच विचार करावा. तुम्ही वेदान्ताचे चिन्तन टाकून हे हरिनाम स्मरण कां करीत असता?'

प्रभु नम्रपणे म्हणाले-'भगवन्! माझे गुरुदेवाने मला असाच उपदेश केलेला आहे. त्यांही मला वेदान्तशास्त्राचा अनधिकारी समजून मला हाच मन्त्रोपदेश दिलेला आहे व आज्ञा केली कीं, ह्याचा जप करीत जा. त्यांही सांगीतले होते—'कलियुगांत दुसरे कोणते सुगम साधनच नाही'—

**हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।**
**कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥**

म्हणून मी रात्रंदिवस ह्याच मन्त्राचा जप करू लागलो. निरन्तरच्या जपाने मी कांहीसा वेड्यासारखा झालो, घरदार कांहीच बरे वाटेना,

डोळ्यांतून आपले आपुणच अश्रु प्रवाह वाहू लागला, तेव्हा मी घाबरलो व मी माझे गुरू महाराजांना विचारले–'भगवन्! मला हा आपण कसा मन्त्र दिला आहे, ह्या योगे मी तर अगदी वेडाच झालो आहे. तेव्हा गुरुंनी मला भागवतांतील कांही श्लोक ऐकविले व म्हटले–'ही स्थिति वाईट नाही, हे शुभ लक्षण आहे. तुम्ही ह्याच प्रकारे जप करीत जा'. अतएव भगवन्! मी तेव्हापासून रात्रंदिवस सारखा जप करीत असतो. नित्य जपाने समजा वा अभ्यास म्हणा पाहिजे तर, ह्या नामांत अशी आसक्ति जडून गेली आहे कीं, मी सोडण्याचा प्रयत्न केला तरी ते सुटणे शक्य नाही'.

प्रभुंचे म्हणणे ऐकल्यावर गोष्ट बदल्याचे हेतुने प्रकाशानन्द म्हणू लागले–'हरिनामस्मरण फारच उत्तम आहे, कलिसन्तरण उपनिषदांत भगवन्नामाचा फारच महिमा वर्णन केलेला आहे, परन्तु तुम्ही ब्रह्मसूत्राचे संबंधाने उदासीन कां असता? वेदान्त दर्शने कां मानीत नाही'.

नम्रपणे प्रभु म्हणाले–'भगवन्! वेदास मानणारा असा कोण अस्तिक पुरुष असेल कीं, तो व्यासांची ब्रह्मसूत्रे मानणार नाही?' प्रकाशानन्द म्हणाले–'वेदान्तसूत्रांत निर्विशेष-ब्रह्माचे प्रतिपादन केलेले आहे. अहंग्रहउपासनाद्वारा निर्विशेष-ब्रह्माचे चिन्तन न करता नाचगानांत रत राहाणे वेदान्त-सूत्रांस न मानण्यासारखेच आहे'.

प्रभुंनी म्हटले–'मी हे मानीत नाही कीं, व्यासांनी वेदान्तसूत्रांत केवल निर्विशेष-ब्रह्माचेच प्रतिपादन केले आहे. माझे तर मत असे आहे कीं, ह्यांत सविशेष गुणविशिष्ट ब्रह्माचेच वर्णन प्राधान्याने केलेले आहे'.

कांहीसे चकीत होऊन संन्याशांचेकडे दृष्टि फेकीत प्रकाशानन्दजी म्हणू लागले–'हे तुम्ही कसे अशास्त्रीय म्हणत आहा! ब्रह्मसूत्रांतील

प्रत्येक सूत्रांत निर्विशेष ब्रह्माचेच प्रतिपादन केलेले आहे. भगवान् शंकराचार्यांनी विस्तारपूर्वक आपले भाष्यांत ह्याचे वर्णन केलेले आहे. काय तुम्ही शारीरकभाष्य शिकला नाहीत, वा तुम्ही आचार्यासच मानीत नाही?'

प्रभुंनी म्हटले–'मी सार्वभौम भट्टाचार्याचे शारीरकभाष्य ऐकले आहे व माझे अल्प-मतिप्रमाणे कांहीसे समजलोहि आहे. असा बरे कोण असेल कीं, जो जगद्-गुरु शंकराचार्यांना मानणार नाही? तेच तर दशनामी शांकरसांप्रदायाचे आदि आचार्य व जगन्मान्य गुरु आहेत. त्यांचे चरणीं माझी पूर्ण श्रद्धा आहे'.

प्रकाशानन्द म्हणाले–'हे तर न मानण्यासारखेच झाले कीं, जो त्यांचे भाष्याचे विरुद्ध बोलतो आहे. भगवन् व्यासांचे मूळ भाव तर शंकर भगवानच समजले. त्यांही संपूर्ण भाष्यामध्ये त्याचे एक निर्गुण, निर्विशेष, उपाधिरहित, अखण्ड सत्तेचे वर्णन केलेले आहे. जर जगत् असे वास्तवतः नाहीच व जीव ब्रह्मांत जर भेदच नाही, तर स्तुति कशाची? विनय व प्रार्थना कोणाची? सर्व नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्मस्वरूपच आहे. ब्रह्माचे अतिरिक्त कांही आहेच नाही. जो काय हा भास वाटतो, तो स्वप्नवत् सर्व मिथ्या आहे'.

प्रभुंनी म्हटले–'व्यास भगवानांनी तर ब्रह्मसूत्रांचे भाष्य स्वतःच केले आहे व ते केल्यावरच त्यांना शान्ति प्राप्त झाली व तेव्हापासून त्यांही लेखनाचाच परित्याग केला. श्रीमद्भागवतच ब्रह्मसूत्राचे निर्विवाद भाष्य आहे. ही भगवान् व्यासांची अन्तिम कृति आहे, ह्यांत जे कांहीं सांगण्यांत आलेले आहे, तेच सर्वांत अधिक मान्य आहे. आपण तर सर्व शास्त्रवेत्ते आहात, आपणच नीटपणे सांगा कीं, श्रीमद्-

भागवतांत निर्विशेष ब्रह्माची प्रधानता आहे वा साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रासच सविशेष पूर्णब्रह्मपरमात्मा म्हटलेले आहे?'

प्रकाशानन्दांनी सांगीतले–'होय. हे तर अगदी सत्य आहे कीं, भगवान् व्यासांनी श्रीमद्भागवत सर्व शास्त्रांचे सार घेऊन रचलेले आहे. नारदांच्या उपदेशानुसार त्यांही भगवन्ताच्या लीलांचे वर्णन केल्याने त्यांना परमशान्ति प्राप्त झाली व आत्माराम-मुनीपर्यन्त सर्वांसाठी ग्रन्थारंभीं भगवत्-भक्ति करीत राहण्याचा संकेत केला असून त्यांही त्याचे कारण असे सांगीतले आहे—

**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युसक्रमे ।**
**कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥**

अर्थात् भगवन्ताच्या गुणांमध्ये दिव्यताहि अशी आहे कीं, कितीहि अज्ञानरहित आत्माराम मुनि कां असेना, तेहि भगवन्ताची अहैतुकि भक्ति करतात, हे मला पटते. परन्तु भगवान् शंकराचार्यांनी जे एकदम सविशेष ब्रह्मास गौण ठरवून परमसाध्य निर्विशेष ब्रह्मच (श्रेष्ठ) मानले आहे, ते कां? ही माझी शंका आहे?'

प्रभुंनी उत्तर दिले–'भगवान् शंकराचार्य श्रीमद्भागवतसुद्धा यथाविधि जाणत होते, इतकेच नाही त्यांची भागवतावर परम श्रद्धा होती. हे पण त्यांचे जाणण्यांत होते कीं, श्रीमद्भागवत भगवान् व्यासद्वारा प्रकट झाले व त्यांचे प्रतिपाद्य सविशेष सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णच आहे. असे असताहि त्यांहि निर्विशेष ब्रह्मासच आपले भाष्यांत प्राधान्य देत तेच चरम लक्ष्य मानले आहे, हे त्यांच्या महत्तेचे लक्षण आहे.

महान् पुरुषावाचून असे साहस दुसरा कोणी करू शकणार नाही. त्यांही लोक-कल्याणाच्याच निमित्ताने असे केले आहे'.

प्रकाशानन्द म्हणतात-'सूत्रांचे अर्थांचा अनर्थ करण्यांत कोणते लोककल्याण आहे?'

प्रभुनी हळूच म्हटले-'भगवान्! अर्थ कशाचा वा अनर्थ कशाचा? हे तर सर्व बुद्धिचे विकार आहेत. सत्य पदार्थ कोठे शब्दद्वारा कां व्यक्त होऊ शकतात, अथवा त्याची सिद्धि तर्काचे द्वारा होऊ शकते कां? खरा म्हणजे सत्य पदार्थ तर अनुभवगम्य आहे. कोणते पदाचा काय वाटेल तो अर्थ लावून घ्यावा, अर्थ लावण्यात बुद्धिचातुर्यापेक्षा दुसरे आहेच काय? अर्थ लावणे, व्याख्यान करणे, भाष्य वा पुस्तकाची रचना करणे, हे सर्व लौकिकी बुद्धिचे काम आहे. ह्याने मुक्ति थोडीच मिळणे शक्य आहे? केवळ लोकांचे मनोरंजन करणे आहे'.

प्रकाशानन्द म्हणतात-'बरे असो, हे तर सांगा कीं, भगवान् शंकराने काय हेतूने जगतास एकदम उडवून देऊन निर्विशेष ब्रह्मच परमसाध्यतत्व मानले?'

प्रभु हळूच स्वस्थतेने व मधुर शब्दांत म्हणाले-'भगवन्! शंका वा तर्क करीत राहाणे हे अज्ञान वा पूर्वजन्मकृत पापाचे फल आहे. खरोखर ज्यांना ईश्वराचे अस्तित्वाबद्दल शंकाच उत्पन्न होत नाही, ते महाभाग पुरुष धन्य होत. ते ईश्वरास सर्वशक्तिमान व सर्वान्तर्यामी आणि चराचर विश्वाचा साक्षी मानून त्याचेच चिन्तन करीत असतात. अशांचेसाठी, लिहिणे, वाचणे, बोलणे व ध्यान-उपासना हे आवश्यक

नाही. जो सदैव भगवन्तासच सर्वत्र समजून व सर्वोठायीं भगवत्बुद्धि ठेवून व्यवहार करील, त्याचेच्याने अनर्थकारक काम होणारच नाही. ग्रन्थभार तर अज्ञानाचे चिन्ह आहे. ज्यास भगवन्ताचे सर्वान्तर्यामीपणाचा विश्वास नाही, ज्यांचे मनांत नानाप्रकारच्या शंका उठतात, अशांचेसाठी शास्त्र आहे कीं, ज्यांचेद्वारा ते आपले तार्किकबुद्धिस श्रद्धामयपणाची मुरड घालतील. जर अन्तपर्यन्त बुद्धि तर्कांतच गढून राहील, तर शास्त्रांचा अभ्यास व्यर्थ आहे. शास्त्र-पठनाचे फल तर्कातीत होऊन श्रद्धाळु होणे हे आहे. जो जसा, जितका तार्किक, तशाचेसाठी तशाच शास्त्रांची आवश्यकता लागत असते'.

दोन प्रकारचे पुरुष असतात. एक हृदय प्रधान, व दुसरा मस्तिष्क (बुद्धिप्रधान वा बुद्धिप्रामाण्यवादी) प्रधान. हृदयप्रधान कमी असतात, व मस्तिष्कप्रधान अधिक असतात. मस्तिष्कप्रधान तर्कावाचून कोणतीहि गोष्ट मानीत नाहीत, ज्याप्रमाणे विषावर औषध विषच, अग्निने भाजल्यास तेल लावून अग्निने शेकण्यानेच आराम होतो, त्याप्रमाणे तार्किकास तर्कद्वाराच जिंकले पाहिजे. तर्क करीत करीत बुद्धिस इतके सूक्ष्म विषयांत नेली पाहिजे कीं, तेथून पुढे जाण्यास बुद्धिस शक्तिच न राहिली पाहिजे. तर्क करण्याने स्थूलबुद्धि सूक्ष्म होते व सूक्ष्मबुद्धिच परमार्थाकडेस लागते. भगवान् शंकरांनी तर्क आणि युक्तिच्याद्वारा भगवत्तत्वाचे अशा चातुर्याने वर्णन केले आहे कीं, मोठयांतील मोठा तार्किकसुद्धा तेथून पुढे पाऊल टाकु शकत नाही. खरोखर भगवान् शंकरानी तर्काचा अन्त केला आहे. वेदान्त श्रवण व पठणाचे इतकेच प्रयोजन आहे कीं, ज्यांची बुद्धि तर्कप्रधान आहे, त्यांही तीस सूक्ष्म व परिष्कृत करून तिजला परमार्थगामिनी करावे. सदैव तर्क-पंकांतच गढून राहणे लक्ष्य नाही. कारण परमार्थाचा मार्ग तर्कातीत आहे.

अज्ञान व श्रद्धा ह्यांत आकाश पाताळाचे अन्तर आहे. अज्ञानीहि तर्क करू शकत नाही, परन्तु जो पावेतो त्याचे मनांत खरी श्रद्धा उत्पन्न होणार नाही, तो पावेतो तो परमार्थ थोडाच साध्य करू शकणार आहे? आणि ज्याचे हृदयांत श्रद्धा आहे, तो अज्ञानी केव्हाहि राहणारच नाही, कारण खरी श्रद्धा तर विचाराचा अर्थात् तर्काचा अन्त झाल्यावरच उत्पन्न होते. तर्क व शंका उत्पन्न होणे हे पूर्वजन्मकृत पापाचे फल आहे. त्याचप्रमाणे तर्क उत्पन्न होताच त्यास आळशी व अज्ञानाप्रमाणे दाबून टाकणे सुद्धा महापाप आहे. असा आळशी परमार्थी होऊच शकत नाही. तो खरा अर्थात् मुळांत श्रद्धाळु नसताहि श्रद्धाळुपणाचे ढोंग करीत असतो, आणि ढोंग्यापासून भगवान् फार दूर असतात.

जे हृदयप्रधान आहेत, भावुक आहेत, सरळ आहेत, त्याचे मनांत शंका उठतच नाहीत, ते तर सदैव आपले आवडत्याचे गुणगानच ऐकण्याची इच्छा करतात, त्यांना सविशेष वा निर्विशेषाचे सिद्धिचे कांहीच प्रयोजन नाही. भक्ति करीत राहा, सविशेष वा निर्विशेष जे जसे असेल तसे ते स्वयं प्रकट होईल. ह्या साठीच तर श्रीकृष्णचरणाम्बुजच सत्य आहे. जगत् सत्य असो वा असत्य, त्याशी त्यांचे कांहीहि प्रयोजन नसते'.

प्रकाशानन्दजी म्हणतात–'तर यास दम्भ म्हणावे लागेल कीं, समजतात एक व सिद्ध करतात एक. भगवान् शंकर तर, त्रिकालीहि हे जगत् सत्य मानीत नाहीत, ते तर ह्यास अनिर्वचनीय ब्रह्माचे मायेचा एक भ्रमपूर्ण पसारा समजतात. असे मानणारे ते सविशेष-ब्रह्माची उपासना करण्यास कसे सांगतील?'

प्रभुंनी उत्तर दिले–'सांगणारच काय? त्यांही स्वतः (उपासना) केली आहे. मनाची गति थोडीच कांही कोणी थांबवू शकणार आहे?

जगत् नाही, आम्हीच ब्रह्म आहो, हे मस्तिष्कांचे विचार आहेत. त्यांचे हृदयास तर विचारा, ते स्वता काय म्हणत आहेत—

**सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।**
**सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥**

पाहिजे तर जीव ब्रह्मांत भेद नसेलहि, तरीपण हे नाथ! मी तुमचाच आहे. परन्तु तुम्ही स्वयं मात्र माझे नाही हं! 'समुद्राचे तरंग' असेच सर्वजण म्हणतात, परन्तु 'तरंगांचा समुद्र' असे कोणी म्हणत नाही. हे त्या महापुरुषाचे वाक्य आहे कीं, जे जीवनभर जीव-ब्रह्माची एकताच सिद्ध करण्यांत गढलेले होते'.

आश्चर्याने प्रकाशानन्द म्हणाले–'हा तर आचार्यांचा विनोद आहे. जसे येथे कल्पित जगत् आहे, तशाच व्यवहाराने त्यांनी हे म्हटलेले आहे. खरोखरच जर जगताचे अस्तित्वच नाही, तर कोठला विनय व कशाची प्रार्थना? सदैव स्वतासच ब्रह्म समजण्याचा अभ्यास करीत राहिले पाहिजे'.

प्रभुंनी सांगीतले–'भगवत्! आपले हे म्हणणे ठीक आहे, परन्तु पुन्हा मी तेच म्हणतो कीं, सांसारिक कार्याने क्षुब्ध झालेल्या बुद्धिस कांहीशी शान्तता या योगे लाभेल, परन्तु खरी शान्ति तर हृदयाच्या स्वास्थ्यानेच मिळणारी आहे. जेव्हा सर्व तर्क विसरून एकान्तांत भगवान् शंकराचार्याप्रमाणे अशा रीतीने दीन होऊन प्रार्थना कराल तेव्हाच हृदयास खरी शान्ति मिळणे शक्य आहे. आचार्यचरण आपले प्रसिद्ध षट्-पदींत प्रार्थना करतात—

**मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवता सदा वसुधाम्।**
**परमेश्वरपरिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम्॥**

जगतास त्रिकालीहि सत्य न मानणारे भगवान् शंकराचार्य म्हणतात –'आपण मत्स्यादि अवतार धारण करून सदैव पृथ्वीचे परिपालन करीत आहा. हे प्रभो! संसार तापाने सन्तप्त झालेलो मी आपणास शरण आलो आहे, आपण माझे रक्षण करा'. हे हृदयांतील अगदी सत्यबोल आहेत. (हा खरे हृदयांतील आवाज आहे).

प्रकाशानन्द म्हणाले–'यथार्थात तर हे जगत् असत्यच आहे व जीवच ब्रह्म आहे, परन्तु लोक हे समजत नाही व असत्य जगतासच सत्य समजतात, त्यासाठी भगवान् शंकरानी ज्याप्रमाणे जगताची व्यावहारिक सत्ता मानली आहे, त्याचप्रमाणे ही व्यावहारिक प्रार्थना आहे. तसे पाहिल्यास मुक्ति हेच जीवाचे चरम लक्ष्य आहे व भ्रमनिरास होताच ह्या अज्ञानाचा नाश होतो व अज्ञानाचा नाश होताच जीव ब्रह्मस्वरूप होतो, होतो काय, त्यास आपले सत्यस्वरूपाचा बोध होतो'.

प्रभुंनी अत्यन्त नम्रतेने म्हटले–'भगवन्! आपण ज्ञानी आहात, पंडित आहात, शास्त्रज्ञ आहात, आम्हा सर्वांचे गुरु आहात. आपणासमोर मी सांगुच काय शकणार आहे? परन्तु मी पुन्हा म्हणतो कीं, 'हे हृदयांतील बोल नाहीत. विचाराचे परिष्कृत म्हणजे नटविलेले स्वरूप आहे. भगवन्! प्रेम हेच ब्रह्माचे सत्य स्वरूप आहे. प्रेमाची प्राप्ती करून घेणे हेच जीवाचे अन्तीम लक्ष्य आहे. ही बोलून दाखविण्याची वस्तु नाही. त्याचे गायन वाणीने नाही, परन्तु हृदयांतून होते, ते सांगता येत नाही, ते स्वतः सिद्ध आहे. साधनांचे द्वारा ते प्राप्त होणे शक्य नाही. ह्याची प्राप्ती तर प्रभुकृपेनेच होते. मी पुन्हा म्हणतो कीं, भगवान् शंकरांनी केवल मस्तिष्कप्रधान पुरुषांची बुद्धि सुक्ष्मतमतेस नेऊन पोचविण्यासाठीच शारीरकभाष्याची रचना केली आहे. त्यांचे अन्तःकरण

तर प्रभुप्रेमाच्या पुढे मुक्ति आदिस तुच्छ समजत होते. ते स्वयं म्हणतात–

**काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किंचित् फलं स्वेप्सितं**
**केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः।**
**अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां**
**किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ॥**

'पुष्कळ लोक प्रतिदिनी अनेक कामनांनी उपासना करून मनवांच्छित फलांची इच्छा करतात, कांही लोक यज्ञायागादिद्वारा स्वर्गाची इच्छा करतात, पुष्कळसे योगादिद्वारा मुक्तिची प्रार्थना करतात; परन्तु आम्हास तर नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्राचे पदारविन्दाचे ध्यानांत तत्पर राहाण्याचीच इच्छा आहे. उत्तम–लोकप्राप्ती, राजपद, स्वर्गापासून मोक्षापर्यन्तचे प्राप्तीशी आम्हास काय काम आहे? आम्हास तर सदैव तेच अरुणचरणाचे ध्यान अन्तःकरणांत राहावे हीच इच्छा आहे'.

हा श्लोक म्हणता म्हणता प्रभुंचा गळा दाटून आला. त्यांचे शरीरांत सर्व सात्विक भाव उदित झाले. ते भाव संवरण करण्याची त्यांची इच्छा होती, परन्तु ते त्यांना साधले नाही. प्रभुंचे नेत्र वर चढले गेले, शरीरांतून घामाच्या धारा वाहू लागल्या. भानरहीत होऊन ते एका तत्त्यास टेकले. त्यांची ही दशा पाहून प्रकाशानन्द आश्चर्यचकीत झाले व ते आपले वस्त्राने प्रभुस वारा घालु लागले. जमलेले संन्यासीसमूहावर प्रभुंच्या बोलण्याचा व ह्या त्यांचे अद्भूत दशेचा फारच प्रभाव पडला. पुष्कळ तर त्यांचवेळी 'हरि हरि' म्हणून नाचु लागले. प्रकाशानन्दांच्या अन्तःकरणांतहि खळबळ उडाली. त्यांचे मन त्यांना वारंवार म्हणे–'अरे मूर्ख, तुझे अज्ञान घालविण्यासाठी साक्षात् श्रीहरि संन्याशाचा वेष धारण

करून तुझे सन्मुख उपस्थित झालेले आहेत, तूं त्यांचे पादपद्म धरून आपले पूर्वकृत पातकांची क्षमा कां याचित नाहीस?' परन्तु इतके मोठे प्रतिष्ठेची लालसा त्यांचे अन्तःकरणांतून अद्याप समूल नष्ट झालेली नव्हती. मनाने तर ते प्रभुचरणाचे दास झाले होते. मन तर त्यांही त्याचवेळीं श्रीकृष्णचैतन्य-नामधारी हरीचे चरणकमलीं समर्पित करून टाकले होते, परन्तु शरीर अद्यापी लोकलज्जावश होते.

प्रभु लागलीच सावध झाले. कांहींसे लज्जित होऊन ते तक्यापासून दूर सरून बसले. त्याचवेळीं भोजनास उठावे म्हणून यजमानांनी सर्वांना विनविले. प्रभुंनीहि सर्वांसह भिक्षा-ऊर्फ भोजन केले. शेवटी त्यांही श्रीप्रकाशानन्दाना प्रणाम केला व ते भक्तांसहीत चन्द्रशेखरांच्या घरीं गेले.

# श्रीप्रकाशानन्दजींचे आत्मसमर्पण

**भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामठ**
**स्वच्छन्द पिंब यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु।**
**सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधां**
**श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज ॥**

भक्तचितचोर श्रीगौरा गांनी अद्वैतवेदान्ताचे प्रकाण्ड पण्डित श्रीप्रकाशानन्दांचे मन बळाने आपलेकडेस आकर्षित करून घेतले. ते एकादे अजाणे माणसाप्रमाणे प्रभुचे मनाने चरणकिंकर झाले, कारण ते प्रभुचेच होते. प्रभु गेल्यावर प्रकाशानन्दजी आपले मठांत गेले. तेथे त्यांना कांहीच बरे वाटेना. वेदान्ताचे ग्रन्थ त्यांना चावण्यास दवडतातसे वाटु लागले. त्यांचे चित्त आता श्रीचैतन्यचरण चिन्तनांतच सुख अनुभवु लागले. महाप्रभुची मनोहर मूर्ति त्यांचे हृदयांत गढल्यासारखी झाली. ते त्यांचे अनुपम रूपमाधुर्याचा मनांतले मनांत रसास्वादन करू लागले. त्यांना आपले पूर्वापराधांचा सन्ताप येऊ लागला–'अररे! जे इतके सरल, विनयशील, सुन्दर आहेत, अशाचे संबंधाने मी किती किती वाईट शब्द उच्चारले! त्यांचा श्रीविग्रह किती तेजोमय, प्रकाशमय व आनन्दमय आहे. त्यांचे रोमरोमांतून प्रेमाचा प्रवाह सारखा बाहेर फुटून निघत आहे. सरलतेची तर ते साकार मूर्तीच आहे'. प्रकाशानन्दजींचा ह्याप्रमाणे विचार प्रवाह सुरू असतानाच ते महाराष्ट्रीय सज्जन आले. ते स्वामींना साष्टांग प्रणिपात करून बसले व थोडे वेळाने त्यांही विचारले–'भगवन्! आपण त्या बंगाली स्वामीचे दर्शन केले. आपण आता तर पाहिलेच कीं, त्यांचे शरीरच प्रेममय आहे'.

इतके ऐकताच प्रकाशानन्दांनी त्यांचे पाय धरले व म्हणाले– 'भैय्या ! तुम्ही माझा उद्धार केला. अभिमानास बळी पडून स्वतास महान् पण्डित समजणारे म्यां पतिताने त्या महापुरुषाची न जाणो किती वेळा निन्दा केली ? ते तर साक्षात् ईश्वरच आहेत ! शरीरधारी नारायण आहेत ! त्यांनी ज्या गोष्टी सांगीतल्या त्या अगदी सत्य आहेत'.

आपले पाय मागे सरकवीत तो महाराष्ट्रीय सज्जन म्हणाला– 'भगवन् ! मला कां विनाकारण पापांत लोटीत आहा ? माझेसारख्यास तर आपणच साक्षात् शंकर आहात. आपणास ज्ञान, अज्ञान कशाचे ? आपण सर्वज्ञ आहात. लोकशिक्षणासाठी व भक्तिचा महिमा वाढविण्यासाठी आपण हे असे केले. आपण आपले ह्याच जीवनांत हे प्रत्यक्ष दाखविले कीं, कितीहि मोठा ज्ञानी कां असेना, त्या अरविन्दाक्ष भगवान् श्रीहरीचा आश्रय कधीहि सोडता कामा नये. जो अभिमानाने अच्युताचा आश्रय सोडील त्याचा अधःपात होतो हे निश्चित. मी आपणास शतशः प्रणाम करतो'.

ह्याप्रमाणे पुष्कळ गोष्टी झाल्या व तो सज्जन आपले घरीं गेला. दुसरे दिवशीं झालेला प्रकार प्रभुंना निवेदन करणेसाठी हे सज्जन प्रभुच्याकडेस जात असता रस्त्यांतच गंगास्नान करून परत येतांना प्रभु ह्यास भेटले. प्रभुंना प्रणाम करून हे म्हणाले–'प्रभो ! प्रभो ! महान् आश्चर्य ! खरोखर आपली माया अपार आहे, प्रभो ! अहो ! जे आपली हा वेळपावेतो फारच निन्दा करीत होते, ते वेदान्तशिरोमणि श्रीमत् प्रकाशानन्दजी एकादे लहान मुलाप्रमाणे रडतात आहेत. आता त्यांना वेदान्तचिन्तन, शास्त्राचे पठण-पाठण कांहीहि आवडत नाही, आता ते सदैव श्रीचैतन्यचरणाचेच चिन्तन करीत आहेत'.

*

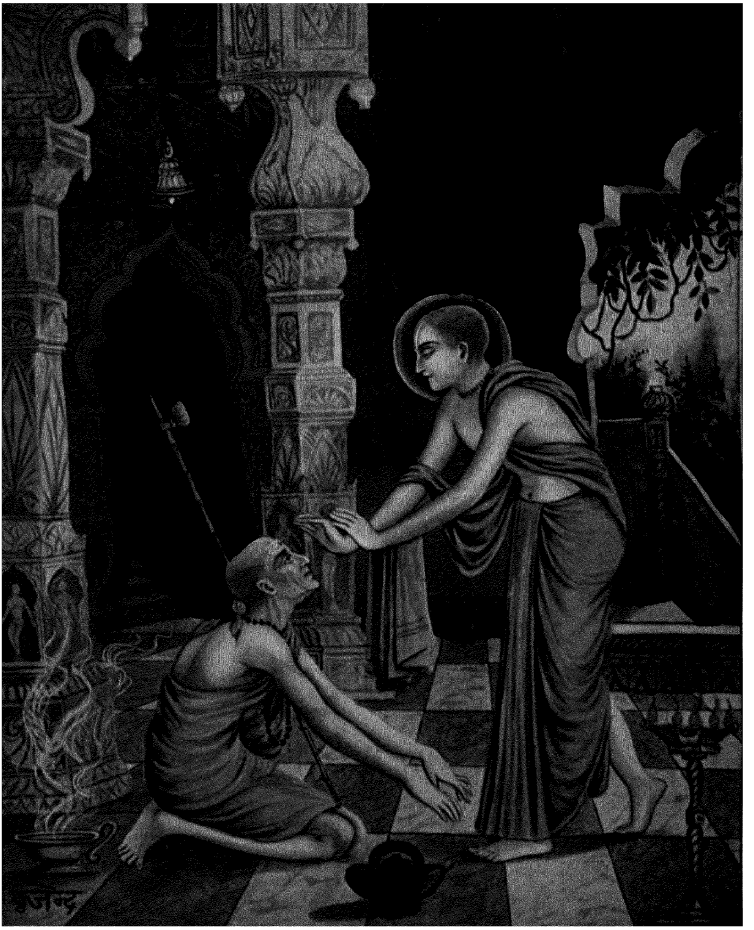

प्रकाशानन्दजी प्रभुके पैरोंमें पड़ गये

THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

हे ऐकून प्रभु अगदी उल्लसितपणे नाचु लागून म्हणतात–'भगवान् फार दयालु आहेत, त्यांही पूज्यपाद श्रीप्रकाशानन्दावर कृपा केली, त्यांना प्रेमदान करून आपले करून घेतले. अहाहा! अशा महापुरुषांची चरणधूलि मी माझे मस्तकावर धारण करून स्वतास कृतार्थ करून घेईन'. इतके म्हणत म्हणत प्रभु बिन्धुमाधवाच्या मन्दीरांत दर्शनास शिरले. भगवन्ताची ती मनोहर मूर्ति पाहताच भावावेशांत येऊन प्रभु नृत्य करण्यास लागले. श्रीसनातन, चन्द्रशेखर, तपनमिश्र आदि भक्तहि प्रभुंच्याबरोबर ताली वाजवून नाचू लागले व मुखाने—

**हरि हरये नमः कृष्णयादवाय नमः।**
**गोपाल गोविन्द राम मधुसूदन॥**

हे पद गाऊ लागले. प्रभु बाह्यज्ञानशून्य होऊन नृत्य करीत होते. बहुतसे दर्शनार्थी प्रभुचे नृत्य पाहात उभे राहिले. संकीर्तनाचा सुमधूर ध्वनि ऐकून स्वामी प्रकाशानन्दहि शिष्यांसह तेथे येऊन उपस्थित झाले व तेहि प्रभुंच्या स्वरांत स्वर मिळवून—

**हरि हरये नमः कृष्णयादवाय नमः।**
**गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥**

ह्या पदाचे गान करू लागले. थोडे वेळाने प्रभुंनी संकीर्तन थांबविले. तेव्हा त्यांना कांहीसे बाह्यज्ञान झाले. समोरच प्रकाशानन्दांना साशिष्य पाहताच त्यांही त्यांना अत्यन्त भक्तिपूर्वक प्रणाम केला, त्या बरोबरच प्रकाशानन्दांनी प्रभुंचे पाय धरले. आपले पाय मागे घेत प्रभु फार दीनपणे म्हणाले–'भगवन्! हा आपण काय अनर्थ करीत आहा, गुरुजन असून मला आपण पापांत कां पाडीत आहा! मी तर

आपले शिष्यांचे शिष्याचीहि बरोबरी करू शकणार नाही, सर्व ब्रह्मस्वरूपच आहे, असे आपले दृष्टिने जरी असेल, तरी लोकमर्यादेसाठी असे आपण करणे बरे नाही, आपण तर माझे परम वन्दनीय आहात'.

हळूहळू प्रकाशानन्द म्हणतात–'प्रभो! मी आपले पूर्व-कृत पापाचे प्रायश्चित करीत आहे. मी आपली लोकांसमक्ष फार निन्दा केली आहे'.

कानांवर हात ठेवीत प्रभु म्हणतात–'श्रीहरि, श्रीहरि! आपण हे काय म्हणत आहा! गुरुजन आपले शिष्य अथवा सेवकासंबंधी केव्हाहि वाईट बोलत नाही. ते तर सदैव त्यांच्या कल्याणाचाच विचार करतात. आपण बरे, माझे संबंधाने वाईट बोलणारच कसे!' ह्याप्रमाणे बरेच वेळपर्यन्त बोलणे झाल्यावर दोघेहि आप-आपले स्थानीं गेले.

सायंकालचे एकान्त वेळीं श्रीप्रकाशानन्दजी प्रभुचेकडेस स्वता आले. येताच त्यांही प्रभुचे चरणीं प्रणाम केला व ते एकादे नम्र शिष्याप्रमाणे एका बाजूस बसले. प्रभुंनी त्यांना मोठे प्रेमाने आलिंगन दिले व त्यांना आपलेजवळ बसविले.

तेव्हा दोन्ही हाताची अंजली करून अत्यन्त नम्रतेने प्रकाशानन्दांनी सांगीतले–'प्रभो! हा वेळपावेतो माझा मी समय अभिमान व आत्मश्लाघेतच घालविला. परमार्थ-पथाचे संबंधी मी अद्याप अगदी अनभिज्ञ आहे. तेव्हा आता मी काय केले पाहिजे. माझे मुख्य कर्तव्य काय आहे, ते आपण मला दाखवावे'.

प्रभुंनी म्हटले–'भगवन्! आपण कांही साधारण जीव नाही. आपण तर जीवनमुक्त आहा. आपण जे कांही करण्याची इच्छा करीत आहात,

व जे कांही आपण कराल, त्याचे एकमात्र उद्देश्य लोकसंग्रह व लोकशिक्षण हेच असणार. यासाठी भगवत्! मी हेच समजतो कीं, प्राणिमात्राचा परमपुरुषार्थ श्रीकृष्णप्रेमाची उपलब्धी हेच आहे. 'प्रभुचे पादपद्मीं प्रीति जडावी'—हेच सर्व साधनांचे अन्तीम फल आहे व सर्व कृत्ये ह्याच उद्देश्याचे पूर्ति निमित्त केली पाहिजेत'.

प्रकाशानन्दांनी विचारले–'प्रभो! प्रभु पादपद्मीं प्रेम कसे उत्पन्न होते?'

प्रभुंनी म्हटले–'सजातीय व विजातीय असे दोन पदार्थ असतात. जीव भगवन्ताचा अंश आहे, जर त्यास सजातीय भगवन्ताकडेस लावले तर आनन्दाची उपलब्धी होईल व त्यास विजातीय अशा संसारी कामांतच गुंतवून ठेवले तर, तो सदैव दुःखीच असा राहील, म्हणून अनन्य भावाने त्याच प्रभुस शरण जाण्यांतच कल्याण आहे, हाच (प्रभु) प्रेमप्राप्तीचा सर्वोत्तम उपाय आहे'.

प्रकाशानन्दांनी म्हटले–'प्रभो! शास्त्रांचा सिद्धान्त आहे, 'द्वितीयात् वै भयं भवति', अर्थात् दुसऱ्यापासून नेहेमी भयच असते, ह्याचा काय हेतू आहे? जोपावेतो सेव्य-सेवक भाव आहे, तोपावेतो द्वैत आहे व द्वैत हे भीतीचे कारण आहे, तेव्हा कोणते भावाने शरण जाऊ?'

प्रभुंनी म्हटले–'भगवन्! आपण ध्यानपूर्वक ह्या गोष्टीचा विचार करा. वास्तवीक द्वैतांत नेहेमी भय असते हे कबूल. अद्वैतभावावाचून शान्ति नाही. परन्तु विचार करा–अंशांत व अंशींत, सेव्य व सेवकांत, सख्यांत व सख्यांत, पित्यांत व पुत्रांत, आणि पति व पत्निमध्ये काय द्वैतभाव असतो? जेथे द्वैत असते तेथे प्रेम कोठचे? प्रेम तर एक

होण्यावर होत असते. ज्यास आम्ही आपला म्हणून स्वीकारतो तो दुसरा राहूच शकत नाही. व्यवहारांतसुद्धा आपण पाहातो कीं, जेव्हा एकादी गुप्त गोष्ट सांगावयाची असते, तेव्हा तो सांगणाराजवळ बसले असलेल्याकडेस साशंकतेने पाहू लागतो, त्यावेळीं ऐकणारा म्हणतो– 'तुम्ही निःशंकपणे बोला, येथे 'दुसरा' कोणी नाही, अर्थात् सर्व आपले आहेत'. तेव्हा आपलेपणा स्थापित झाल्यावर भयाचे कारणच उरतच नाही. पुढे तर आनन्दच दुणावत जातो. संबंध पांचच प्रकारचे असणे शक्य आहे–' अंश-अंशी संबन्ध, स्वामी सेवक संबन्ध, सख्य-संबन्ध, पिता-पुत्र संबन्ध व पति-पत्नि संबन्ध. ह्यानांच क्रमाने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य व कान्ताभाव म्हणतात. ह्यापैकीं कोणताहि संबन्ध भगवन्ताशी स्थापित झाल्यावर तेथे दुसरेपणा राहातच नाही. ह्याचे आपलेपणास अद्वैत म्हणतात. शान्तभावांत ऐश्वर्याची भावना असल्याने कांही द्वैताचा अंश शेष असतो. दास्यभावांत निरन्तर सेवकाची भावना असल्याने शान्तभावापेक्षा येथे द्वैतभाव कांही होतो. सख्यभावांत त्यांही पेक्षा द्वेत कमी होते, तरीपण कांही द्वैत तर सख्यभावांतहि शेष असतेच. सखा आपले (प्रिय) सख्यापासून ही तर इच्छा ठेवतोच कीं, ह्यानेहि आपणावर प्रेम करावे. सख्य-भावापेक्षा वात्सल्यांत द्वैत फारच सूक्ष्म होते, कारण पिता आपणांत व पुत्रांत कोणत्याहि प्रकारे भेदभाव ठेवीतच नाही. पुत्र पित्याचा आत्माच आहे. तरीहि द्वैधीभाव समूल नष्ट होत नाही. लालन-पालनजन्य कांही सूक्ष्म द्वैतांश तर शेष राहातोच. हां! कान्ताभावामध्ये द्वैताचे नावच राहात नाही. पत्नि आपले मनच पतीचे मनाशी मिळवून टाकते, असेच नसून ती हृदयाशी हृदय मिळवून पतीचे शरीरांत आपले शरीर मिळवून टाकते. तिचे सर्व व्यवहार, सर्व कार्ये, केवल पतीचे सुखासाठीच होत असतात. तिचे दृष्टिने तिचे अस्तित्व शेषच राहात नाही. तेथे न तर स्वामी-सेवक-भाव

आहे, न अंशी-अंश-भाव, तेथे तर केवल अद्वैत भावच असतो. पत्नि आपणासाठी सुखाची इच्छा करीत नाही, स्वताचे सुखांत तिला आनन्द वाटत नाही. प्रियतमाचे आनन्दांतच तिला आनन्द आहे. आपला प्राणप्रिय आनन्दित आहे, तीहि आनन्दीत आहे, कारण प्रियाहून पृथक् असे तिचे अस्तित्वच नाही. तेव्हा प्रियाच्या विरुद्ध तिचा व्यवहार वा कार्ये होणारच कशी? ह्याचे नाव मधुरभाव आहे. हाच भाव सर्वश्रेष्ठ आहे. ह्यांत भावान्वित झालेले पुरुषाच्या सर्व क्रिया बन्द होतात, त्याचा आपलेपणाच सर्वतोपरी नाहीसा होतो. यन्त्राप्रमाणे त्याचे शरीर आपले आपुणच कांही व्यवहार करीत असते. असा भाव कोणी एकादे भाग्यवान् पुरुषासच प्राप्त होतो. लाखो काय कोटीमध्ये असा एकादाच, तेव्हा अशाचे दर्शनहि एकादे भाग्यवानासच घडते. आपण तर श्रीकृष्णाचे निज-जनच आहात. आपणासारख्यास दुःसाध्य असा कोणता भाव आहे? भगवन्ताने आपणास आपला म्हणून स्वीकारले आहेच व ज्यास ते आपला म्हणून स्वीकारतात, त्यास ह्या भावांत दीक्षित होणे सहज आहे. योग्य-यज्ञ व जप-तप करून कोणी ह्या भावाचे अधिकारी आपण आहोत असे समजेल, तर तो त्याचा हा अनधिकारी प्रयत्न म्हटला जाईल'.

अती दीनपणे प्रकाशानन्दांनी म्हटले–'प्रभो! आज माझा पुनर्जन्म झाला. मी माझे हे महाभाग्य समजतो कीं, भगवन्ताने माझी शरणागती स्वीकारली. आता माझे ह्या पुनर्जन्माचे नाम संस्करण करावे व मी कोठे राहावे व काय करावे ह्याची मला आज्ञा व्हावी?'

प्रभुंनी सांगीतले–'प्रकाशानन्दजी! आपणास बोध तर प्रथमपासून झालेला होताच, आतां प्रभुंची कृपा झाल्याने त्याचा प्रकर्ष झाला, म्हणून आजपासून प्रकाशानन्द ह्याचेऐवजी आपले नाव प्रबोधानन्द

ठेविण्यांत येत आहे. राहाण्याचे एकच ठिकाण–'श्रीवृन्दावनधाम' व करण्याचेहि एकच काम 'श्रीवृन्दावनविहारीचे नामसंकीर्तन' अहर्निश करीत राहाणे. प्राणीमात्राचे उद्धाराचा हाच सर्वश्रेष्ठ उपाय आहे'.

प्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य करून श्रीप्रकाशानन्दांनी मठ, शिष्य, मन्दीर संपत्तिचा त्याचवेळीं परित्याग केला व ते श्रीवृन्दावनास निघून गेले. तेथे जाऊन ते कालियदमन घाटाजवळ राहू लागले. अन्तिम जीवन त्यांही फारच मधूर भावांत व्यतीत केले. ते वेड्याप्रमाणे वर हात कर करून नाचत असत. ते आपणास श्रीकृष्णसहचरी गोपी समजत. त्यांचे मधुरभावांतील गुप्त नाव होते. 'गुणचूडासखी' तेथे एक छोटेसे कुटित राहून ते अहर्निश श्रीकृष्ण-कीर्तन करीत असत. ते प्रकाण्ड पंडित असून उत्तम कविहि होते. त्यांची कविता फारच सुन्दर, सुललित व भावपूर्ण असे. त्यांही वृन्दावनाचे पवित्र भूमींतच ह्या पांच-भौक्तिक शरीराचा त्याग केला. कालियादमन घाटाचे नजीक अद्यापहि त्यांची समाधि स्थित आहे.

त्यांही रचलेले–'श्रीचैतन्यचन्द्रामृत,' 'श्रीवृन्दावन रसामृत,' 'श्रीवृन्दावनशतक' व 'श्रीराधारससुधानिधि'—हे चार ग्रन्थ उपलब्ध आहेत. 'श्रीचैतन्यचन्द्रामृत' फारच मधूर काव्य आहे. त्यांतील पुष्कळसे छन्द तर इतके भावपूर्ण आहेत कीं, वाचता वाचता चित्त नृत्य करू लागते. त्यांच्या एक एक पदांतून त्यांची प्रभुंचे प्रति असलेली प्रगाढ श्रद्धा प्रतित होते. जास्त तर नाही परन्तु त्यांतील एक कविता उध्दृत करतो—

निष्ठां प्राप्ता व्यवहृतिततिर्लोकिकी वैदकी वा
या वा लज्जा प्रहसनसमुद्गाननाट्योत्सवेषु।

**ये वा भूवन्नहह सहजप्राणदेहार्थधर्मा**
**गौरश्चौरः सकलमहरत् कोऽपि मे तीव्रवीर्यः ॥**

अत्यन्त बलवान् कोणी गौरवर्ण चोराने येऊन आमची लौकिकी व वैदकी व्यवहारनिष्ठा, (संकीर्तन करताना) जोरजोराने हसणे, गाणे व नृत्य करतांना वाटणारी लज्जा व प्राण व देहाचे कारणस्वरूप स्वाभाविक धर्म, हे सर्व हिरावून नेले. अर्थात ह्या वस्तु आता आमचे जवळ नाहीत. अहाहा ! धन्य आहेत असे लुटलेले यात्रेकरू व लुटणारा चोर ! आम्ही ह्या उभयतांनाहि प्रणाम करतो.

# श्रीसनातन वृन्दावनास व प्रभु (जगन्नाथ) पुरीस

कालेन वृन्दावनकेलिवार्ता
लुप्तेति तां ख्यापयितुं विशिष्य।
कृपामृतेनाभिषिषेच देव-
स्तत्रैव रूपंच सनातनंच॥

लगभग दोन महिने काशींत निवास करून महाप्रभुंनी दोन कार्ये केली. एक तर सनातनजींना शास्त्रोपदेश केला व दुसरे श्रीप्रकाशानन्दजींना (प्रभु) प्रेमदान दिले. प्रकाशानन्दासारखे प्रकाण्ड पंडिताचे भाव परिवर्तन झाल्याकारणाने प्रभुंची ख्याति सर्व काशीनगरींत पसरली. प्रभुंच्या दर्शनासाठी फार गर्दी होऊ लागली. पुष्कळसे वेदान्ति पंडित वेदान्ताचे शास्त्रार्थासाठी प्रभुंना आवाहन करीत. प्रभु नम्रतापूर्वक म्हणत-'मी शास्त्रार्थ काय समजणार? ज्यांना शास्त्रांच्या वाक्यार्थाचाच खल व छल करावयाचा असेल, त्यांही ते कृत्य निरन्तर करीत राहावे. मी तर सर्व शास्त्रांचे सारांतील सार हेच समजतो कीं, सर्वकाल, सर्वत्र, सदैव भगवन्नामाचेच ध्यान केले पाहिजे. जो अस्तिक पुरुष ह्याचे खंडन करण्यास सिद्ध असेल त्याने माझे समोर यावे'.

अशा ह्या लोकांच्या गर्दीने व गमनागमनाने प्रभुंचे चित्त उबले. पुष्कळ बोलणे प्रभुंना आवडत नव्हते, श्रीकृष्णकथेच्या अतिरिक्त एक शब्दहि ऐकण्याची त्यांना इच्छा नव्हती. संसारी लोकांच्या सम्पर्काने सांसारिक गोष्टी निघतात, ते प्रभुंना बरे वाटेना, तेव्हा त्यांही पुरीस जाण्याचे निश्चित केले. हा प्रभुंचा निश्चय समजताच दीनपणे हात जोडून सनातन विचारतात-'प्रभो! मला काय आज्ञा आहे?'

प्रभुंनी सांगोतले–'तुम्हीहि तुमचे बन्धुचेच अनुसरण करा. वृन्दावनांत राहून तुम्ही दोघा बन्धुनी लुप्त तीर्थांचा पुनरुद्धार करावा व भगवन्ताच्या अप्रकट लीलांचा, भक्ति-ग्रन्थद्वारा प्रचार करावा. तुम्ही उभयताहि वैराग्यवान् पंडित, रसमर्मज्ञ व कवि आहात. तुमचेद्वारा ज्या ग्रन्थाचे प्रणयन (निर्मिति) होईल त्यायोगे लोकांचे फारच कल्याण होईल. वृजांत येणारे गौडीय भक्तांची देखरेख करणे, हेहि तुमचे वरच सोपतो'.

हात जोडून अगदीच हळूच सनातन म्हणाले–'प्रभो! आम्ही अगदी अधम, तेव्हा, बरे आमचेकडून अशी मोठी कार्ये कशी होऊ शकणार? परन्तु आम्हास त्याचे काय? आम्ही तर यन्त्र आहोत, यांत्रिक ज्याप्रमाणे फिरवील त्याप्रमाणे फिरू व करवील ते करू! आमचा स्वताचा असा पुरुषार्थ त्यांत कांहीच नाही'.

प्रभुंनी म्हटले–'तुम्ही ह्या कार्यास प्रवृत्त तर व्हा, श्रीहरी स्वताच तुमचे हृदयांत शक्तिचा संचार करील, तुमचे अन्तःकरणांत श्रीकृष्ण-लीलांचे स्वतः स्फुरण होण्यास लागेल'. ह्याप्रमाणे समजावून सनातनास वृन्दावन जाण्यास राजी केले.

दुसरे दिवशीं प्रातः स्नानानंतर प्रभुंनी पुरीस जाण्याचे प्रस्थान केले. तपनमिश्र, चन्द्रशेखर, परमानन्द, महाराष्ट्रीय ब्राह्मण तथा सनातन आदि सर्व प्रभुंच्या मागोमाग चालले. सर्वांना समजावून व आलिंगन देऊन प्रभुंनी परत पाठविले व आपण बलभद्र भट्टाचार्यासहीत पुढे निघाले. सनातनांना सर्वांपेक्षा अधिक दुःख झाले. दुसरे दिवशीं तेहि वृजमंडलाकडेस निघाले.

इकडे रूपांनी सुबुद्धिरायांचे बरोबर सर्व वनांची यात्रा केली. ते एक महिना व्रजांत फिरत होते. नंतर त्यांना आपला भाऊ सनातनाची

चिन्ता वाटू लागली. तेव्हा त्याचे शोधासाठी अनूपसह ते गंगाकिनाऱ्यांने प्रयागाहून काशीस आले. काशीस त्यांना सनातनांचा व प्रभुंचा सर्व समाचार समजला. सनातनजी मथुरेस जाऊन आपले दोन्ही बन्धुचा शोध करू लागले. त्यांची व सुबुद्धिरायांची जेव्हा भेट झाली तेव्हा त्यांना कळले कीं, आपले दोघे बन्धु आपले शोधासाठी काशी येथून गौडदेशी गेले आहेत. निरानिराळ्या रस्त्याने गेल्याने दोघांच्या भेटी झाल्या नाहीत. सनातनजी अगदी त्यागमय जीवन व्यतीत करू लागले व वृजमंडलांतील लुप्त तीर्थाचे उद्धाराचे कार्मी ते प्रवृत्त झाले. कोणा एका भक्ताकडून त्यांना 'मथुरा महात्म्य' नामक पुस्तक मिळाले. त्यावरून ते व्रजांतील सर्व वनांत व कुंजांत धुंडाळून धुंडाळून लुप्त तीर्थांचा शोध लावीत होते. माधुकरीवर ते आपला निर्वाह करीत असत.

इकडे महाप्रभु झाडी-खण्डाचे रस्त्याने पुरीस चालले होते. वाटेंत प्रसंगीं फलावर निर्वाह करावा लागत होता. प्रभु रस्त्याने—

**राम राघव राम राघव राम राघव रक्षमाम्।**
**कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहिमाम्॥**

ह्या पदाचे उच्चस्वराने उच्चारण करीत होते. चालता चालता वाटेंत प्रभुंना फार तहान लागली. समोरून एक गोप-बाल, डोक्यावर एक मडके असलेला, येत असलेला ह्यांनी पाहिला. प्रभुंनी त्यास विचारले–'कां बाल, ह्यांत काय आहे?'

त्या मुलाने नम्रतेने म्हटले–'स्वामीजी! ह्यांत ताक आहे, मी माझे बाबांना देण्यासाठी ते घेऊन जात आहे'.

प्रभुंनी म्हटले–'मला फार तहान लागली आहे, तूं मला हे ताक पाजशील कां?'

तो मुलगा म्हणाला–'महाराज! मी पाजीन तर खरे, परन्तु माझे बाबा माझी वाट पाहात राहतील?'

प्रभुंनी म्हटले–'ठीक आहे, तूं ते त्यांचेकडेसच घेऊन जा'. असे म्हणून प्रभु पुढे चालु लागले. थोडा वेळ त्या मुलाने विचार करून म्हटले–'स्वामीजी! परत या, आपण हे ताक प्या'. प्रभुंनी म्हटले–'तुझे बाबा नाराज होतील'. तो म्हणाला–'मी त्यांचेसाठी दुसरे घेऊन येईन. थोडा वेळ होईल इतकेच, परन्तु आपणास कोणास ठाऊक पुढे कोठे पाणी मिळेल. उन्ह कडक पडलेले आहे. आपण तान्हेले जाल, म्हणून मला बरे वाटत नाही'. असे म्हणून त्याने प्रभुंचे पाय धरून त्यांना ते ताक त्याही पाजले व प्रभुहि त्यांतील सर्व ताक प्याले. ताक प्याल्यावर प्रभुंनी त्या मुलास पोटाशी आवळून धरले. ह्याप्रमाणे प्रभुंचे स्पर्शाबरोबरच तो मुलगा 'हरि हरि' म्हणत नृत्य करू लागला. ह्याप्रमाणे त्या बालकास प्रेमदान करून प्रभु पुढे निघाले. कांही दिवसानीं प्रभु पुरीचे समीप पोचले. दुरूनच त्यांना श्रीजगन्नाथाची पताका दृष्टिस पडली. प्रभुंनी पताकास साष्टांग प्रणिपात केला व ते अठारह नाल्यावर पोचले. तेथून भक्तांना सूचना देण्यासाठी त्यांही बलभद्रास पाठविले व आपण तेथेच श्रमपरिहारार्थ बसले.

# प्रभुंचे पुरींत भक्तांशी पुनर्मिलन

अद्यास्माकं सफलमभवज्जन्म नेत्रे कृतार्थे
सर्वास्तापः सपदि विरतो निर्वृतिं प्राप चेतः ।
किं वा ब्रूमो बहुलमपरं पश्य जन्मान्तरं नो
वृन्दारण्यात् पुनरुपगतो नीलशैलं यतीन्द्रः ॥

'संन्यासी चूडामणि श्रीचैतन्य वृन्दावनाहून परत येऊन पुन्हा नीलाचल येथे आले आहेत'–ही सुखद वार्ता श्रवणमात्रेकरूनच गौर-भक्तांना परम आनन्द झाला व ते परस्परांस आलिंगन देऊ लागले. ही वार्ता क्षणभरांत जगन्नाथपुरीमध्ये फैलावली.

प्रभु जेव्हा वृन्दावनास जाण्यास निघाले तेव्हा सर्व भक्तमंडळींची अशी कल्पना होती कीं, प्रभुंचे हे अन्तिम दर्शन आहे, कारण, जे वृन्दावन नाव ऐकताच मूर्छित होतात, ज्यांचे दृष्टिने वृन्दावनातिरिक्त दुसरे श्रेष्ट असे स्थान विश्वब्रह्माण्डांत नाही, ते वृन्दावनांत गेल्यावर तेथून परत कसचे फिरणार ? प्रभु तर वृन्दावनांतच वास निरन्तर करून त्या बांकेबिहारीचेबरोबर आनन्द विहारांत निमग्न राहातील. परन्तु प्रभु वृन्दावनाहून परत आले ही वार्ता ऐकताच सर्वांचे आनन्दास सीमाच राहिली नाही व ते आनन्दाने नाचू लागले. सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानन्द आदि मिळून सर्व भक्त एकत्र होऊन प्रभुंना सामोरे गेले. दुरून त्यांही प्रभुस पाहताच सर्वांनी त्यांना साष्टांग प्रणिपात केला. प्रभु श्रीहरीचे मधुर नामाचे उच्चारण करीत मत्त गजेन्द्राप्रमाणे श्रीजगन्नाथाचे मंदीराकडेस चालले होते. सर्वांना प्रणाम करताना पाहताच प्रभुंनी

प्रत्येकास प्रेमाने आलिंगन दिले. आज पुष्कळ दिवसांनीं प्रभुचे आलिंगनाने सर्वांना फारच आनन्द झाला.

भक्तांसहीत प्रभु श्रीजगन्नाथाचे दर्शनास गेले. प्रभुस पाहातास पुजाऱ्याने त्यांना प्रणिपात केला व त्यांना जगन्नाथाची प्रसादी माला घातली व सर्व शरीरावर चन्दनाचा लेप केला. पुष्कळ दिवसांनी आज जगन्नाथाचे दर्शन झाल्याने प्रभुंच्या नेत्रांतून अश्रु-प्रवाह सुरू झाला व मंदीराच्या समोरच सर्वांनी संकीर्तनास आरंभ केला–सर्वजण—

**हरिहरये नमः कृष्णयादवाय नमः**
**गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन।**

म्हणून म्हणून नृत्य करीत होते.

कांही वेळाने प्रभुंनी संकीर्तन बन्द केले व मंदीराची प्रदक्षिणा करून भक्तांसहीत ते काशीमिश्राचे घरीं आपले पूर्वस्थलीं गेले. मिश्रजींनी प्रभुंना प्रणाम केला, इतक्यात परमानन्दपुरीहि प्रभुचे आगमनाचा समाचार समजताच आंतून बाहेर आले. त्यांना प्रभुनी प्रणाम केला. पुरीनी प्रभुस आलिंगन दिले व ते त्यांना घेऊन आंत गेले. सर्व बसल्यावर प्रभु यात्रेचा वृत्तान्त सांगू लागले. थोडे वेळाने आपले घरीं भिक्षेस यावे म्हणून सार्वभौमांनी प्रभुंना निमंत्रण केले.

प्रभुंनी म्हटले–'भट्टाचार्य! आज पुष्कळ दिवसानीं माझी व भक्तांची भेट झाली आहे, तेव्हा मी एकट्यानेच भिक्षा करणे मला बरे वाटत नाही. येथेच भगवानाचा प्रसाद सर्व भक्तांसह घ्यावा अशी इच्छा आहे'. वाणीनाथ आदि मंडळी प्रसाद आणण्यासाठी गेले व ते पुष्कळसे पदार्थ प्रसादांत घेऊन आले. प्रभुंनी भक्तांसह मोठे प्रेमाने भगवन्ताचा प्रसाद ग्रहण केला. थोडे वेळाने प्रभु विश्राम करण्यास गेले व भक्तहि आप-आपले घरीं गेले.

इकडे स्वरूपगोस्वामींनी दामोदर पंडिताचे बरोबर प्रभुचे आगमनाचा समाचार नवद्वीपांत शचीमाता, विष्णुप्रिया व अन्योन्य सर्व भक्तांना पाठविला. नवद्वीपांत हा वृत्तान्त समजताच सर्वांना फार हर्ष झाला व भक्त रथयात्रेच्या समयाची मार्ग प्रतिक्षा करू लागले. शिवानन्दसेन यात्रेची तयारी करू लागले. श्रीअद्वैताचार्य आपले भक्तांसह नीलाचलास जाण्यास तयार झाले. नित्यानन्द आदि सर्वांनी शचीमाता व विष्णुप्रिया ह्यांची आज्ञा घेतली. ह्या वेळीं भक्तांच्या स्त्रियांहि बरोबर निघाल्या. त्यांही आपणाबरोबर प्रभुसाठी नानाप्रकारचे पदार्थ करून घेतले होते. ह्याप्रमाणे ही मंडळी पुरीस जाण्यास निघाली. शिवानन्दांच्या बरोबर ह्या खेपेस त्यांचा कुत्राहि होता. हा कुत्रा शेवटच्या मुक्कामीं एकाएकी नाहीसा झाला. शिवानन्दांना फार वाईट वाटले.

दुसरे दिवशीं ही मंडळी जेव्हा प्रभुच्या समीप पोचली तेव्हा तो कुत्रा प्रभुचे समीप बसलेला आहे असे भक्तांना आढळले. प्रभु त्यास आपले हाताने खीर खाऊ घालीत होते व हसत हसत त्यास सांगत होते—

**कृष्ण कहो, राम कहो, हरि भजो बावरे।**
**हरिके भजन बिनु खाओगे क्या पामरे॥**

प्रभुंची सुमधूर वाणी श्रवण करून तो कुत्रा पुच्छ हलवीत नाचत होता व जणु काय आपले भाषेंत त्या सुमधूर नावांचे कीर्तन करीत होता. आपला कुत्रा प्रभुंच्याजवळ बसलेला पाहताच शिवानन्दांना आनन्द झाला व आश्चर्यहि वाटले कीं, ह्याने कधी पूर्वी पुरी पाहिली नव्हती वा प्रभुचे निवास-स्थान त्यास माहीत होते, असे असता हा कुत्रा येथे आला कसा! तेव्हा हा कोणी सिद्ध असावा व कारणवशात् यास ही कुत्र्याची योनी प्राप्त झाली असावी! तो कुत्रा थोडे वेळाने कोठे निघून गेला. नन्तर त्याचा पुढे कांहीहि शोध लागला नाही.

महाप्रभु सर्व भक्तांना भेटले, भक्तांच्या स्त्रियांनी प्रभुंना दुरूनच प्रणाम केला.

नवद्वीपांत प्रभुचे घराजवळ एक परमेश्वर नावाचा भक्त राहात होता. तो लाडु विकून आपला निर्वाह करीत असे. त्याचे महाप्रभुवर बाल्यकालापासूनच प्रेम होते. प्रभु लहान होते तेव्हा तो ह्यांना मांडीवर घेऊन त्याचेकडून 'हरिबोल, हरिबोल' हे म्हणवून तो ह्यांना लाडु देत असे. आता तो म्हातारा झाला होता. ह्यावेळीं तोहि सहकुटुंब प्रभुच्या दर्शनानिमित्त यात्रेस आला होता. प्रभुंच्या दर्शनास स्त्रिया जात नाहीत, ह्याची त्यास माहिती नसल्याने तो सर्व परिवारासह दर्शनास गेला. प्रभुंना प्रणाम करीत तो हात जोडून म्हणतो–'प्रभो ! आपण ह्या परमेश्वरास तर विसरला नसालच, कदाचित् आपण मला आता ओळखणारहि नाही'.

प्रभुंनी त्यांस आलिंगन देत म्हटले–'परमेश्वर ! तुम्हास, बरे, मी कसा विसरेन ? पुत्रवत् प्रेमाने तुम्ही मला लाडु देत होता'.

परमेश्वराने फार उल्लासाने म्हटले–'प्रभो ! पुत्र, पुत्र-वधु व पत्नि आदि घरमंडळी प्रभुंच्या दर्शनास आलेले आहेत व ते सर्व दर्शनोत्सुक आहेत'–असे म्हणून त्याने सर्वांना प्रभुचे पाद-पद्माचा स्पर्श करविला. भक्तवत्सल प्रभु कांहीच बोलु शकले नाहीत. ते खाली तोंड करून गुपचुप बसले. परमेश्वर जाण्यास निघाल्यावर भक्तांनी त्यास सांगीतले कीं, प्रभुंच्या समीप सपरिवार जाता येत नाही. सर्व भक्त प्रभुच्या समीप राहून पूर्वीप्रमाणे सत्संगाचा सुखद अनुभव घेऊ लागले. भक्तांच्या स्त्रिया आळी पाळीने प्रभुंना निमन्त्रण करवून त्यांना आपले निवास-स्थानीं भिक्षा करवीत.

इकडे प्रभु-दर्शनाच्या लालसेने श्रीरूप आपला बन्धु अनूप यासह गौडदेशास जाऊन पुरीस येण्यास निघाले. रस्त्यांत अनूपास ज्वर आला

व त्यांतच त्याचा अन्त झाला. अत्यन्त दुःखाने श्रीरूपाने आपले बन्धुचे शरीर गंगेच्या पावन प्रवाहांत प्रवाहित केले व ह्या संसाराचे अनित्यतेचा विचार करीत ते पुरीस पोचले. वृन्दावनांत असतानाच त्यांही श्रीकृष्णलीला विषयक एक नाटक लिहिण्याचा प्रारंभ केला होता. ते रस्त्याने ह्या विषयावर विचार करीत होते व रात्रीं मुकाम केल्यावर लिहीतहि होते. हे नाटक दोन भागांत विभागण्याचा त्यांचा विचार असून, पहिल्यांत श्रीकृष्णाच्या वृन्दावन-लीला वर्णाव्यात व दुसऱ्यांत द्वारकेंतील लीलांचे वर्णन करावे, असा त्यांचा मनोदय होता. ह्या विचाराने ते सर्व कृष्णलीला सम्मिलित लिहित होते. जेव्हा ते उडीयांत 'सत्यभामापुर' ह्या गावीं आले तेव्हा त्यांना श्रीसत्यभामेने स्वप्नांत त्यांना आदेश दिला कीं–'तुम्ही आमच्या लीला पृथक् वर्णाव्यात व व्रजांतील लीला पृथक् वर्णाव्यात'. ह्या आदेशाप्रमाणे द्वारकेंतील लीला 'ललित माधव' ह्या नावाच्या नाटकांत वर्णन केल्या व व्रजांतील 'विदग्ध माधव' ह्यांत वर्णन केल्या.

नीलाचल येथे पोचल्यावर हे प्रभुचे समीप गेले नाहीत. हे दोघेहि बन्धु यवनाचा संसर्ग झाल्याने आपणास फार नीच मानीत होते. येथपर्यन्त कीं, ते मंदीरांत दर्शनास सुद्धा जात नसत. ते दुरूनच ध्वजाचे दर्शन घेत. ह्या कारणाने रूपजी महात्मा हरिदासाचे स्थानीं जाऊन राहिले. हरिदास जातीने यवन होते. परन्तु गौरभक्त त्यांचा चतुर्वेदि ब्राह्मणापेक्षाहि अधिक सन्मान करीत होते. तेहि जगन्नाथाचे मंदीरांत कधीहि जात नव्हते. प्रभु नित्यप्रति समुद्र स्नान करून हरिदासाचे स्थानीं येत असत. त्याप्रमाणे दुसरे दिवशीं जेव्हा प्रभु हरिदासाकडेस आले, तेव्हा रूपांनी त्यांना साष्टांग प्रणिपात केला व हरिदास म्हणाले–'प्रभो! रूपजी प्रणाम करीत आहेत'.

रूपाचे नाव ऐकताच चकीत होऊन प्रभुंनी विचारले–'काय म्हटले, रूप आले आहेत!' असे म्हणत म्हणतच प्रभुंनी त्यांना आलिंगन दिले व त्यांना तेथेच राहावयास सांगीतले. प्रभुंनी सर्वांशी त्याचा परिचय करून दिला. श्रीरामानन्द राय व सार्वभौम महाशय दोघेहि कवि होते. ह्यांची कविता ऐकवावी म्हणून त्यांही प्रभुंची प्रार्थना केली.

एके दिवशीं प्रभु, राय रामानन्द, सार्वभौम, स्वरूपदामोदर तथा अन्य अन्य भक्तांसह हरिदासांचे निवासस्थानीं श्रीरूपांनी लिहिलेली नाटके ऐकण्यासाठी आले. सर्व बसल्यावर प्रभुंनी म्हटले–'रूप, तुम्ही आपली नाटके ह्यांना श्रवण करवावी, हे सर्व काव्यमर्मज्ञ, रसज्ञ व कवि आहेत'.

रूपजी फार शरमू लागले. प्रभुंनी सांगीतले ह्यांनी–'ललितमाधव' व 'विदग्धमाधव'–अशी दोन नाटके लिहिली आहेत. विदग्धमाधवांत भगवन्ताच्या वृजांतील लीला वर्णिल्या आहेत व ललितमाधवांत द्वारकापुरींतील लीला, ह्यांचेकडून ते ऐका'.

राय म्हणतात-'शरमण्याचे कांहीच कारण नाही, हं, चालु द्या, प्रथम विदग्धमाधवांतील मंगलाचरण ऐकवा. नान्दीपासून प्रारंभ करून भगवन्ताचे वन्दनास जो प्रारंभ केला आहे तेच ऐकवा'. रूपजी हळूहळू विदग्धमाधवाचे मंगलाचरण म्हणू लागले—

सुधानां चान्द्रीनामपि मधुरिमोन्माददमनी
दधाना राधादिप्रणयधनसारैः सुरभिताम्।
समन्तात् सन्तापोद्गमविषमसंसारसरणी-
प्रणीतां ते तृष्णां हरतु हरिलीलाशिखरिणी॥

श्लोक ऐकताच सर्वांनीं एकदम 'वाह, वाह' केली. रूपानीं तोंड अगदी खाली घातले. तेव्हा राय म्हणाले–'रूपजी ! आपण फारच संकोच करता, तेव्हा आता आम्ही आपले काव्याची प्रशंसाच करणार नाही, ठीक आहे. ही तर झाली वन्दना. ह्यापुढे भगवत्स्वरूप जे गुरुदेव त्यांना वन्दन करण्यांत काय म्हटले आहे ?'

रूपजी म्हणू लागले—

**अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ**
**समर्पयितुमुन्नतोज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम् ।**
**हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः**
**सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ॥**

हे ऐकताच प्रभु म्हणु लागले–'भगवन् जाणे, ह्या कवींना राजे लोक शासन कां करीत नाहीत ? एकाद्याची प्रशंसा करू लागले म्हणजे हे आकाश-पाताल एक करून टाकतात. ह्याचेपेक्षा श्रेष्ट असा असत्य बोलणारा कोण असणार ? ह्या श्लोकांत तर अतिशयोक्तिची हद्दच केली आहे'.

रायनी म्हटले–'प्रभो ! हे तर आम्ही समजतो. यथार्थ वर्णन ह्याच श्लोकांत आहे. सर्वच कवि असे स्वाभाविक गुणपूर्ण वर्णन करूच शकणार नाहीत'. आणखी कांही श्लोक ऐकल्यावर त्यांही ह्या काव्याची फारच प्रशंसा केली. आता आपण 'ललितमाधवांतील माधुरीचा मासला भक्तांना ऐकवावा'–असे राय म्हणाले.

रूपजी म्हणतात—

**सुररिपुसुहृशामुरोजकोकान्**
**मुखकमलानि च खेदयन्नखण्डः ।**

चिरमखिलसुहृच्चकोरनन्दी
दिशतु मुकुन्दयशः शशी मुदं वः ॥

'धन्य आहे, धन्य आहे' असे म्हणून पुन्हा राय महाशय म्हणाले– 'श्रीभगवन्ताचे स्तुतीचे नन्तर श्रीगुरुदेवाची स्तुति ऐकवा'.

रूपजी वर न पाहाता म्हणू लागले—

निजप्रणयितां सुधामुदयमाप्नुवन् यः क्षितौ
किरत्यलमुरीकृतद्विजकुलाधिराजस्थितिः ।
स लुंचिततमस्तातिर्मम शचीसुताख्य शशी
वशीकृतजगन्मनाः किमपि शर्म विन्यस्यतु ॥

आणखीहि कांही श्लोक रूपांनी म्हणून दाखविले. सर्वांनी ह्या दोन्हीहि काव्यांची फार फार प्रशंसा केली. शेवट रूपांना आलिंगन देऊन प्रभु भक्तांसहीत निजस्थानीं गेले.

रथयात्रा व इतर उत्सव समाप्त झाल्यावर प्रभुंनी सर्वांना गौड-देशास परत पाठविले. रूपांनाही वृन्दावनासच निवास करावा अशी प्रभुंनी आज्ञा केली. प्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य करून ते वृन्दावनास जाण्यास उद्यत झाले. हीच त्यांची शेवटची भेट. त्यांही वृन्दावनांत राहून श्रीकृष्ण गुण गाण्यांतच आपला सर्व समय व्यतीत केला.

# नीलाचलांत श्रीसनातन

वृन्दावनात् पुनः प्राप्तं श्रीगौरः श्रीसनातनम् ।
देहपातादवन् स्नेहाच्छुद्धं चक्रे परिक्षया ॥

श्रीरूप आपले सम्पत्तिची व्यवस्था करण्यासाठी गौडदेशांत जाऊन थांबले होते. आता त्यांचे बन्धु सनातनाचा समाचार ऐका. त्यांही 'मथुरा माहात्म्या'नुसार वृजमण्डलांतील सर्व तीर्थांची यात्रा केली. त्यानंतर त्याना आपले बन्धुचे व प्रभुंच्या दर्शनाची इच्छा झाली. ह्या हेतूने ते नीलाचलास येण्यासाठी निघाले. गौडास तर त्यांना जावयाचेच नव्हते, कारण त्यांही तसे काराधिकाऱ्यास वचन दिले होते. तेव्हा प्रयागाहून काशीस जाऊन झाडीखण्डाचे रस्त्याने ते पुरीस चालले होते. राजमार्ग त्यांही पसंत केला नाही. त्या जंगलांतील मार्गाने जाण्याने त्यांचे शरीरास भारी कंडू उठली व पुरीस पोचण्याचे सुमारास सर्व अंगास खवंदे पडली. ते पूर्वी कधीहि पुरीस आले नसल्याने त्यांना प्रभुंचे स्थान माहिती नव्हते. कसेबसे विचारपूस करीत ते हरिदासांचे मुकामीं पोचले व यवनांचे संसर्गांत आल्याने ते आपणास मन्दीराचे समीप जाण्याचेहि अधिकारी समजत नसत. हरिदासांनी ह्यांना पाहताच त्यांना हर्ष झाला व त्यांही ह्यांचे यथायोग्य अतिथ्य केले. हे प्रभुदर्शनासाठी फारच अधीर झाले होते. इतक्यांतच नित्याप्रमाणे श्रीहरिनाम संकीर्तन करीत प्रभु येत आहेत हे त्यांही दुरूनच पाहिले. जवळ येताच हे दूर सरले व प्रभुस ह्यांनी साष्टांग प्रणाम केला. हरिदासांनी सांगीतले– 'प्रभो ! सनातन साष्टांग प्रणाम करीत आहेत'. 'सनातन येथे कोठे ?' असे म्हणत प्रभु ह्याचे आलिंगन करण्यास पुढे सरकले. सनातन एका बाजूस होऊन दीनपणे म्हणतात–'प्रभो ! एकतर मी नीच, अधम यव-

नाचे संसर्गात आलेलो व आता तर माझे अंगास खवंदे पडलेली आहेत, अतिशय कंडू सुटत आहेत, तेव्हा आपण माझा स्पर्श करू नका'. परन्तु प्रभु थोडेच ऐकणार होते? प्रभुंनी बळेच ह्यांना गाढालिंगन देत म्हटले–'आम्ही आज कृतार्थ झालो. सनातनाचे सुगंधित शरीराचे सुगन्धाने आमचा लोक परलोक दोन्हीहि सुधारले'. सनातनजी खाली मान घालून अश्रुपाताने प्रभुंचे काषायवस्त्र भिजवीत होते.

नंतर प्रभु तेथेच एका आसनावर बसले. खाली मान घालून सनातनजी व हरिदासजी बसले. प्रभुंनी हळू हळू रूप येऊन गेल्याचा सर्व वृत्तान्त ह्यांना सांगीतला व त्याच वेळीं अनूपाचे परलोक गमनाचीहि वार्ता कळविली. बन्धुचे वैकुण्ठवासाचा समाचार ऐकताच वीतरागी महात्मा सनातनाचे हृदय भरून आले व त्यांचे नेत्रांतून अश्रुपात होऊ लागला. प्रभुंच्या कमलमुखावरहि कांहीशी विषण्णता प्रतीत होऊ लागली. हलकेच प्रभु म्हणाले–'सनातन! तुमचे भावास सद्गती मिळाली. त्यांही देहत्यागाचे पूर्वी घरदारादि सर्वत्राचा त्याग केला होता. व्रजांतील सर्व यात्रा संपवून, आपले परम भागवत गुरुस्वरूप ज्येष्ठ भ्रात्याचे मांडीवर मस्तक ठेवून, भगवती भागीरथीच्या रम्य तटाकीं, हे नश्वर शरीर सोडले, ह्यापेक्षा महत-भाग्य ते कोणते?'

दाटलेल्या कंठाने सनातनाजी म्हणतात–'प्रभो! मला त्यांचे शरीराबद्दल वाईट वाटत नाही, ते तर शाश्वत धामास जाऊन आपले इष्टदेव श्रीरामचन्द्रांचे चरणाश्रित झाले, परन्तु मला मात्र त्यांचे शेवटचे दर्शन घडले नाही, ह्याबद्दल वाईट वाटते'.

प्रभुनी म्हटले–'रूप म्हणत होते, त्यांची निष्ठा अलौकिक होती. अन्तिम समयीं त्यांही श्रीसीतारामाचे ध्यान व स्मरण करीतच प्रसन्नान्तःकरणाने शरीरत्याग केला'.

सनातन म्हणाले–'प्रभो ! त्यांच्या निष्ठेचे मी आपणासन्मुख काय वर्णन करू ! होते तर ते आमचे कनिष्ठ, परन्तु निष्ठेत ते आम्हाहून श्रेष्ठ होते. आम्ही एकदा त्यांना म्हटले–' अनूप ! श्रीसीतारामाच्या लीलेपेक्षा–श्रीकृष्णचन्द्रजींच्या लीला अधिक मधुर आहेत, तेव्हा श्रीकृष्णासच तुम्ही आपले उपास्य कां मानीत नाही ? ह्या योगे आपण तिघेहि श्रीकृष्णोपासक होऊन सर्व एकत्रच भजन–कीर्तन–उपासना करीत जाऊ'. ते आम्हा उभयतास गुरुसमान लेखीत असल्याने त्यांही आमचे म्हणणे मान्य केले व म्हटले–' माझे सर्व कांही आपणच असल्याने, आपण सांगाल तसे करीन. उद्या मला कृष्णमन्त्राची दीक्षा द्यावी '. आम्ही पाहिले कीं, त्यांना रात्रभर झोप आली नाही. सकाळीं त्यांही आम्हास सांगीतले–' बान्धव हो ! मी काय करू, हे शिर तर मी श्रीरामचन्द्रचरणीं अर्पण करून चुकलो आहे, तेथून काढून घेण्यासाठी रात्रीं मी फार प्रयास केले, परन्तु कांही उपाय चालला नाही. मी मोठे आनन्दाने हे शरीर त्यागीन, परन्तु मी श्रीरामचन्द्रजींची उपासना त्यागू शकणार नाही ?' त्यांची ही निष्ठा पाहून आम्ही आमचे निष्ठेचा धिक्कार करू लागलो. प्रभो ! खरोखरच ते 'अनूप' होते. त्यांना उपमाच नव्हती.'

प्रभुंनी म्हटले–' यथार्थ निष्ठा ती हीच. श्रीमुरारी गुप्तानेहि अगदी असेच सांगीतले होते. सेव्य-सेवक भाव ह्याच प्रकारे ऐकान्तिक व दृढ असला पाहिजे, तेव्हाच तर प्रभु प्राप्ति होते'. ह्याप्रमाणे बरेच वेळ गोष्टी केल्यावर सनातनांना तेथे ठेवून प्रभु आपले स्थानीं गेले. गोविन्दाचे बरोबर दोघासाठी जगन्नाथाचा प्रसाद पाठविला. ह्याप्रमाणे सनातनजी हरिदासांच्या जवळ राहू लागले. प्रभुहि नित्य नियमितपणे ह्या दोघाकडे येत असत.

सनातनजी चैत्र महिन्यांत पुरीस आले. ते दुरूनच ध्वजाचे दर्शन करीत असत. शरीर-भोग कोणासहि सुटला नाही. ह्यांचे शरीराची कंडु न मिटता शरीरावर मोठमोठी चकदाळे पडली होती व त्यांतून पू, पाणी वाहात होते.

ज्येष्ठाचा महिना होता. पुरीपासून दोन तीन कोसांवर असलेले यमेश्वरीं महाप्रभु गेले होते. सनातनजींनाहि प्रभुंनी बारा वाजता तेथेच प्रसादास बोलाविले. एक रस्ता सिंहद्वारावरून सरळ सडकेने होता व दुसरा समुद्र किनाऱ्याने वाळुंतून. ज्येष्ठाच्या तापाने वाळू जणू काय जळत होती. परन्तु तशा तापांतून प्रभुची आज्ञा शिरोधार्य करून सनातनजी तशा वाळूंतून गेले. त्यांना पाहताच प्रभुंनी विचारले– 'अहो! तुम्ही इतके उन्हांतून कोणते वाटेने आलात?'

सनातनांनी सरलपणे सांगीतले–'प्रभो! समुद्र किनाऱ्याने'. प्रभुंनी त्यांचे पायांना पडलेले चट्टे पाहात म्हटले–'पहा, तुम्ही पायांत कांहीहि न घालता आल्याने पाय भाजून त्यास चकदळे पडली आहेत. तुम्ही सिंहद्वाराच्या रस्त्याने कां नाही आलात?'

सनातन म्हणाले–'प्रभो! सिंहद्वाराच्या बाजूने श्रीजगन्नाथाचे सेवक व दर्शनास जाणारे येत जात असतात, त्यांना स्पर्श झाल्यास मीच पापाचा भागी होणार, म्हणून मी सिंहद्वाराच्या बाजूने आलो नाही'.

प्रभुंनी त्यांची अशी मर्यादा, दीनता व सरलपणा पाहून प्रभु फारच प्रसन्न झाले व त्यांही त्यांना गाढालिंगन दिले व म्हटले– 'सनातन! तुम्ही धन्य आहात, खरे वैष्णव तुम्हीच, कारण तुम्हीच त्याचे खरे रहस्य ओळखले. तुम्हास स्वतास कांहीहि विधि-निषेध नसताहि तुम्ही लोकमर्यादेस्तव असा व्यवहार करीत आहा, हे फार उत्तम

आहे'. सनातनांना आलिंगन दिल्याने प्रभुंच्या सुवर्णासारखे सुन्दर शरीरास कांही ठिकाणीं तो पू लागला होता, या योगे त्यांना अपार दुःख झाले व त्यांही विचार केला–'काय करू, प्रभु तर मला आलिंगन दिल्या-वाचून राहात नाहीत, तेव्हा असे हे भयंकर शरीर ठेवून काय उपयोग! प्रभुंचे तर दर्शन झालेच; रथयात्रेचे दिवशीं जगन्नाथाचे दर्शन आणखी घेतो व त्यांच्याच रथाखाली चिरडून घेऊन मरून जातो'.

प्रभुंनी हे ह्यांचे मनोगत ओळखले. ते एके दिवशीं भक्तांसहीत येऊस सनातनांशी गोष्टी बोलत बसले. गोष्टीत गोष्ट करताना ते म्हणाले–'सनातन! शरीर त्यागाने तुम्ही कोणता लाभ मिळविणार? प्रभुप्राप्ति हाच मनुष्याचा अन्तिम पुरुषार्थ आहे. शरीर त्यागानेच जर प्रभुप्राप्ति होऊ शकत असेल तर मी हजारो वेळा शरीर धारण करून ते त्यागण्यास तयार होईन. हा तामसी प्रकार म्हटला जातो. शरीराचा सदुपयोग श्रीकृष्णकीर्तन करण्यांतच आहे. भगवन्नाम चिन्तन व कीर्तन चालु असल्यावर शरीर कशाहि दशेंत असेना, विवेकी पुरुषाने शरीराची क्षिति बाळगण्याचे प्रयोजन नाही'.

खाली डोके घालून त्यावर सनातन म्हणाले–'प्रभो! हे निरउपयोगी व अपवित्र शरीर ठेवून आपण ह्याचा काय उपयोग करणार? तिरस्कार-वाचून दुसऱ्यास ह्यापासून कांहीच लाभ नाही'.

प्रभुंनी म्हटले–'तुम्हास लाभ हानीचे काय? तुम्ही तर तुमचे शरीर मला सोपून चुकला आहात. दान दिलेले वस्तुचा कोणी आपणास वाटेल तसा उपयोग करू शकेल काय? तुम्हास वाटते, मी ह्याचा वाटेल तसा उपयोग करीन, परन्तु ते नष्ट करण्याचा तुम्हास अधिकार नाही. मला अद्याप त्यापासून मोठ-मोठी कार्ये करवावयाची आहेत'.

'प्रभो! आपली आज्ञा कोण उल्लंघन करू शकणार? आपले आज्ञे-प्रमाणेच मी वागेन'–असे सनातन म्हणाले.

सनातनांनी आत्मघाताचा विचार तर सोडला, परन्तु प्रभु आलिंगन करीत असल्याने त्यांना फार संकोच वाटत होता. ते सदैव प्रभुपासून दूर राहून स्वतःस बचवीत असत, परन्तु प्रभु त्यांना शोधून काढून आलिंगन देत. ह्या योगे सनातनांनी रथयात्रेनंतर वृन्दावनास जाण्याचे निश्चित केले व ह्यास जगदानन्दांनीहि संमति दिली. एके दिवशीं सनातनास प्रभु म्हणाले–'तुम्ही ह्या वर्षी मजजवळच राहा, आपण येत्या वर्षी वृन्दावनास जा', असे म्हणून प्रभुंनी त्यांना जोराने आलिंगन दिले. झाले, त्यांची खाज-कण्ड कोणास ठाऊक कोठे, कशी नष्ट झाली व तीन चार दिवसांत त्यांचे शरीरावरील सर्व घावहि भरून आले, आणि त्यांचे शरीर चांगले झाले.

सर्व गौडीय भक्त ह्या वेळींहि रथयात्रेच्या निमित्ताने पुरीस आले. त्या सर्वांशी प्रभुंनी सनातनजींची ओळख करून दिली. भक्त चार महिन्यानंतर आपले देशास परत गेले. सनातन तेथेच राहिले. दुसरे वर्षी प्रभुंची आज्ञा घेऊन ते सरळ काशीहून वृन्दावनास गेले. तो पावेतो रूपहि वृन्दावनास पोचले नव्हते, परन्तु थोडेच दिवसांनी तेहि जाऊन वृन्दावनास पोचले. नंतर दोघेहि बन्धु श्रीकृष्णकीर्तन करीत कलापयन करू लागले.

# श्रीरघुनाथदासाचा गृहत्याग

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥

सप्तग्रामनिवासी भूम्यधिकारी गोवर्धनदास मुजूमदाराचे पुत्र श्रीरघुनाथदासाना पाठक विसरले नसतील. ह्यांनी अद्वैताचार्यांचे घरीं प्रभु राहिले असता त्यांचे दर्शन केले होते व प्रभुंनी त्यांना मर्कट-वैराग्याचा त्याग करून घरांतच भगवत्-भजन करण्याचा उपदेश केला होता व ते अत्यन्त उत्कठ झालेले पाहिल्यावर प्रभुंनी त्यांना सांगीतले होते कीं– 'ठीक आहे, पुढे पाहाता येईल, आता तर तुम्ही घरीं जा, आम्ही लवकरच वृन्दावनास जाऊ. तेथून जेव्हा आम्ही परत येऊ, तेव्हा जसे उचीत वाटेल तसे करावे'.

आता जेव्हा त्यांही ऐकले कीं, प्रभु व्रजमंडलाची यात्रा करून पुरीस आले आहेत, तेव्हा ते चैतन्यचरणाचे दर्शनासाठी अत्यन्त उत्कण्ठित झाले. ते गौरांगाचे चिन्तनांत सर्व समय व्यतीत करीत होते. वरून तर ते सर्व संसारी कामे करीत असत, किन्तु त्यांचे हृदयांत चैतन्य-विरहाचा अग्नि सारखा जळत होता. त्याचवेळीं त्यांही चैतन्य चरणांचा आश्रय केला असता. परन्तु त्याचवेळीं त्यांचे परिवारांत एक विचित्र घटना घडून आली.

ह्या सप्तग्रामाचा ठेका ह्या दोघा मुजूमदार बन्धुकडेस होता. ह्या इलाख्याचे उत्पन्न वीस लाखाचे होते; त्या मानाने ह्यांनी पंधरा लाख

सरकारांत भरून पांच लाख आपणासाठी ठेवण्यास पाहिजे होते. परन्तु हे आपले बुद्धि-कौशल्याने बारा लाख राजदरबारांत भरून आठ लाखांचा उपयोग स्वतासाठी करीत. त्या इलाख्याचे अधिकाऱ्याने ही सर्व गोष्ट राजदरबारी सांगून ह्या बन्धुद्वयांना पकडण्यासाठी राजकर्मचारी पाठविले. ही गोष्ट गोवर्धनदास व हिरण्यदास ह्यांना समजताच ते दोघेहि पळून गेले. रघुनाथदास एकटेच घरीं राहिले. कर्मचाऱ्यांनी त्यांनाच धरले व अधिकाऱ्याने त्यांना कारावासांत घातले. रघुनाथदासांचा पुष्कळ रीतीने छळ करण्यांत आला कीं, त्यांही आपले काका व पित्याचा ठाव–ठिकाण सांगावा, परन्तु त्यांना माहितच नसल्याने ते बिचारे सांगणारच काय? त्यांच्यापासून माहिती मिळण्याचे साधन न दिसल्याने व त्यांही अधिकाऱ्यांची अगदी सरळपणे खात्री करून दिल्याने त्यांनी येऊन त्यांना राज–मन्त्र्याचे आज्ञेने कारावासांतून मुक्त करण्यांत आले, आणि त्यांना असेहि सांगीतले कीं, तुमचे काकांना व पित्यानांहि यापुढे भिण्याचे कारण नाही, त्यांनी सुद्धा आपले घरीं परत यावे.

ते आपले घरीं येऊन राहू लागले. त्यांना आता ह्या संसाराचे यथार्थ रूप समजून आले. ह्या संसारात थोडे-बहुत तरी सुख असेल अशी हा वेळ पावेतो ह्यांची समजुत होती, परन्तु ह्या घटनेने त्यांची खात्री होऊन चुकली कीं, संसार दुःख व कलहाचे घर आहे. कोठे तर दैन्यावस्थेत दुःखी होऊन लोक मरुन राहिले आहेत, कोठे कामपिडित कामीजन कामिनींच्या मागे कुत्र्याप्रमाणे फिरतात आहेत; कोठे कोणी आपले भावाशीं भांडत आहे, तर, कोठे पिता-पुत्रांत कलह माजून राहिला आहे. कोणास कोठे दहाबीस गावांची जमीनदारी प्राप्त झाली आहे, तर राजदरबारी चांगली नोकरी या राजपदवी प्राप्त झाली आहे व तो त्या मदांत चूर होऊन लोकांना तुच्छ मानीत आहे. कोणाचे कवितेची कला-

कोविदांनी प्रशंसा केली आहे, त्यामुळे तो स्वतास उशना (वैदिक कवि) वा वेदव्यासच समजतो आहे. कोणी विद्येचे मदांत, कोणी धन-मदांत कोणी सम्पत्ति, अधिकार व प्रतिष्ठेचे मदांत अगदी मदान्ध आहेत. कोणाचा पुत्र मूर्ख आहे त्या कारणाने तो त्यांतच सदैव दुःखी आहे. ह्याचे उलट कोणाचा सर्वगुणसम्पन्न पुत्र आहे, त्याचे थोडे कांही दुखताच पित्याची छाती धडधड्ू लागते व प्रसंगी तो मेल्यास तर मग त्या दुःखास पारावारच कसा असणार! असे संसारांत सुख कोठले, शान्ति कोठे, आनन्द व उल्लास कशाचा? येथे तर चहुकडे घोर विपण्णता, भयंकर दुःख व नानाप्रकारच्या चिन्तेचे सामराज्य आहे. खरे सुख तर शरीरधारी श्रीगुरुचे चरणांतच आहे. तेथेच परम शान्ति प्राप्त होते. ज्यांना प्रतिष्ठा नको, पुढारीपणा नको, मान, सन्मान, मोठेपणा, गुरुपणा ह्यांची ज्यास इच्छा नाही, ह्या संसारांत मोठे नामी दक्ष म्हणून म्हणून घेण्याची ज्यास इच्छा नाही, अशांचे साठी गुरुचरणातिरिक्त दुसरे सुखकर, शान्तिदायक, आनन्दविणारे असे स्थानच नाही. यासाठी ह्या संसारी भोग्य-वस्तुंनी पूर्ण भरलेले ह्या घरांत मी या पुढे राहाणार नाही. आता मी चैतन्यचरणांचा आश्रय घेणार, त्यांच्याच शान्तिदायिनी व सुखदायक मांडीवर बालकाप्रमाणे क्रीडा करीन. त्यांचे अरुण रंगाचे सुन्दर तळवे माझे जिव्हेने चाटीन व त्या अमृतोपम माधुरीने माझी तृप्ति होईल. चैतन्यचरणाम्बुजांचे पावन परागावाचून सुखाचे दुसरे साधन नाही. ह्याप्रमाणे विचार करून ते कित्येक वेळा घरांतून पुरीस जाण्याचे हेतूने पळून गेले. परन्तु धनवान् पित्याचे सुचतुर कर्मचाऱ्यांचे द्वारा त्यांना पकडून परत आणण्यांत आले व त्यांचेवर दहा पांच मंडळी सतत देखरेखीसाठी ठेविली. ह्या योगे त्याचे विरह-दुःख फारच वाढले. कधी कधी ते एकान्तात बसून रडत व म्हणत—'हे हृदय रमण! ह्या वेदनापूर्ण सागरांतून केव्हा वर काढणार? केव्हा आपले चरणांचे

दर्शन द्याल? केव्हा ह्या अधमाचा 'आपला' म्हणून स्वीकार करणार? केव्हा यास आपण आपलेजवळ बोलावून घेणार? आपले अमृतमयि वाणीने ह्या हृदयांतील पेटलेला अग्नि केव्हा शान्त करणार? हे माझे जीवन सर्वस्व! सुकाणुवाचूनचे माझे नौकेचे नाविक! माझे जीर्ण-शीर्ण तरीचे कैवर्तक प्रभो! मला ह्या अन्धकूपातून दंडास धरून बाहेर काढा'. ह्यांचे असे विचित्र प्रलाप ऐकून ह्यांचे प्रेममयी मातेस अपार दुःख होऊ लागले. त्यांनी आपले पतीस सांगीतले कीं–'आमचा एकमात्र आधार हा रघु वेडा झाला आहे, ह्यास बान्धुन ठेवा, नाहीतर हा एकादेदिवशीं पळून जाईल'.

पित्याने स्वास टाकीत मार्मिकतेने सांगीतले–'रघुचा वेडेपणा दुसऱ्याच प्रकारचा आहे, तो संसारीबन्धन तोडून टाकण्याची इच्छा करीत आहे. दोरीने बांधून तो थांबणार नाही. ज्यास कुबेराचे समान अपार सम्पत्ति, राजाचे समान सुख, अप्सरेसारखी सुन्दर स्त्री व भाग्य-हीनास कधीहि न प्राप्त होणारे अवाढव्य ऐश्वर्य, जर घरांत बांधून ठेवण्यास समर्थ होत नाही, तर बिचारी रसी-निर्जिव दोर-किती दिवस-पर्यन्त बांधून ठेवू शकणार आहे?' ह्या उत्तराने बिचारी माता फारच दुःखी झाली. पिता नीट रीतीने पुत्रावर देखरेख ठेवीत होते.

ह्याचवेळीं श्रीपाद नित्यानन्दजी गावोगावीं फिरून संकीर्तनाचा मोठ्या धामधुमीने प्रचार करीत होते. त्यांचेबरोबर शेकडो भक्तगण होते. चहुकडेस त्यांची कीर्ति पसरली होती. त्यांचे चरणीं अलोट संपत्ति येऊन पडत होती व तिचा ते सद्व्यव करीत होते. सप्तग्राम-निवासी राघव पंडित, महाप्रभु व नित्यानन्दजींचे अनन्य भक्त होते. नित्यानन्द ह्याच पंडिताचे घरीं येऊन उतरले असल्याचा समाचार जेव्हा रघुनाथांनी ऐकला, तेव्हा त्यांही पित्याची सम्मति घेऊन वीस पंचवीस सेवकांसह

पानीहटी येथे ते ह्यांचे दर्शनासाठी आले. गंगाकिनारी एका उच्चासनावर बसलेले नित्यानन्दांना त्यांही दुरून पाहताच तेथूनच त्यांना साष्टांग प्रणिपात केला. कोणी भक्त म्हणाला–'श्रीपाद! हिरण्यगर्भ मुजूमदाराचे पुत्र रघुनाथदास आले आहेत व ते प्रणाम करीत आहेत'. हंसतमुखाने नित्यानन्दजी म्हणाले–'ओहो! रघु आला आहे? आज चोर कारागृहांतून कसा पळून आला? येथे येण्याची त्यास आज्ञा कशी मिळाली? (नंतर रघुनाथाकडेस पाहात म्हणाले) रघु! ये, येथे मजजवळ येऊन बैस'.

रघुनाथदास अगदी विनयाने अंग चोरीत सर्व भक्तांचे मागे एका कोपऱ्यांत बसले. नित्यानन्दांची आज ह्यांचेवर कृपा झाली. महापुरुषांनी एकादे धनीकास कांही काम सांगीतल्यास ती त्याने त्यांची कृपाच समजावी. नित्यानन्दजींच्या आज्ञेवरून रघुनाथदासांनी दोन-चार हजारच रुपये खर्च केले असतील, परन्तु त्यायोगे त्यांचे नाव अमर झाले आहे. हल्लीहि प्रतिवर्ष पानीहाटीमध्ये हा 'चूराउत्सव' त्यांचे ह्या कृतीची स्मृति देत आहे. लाखो लोक त्या दिवशी रघुनाथदासजींच्या चिवड्याचे (पोह्याचे) स्मरण करून व त्यांचे उदारपणा व त्यागवृत्तिचे स्मरण करीत आनन्दाने नृत्य करीत आहेत. नित्यानन्दांनी सांगीतले–'रघु! आज तुम्ही अगदी बरोबर सापडलात, आज येथून सहजासहजी सुटणार नाही. माझे सर्व साथीदारांना आज 'दही-चिवरा' खाऊ घातला पाहिजे'.

बंगाल व बिहारमध्ये ह्या 'चिवड्या'चे फार महत्व आहे. देव जाणे ह्यांत त्यांना काय स्वाद येत असेल. चिउरा म्हणजे पोहे कसे करतात हे सर्व परिचित आहे. हे दह्यांत भिजवून मुख्यत: खाण्याचा रिवाज आहे, परन्तु कांही लोक दुधांतहि भिजवून खातात. ह्यांत दोन

भेद आहेत. 'दही चिवरा' व 'चिवरा-दही'. ज्यांत येथेष्ट दही व साखर घातली जाते त्यास 'दही-चिवरा' म्हणतात व ज्यांत दही साखरेचा संकोच असून चिवरा अधिक त्यास 'चिवरा-दही' म्हणतात. ह्यांत स्पर्शास्पर्श कांही मानण्यांत येत नाही.

नित्यानन्दांची आज्ञा होताच रघुनाथदासांनी आपली माणसे पाठवून चिवडा म्हणजे पोहे पोतीच्या पोती आणविली व दही दुधाचे हंडे आले. दही-चिवडा खाण्यासाठी मातीची कुलडी म्हणजे पसरट परन्तु खोलगट कोडीये येऊन पडली. दह्यामध्ये कर्पुर, केशर आदि सुगंधित द्रव्ये मिळविण्यांत आली. केळी, नारळहि मागविण्यांत आले. हजारो लोक एकत्र झाले. ज्यास समजले तो धावत 'चिवडा-उत्सव' पाहण्यासाठी आला. पाचपन्नास माणसे पात्रे तयार करीत होती. प्रत्येकास दोन दोन पात्रे-दही-चिवडा व दूध-चिवडा-दिली होती. श्रीचैतन्यदेवाचे नित्यानन्दांनी आवाहन केले, त्यांचेसाठी निराळी पात्रे मांडली होती, जणु काय हा उत्सव पाहण्यासाठी ते स्वता आले आहेत. सर्वांनी 'हरि हरि' हा ध्वनी केला व सर्वांना प्रसाद ग्रहण करण्याची आज्ञा देण्यांत आली. ज्यास जेथे जागा मिळेल तेथे तो बसला होता. सर्वांना अगदी यथेष्ट प्रसाद मिळाला. जो आला तो अगदी तृप्त होऊन गेला. रघुनाथदासांना नित्यानन्दांचा उच्छिष्ट प्रसाद मिळाला.

दुसरे दिवशी रघुनाथदासांनी प्रणाम करून नित्यानन्दांची आज्ञा मागीतली. नित्यानन्दजींनी 'श्रीचैतन्यचरण प्राप्ती हो' असा आशीर्वाद दिला. रघुनाथांना या योगे फार आनन्द झाला. जातांना त्यांही आपले कुलगुरु पंडित राघव ह्यांची संमति घेऊन भक्तांना भेटी दिल्या. नंतर रघुनन्दन आपले घरीं परतून गेले.

ते शरीराने घरीं आले, परन्तु त्यांचे मन नीलाचल येथे प्रभुंच्या

जवळ पोचले होते. वाटेल त्या प्रयत्नांनी ते घरांतून पळून जाण्याची सन्धी पाहात होते. वेळ आली म्हणजे प्रारब्धहि सर्व सुयोग आणून उपस्थित करते. रघुनाथाचे कुलगुरु व आचार्य मोठे पहाटेस अरुणोदय समयीं ह्यांचेकडेस आले. आचार्यांस ह्यांनी भक्तिभावाने प्रणाम केला. त्यांही ह्यांचे खांद्यावर हात ठेवून म्हटले–'रघु, त्या पुजाऱ्यास नीट समजावून सांगाना, तो चारपांच दिवसांपासून देवाच्या पूजेस येत नाही. त्यास जर अवकाश नसेल तर कोणा दुसरे एकाद्यास नियुक्त करून द्या'.

रघुनाथदास सावकाश म्हणाले–'नाही, मी त्यासच नीट समजावून सांगतो'. असे म्हणत म्हणत ते आचार्यांचे बरोबर चालु लागले. त्यांचेच बरोबर मोठ्या दरवाजाचे बाहेर पडले. रात्रीचे जागलेले पाहरेकरी प्रातःकाल झाला म्हणून झोपी गेले होते. रघुनाथदासांना बाहेर पडताना कोणीहि पाहिले नाही. ते बोलत बोलत आचार्यांचे घरा समीप आले, तेव्हा ते हळूच म्हणतात–'बरे, तर मी आता जाऊ ना?'

कांहीसे आश्चर्याने आचार्य म्हणाले–'हो, हो, तुम्ही जा, ध्या, मला तर माहीतच नाही कीं, तुम्ही गोष्टी करीत करीत येथपर्यन्त आलात! तुम्ही आता जा, आणि योग्य ते करा'. झाले, हीच गुरुची आज्ञा समजून त्यांही आचार्यांना प्रणाम केला व रस्ता सोडून त्यांही जंगलाची वाट धरली.

त्यांचे अंगावर नेसलेल्या वस्त्रा व्यतिरिक्त दुसरे वस्त्र नव्हते. पाणी पिण्यास पात्र नव्हते वा मार्गव्ययासाठी एक पैसा. केवल, चैतन्य-चरणाश्रय हाच त्यांचा पावन पाथेय होता. त्यासच कल्पतरु मानून ते निश्चिन्तपणे पगदण्डीचे मार्गाने निघाले. गाण्यापिण्या वाचून 'गौर गौर' म्हणत रुदन करीत हे सारखे मार्ग क्रमीत होते. जे घराचे बगीच्यांत सुद्धा पालखींत फिरते होते तेच गोवर्धन मुजूमदाराचे एकुलते एक

लाडके कुंवर रघुनाथदास आज पंधरा कोस सायंकाल पर्यन्त चालले व सायंकालीं ते एका गवळ्याचे झोपडींत पडून राहीले. त्या गवळ्याने थोडेसे दूध दिले, ते पिऊन ते झोपी गेले. प्रातःकालीं लवकरच उठून त्याही पुढील मार्ग आक्रमण्यास सुरूवात केली. त्यांही पगदंडीचाच मार्ग पसंत केला.

इकडे प्रातःकाल होताच रघुनाथदासांचे शोधास सुरूवात झाली. सेवकांची मोरे धावाधाव चालु झाली. मातापिता, स्त्री आदि रडू लागले, काका बेशुद्ध होऊन पृथ्वीवर पडले, गोवर्धनदासांनी पांच घोडेस्वार चहुकडे रवाना केले. जे वैष्णव-जन पुरीस जात होते त्यांचेकडेसहि तपासास एक गेला, परन्तु तेथेही ह्याचा तपास लागला नाही. सर्व परिवार शोक-सागरांत पडला.

इकडे रघुनाथदास मार्गातील त्रासाची मुळीच परवा न करता भूक-तहान, सर्दी-गर्मीचे संबंधाने उदासीन होऊन पंचवीस-तीस दिवसांचा मार्ग त्यांही केवल बारा दिवसांत आक्रमण केला व ते नीलाचलास जाऊन पोचले. त्यावेळीं प्रभु श्रीस्वरूपादि भक्तांचे समवेत बसले असून श्रीकृष्ण-कथा सुरू होती. रघुनाथदासानी दुरूनच साष्टांग प्रणाम केला. सर्व त्यांचे कडेस संभ्रमाने पाहू लागले. कोणीहि त्यांना ओळखले नाही, इतका त्यांचा चेहेरा रस्त्यांतील श्रमाने बदलून गेला होता. मुकुन्द त्यांना ओळखून म्हणाला–'प्रभो! रघुनाथदास आहेत', प्रभुंनी उल्लसितपणे म्हटले–'हां, रघुनाथ येऊन पोचला, आनन्दाची गोष्ट आहे'–असे बोलून उठून प्रभुंनी त्यांना आलिंगन दिले. प्रभुंच्या आलिंगनाने त्यांचे रस्त्यांतील सर्व श्रमांचा परिहार झाला. ते प्रेमांत चकचूर होऊन रुदन करू लागले. प्रभु त्यांचे अश्रु पुशीत होते व त्यांच्या मस्तकावरून आपला हात फिरवीत होते. नंतर रघुनाथांनी सर्वांना प्रणाम केला.

प्रभुंनी स्वरूपदामोदरांना म्हटले-'स्वरूप ! पाहाताच ना, रघुनाथ किति कष्ट सोसून येथे आला आहे. इतके पाई चालण्याचा अभ्यास नाही. कामच कधी पडलेले नाही. ह्यांचे पिता व काका संसार-व्यवहारांत फार दक्ष आहेत, साधु वैष्णवाची श्रद्धेने सेवाहि करतात, परन्तु त्यांना धन-संम्पत्तिच सर्वश्रेष्ठ आहे. ते परमार्थापासून फारच दूर आहेत. रघुनाथावर भगवन्ताची परम कृपा झाली कीं, ते त्यास त्या अन्धकूपांतून काढून येथे घेऊन आले'.

रघुनाथदासांनी उत्तर दिले-'मी तर ही श्रीचरणांचीच कृपा समजतो, मला तर हे चरणयुगलच सर्वश्रेष्ठ आहे'.

प्रभुंनी स्नेहपूर्वक स्वरूप गोस्वामीस म्हटले-'रघुनाथास आजपासून मी तुम्हास सोपतो. तुम्हीच आजपासून ह्यांचे पिता, माता, बन्धु, गुरु व सर्व कांही तुम्हीच. आजपासून ह्यास 'स्वरूपाचा रघु' म्हणत जाईन'. असे म्हणून प्रभुंनी रघुनाथदासाचा हात स्वरूप गोस्वामींचे हातांत दिला. रघुनाथांनी त्यांचे चरणीं प्रणाम केला.

त्यानंतर गोविन्द हळूच रघुनाथदासास म्हणाला-'रस्त्यांत कधी, केव्हा खाण्यास मिळाले असेल, थोडा प्रसाद घ्या'. रघुनाथदास म्हणाले-'समुद्रस्नान व श्रीजगन्नाथाचे दर्शन करून येतो व नंतर प्रसाद घेतो'. स्नान व दर्शन केल्यावर ते प्रभुचे निवासस्थानीं परत आले.

महाप्रभुंनी प्रसाद घेतल्यावर त्यांचा उच्छिष्ट प्रसाद गोविन्दाने रघुनाथदासांना दिला. रघुनाथदास तेथेच राहू लागले. रोज त्यांना गोविन्द प्रसाद देत होता व ते तो भक्तिपूर्वक ग्रहण करीत होते. ह्याप्रमाणे गृहत्याग करून ते विरक्त-जीवन वितवू लागले.

# श्रीरघुनाथदासाचे उत्कठ वैराग्य

यः प्रवृज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात पुनः ।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥

आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः ।
किमिच्छत् कस्य वा हतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः ॥

वैराग्य हेच ज्यांचे भूषण असे रघुनाथदास पुरीस येऊन प्रभुंच्या चरणा जवळ राहिले. पाच दिवस पर्यन्त त्यांनी गोविन्दाकडील महाप्रसाद ग्रहण केला. नंतर त्यांही विचार केला. 'येथून महाप्रसाद घेऊन ग्रहण करीत राहाणे बरे नाही. सर्वांप्रमाणे आपणहि भिक्षा आणून निर्वाह केला पाहिजे'. हा निश्चय करून त्यांही प्रभुंच्याकडून प्रसाद घेणे बन्द केले.

रात्रिच्यावेळीं शयनानंतर सेवक-गण घरीं जातात. त्यावेळीं पुष्कळसा भिक्षुकगण पदर पसरून सिंहद्वाराजवळ उभा असतो. उरलेला प्रसाद हे सेवक जातांना ह्यांचे पदरांत थोडा थोडा टाकतात. यात्रेकरूहि प्रसाद विकत घेऊन ह्या भिकाऱ्यांस वाढतात. ह्या वेळीं गर्दी फार होते. ह्यांतच रघुनाथदास येऊन उभे राहात व जो मिळेल तो प्रसाद घेऊन त्यावर निर्वाह करीत. एकाद दिवशीं नच मिळाल्यास ते पाणी पिऊनच झोपी जात.

प्रभुंनी एकदा गोविन्दास विचारले–'गोविन्द! रघु प्रसाद घेत नाही? तो काय खातो?'

गोविन्दानी सांगीतले–'ते अन्य भिक्षेकऱ्या प्रमाणे सिंहद्वारावर उभे राहून भिक्षा मागतात'.

हे ऐकून प्रभुंना फारच सन्तोष झाला. ते गोविन्दास प्रेमाने अन्तःकरणपूर्वक म्हणाले–'गोविन्द! खरोखरच रघु रत्न आहे, खरे वैराग्य ते हेच'.

रघुनाथदासास ह्या योगे कांहीशी शान्ति वाटू लागली. पंधरा दिवसापूर्वी उत्तमोत्तम पक्कान्नाची ताटे ज्यांचे पुढे सेवक-गण धेऊन उभा राहून ह्यांचे आज्ञेची वाट पाहात होता, तेच रघुनाथदास आज भाजलेले चणे वा जे मिळेल ते, कसे तरी गळ्याखालो उतरवून वर पाण्याचा घोट घेतात! वाहवारे वैराग्य! तुझी धन्य आहे! कीं, जे महान् विलासीजनासहि परम तितिक्षावान् करून टाकते!

एके दिवशीं रघुनाथदासांनी स्वरूप गोस्वामीस विचारले–'प्रभुंनी मला घर-दाराचा त्याग करवून कशासाठी येथे बोलाविले, हे मला सांगा? मी काय करावे? माझे कर्तव्य काय?' हे फार संकोच वृत्तिचे असल्याने प्रभुशी स्वता बोलत नसत.

एके दिवशीं प्रभु गोस्वामीचे सहीत कथा-कीर्तन करीत होते. रघुनाथहि आले व प्रभुंना प्रणाम करून ते गोस्वामीचे मागे गुप-चूप बसले.

प्रभुंनी हसत हसत म्हटले–'तुमचा हा रघु फारच लाजरा आहे, आमच्याशी बोलतसुद्धा नाही. हा काय करतो, तुम्हाशी तर बोलत असेल, तुम्हीच सांगा त्याचे काय म्हणणे आहे ते?' गोस्वामी म्हणाले–'रघु मोठा पुरुषार्थ करून आहे. आपणाशी बोलण्याचा त्यास संकोच वाटतो. काल मला म्हणत होता'. नंतर रघुनाथाकडेस पाहात ते म्हणतात–'हां, भाई, सांगा, तुम्ही मला म्हणत होता ते तुम्हीच प्रभुंना विचारा ना!'

प्रभु म्हणाले–'हां, भाई, विचारा, काय विचारणे असेल ते, विचारा ?'

रघुनाथ खाली मान घालूनच बसले, ते कांहीच बोलेनात, तेव्हा प्रभुंनी स्वरूप गोस्वामीस म्हटले–'तुम्हीच सांगा, काय विचारीत आहे ?'

स्वरूपांनी कांहीसे थांबत थांबत सांगीतले–'हे म्हणत होते, माझे घर-दार कां सोडविले आहे ? माझे कर्तव्य काय ? मी काय करावे ? ह्या गोष्टी प्रभुंना विचारून घ्या'.

हे ऐकून प्रभु हंसू लागले व रघुनाथाकडेस पाहात म्हणतात–'तुमचे गुरू तर हेच स्वरूप आहेत. मी तुम्हास त्यांनाच सोपले आहे. साध्य-साधनतत्व तर हेच माझेपेक्षा विशेष जाणतात. कांही विचारावयाचे असल्यास मी ह्यांनाच विचारतो'. इतके म्हणून प्रभु कांही वेळ थांबले व नंतर पुन्हा आपण होऊनच म्हणू लागले–'मीच कांही सांगावे अशीच तुमची इच्छा असल्यास मी सांगतो कीं, मी तर सर्व शास्त्रांचे हेच सार समजलो आहे कीं, श्रीकृष्ण-कीर्तन व नाम-स्मरण हेच संसारांत सुखाचे सर्वश्रेष्ठ साधन आहे. प्रेमाची उपलब्धि-प्राप्ती नाम स्मरणानेच होऊ शकते. आता नाम-स्मरण कसे प्रकारे करावे, हेच समजून घेण्याची गोष्ट राहिली'.

ज्यास (प्रभु) प्रेमाची प्राप्ती करून घ्यावयाची असेल त्याने सर्व प्रथम साधु-संग केला पाहिजे. भजन, कीर्तन, सत्संग भगवत्-लीलांचे स्मरण हेच मुख्य धर्म आहेत, ह्याच धर्मांचे पालन केले पाहिजे. संसारी लोकांशीं संबंध ठेविणे, त्यांचेबरोबर पुष्कळशा गोष्टी करणे, दुसऱ्याची निन्दा-स्तुति करणे, ह्यांसच ऋषिंनी लोकधर्म म्हटले आहे. ह्या गोष्टी-पासून नेहेमीं दूरच असले पाहिजे. दुसऱ्यांच्या गुण-दोषांचे कथनांचा

सर्वतोपरि परित्याग केला पाहिजे. दुसऱ्यांचे अवगुणांवर कधी लक्षच देता कामा नये. कोणी कितीहि मोठा ज्ञानी, ध्यानी, मानी वा पंडित कां असेना, त्याने दुसऱ्याचे निन्देचे अक्षर तोंडातून बाहेर काढताच तो पतित झालाच समजावे. दुसऱ्यांचे यथार्थ गुणांची स्तुति केल्यावर एकादा कां असे मुखावाटे बाहेर पडेल कीं, 'अहो, हे तर सर्व ठीक आहे, परन्तु त्यांचेंत हाच एक दोष आहे.' ह्याच ठिकाणीं तोच दोष मनुष्याचे अन्तःकरणांत प्रवेश करतो; कारण दोषांचे परमाणु अति-सूक्ष्म असतात, जो पावेतो ते हृदयांत प्रवेश करीत नाही तो पावेतो त्याच्याच्याने दुसऱ्याची निन्दाच होणे शक्य नाही. जो जो दुसऱ्याची निन्दा करीत जाल तों तों हे परमाणु वाढत जातील व ते तुमचे अन्तः-करणाचे पावित्र्य, सरळपणा, सच्चरित्रता, व ज्ञानार्जनाची इच्छा आदि सर्व सद्वृत्ति दाबून तेथे अज्ञान व मोहाचे साम्राज्य स्थापित केले जाईल. ह्याचसाठी 'अदोषदर्शी' होणे हेच वैष्णवाचे सर्वप्रथम मुख्य काम आहे. जे भगवद्भक्त महात्मे आहेत, भागवत व साधु पुरुष आहेत, अशांचीच सदैव सेवा करीत असले पाहिजे. मान, प्रतिष्ठा व विषय-भोगेच्छा ह्या सर्वांना काम-तृष्णा म्हणतात. विरक्त पुरुषाने ह्या पासून दूर राहिले पाहिजे. ह्याप्रमाणे सर्वांतून विरक्त होऊन निरन्तर भगवन्नाम जप, भगवल्लीलांचे श्रवण, व भगवत-गुण-कीर्तन, हींच सर्व परमार्थ पथि-कांची कर्तव्ये आहेत. हे आचरणारास संसार मोह बाधा करीत नाही. संक्षेपाने मी तुला वैष्णवाची मुख्य-मुख्य कर्तव्ये सांगतो'—

१ ग्राम्यकथा केव्हाहि ऐकू नये. त्या ऐकल्याने त्याच स्मरणांत राहातात व त्या कारणाने भजनांत चित्त लागत नाही.

२ ग्राम्यकथा सांगूहि नये. विषयी लोकांच्या गोष्टी केल्याने चित्त विषयमय होते.

३ चांगले-चांगले स्वादिष्ट पदार्थ खाऊ नये, कारण अशा पदार्थांनी विषय-लोलुपता वाढते.

४ उत्तम, चांगले दिसणारे व अगदी स्वच्छ वस्त्र परिधान करू नये. ह्या योगे जीवनास कृत्रिमपणा येतो व तसे झाले कीं, वृत्ति बहिर्मुख होतात.

५ सदैव अभिमानरहीत होऊन वागावे. हृदयांत अभिमान शिरताच सर्व साधन नष्टप्राय होते.

६ दुसऱ्यास सदैव मान देत जावा. दुसऱ्यास मान दिल्याने आत्म्याचा सन्मान होतो व आत्मसन्मानच सर्वश्रेष्ठ आहे. ह्यापुढे बाकी सर्व सन्मान तुच्छ होत.

७ सदा, सर्वत्र व सर्व अवस्थेंत भगवन्नाम-जप करीत असावे. नामजपाने श्रीकृष्णचरणीं प्रीति जडते.

८ शुद्ध व श्रेष्ठभावाने श्रीभगवानाची पूजा करीत असावे. मानसिक पूजासुद्धा सर्वश्रेष्ठ पूजा आहे.

ह्याप्रमाणे ह्या धर्माचे परिपालन करणारे वैष्णवासच प्रभु-प्रेमाची प्राप्ती होत असते.

महाप्रभुंचे उपदेशामृतपानाने रघुनाथदासांची साध्यसाधनतत्व-जिज्ञासारूपी पिपासा उत्तम प्रकारे शान्त झाली. त्या दिवसापासून ते अहर्निश नाम संकीर्तनच करीत होते. साडेसात प्रहर भगवन्नामजप व शेष अर्धा भोजनादि कृत्ये व शयनांत ते घालवीत होते.

ह्याच सुमारास मागाहून येत असलेले गौडीयभक्त पुरीस आले व

ते नेहमीप्रमाणे चार महिने राहून आपले देशीं परत गेले. पुरीहून भक्तवर्ग परत आल्याची वार्ता गोवर्धनदास मजूमदारांना समजताच त्यांही आपला मनुष्य पाठवून शिवानन्दांचेकडेस रघुनाथदासाचे संबंधाने चौकशी करविली. सेन महाशयांनी सांगीतले कीं,–'पुरींत सर्व विरक्त वैष्णवांत विशेष तितिक्षावान् रघुनाथदासच आहेत, तेथे त्यांना सर्व ओळखतात. सिंहद्वारावर जी भिक्षा मिळते त्यावर ते आपला निर्वाह करीत आहेत. ते कुशल असून प्रभुंचे पाद-पद्माजवळ वास करीत आहेत'.

सेवकांनी हा वृत्तान्त येऊन आपले स्वामीस सांगीतला–'माझा एकुलता एक पुत्र, एक मुठभर अन्नासाठी मन्दीराचे दाराजवळ उभा राहातो'. हा समाचार समजताच धन-संपत्तिसच सर्वस्व समजणारे 'हाय, हाय' करू लागले.

पुन्हा यात्रा जाऊ लागली तेव्हा गोवर्धनदासांनी एक स्वयंपाकी व एक सेवक रघुनाथदासासाठी रुपये चारशे देऊन सेन महाशयाबरोबर पुरीस पाठविला. पुरीस पोचल्यावर त्या सेवकाने रघुनाथदासास भेटून सर्व वृत्तान्त सांगीतला व आणलेले रुपयेहि तो त्यांना देऊ लागला, परन्तु त्यांही द्रव्यास स्पर्श केला नाही. ते सेवक तेथेच राहिले. रघुनाथदासांनी विचार केला कीं, 'द्रव्यच आले आहे तेव्हा तद्द्वारा प्रभु सेवा कां करू नये?' ह्या विचाराने ते महिन्यांतून दोनदा प्रभुंना भिक्षेस निमन्त्रण करू लागले. ह्या योगे खर्च असा कितीसा होणार होता!

एके दिवशीं रघुनाथदासांनी विचार केला कीं, 'ज्या अर्थी मी घर-दार कुटुंब आदि सर्व परिवाराचाच त्याग केला आहे, तेव्हा पित्यांनी पाठविलेल्या रुपायांतून प्रभुंना भिक्षा तरी कां करवावी? यायोगे प्रभु सन्तुष्ट थोडेच होणार आहेत. ते केवल मला बरे वाटावे म्हणून

येथे येऊन भिक्षा करतात'. हा विचार करून त्यांनी प्रभुंचे निमन्त्रण बन्द केले.

एके दिवशीं प्रभुंनी गोस्वामीस विचारले–'स्वरूप! कोण जाणे काय झाले, आता आम्हास रघु निमन्त्रण करीत नाही. तो नाराज तर नाही झाला?'

गोस्वामींनी उत्तर दिले–'प्रभो रघुने विचार केला असेल, विषयी लोकांचे द्रव्याने प्रभुंना निमन्त्रण करण्यांत काय लाभ? ह्या योगे प्रभुहि सन्तुष्ट नाहीत व माझेहि मन विकल्पीत होते. म्हणूनच त्याने निमंत्रण करणे बन्द केले'.

प्रभुंनी म्हटले–'स्वरूप! तुम्ही अगदी योग्य तेच म्हणालात. विषयी लोकांचे अन्न खाण्याने रजोगुणांचे भावांची वृद्धि होते. विषयी लोकांचे अन्नांत कामनांचे परमाणु असतात. संसारी लोक कामनाशून्य होऊन आपले जामातास सुद्धा जेवू घालीत नाहीत. सकाम परमाणुचे योगाने बुद्धि मलीन होते व मलीन बुद्धिने श्रीकृष्ण-कीर्तन होऊ शकत नाही. अतः शक्यतो विषयी धनिक पुरुषाचे अन्नापासून दूर असले पाहिजे. मी तर त्याचे प्रेमामुळे जात होतो. बरे झाले त्याने निमन्त्रण बन्द केले'.

इकडे रघुनाथांनी सिंहद्वारावर उभे राहून भिक्षा मागणे बन्द केले. त्यांचा लोकांना परिचय झाल्याने ते त्यांना मिष्टान्न घालू लागले. स्वादिष्ट अन्नाचा प्रभुंनी निषेध केला आहे, तेव्हा त्यांनी येथून भिक्षा मागणे बन्द करून ते क्षेत्रांत भिक्षेसाठी जाऊ लागले.

सायंकाली दोनचार दिवस रघुनाथ सिंहद्वारावर दिसला नाही,

तेव्हा प्रभुंनी गोविन्दास विचारले–'गोविन्द! रघु आता सिंहद्वाराजवळ दिसत नाही. कोणास ठाऊक आता तो कोठे भिक्षा मागतो?'

गोविन्दाने सांगीतले–'प्रभो! आता सिंहद्वाराजवळून भिक्षा घेणे बन्द करून ते दिवसाच क्षेत्रांतून भिक्षा मागून आणतात'.

प्रभु सन्तुष्ट होऊन म्हणतात–'रघुने हे सर्वोत्तम काम केले. भिक्षेच्या लालसेने सिंहद्वारावर उभे राहाणे ही वेश्यावृत्ति आहे. तोंडाने भले तुम्ही नाम-जप करीत राहा, परन्तु मनांत सदैव हेच असते कीं, आता कोणी येईल व आपणास अवश्यमेव कांहीतरी देईलच देईल. बरे एकाने न दिल्यास दुसरा येईल तो तर जरूर देईलच. ही भावना सारखी जागृत राहाते'. इतक्यांत स्वरूप गोस्वामी आले. त्यांना पाहाताच प्रभु उल्लसित होऊन म्हणतात–'बरे झाले, बरे झाले, तुम्ही कसे अगदी वेळेवरच आलात. आता तुमचेच रघुच्या गोष्टी होऊन राहिल्या आहेत. त्याने सिंहद्वारावरून भिक्षा घेणे बन्द केले आहे?'

गोस्वामी म्हणतात–'तो विचित्र आहे. जेथे त्यास वैराग्यांत जरासा कमीपणा दिसतो, ते काम तो एकदम बन्द करतो. त्यास सिंहद्वारावरील भिक्षेंत कांही दोष दिसला असेल'.

प्रभु म्हणतात–'त्याचे ह्या करण्याने मी फार सन्तोषित झालो आहे. त्यास बोलवा तर खरे, कोठे आहे?'

गोविन्दाने जाऊन लागलीच रघुनाथास बोलावून आणले. प्रभुंना व गोस्वामीना प्रणाम करून भगवन्नामोच्चारण करीत रघुनाथ एका बाजूस बसले. प्रभु उठून आंत मध्ये गेले व कांही वस्तु हातांत घेऊन आले.

प्रभु येऊन रघुनाथांचे जवळ बसले, रघुनाथ पुष्कळच संकोच

करून बसले. प्रभु त्यांचे डोक्यावरून हात फिरवीत म्हणू लागले–'रघु, मी तुमचेवर फारच प्रसन्न आहे. मी प्रसन्न होऊन तुम्हास कांही देत आहे. परन्तु माझे सारखे निष्कांचनाजवळ देण्यासारखे असे असणारच काय. जी सर्वांत माझी आवडती सम्पत्ति आहे, तीच तुम्हास दिल्याने मी सन्तुष्ट होईन. शंकरारण्य सरस्वती वृन्दावनास गेले होते. त्यांही वृन्दावनाहून परत येऊन ही गुंजमाला व हा गोवर्धन पर्वताची शिला प्रसादरूपाने मला दिली होती. गिरीराज गोवर्धनपर्वत श्रीकृष्णाचा साक्षात् विग्रहच आहे. श्रीकृष्णांत व गोवर्धनांत कोणत्याही प्रकारचा भेदभाव नाही. म्हणून आज तीन वर्षे मी ह्या सुन्दर शिलेस माझे नेत्रजलाने स्नान करवीत होतो. माझे विकलतेंत ही शीला माझे हृदयास शीतलता प्रदान करीत होती. हिचे स्पर्शाने माझे नेत्र पवित्र झाले आहेत, ललाट धन्य झाले आहे. भगवन्तास गुंजमाला फारच प्रिय होती, ते गोवर्धन पर्वतावरून गुंजा आणून माला करून स्वताचे गळ्यांत व गोपाल-बालकांचेहि गळ्यांत घालीत होते. ह्या दोन्हीहि वस्तु मला फार प्रिय आहेत, त्या मी तुला सोपतो. तुम्ही आजपासून ह्या गोवर्धन-शीलेची सात्विक पूजा करीत जा. सात्विक पूजा म्हणजे एक कमण्डलु जल व तुलसीपत्र ह्याच वस्तु लागतात. जलाने स्नान घालावे, तुलसीपत्र वहावे व भक्तिभावाने प्रणाम करावा, हीच सात्विक सेवा. तुलसी तथा जलाचे अभावी नुसता श्रद्धा-युक्त प्रणामहि सांगीतला आहे. घ्या, संभाळा आपल्या वस्तु'.

प्रभुप्रदत्त त्या दोन्ही वस्तु मिळाल्याने रघुनाथदासांचे प्रसन्नतेस ठिकाणाच राहिला नाही. त्यांचे सर्व अंग पुलकीत झाले व प्रभु-पाद-पद्मीं साष्टांग प्रणाम करून त्यांही त्या दोन्ही वस्तु हात पसरून एकादे दीन भिक्षुकाप्रमाणे स्वीकारल्या. त्या दिवसापासून ते त्या शिलेची पूजा करू

लागले. त्यांचे वैराग्य फारच उत्कठ होते. साधारण लोकांचा तर त्यावर विश्वासहि बसणार नाही.

एका गोदडीशिवाय ते दुसरे वस्त्रच ठेवीत नसत. निरन्तर त्यांचे भगवन्नाम सुरू असे. घर सोडल्यावर त्यांही जिव्हेचा स्वाद ठेवलाच नव्हता. भिक्षेंत जे रुक्ष-सुष्क, गोड-कटू, मिळेल ते खात असत. आता त्यांचे घोर वैराग्याची एक अद्भुत कथा ऐका. ह्या योगे त्यांची तितिक्षा, सहनशीलता, जिव्हासंयमाची कठोरता व निष्कांचता दिसून येईल.

हे दुपारीच क्षेत्रांतून भिक्षा आणीत होते, परन्तु त्यांतहि त्यांना परतन्त्रता दिसून आली, म्हणून त्यांही तिही भिक्षा बन्द केली. आता ते दुसऱ्याच एका तऱ्हेने ही पोटाची खळगी भरू लागले.

भगवन्ताचा प्रसादी भात जगन्नाथांत दुकानांतहि विकत मिळतो. दुकानावर जेव्हा दोन तीन दिवस भात विकला जात नाही, तेव्हा ते तो सडलेला भात बाहेर फेकून देतात व तो गाई खातात, गाईंचा ह्या योगेच निर्वाह होतो. ह्या गाई मन्दीराचे आसपास नेहेमी चरत असतात. त्यांही पोट भरले असल्यावर हा सडका भात खात नाहीत. सायंकाळचे वेळीं हाच भात रघुनाथदास गोळा करून नेत. नंतर तो पुष्कलशा पाण्याने धुऊन त्यांतील सडलेले दाणे विणून, टाकून देऊन व जो चांगला भात शेष राही त्यांत थोडेसे मीठ मिळवून, खाऊन पाणी पीत असत. ह्याप्रमाणे ते निर्वाह करू लागले. हे सर्व काम ते रात्रौ करीत.

महाप्रभु आपले भक्तांची प्रत्येक गोष्ट जाणत असत. एके दिवशीं प्रभुंनी गोविन्दास विचारले–'गोविन्द! असे समजते कीं, रघु आता क्षेत्रांतून सुद्धा भिक्षा आणीत नाही. तो कोठून भिक्षा आणतो?'

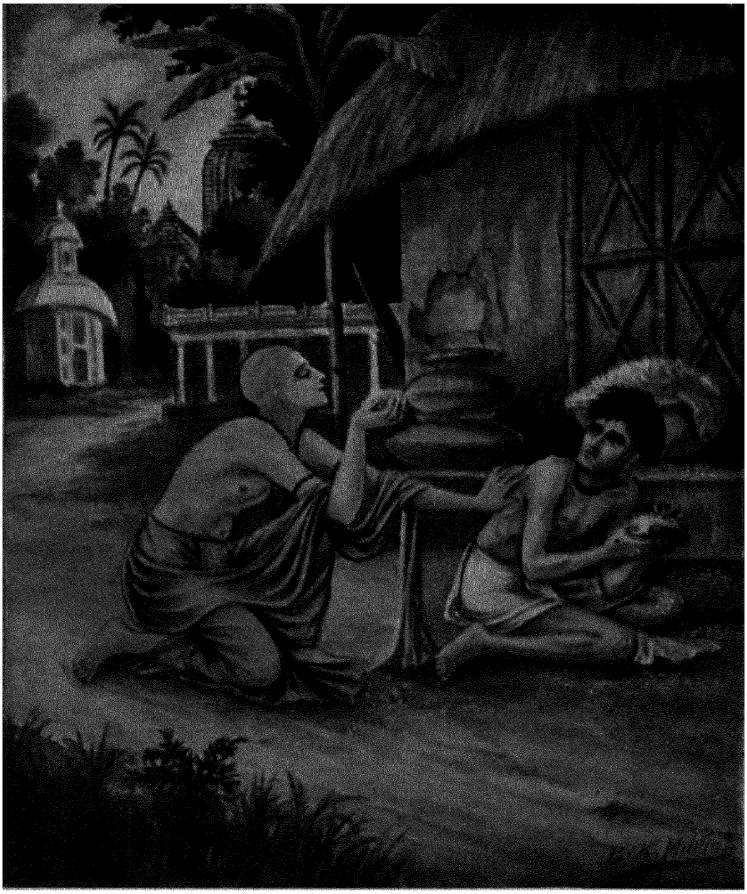

भक्त रघुनाथदास और श्रीचैतन्य

THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

गोविन्दाने रघुनाथदासांचा सर्व वृत्तान्त सांगीतला. तो ऐकताच प्रभुंचे आनन्दाचा ठिकाणाच राहिला नाही. त्यांच दिवशीं प्रभु रघुनाथांच्या मुकामीं गेले. त्यावेळीं हळुहळु ते ते सुस्वादु अन्न खात होते. प्रभु हळूच जाऊन त्यांचे मागे उभे राहिले. रघुनाथास काय माहीत कीं, आपणा मागे कोण उभे आहे? त्याने तोंडांत घास घातला न घातला तोंच प्रभुंनी हलकेच म्हटले–'काय हो, स्वरूपाचे रघु! आमचे निमन्त्रणहि बन्द केले व असे सुन्दर सुन्दर पदार्थ चोरून दुसऱ्यास न समजू देता एकटेच खाता आहा. आम्हास त्यांतील कांहीच देत नाही?' असे म्हणून त्यांतील बचकभर भात एकदम उचलून आपले तोंडांत भरला.

'हाय, हाय' करीत अत्यन्त करुण स्वराने रडत रडत ते पात्र दोन्ही हातांनी गच्च धरून रघुनाथदास म्हणू लागले–'प्रभो! हे आपण काय करीत आहा? नाथ! तो भात आपले योग्य नाही. प्रभो! हा उच्छिष्ट व सडका, फेकून दिलेला भात आपण खाऊन मला पापाचे भागीदार करू नका'. तोंडातला घास लवकर लवकर गिळीत दुसरा बचका भरण्यासाठी प्रभु त्यांचेकडेस लवले, इतक्यांत ही गडबड ऐकून स्वरूपगोस्वामी तेथे येऊन पोचले. प्रभुंना रघुनाथाकडून भात हिसकवीत असताना पाहून त्यांहीच त्यांचा हात धरला व म्हणाले– प्रभो! 'हे आपणास योग्य नाही'.

तो सुकलेला भात घशाखाली गिळीत-गिळीत प्रभु म्हणतात– 'स्वरूप! तुम्हास सत्य सांगतो, जितका स्वाद आज ह्या भातांत आलेला आहे, तितका जीवनामध्ये दुसरे कोणतेच पदार्थांत आला नाही'. अहाहा! धन्य आहे, अशा भक्तवत्सलतेस! हे प्रभो! हा आपले वैराग्याचाच स्वाद आहे! हे गौर! तुम्हीच जीवास प्रेम प्रदान करता

व तुम्हीच त्याचे रसास्वादन करून मग्न होता! हे चैतन्य! तुमच्या लीला विचित्र आहेत! तुमची माया अपरंपार आहे! आम्ही पाप पंकांत फसलेले विषयासच सर्वश्रेष्ठ मानणारे क्षुद्र प्राणी, तुमच्या लोलांचे रहस्य समजूच कसे शकणार! ज्याचेवर तुम्ही कृपा कराल, तोच ह्या संसार-सागरांतून बोलता-बोलता पार होऊन जातो.

ह्या प्रकारे महामना श्रीरघुनाथदास चैतन्यचरणाने अपार अनुकंपेचा अनुभव घेत सोळा वर्षे पुरीमध्ये ह्याच प्रकारचे त्याग वैराग्ययुक्त प्रेममय जीवन व्यतीत करीत होते.

# छोटे हरिदासास स्त्रीदर्शन-दण्ड

निष्किंचनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य ।
संदर्शनं विषयिणामथ योषितांच
हा हन्त ! हा हन्त ! विषभक्षणतोऽप्य साधु ॥

खरोखर जगताचे आदिपासून सर्व महापुरुष एक स्वराने-निष्कांचन भगवद्भक्त अथवा विरागी-कामिनी व कांचन ह्या दोन्ही वस्तु विष म्हणून सांगत आहेत. त्या महापुरुषांनी जगतांतील सर्व प्रिय वाटणाऱ्या पदार्थांचे वर्गीकरण करून समस्त विषय-सुखाचा समावेश ह्या दोनच शब्दांत ( कामिनी व कांचन ) केलेला आहे. जो ह्या दोहोंच्या पाशांतून सुटला, त्याने पैलतीर गांठले व जो ह्यांत फसला, तो मध्यधारेंत गटंगळ्या खातच राहिला. कबीरदासांनी किती सुन्दर वर्णन केले आहे—

चलन चलन सब कोई कहे, बिरला पहुंचे कोय ।
एक 'कनक' अरु 'कामिनी' घाटी दुरलभ दोय ॥

हे दोन अडथळे पार करणे फारच कठीण आहे. ह्याचसाठी महापुरुष स्वयं ह्यापासून पृथक् राहून आपले अनुयायांना सांगून, लिहून, प्रसन्न होऊन, नाराज होऊन वा नानाप्रकारे आढेवढे घेत, ह्या दोन्हीपासून पृथक् राहण्याचा उपदेश करतात. त्याग व वैराग्याचे साकार स्वरूप महाप्रभु चैतन्यदेवहि आपले भक्तांना सदैव ह्यापासून बचून राहण्याचा उपदेश करून, स्वताहि त्यांचेवर कडक दृष्टि ठेवीत असत. म्हणून तर आज त्याग-

शिरोमणि श्रीगौराचा यशसौरभ दिशांविदिशा व्यापून आहे. व्रजभूमींत असंख्य स्थाने महाप्रभुंच्या अनुयायांच्या त्याग-वैराग्याचे आतापर्यन्त स्मरण देत आहेत.

वृद्ध महात्मा हरिदासजींच्या नावाचे तर पाठकाना स्मरण असेलच. ते सदैव नाम जपच करीत असत. ह्यांचे व्यतिरिक्त दुसरे एक कीर्तनकार हरिदास होते. ते अवस्थेने लहान असून गृहत्यागी होते. ते आपले सुमधूर कंठाने महाप्रभुंना कीर्तन ऐकवीत असत. भक्त मंडळींत ते छोटे हरिदास ह्या नावाने प्रसिद्ध होते.

पुष्कळसे भक्त प्रभुच्या जवळच परन्तु निरनिराळ्या स्थानीं राहात असत. सर्वजण मोठ्या भक्तिने प्रभुंना आप-आपले स्थानीं आमन्त्रण करवून भिक्षा करवीत असत.

जगन्नाथामध्ये तयार केलेले म्हणजे सिद्ध अन्नाचाच भगवन्तास भोग म्हणजे नैवेद्य समर्पण करण्यांत येतो व हा महाप्रसाद दुकानावर विकत मिळतो. परन्तु घरींच भात तयार करून प्रभुंना अर्पण करण्याचाहि रिवाज आहे. यास 'प्रसादी' या 'अमानी' भात म्हणतात.

उपरोक्त तथाकथित भक्तांमध्ये भगवानाचार्य नावाचे एक विरक्त पंडित होते. ह्यांनी घरींच प्रभुंच्यासाठी भात आदि करण्याचे निश्चित केले, आणि त्यांही छोटे हरिदासास प्रभुंच्यासाठी उत्तम तांदुळ आणण्यासाठी सांगीतले.

श्रीजगन्नाथाचे मन्दीरांत एक शिखि माहिती नावाचे गृहस्थ हिशोब-टिशोब लिहिण्याचे काम करीत होते. त्यांना मुरारी नावाचा एक घाकटा भाऊ व माधवी नावाची एक बहीण होती. दाक्षिणचे यात्रेहून आल्यावर

ह्या तिघांचाहि सार्वभौम भट्टाचार्यांनी प्रभुंशी परिचय करून दिला होता. हे तिघेहि श्रीकृष्णभक्त होते व तेहि प्रभुवर फार प्रेम करीत होते. माधवी दासी परम तपस्विनी व सदाचारिणी स्त्री होती. महाप्रभु माधवीदासीची गणना राधीकेच्या गणामध्ये करीत असत. त्यावेळीं राधिकेच्या गणामध्ये -स्वरूपदामोदर, राय रामानन्द, शिखी माहिती, व अर्धी माधवीदासी- ह्याप्रमाणे गण होते. ह्या सर्वांचा महाप्रभुचे ठायीं अत्यन्त मधुर श्रीमती राधेसारखा सरस भाव होता.

छोटे हरिदास माधवीदासीच्या घरांत गेले व आंत जाऊन तिचे पासून तांदुळ मागून घेऊन आले. आचार्य भगवानांनी भात, भाज्या आदि पदार्थ प्रभुंच्यासाठी तयार केले. प्रभु नियतसमयीं आले. आचार्यांनी त्यांचे पादप्रक्षालन करून त्यांना उत्तम आसनावर बसविले आणि पुढे पात्र वाढून ठेविले. सुगन्धियुक्त उत्कृष्ट तांदुळाचा तो भात पाहताच प्रभुंनी विचारले–'भगवान्! हे असे सुन्दर तांदुळ कोठून आणले?'

सरलपणे भगवान् म्हणाले–'प्रभो! माधवीदासीचे घराहून मागविले'.

हे ऐकताच त्यांच्या भावनेंत एकदम बदल झाला. त्यांही गंभीरपणे विचारले–'माधवीचे येथे कोण घेण्यास गेला होता?'

त्यांही स्वाभाविकपणे उत्तर दिले–'प्रभो! छोटे हरिदास गेले होते.

हे ऐकताच प्रभु चुप झाले व मनांतले मनांत कांही विचार करू लागले. कोण जाणे ते हरिदासावर पहिल्यापासूनच कोणत्या गोष्टीच्या कारणाने असन्तुष्ट होते. त्यांचे नांव ऐकताच ते बरेचसे उदासीन झाले. नंतर त्यांही विचार करून भगवन्ताचे प्रसादास-नैवेद्यास प्रणाम केला व

अनिच्छापूर्वक थोडा-बहुत प्रसाद घेतला. आज ते प्रसाद घेताना नेहेमीप्रमाणे प्रसन्न दिसत नव्हते. त्यांचे अन्तःकरणांत कोणत्याशा गहन विषयावर द्वन्द्व सुरू होते. भिक्षा घेतल्यावर ते सरल आपले स्थानीं आले. येताच त्यांही आपला सेवक गोविन्द यांस बोलाविले. तो येताच, प्रभु रागानेच म्हणाले–'लक्षांत ठेवा! आजपासून छोटा हरिदास आमचे येथे येता कामा नये. तो चुकून कां होईना येथे आल्यास मला फारच राग येईल. माझी ही गोष्ट लक्षांत ठेव आणि अगदी दृढपणे तसे वर्तन कर'.

गोविन्द हे ऐकताच अगदी सुन्न झाला. त्याला प्रभुच्या ह्या म्हणण्यांचा अर्थच समजेना. थोडे वेळाने तो प्रभुजवळून उठून स्वरूप गोस्वामी जवळ गेला. त्यांही त्यांना हा वृत्तान्त सांगीतला. सर्वजण ही भीषण आज्ञा ऐकून अगदी चकीतच झाले. प्रभु तर असे कधीच रागावत नसत. ते तर पतितार्शीहि प्रेम करीत असत. आज हे काय झाले! हे लोक दौडतच हरिदासाच्याकडे गेले. त्यास सर्व विचारून घेतल्यावर सर्वांनी पुन्हा विचारले–'तुम्ही असा कोणता अपराध केला होता कीं, ज्यामुळे प्रभु इतके क्रुद्ध झाले?' हे ऐकताच तो अगदी पांढरा पडला, घाबरला आणि पश्चातापाच्या स्वरांत त्याने म्हटले–'दुसरा तर कांही अपराध केल्याचे मला स्मरण नाही, फक्त भगवानाचार्यांचे म्हणण्यावरून मी माधवीदासी जवळून तिचे घरांत जाऊन थोडेसे तांदुळ भिक्षा मागून आणले होते'.

सर्वांना समजून चुकले कीं, ह्यांत कांहीतरी अवश्य गुप्त रहस्य असले पाहिजे. ह्या योगे भक्तांना त्याग-वैराग्याची कठोरता प्रभु समजाविण्याचे धारीत आहेत. सर्वजण प्रभुजवळ आले व त्यांचे पाय धरून प्रार्थना करू लागले कीं–'प्रभो! हरिदास झालेले अपराधाबद्दल

फारच दुःखी झाला आहे, त्यास क्षमा व्हावी. या पुढे तो अशी चूक करणार नाही. त्यास दर्शनापासून वंचित करू नका'.

प्रभुंनी अगदी कठोरपणाने सांगीतले–'तुम्ही या संबंधाने या पुढे मला कांहीहि सांगु नका, मी अशा मनुष्याचे मुखावलोकन सुद्धा करू इच्छित नाही कीं, जो वैराग्याचा वेष घेऊन स्त्रियाशी संभाषण करतो'.

अत्यन्त दीनपणे स्वरूप गोस्वामी म्हणाले–'प्रभो! त्याचेकडून चूक झाली. शिवाय माधवीदेवी परम साध्वी, भगवद्भक्तिपरायणा अशी आहे. तेव्हा अशासाठी इतकी कडक शिक्षा होणे बरे नाही'.

हरिदासांनी जेव्हा ऐकले कीं, प्रभु कोणत्याहि प्रकारे क्षमा करण्यास राजी नाहीत, तेव्हा त्याने अन्न-जलाचा अगदी त्याग केला. तीन दिवस होऊन गेले परन्तु आपले निश्चयापासून प्रभु मागे सरले नाहीत. तेव्हा तर स्वरूप गोस्वामीसहि फारच चिन्ता वाटू लागली. सर्व विरक्त भक्त फारच भिऊ लागले. कांही विरक्त स्त्रियांकडून भिक्षा आणीत होते तेहि त्यांनी सोडले. स्वरूप गोस्वामी भीत भीत एकान्तांत प्रभुजवळ गेले. स्वस्थपणे प्रभु कांही विचारमग्न होते. प्रभुंना प्रणाम करून ते बसले. प्रसन्नतापूर्वक प्रभु त्यांचेशी गोष्टी बोलु लागले. प्रभुंना प्रसन्न पाहून हळूच गोस्वामी म्हणाले–'प्रभो! छोटे हरिदासाने तीन दिवसापासून कांहीच खाले नाही, त्याच्यावर इतकी अवकृपा कां? त्याला त्याचे कृत्याचा पुष्कळ दण्ड झाला आहे. आता तर क्षमा मिळाली पाहिजे'.

प्रभुंनी अत्यन्त स्नेहाने परन्तु निरुपायाचे स्वरांत म्हटले–'स्वरूपजी! मी काय करू? मी मला स्वतासहि समजावू शकण्यास असमर्थ आहे. जो पुरुष साधु होऊन प्रकृति संसर्ग ठेवितो व त्यांचेबरोबर भाषणहि करतो, मी अशाचे बरोबर बोलू सुद्धा इच्छित नाही. ऐका मी तुम्हास

एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण गोष्ट सांगतो, ती ध्यान देऊन ऐका व हृदयांत धारण करा. ती ही आहे—

शृणु हृदयरहस्यं यत्प्रशस्तं मुनीनां
न खलु न खलु योषित्सन्निधिः संनिधेयः।
हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरप्रैः
पिहितशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम् ॥

'ह्या साठी मी तर म्हणतो कीं, तो उपासी मरून कां जात नाही. मी जो निश्चय केला आहे त्यापासून ढळणार नाही'. स्वरूपजी उदास मनाने परत गेले. त्यानंतर परमानन्दपुरींनीहि प्रभुना सांगण्याचा प्रयत्न केला, परन्तु त्याचाहि कांही उपयोग झाला नाही. तेव्हा स्वरूप गोस्वामी आदि मंडळी हरिदासांचे जवळ गेले व त्यास सांगीतले– 'उपवास करून प्राण गमावण्यांत काय लाभ ? जगलात तर भगवन्नाम-जप करीत राहाल. प्रभुंच्या स्थानीं नाही, परन्तु प्रभु जगन्नाथाचे दर्शनास जातात, तेव्हा दुरूनच दर्शन करीत जा. त्यांचेच होऊन त्यांच्या दरबारांत पडून राहाल तर केव्हा-ना-केव्हा ते प्रसन्न होतीलच'.

हरिदासास हे पटले. त्यांने अन्न-जल घेण्यास सुरूवात केली. तो नित्य मन्दीरांत जाताना प्रभुचे दुरूनच दर्शन घेत होता व आपणास अभागी समजून कैद्याप्रमाणे जीवन व्यतीत करीत होता. त्यास खाणे-पिणे, कोणास भेटणे, इत्यादि कांहीहि गोड वाटत नसे. होता होता एकदम त्यास वैराग्य बाणले, असे प्रेम-शून्य जीवन घालविणे त्यास भारवत् वाटू लागले. भक्तांना तोंडहि दाखविण्याची त्यास लाज वाटू लागली. शेवट त्याने जीवनाचा अन्त करण्याचे निश्चित केले.

एके दिवशीं अरुणोदय समयीं तो उठला. प्रभु त्यावेळीं समुद्र-

स्नानासाठी जात असत. स्नानास जात असताना प्रभुंचे त्यांही दर्शन केले, मागाहून त्यांची पद-धूली स्वतःचे मस्तकावर धारण केली व थोडी वस्त्रामध्ये बांधून घेऊन तो नीलाचलाहून निघाला. काशीस दर्शन करून तो त्रिवेणी-तटावर पोंचला. गंगा-यमुनाचे संगमांत उभा राहून त्याने उच्च-स्वराने म्हटले–'ज्या शरीराने महाप्रभुच्या इच्छेविरुद्ध वर्तन केले आहे, हे माता जान्हवी! हे पतित पावनी श्रीकृष्णसेविता कालिन्दी माते! दोन्हीहि मातानी आपले पवित्र परम पावन प्रवाहामध्ये ते हे अपवित्र शरीर वाहात नेऊन पावन करा! हे अन्तर्यामी प्रभो! जर जीवनामध्ये थोडे-फार सुकृत केले असेल तर, त्याचे फल-स्वरूप मला जन्म-जन्मान्तपर्यन्त आपले चरणासमीप राहाण्याचे महत् भाग्य प्राप्त होऊ दे'. असे म्हणून त्याने एकदम प्रवाहांत उडी घेतली. त्यांची प्रार्थना पूर्ण करण्यासाठी दोन्ही प्रवाहांत त्यांचे शरीर वाहात गेले.

कोणी गौडीय भक्ताने हे ऐकले होते व त्याने नवद्वीपात आल्यावर हा प्रकार श्रीवास पंडितास सांगीतला.

रथयात्रेसाठी ते नीलाचलास आले तेव्हा त्यांही प्रभुस विचारले–'प्रभो! छोटा हरिदास कोठे आहे?'

प्रभुंनी हसत उत्तर दिले–'कोठे तरी आपले दुष्कर्मांचे फल भोगीत पडला असेल'.

जेव्हा आज श्रीवास पंडिताकडून निश्चित समाचार समजला तेव्हा प्रभु पुन्हा दृढतापूर्वक म्हणाले–'साधु होऊन स्त्रियांशी संसर्ग ठेवणारास हेच प्रायःश्चित योग्य आहे. त्याने पापाचे योग्य असेच प्रायःश्चित घेतले.

# धन मागणारे भृत्यास दण्ड

धनमपि परदत्तं दुःखमौचित्यभाजां
भवति हृदि तदेवानन्दकारीतरेषाम् ।
मलयजरसबिन्दुर्बाधते नेत्रमन्त-
र्जनयति च स एवाल्हादमन्यत्रगात्रे ॥

प्रेमरूपी धनप्राप्तीसाठीच जे सदैव यत्नशील असतात, ते उदरपूर्तिसाठी अन्न व अंगरक्षणासाठी वस्त्र ह्या अतिरिक्त कोणत्याहि प्रकारचे धनाचा संचय करीत नाहीत. धनाचा स्वभाव आहे लोभ उत्पन्न करणे, व लोभाची व द्वेषाची प्रगाढ मैत्री आहे. जेथे लोभ आहे तेथे दुसऱ्याविषयी द्वेष अवश्यमेव विद्यमान आहे. द्वेषापासून घृणा म्हणजे निन्दा निपजते व घृणा करणे हेच नाशाचे कारण आहे. ह्याच सर्वांचा विचार करून तर त्यागी पुरुष द्रव्याचा स्पर्श करीत नाही. गृहस्थाचे तर द्रव्यावाचून काम चालणेच कठीण, त्यांना द्रव्य संचय केलाच पाहिजे, परन्तु त्यानेहि अधर्माने वा अनुचित उपायांनी धनार्जन करण्याची प्रवृत्ति सर्वथैव वर्ज केली पाहिजे. धर्मपूर्वक न्यायोचित रीतीने प्राप्त केलेले धनच फलीभूत होते व तेच त्यास संसारबन्धनांतून सोडवून हळू हळू परमार्थाकडे नेण्यास कारणीभूत होते. श्रीचैतन्यदेव ज्या प्रमाणे स्त्रियांचे संगतीत असणारे पुरुषापासून दूर असत, त्याचप्रमाणे धनलोलुपापासूनहि सदैव भिऊनच असत. जे स्त्रीसेवन अविधिपूर्वक कामवासनेचे पूर्तिसाठी केले जाते, त्याची शास्त्रांत निन्दा व त्या कामिनीस नरकद्वार सांगीतले आहे. जिचे पाणिग्रहण शास्त्रमर्यादेने विधिपूर्वक केलेले आहे, ती तर कामिनी नसून धर्मपत्नि आहे. तिचा उपयोग कामवासना तृप्ति हा नसून

धार्मिक कृत्यांत साह्य देणे हा आहे. अशा स्त्रिचा संग तर प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थासाठी परम धर्मच आहे. धर्मपूर्वक, विधियुक्त, विनय व पात्रतेने उपार्जन केलेले धन, धर्म व सुखाचे प्रधान कारण होत असते.

अद्वैताचार्य गृहस्थ होते, हे तर पाठकास माहीतच आहे. त्यांना दोन स्त्रिया होत्या, सहा मुलगे व दोनचार दास-दासी असा परिवार होता. मोठा मुलगा अच्युतानन्द सोडून सर्व गृहस्थ-धर्मीच होते. इतका मोठा परिवार असताहि ते भक्त होते. भक्तांना बहुधा 'वेडे' म्हणतात. एक कवी म्हणतो—

भक्त बावले, ज्ञानी अल्हड, योगी बडे निखट्टू।
कर्मकांडी ऐसे डोले, ज्यों भाडेके तट्टू॥

असतु, वेडे भक्तांच्या येथे 'हे माझे आहे, हे तुझे आहे' हा हिशोबच नसतो. ज्याने यावे, त्याने खुप खावे, प्यावे, जे पाहिजे असेल ते न्यावे. सर्वांना त्यांचे द्वार उघडेच असते. वास्तवीक औदार्य ते हेच, व तोच श्रीकृष्ण-प्रेमाचा अधिकारी होतोहि. ज्यास पैशाचे प्रेम आहे, जो द्रव्य-लोभी आहे, तो भगवन्ताचे ठायीं प्रेम करणारच कसे? वैष्णवासाठी अद्वैताचार्यांचे घर धर्मशालाच काय परन्तु निःशुल्क-भोजनालयच होते. कोणीहि यावे, वाटेल तितके दिवस राहावे, आचार्य त्यास सत्कारपूर्वक खाऊ-पिऊ घालीत असत. ह्या उदारपणाचे कारणाने आचार्यांना कांही कर्जहि झाले होते.

त्यांचा एक बाऊल विश्वास नावाचा भृत्य होता. आचार्यांचे ठिकाणीं त्याची फार श्रद्धा होती. तो आचार्यांचे बरोबरच पुरीस येत

जात असे. आचार्यांना द्रव्याचा ताण-संकोच होता, ह्या कारणाने ह्यासहि वाईट वाटत असे. त्यांना कांही ऋण आहे, हे त्याच्याहि माहीतीत होते. पुरीस महाप्रभुंचा इतका विशेष प्रभाव त्यास दिसून आला कीं, महाराजा प्रतापरुद्र यांना ईश्वर तुल्य मानीत होते व गुरुभावनेने त्यांची आज्ञा पालन करण्यास अगदी तयार होते. विश्वासाने विचार केला-'महाराजांनाच आचार्यांना ऋणमुक्त करण्याबद्दल कां विनंती करू नये? महाराजांचे कानापर्यन्त ही गोष्ट पोचली तर ह्यांचे खर्चासाठीहि चांगला प्रबन्धहि होईल'. ह्या विचाराने त्याने आचार्यांना न समजु देता स्वता जाऊन महाराजा प्रतापरुद्रांना एक प्रार्थनापत्र दिले. त्यांत त्यांही आचार्यांना साक्षात् ईश्वर अवतार दर्शवून त्यांना ऋणमुक्त करण्याबद्दल व त्यांचे व्ययाचा स्थायी प्रबन्ध करून देण्याची प्रार्थना होती.

महाराजांनी ते पत्र प्रभुंच्याकडे पाठवून दिले. पत्र वाचताच प्रभु आश्चर्यचकीत झाले. त्यांचे प्रभावाचा असे प्रकारे दुरुपयोग केला जातो आहे हे पाहून प्रभुंना विश्वासाचा राग आला. त्यांही लागलीच गोविन्दास बोलावून कडक आज्ञा दिली-'गोविन्द! लक्षांत ठेव, आजपासून बाऊल विश्वास आमचे येथे येता कामा नये. तो आमचे व आचार्यांचे नांवाचा दुरुपयोग करीत आहे'. गोविन्द डोके नमवून निघून गेला. त्याने भक्तांना हे कळविले व भक्तांच्या द्वारे आचार्यांना ही गोष्ट समजली. आचार्य धावतच प्रभुंच्याकडेस आले व त्यांचे पाय धरून दाटलेल्या कण्ठाने म्हणू लागले-'प्रभो! हा अपराध तर माझा आहे. बाऊलने जे कांही केले, ते माझेचसाठी केले आहे. त्यासाठी त्याला दण्ड न करता मला दण्ड करा. अपराधाचे मूल कारण तर मीच आहे'. महाप्रभु आचार्यांची प्रार्थना उपेक्षु शकले नाहीत. आचार्यांचे

अवतारी होण्याने ह्यांना कांही आपत्ति नव्हती. परन्तु अवतारी होऊन क्षुद्र पैशासाठी विषयी पुरुषांचेपाशी प्रार्थना करणे हे अवतारी पुरुषास कलंकासारखे आहे. आवश्यकता प्राप्त झाल्यावर याचना करणे पातक नाही; परंतु अवतारूपी पडद्याचे आडून द्रव्य मागणे महापाप आहे. बिचारा वेडा बाऊल काय समजणार, त्या अशिक्षित नोकरास इतकी समज कोठली! त्याने तर आपलेकडून चांगलेच समजून हे काम केले. प्रभुंनी अज्ञानपणे त्याने केलेल्या त्या अपराधाची क्षमा केली व भविष्यांत असे पुन्हा करू नको असे बजाविले'.

# गोपीनाथ पट्टनायक शूलापासून बचावले

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

राय रामानन्दांचे पिता भवानन्द ह्यांना पाठक विसरले नसतीलच. त्यांना राय रामानन्द, गोपीनाथ पट्टनायक व वाणीनाथ आदि पाच पुत्र होते. वाणीनाथ नेहेमी प्रभुंच्या सेवेंतच असत. राय रामानन्द प्रथम विद्यानगराचे अधिपति होते, नंतर ते सोडून ते पुरींत प्रभुंच्या पादपद्मा-जवळच राहू लागले, व प्रभुंना ते निरंतर श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करवीत होते. त्यांचे धाकटे बन्धु गोपीनाथ पट्टनायक उडीसांतील एका प्रान्ताचे शासक होते. ते मोठे विलासी असून त्यांची राहणी, वागणूक एकादे राजाचे थाटाची होती. धन मिळाल्यावर प्रायः लोक विषयी होतात, तसेच ते विषयी झाले होते. विषयी लोकांची इच्छा सर्वभुक् अग्निचे समान असते, त्यांत धनरूपी इन्धन कितीहि टाकीत राहा, त्याची तृप्ति होतच नाही, म्हणून तर विषयी पुरुषास शास्त्रकारांनी अविश्वासी म्हटले आहे. ह्यांचे वचनावर कधीहि विश्वास ठेवू नये. अविवेकापासून विषय म्हणजे कामना वाढतात व अशा स्थितींत आपले-दुसऱ्याचे वा हानि-लाभ ह्याकडेस लक्ष्य राहात नाही, म्हणूनच विषयी पुरुष आपण स्वता आप-त्तींत फसतोच, व त्या बरोबरच आपले संसर्गीतील मंडळींनाहि क्लेश पोच-वितो. नीतिकार म्हणतात—

दुर्वृत्तासंगतिरनर्थपरम्परायाः
हेतुः सतां भवति किं वचनीयमत्र ।
लंकेश्वरो हरति दाशरथेः कलत्रं
प्राप्नोति बन्धनमसौ किल सिन्धुराजः ॥

ह्यांत सांगण्या–ऐकण्याचे आहेच काय? हे तर त्रिकालाबाधित सत्य आहे अशा विषयी पुरुषाचे संसर्गाने चांगले माणसांनाहि कष्ट सोसावे लागतात. पाहा! त्या विषयीरावणाने जनकनंदिनी सतिचे केले हरण व बन्धनांत पडला बापडा समुद्र! साथीदाराचा उपयोग सुख-दुःखांत सर्वांनाच होतो. जो सुखाचे वेळीं उभा राहातो व दुःखाचे प्रसंगीं पळून जातो तो साथीदार म्हणजे मित्र कसा म्हणावा? परन्तु अशा नीच पुरुषाचा दैववशात् एकादे महापुरुषाशी कोणत्याहि प्रकारे संबन्ध जडल्यास त्याचा इहलोक व परलोक दोन्हीहि सुधारतात. साधु पुरुष तर अशापासून दूरच असतात, परन्तु असा विषयीपुरुष कोणत्याहि प्रकारे त्यांना शरण आल्यास त्यांचे दैव सुधारले म्हणून समजावे. तेव्हा शुद्ध मनाने व श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जो त्यांना शरण येईल त्याचे कल्याण होईलच होईल. राजा भवानन्दांची प्रभुंच्या ठायीं अगदी शुद्ध भावना होती. त्यांचे पुत्र गोपीनाथ पट्टनायकाचाहि वडीलाचे संबंधामुळे प्रभुशी कांहीसा संबन्ध होता. ह्या संबन्धपरंपरेच्या कारणाने ते शूलापासून बचावले. महापुरुषाचा माहिमाच असा आहे!

गोपीनाथ एका प्रदेशाचे शासक होते. ह्याची सर्व आय म्हणजे उत्पन्न ह्यांचे जवळच येत होते. नियत वेतन ठेऊन, शेष ते राजदरबारी पाठवून देत असत. परन्तु विषयासक्तांत इतका संयम किती काल टिकणार, कीं, ते दुसऱ्याचे द्रव्याची परवा करतील? अविवेकामुळे ह्या गोष्टीचे त्यांना भानच राहात नाही. गोपीनाथांनीहि असेच केले. राजकोषाकडेस जितके द्रव्य पाठविले पाहिजे होते, तितके न पाठविता ते त्यांही स्वताकडेस वापरले. ह्या कारणाने उडीसांचे महाराजांचे ह्यांना दोन लाख देणे झाले. महाराजांनी रुपये मागीतले, परन्तु ह्यांचेजवळ पैसे कोठचे? ते तर केव्हाच वेश्या व कलालांच्या घरीं पोचले होते.

गोपीनाथांनी महाराजांना प्रार्थना केली कीं, 'माझेजवळ रुपये तर नाहीत, परन्तु माझे हे घोडे व जे कांही सामान आहे, ते आपण पाहिजे तितक्यांत घ्यावे, शेष रुपये मी हळूहळू करून देईन'. महाराजांनी ही त्यांची प्रार्थना स्वीकारली व घोड्यांची किंमत निश्चित करण्यासाठी आपले एका मुलास पाठविले.

तो राजकुमार बुद्धिवान् होता. घोड्यांची त्यास पारख होती. त्याने घोडे नीट पाहून त्याची किंमत ठरविली; परन्तु ती फार थोडी आहे, असे गोपीनाथांना वाटून त्यांही तसे त्यांना सांगीतले. ह्या कामीं उभयतांची विशेष बोलाचाली झाली व राजकुमाराने हे सर्व महाराजास निवेदन केले व आपला अपमान केल्याचेहि त्याने सांगीतले. शेवट राजकुमारांनी म्हटले–'ही सर्व आपली ढील आहे. जोपावेतो त्यास 'चांगावर' चढविले जाणार नाही, तोपावेतो आपले रुपये वसूल होणार नाहीत, हे आपण निश्चित समजा'.

महाराजांनी विचार केला–'जोपावेतो ह्यास भय दाखविले जाणार नाही, तोपावेतो हा रुपये देणार नाही. एकवेळ यांस 'चांगावर' चढविण्याची आज्ञा द्यावी, संभव आहे तो ह्या भयाने रुपये देऊनहि टाकिल, नाहीतर मागाहून विशेष आज्ञेने त्यास सोडवून टाकू. भवानन्दाच्या पुत्रास आम्ही अशा रीतीने थोडेच मारून टाकणार आहोत. हो म्हटल्याने राजकुमाराचा क्रोधहि शान्त होईल व आल्यास रुपयेहि येतील'. हा सर्व मनांत विचार करून महाराजांनी सांगीतले–'ठीक आहे, तुम्ही म्हणता त्याप्रमाणे करा, चढवा त्यास 'चांगावर'.

झाले! राजपुत्राच्या आज्ञेने गोपीनाथास बान्धून आणले, व त्यास चांगाचे समीप उभे करण्यांत आले. आता पाठकांना ह्या 'चांग' ह्याचा परिचय करून देऊ. खरे पाहिल्यास हाहि एका शुलाचाच प्रकार आहे.

शूल व चांग ह्यात भेद इतकाच कीं, शूल गुदद्वारांतून होऊन मस्तकांतून बाहेर काढली जाते. त्याने प्राण लवकर जात नाही, फार वेळाने तडफडून-तडफडून प्राण जातात. चांग त्यापेक्षा कांहीसे सुखाने प्राणनाश करणारे आहे. एका उंच ठिकाणीं लाकडाचा मंच केलेला असतो व त्याचे खाली एक मोठे खड्ग जडलेले असते. त्या मंचावरून अपराध्यास अशा रीतीने फेकतात कीं, त्या खड्गावर तो पडताच त्याचे प्राणांचा अन्त व्हावा. ह्यास 'चांग' म्हणतात. मोठमोठे अपराध्यासच चांगावर चढविण्याची शिक्षा दिली जाते.

'गोपीनाथ पट्टनायकांना चांगावर चढविले जाईल'—ही बातमी चोहोकडे फैलावली. सर्वांना ह्याचे फारच आश्चर्य वाटले. ज्या भवानन्दांना महाराज आपले पित्यासमान समजत होते, त्यांचे पुत्रास ते चांगावर चढवितील, हे लोकास खरे वाटेना. कांही म्हणत घटकेंत ते प्रसन्न होतील व घटकेंत रागावतील. शेकडो जण प्रभुंना शरण येऊन महाराजाकडून ह्या अपराधाची क्षमा करवावी म्हणून त्यांची प्रार्थना करू लागले.

प्रभुंनी सांगीतले–'भाई! मी काय करू शकणार आहे. राजाज्ञा कोण निवारण करू शकणार? विषयीलोकांना अशीच शिक्षा झाली पाहिजे. मजजवळ दोन लाख रुपये असते तर ते देऊन मी त्यांना सोडवून आणीले असते, परन्तु माझेपाशी तर दोन कवड्यासुद्धा नाहीत. तुम्ही जगन्नाथाची प्रार्थना करा, ते दीनानाथ आहेत'.

इतक्यांत पुष्कळ मंडळी येऊन प्रभुस सांगू लागले कीं–'भवानन्द, वाणीनाथ आदि सर्व परिवारास राजकर्मचारी बान्धून घेऊन गेले. स्वरूपदामोदर आदि भक्त मंडळी प्रभुंची सारखी प्रार्थना करीत होते.

राजाचे प्रधान मन्त्री चन्दनेश्वर महापात्र ह्यांना जेव्हा हा समाचार

समजला तेव्हा ते महाराजाचे समीप आले व फारच विस्मयपूर्वक म्हणाले–'श्रीमन्! ही आपण कशी आज्ञा दिलीत? भवानन्दाचे पुत्र गोपीनाथ तर बन्धु समान असता, त्यांना आपण प्राणदण्ड देत आहात व तोहि यत्किन्चित दोन लाख रुपायासाठी. ते देण्यास असमर्थ असल्यास त्यांचे घोडे आदि उचित मूल्यास घ्यावे व शेष राहील ते क्रमाक्रमाने ते फेडतील'.

महाराजांची तशी इच्छाच नव्हती. महामन्त्र्यांची गोष्ट त्यांना मान्य झाली. त्यांही गोपीनाथ पट्टनायकांना सोडून देण्याचा हुकूम दिला.

प्रधान मन्त्र्यांनी दरबारांत जाऊन, ही महाराजांची गोपीनाथ पट्टनायकांना मुक्त करण्याची आज्ञा लोकांना ऐकविली. ही गोष्ट ऐकताच लोकांचे हर्षाचा ठिकाणाच राहिला नाही. क्षणभरांत ही आनन्दाची बातमी महाप्रभुना ऐकविण्यासाठी लोक धावले व सर्व एक स्वरांत म्हणाले–'प्रभुंनी गोपीनाथांना प्राणसंकटांतून वाचविले'.

प्रभुंनी म्हटले–'हे सर्व त्यांच्या पित्याच्या भक्तीचेच फल आहे. जगन्नाथांनीच त्यांना ह्या आपत्तितून सोडविले'.

लोकांनी म्हटले–'भवानन्द तर आपणासच सर्वत्र समजत आहेत व ते म्हणूनहि राहिलेले आहेत कीं, महाप्रभुंच्या कृपेनेच आम्ही ह्या विपत्तितून वाचलो'.

प्रभुंनी म्हटले–'सर्व पुरुषोत्तम भगवानाचीच कृपा आहे. भवानन्दांच्या भगवद्भक्तिचेच हे फल आहे'.

इतक्यांत भवानन्द आपले पांचहि पुत्रासह प्रभुंच्या दर्शनासाठी आले. त्यांही पुत्रांसहीत प्रभुंना साष्टांग प्रणिपात केला व सद्गदीत कण्ठाने व दीनतेने ते म्हणाले–'हे दयालो! हे भक्तवत्सल! आपणच

आमचा ह्या भयंकर विपत्तींतून उद्धार केला. प्रभो! आपले असीम कृपेवाचून असे असंभव कार्य कधी होणेच शक्य आहे कां कीं, चांगावर चढविलेला मनुष्य जीवन्त परत येईल!'

त्यांच्या भगवद्भक्तीची प्रशंसा करीत प्रभुंनी सांगीतले–'ह्यांना समजावून सांगा कीं, आता कधी असे करू नका. राजाचे पैशाचा उपयोग केव्हाहि आपले खर्चासाठी करीत जाऊ नका'. ह्याप्रमाणे समजावून त्या सर्वांना विदा केले.

महाराजा प्रतापरुद्राचे कुलगुरू काशीनाथ मिश्र प्रभुकडेस आले व प्रभुंना प्रणाम करून ते म्हणाले–'प्रभो! आपल्या कृपेने हे पितापुत्र ह्या संकटांतून निभावले'.

कांही खिन्नतेने प्रभु म्हणाले–'मिश्रजी! काय सांगू? ह्या अशा मंडळींच्या संसर्गाने मला फार त्रास होतो, तेव्हा मी अलालनाथास जाऊन राहण्याचा विचार केला आहे. तेथे ह्यांचा संसर्ग पोचणार नाही व अशा गोष्टीहि ऐकण्यांत येणार नाहींत'.

काशीमिश्रांनी ही गोष्ट महाराजांचे जवळ काढली. ह्यानंतर महाराजांनी गोपीनाथ पट्टनायकाकडून येणे असलेले दोन लाख रुपये सोडून दिले व त्यांचे वेतन वाढवून व समजवून त्यांना पुन्हा पूर्ववत अधिपत्य दिले.

गोपीनाथ त्याच वेळीं प्रभुंच्याकडे येऊन त्यांच्या चरणीं त्यांहि लोळण घेतले, आणि रडत रडत म्हणतात—'प्रभो! आपण मला आपले चरणाजवळच घ्या, आता मला ह्या विषय जंजालांतून सोडवा'.

प्रभुंनी त्यांस प्रेमपूर्वक आलिंगन दिले व पुन्हा असे काम न करण्यास सांगून त्यांना विदा केले. धन्य आहे, असे कृपालुतेची!!

# श्रीशिवानन्द सेनाची सहनशीलता

न भवति भवति च न चिरं
भवति चिरं चेत् फले विसंवादी ।
कोपः सत्पुरुषाणां
तुल्य स्नेहेन नीचानाम् ॥

पहिली गोष्ट तर ही कीं, महापुरुषास क्रोध येतच नाही. कांही कारणाने आलाच तर तो क्षणांत शान्त होतो. कारणवशात् जास्त काल क्रोध टिकल्यास त्याचे पर्यवसान सुखदायकच होईल. महापुरुषाचा अत्यधिक क्रोध व नीचाचा स्नेह हे दोन्हीहि समानच. परन्तु कुपुरुषाचे प्रेमापेक्षा सत्पुरुषाचा क्रोध लाखपटीनी चांगला. हे मात्र सत्य कीं, महापुरुषाचा क्रोध सहन करण्याची शक्ति सर्वांत असत नाही. एकादा परम भाग्यवान् क्षमाशील भगवद्भक्तच मनांत कांहीहि विकार न येऊ देता महापुरुषाचा क्रोध सहन करू शकतो व तो जगांत सुयश मिळवितो. शास्त्रांत म्हटले आहे कीं—

नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः ।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा ॥

मनुष्य कितीहि ज्ञानी असो, सद्गुणी असो, सुन्दर रूप असो, त्याचेंत क्षमा नसेल तर, तर त्याचे ज्ञान, रूप व सर्व प्रकारचे सद्गुण व्यर्थच म्हणावे. क्षमावान् तर शिवानन्दासमान लाखोंत एकाद-आधांच सापडतो. महात्मा शिवानन्द तर क्षमेचे अवतारच होते. पुढील घटनेने पाठक हे समजतील.

पाठकांच्या हे ध्यानांत आहेच कीं, गौडीयभक्त रथ-यात्रेच्या

निमित्ताने प्रतिवर्ष ज्येष्ठाच्या अन्तीं आपले परिवारासह जगन्नाथपुरीस येत व चार महिने राहून परत स्वदेशी जात. त्यांना आणण्याचे, वाटेंत सर्व प्रकारचा प्रबन्ध करण्याचे, प्रभुंनी शिवानन्दजींच्यावर टाकलेले होते. तेहि स्वताचे हजारो रुपये खर्चून मोठे सावधपणे भक्तांना आपले बरोबर आणीत असत. सर्वांत मोठी अडचण नद्या उतराचे वेळीं पडत होती. होडीवाले फार त्रास देत असत.

एक वेळ पुरीच्यानजीकच शिवानन्दांना थांबून राहाण्याचा प्रसंग आला. त्याकारणाने ते भक्तांच्या राहाण्याची व खाण्या-पिण्याची कांहीहि सोय करू शकले नाहींत. यामुळे नित्यानन्द फारच रागावले व त्यांही शिवानन्दांना वाटेल तसे अपशब्द वापरले. ते आल्यावर त्यांचे पत्निने अश्रुपूर्वक नेत्राने हे सर्व त्यांना सांगीतले व अद्यापहि ते क्रोधायमान असल्याने त्यांचेकडेस जाऊ नका असेहि बजावले.

शिवानन्द नित्यानन्दजीकडेस आले व त्यांही त्यांची प्रार्थना करीत म्हटले–'अज्ञानतेने हा मजकडून अपराध घडला त्याजबद्दल क्षमा करावी. मला आपला सेवक समजून माझे सर्व अपराधांची क्षमा करा व माझेवर प्रसन्न व्हा'.

शिवानन्दांची ही इतकी सहनशीलता, अशी क्षमा व ऐकान्तिकी निष्ठा पाहून नित्यानन्दांचे हृदय भरून आले व त्यांही त्यांना आलिंगन देत म्हटले–'खरोखरच, तुम्ही प्रभुंचे कृपापात्र होण्यास अगदी योग्य आहात, ज्याच्यांत इतकी क्षमा आहे, तोच प्रभुचा अन्तरंग भक्त होऊ शकतो'. हा नित्यानन्दांचा आशीर्वाद फलीभूत झाला. महाप्रभुंनी शिवानन्दावर अपार कृपा प्रदर्शित केली व आपला उच्छिष्ठ प्रसाद त्यांचे सर्व परिवारासाठी पाठविण्याची गोविन्दास आज्ञा केली. त्यांचे

अशा ह्या तपस्येचा परिणाम म्हणून तर कवि कर्णपूरासारखे प्रतिभावान् महाकवि व भक्त त्यांचे येथे पुत्ररूपाने उत्पन्न झाले.

नित्यानन्दांचे हे वर्तन शिवानन्दाचे तरुण भाचे श्रीकान्त ह्यांना आवडले नाही. तो युवान् होता, त्यांचे शरीरांत नूतन रक्त प्रवाहित होत होते. त्यास हा आपले मामाचा घोर अपमान वाटला व तो ही गोष्ट प्रभुंच्या कानांवर घालण्यासाठी प्रभुंच्या समीप सर्वांच्या अगोदर आला. अंगावरील वस्त्रे न काढता व हातपाय धुतल्यावाचूनच तो प्रभुंना प्रणाम करण्यास प्रवृत्त झाला. गोविन्दाने त्यास मना केले, परन्तु त्याने त्याचे ऐकले नाही. प्रभुंनी त्यास रोकू नको म्हणून गोविन्दास सांगीतले. प्रभुंनी त्यास भक्त मंडळीच्या संबंधाने विचारले. जुन्या भक्तानंतर नूतन भक्तासंबंधाने चौकशी केली. नवीन भक्तांत बालभक्त कोण आले आहेत हेहि विचारले. श्रीकान्त सर्व बाल-भक्तांचा परिचय करवीत शिवानन्दांचा पुत्र परमानन्ददासाचाहि परिचय करून दिला. त्याच-वेळीं त्याने त्याचे प्रखर प्रतिभेचे व प्रभु दर्शनाचे उत्कंठतेचेहि वर्णन केले. प्रभु त्या मुलास पाहण्यासाठी फार उत्सुक झालेसे दिसू लागले. ह्या सर्व गोष्टींत श्रीकान्त नित्यानन्दांचे वर्तनासंबंधाने बोलण्याचे विस-रून गेले. इतक्यांत सर्व भक्त येऊन उपस्थित झाले. प्रभुंनी नित्याप्रमाणें सर्वांचे स्वागत केले व सर्वांच्या राहाण्याची यथायोग्य व्यवस्था करून सर्वांसाठी प्रसाद पाठविला.

# पुरीदास या कवि कर्णपूर

जयन्ति ते सुकृतिनो रस सिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥

कविता एक भगवद्दत्त वस्तु आहे. ज्याचे हृदयांत कमनीय-मनोहर कविता करण्याची कला वा स्वाभाविक स्फूर्ति विद्यमान आहे, त्यास राज्य सुखाची काय अपेक्षा ? त्यास इन्द्रासन तुच्छ आहे. कविता गणित-शास्त्रासारखी अभ्यास करण्याने येत नाही, ती तर अलौकिक प्रतिभा आहे. कोणा भाग्यवानासच पूर्वजन्मांचे पुण्याचे फलस्वरूप प्राप्त होते. कवि काय करू शकत नाही ? ज्यास पाहिजे त्यास तो अमर बनवितो व ज्यास मनांत आणील त्यास पातालीं दडपतो. भोज, विक्रमासारखे खर्व-निखर्वच काय असंख्य राजे होऊन गेले, त्यांचे कोणी नाव सुद्धा जाणत कां नाही ? ह्याच कारणाने ना, कीं, ते कालिदासासारखे कवि चुडामणि महापुरुषाचे श्रद्धाभाजन झाले नाहीत. थोडे वेळासाठी भगवान् रामकृष्णाचा अवतारीपणा बाजूस ठेवून द्या. सामान्य दृष्टिने ते केवल आपले प्रचण्ड दोर्दण्डबलाचे कारणाने बली नाही होऊ शकले. वाल्मीकी व व्यासाने त्यांना बली व वीर बनविले. म्हणून तर मी म्हणतो, कवि ईश्वर आहे, चतुर्भुज विष्णु आहे, एक मुखाचा ब्रह्मा आहे व दोन नेत्राचा शिव आहे. कवि वन्द्य आहे, पूज्य आहे, आदरणीय व सन्माननीय आहे. कविच्या चरणांची वन्दना करणे, ईश्वराचे वन्दन करण्यासमान आहे. कवितारूपाने श्रीहरीच त्याचे मुखाने भाषण करतो. ज्याचे घरांत असा प्रतिभावान् कवि पुत्र उत्पन्न होतो, तो, पिता धन्य आहे ! असे सुभाग्य श्रीशिवानन्द सेनसारखे सुकृति, साधुसेवी व भगवद्भक्त पुरुषासच प्राप्त होते, ज्याचे येथे कवि कर्णपूरा-सारखे नैसर्गिक प्रतिभासंपन्न कवि पुत्र रूपाने उत्पन्न झाले. कवितेचा

कांही नियम नाही कीं, ती केव्हा परिस्फुटित होईल. कित्येकांत ही शक्ति जन्मापासूनच विद्यमान असलेली पाहण्यांत येते. कवि कर्णपूर असेच स्वाभाविक कवि होते.

शिवानन्द सेन ह्यांना तीन पुत्र होते. मोठे चैतन्यदास, मधले रामदास व सर्वांत लहान परमानन्ददास, पुरीदास या कर्णपूर ह्याप्रमाणे ह्याची नावे होती. परमानन्ददास बालपणापासूनच मेधावी, प्रत्युत्पन्नमति व कोमल हृदयाचे होते. तसे तर प्रभुंचे दर्शन ह्यांना शिवानन्दांनी करविले होते, परन्तु एकान्तांत प्रभुंच्या चरणीं ह्या मुलास घालावे असे शिवानन्दांच्या मनांतून होते व त्याप्रमाणे सन्धी पाहून जेव्हा महाप्रभु स्वरूप गोस्वामी आदि दोन चार भक्तांसह एकान्तांत बसून श्रीकृष्णकथा श्रवण करीत होते, तेव्हा शिवानन्द आपला पुत्र परमानन्दपुरी यास घेऊन प्रभुचे सन्निध आले. सेनांनी मुलास प्रभुंच्या पायांवर घातले. प्रभु फारच सन्तोषित मनाने विचारतात–'ह्याचे नाव काय ठेविले आहे?'

हळूच सेन महाशयांनी सांगीतले–'परमानन्दास'.

प्रभुंनी म्हटले–'हे तर फार मोठे लांब-लचक नाव आहे, कोणाच्याने घेववणारहि नाही. ह्यांचे नाव 'पुरीदास' ठीक होईल'. असे म्हणून मुलाच्या मस्तकावर हात फिरवीत प्रभु प्रेमाने म्हणू लागले–'कांरे पुरीदास! बरे आहे ना हे नाव?' झाले, तेव्हापासून हेच ह्यांचे नाव पडले.

पुढे जेव्हा ह्याची अवस्था सात वर्षांची झाली होती, तेव्हा शिवानन्द एके दिवशीं त्यास घेऊन प्रभुचे दर्शनासाठी आले. प्रभुंनी विचारले–'कांही शिकतो आहे ना?'

सेन म्हणाले–'अद्याप कोठे तो शिकण्यालायक झाला आहे, असेच कांही खेळत खेळत करतो'.

प्रभुंनी म्हटले–'ठीक आहे, पुरीदास बेटा ! कांही म्हणा पाहू?' इतके ऐकताच सात वर्षांचे बालकाने स्वरचित श्लोक म्हटला–

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरंजनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनरमणीनां मंडनमखिलं हरिर्जयति ॥

सात वर्षांच्या बालकाचे मुखातून असा भावपूर्ण श्लोक ऐकून सर्व उपस्थित भक्तांना परमाश्चर्य वाटले. 'प्रभु-कृपेचेच हे फल' असे सर्व समजले. तेव्हा प्रभु म्हणतात–'तूं सर्व प्रथम आपले श्लोकांत व्रजांगनाच्या कानांतील भूषणांचेच वर्णन केले आहे, अतः तूं कवि होशील व 'कर्णपूर' ह्या नावाने तुझी ख्याति होईल'. तेव्हापासून हे 'कवि-कर्णपूर' झाले.

महाप्रभुंचे भाव हे नीटपणे जाणत होते. खरे कविपासून कोणाचे मनोभाव थोडेच दडून राहाणार आहेत ? हे सुकवि होते. ह्यांनी आपली अधिकांश कविता श्रीचैतन्यदेवासंबंधानेच केली आहे. ह्यांनी लिहिलेले आनन्दवृन्दावन (चम्पू), अलंकारकौस्तुभ (अलंकार), श्रीचैतन्य-चरित (काव्य), श्रीचैतन्यचन्द्रोदय (नाटक) व गौरगनोद्देशदीपिका, प्रभुति ग्रन्थ प्रसिद्ध आहेत. ह्यांचे चैतन्य-चरित महाकाव्य फारच सुन्दर आहे. चैतन्यचन्द्रोदय नाटकाचीहि पुष्कळ ख्याति आहे. गौरगनोद्देश-दीपिकेमध्ये ह्यांनी श्रीकृष्णलीला व श्रीचैतन्यलीलांना समान मानून हे दाखविले आहे कीं, गौर भक्तांतील कोण कोण भक्त श्रीकृष्णलीलेंतील कोण-कोणत्या सख्यांचे अवतार आहेत. त्यांत रूप, सनातन, रघुनाथदास, आदि गौर-भक्तांना भिन्न भिन्न सख्यांचे अवतार आहेत असे दाखविले आहे. फार विशाल कल्पना आहे. कवि प्रतिभाच ती, जिकडे तिचा प्रभाव सुरू झाला, तिकडे अगदी कमाल करून दाखवितात. आपले पित्याचे संबंधाने हे लिहितात—

पुरा वृन्दावने वीरा दूती सर्वाश्च गोपिकाः ।
निनाय कृष्णनिकटं सेदानीं जनको मम ॥

अर्थात् प्रथम श्रीकृष्णलीलेमध्ये जी वीरा नावाची दूती सर्व गोपींना श्रीकृष्णाकडेस घेऊन जात होती, त्याच वीरा दूतीचे अवतार माझे पिता (श्रीशिवानन्द सेन) आहेत. ह्याचप्रमाणे सर्वांच्या संबंधाने फार सुन्दर कल्पना बसविलेल्या आहेत. धन्य आहेत असे कवि व धन्य आहे त्यांचे असे मनोहर काव्यांची कीं, ज्याचे काव्यामृताचे गौर-भक्त आजहि पान करीत आनन्दसागरांत परमानन्द-सुखाचा अनुभव घेत आहेत. अक्षरे जोडणारे कवि तर पुष्कळ आहेत, परन्तु सत्कवि तोच कीं, ज्याची सर्व लोक प्रशंसा करतात. कविंच्या संबंधाने एक कवि लिहितो—

सत्यं सन्ति गृहे गृहेऽपि कवयो येषां वचश्चातुरी
स्वे हर्म्ये कुलकन्यकेव लभते स्वल्पैर्गुणैर्गौरवम् ।
दुष्प्रापः स तु कोऽपि कोविदमतिर्यद्वाग्रसग्राहिणां
पण्यस्त्रीव कलाकलापकुशला चेतांसि हर्तुंक्षमा ॥

बोलण्या-चालण्यांत दुसऱ्यापेक्षा कांहीसे व्युत्पन्नमति असलेले असे कवि म्हणविणारे घरो-घरी आहेत. साधारण सुन्दर मुलगी आपले परिवारांत मोठी गुणवति होऊन घरांतील मंडळी तिची प्रशंसा करतात, कारण तिला तर हा परिवार हेच जग असते. असे स्वताचे घरांतच कवि म्हणविणारे सज्जनांची गणना सुकवींत थोडीच होऊ शकणार आहे ? खरा कवि तर तोच कीं, ज्याची कमनीय-मनोहर कविता अज्ञात कुलगोत्रोत्पन्न कलाकोविदाची मनेहि आपणाकडे आकर्षित करून घेते. ज्याप्रमाणे अज्ञात कलाकलापांत कुशल वारांगनेचे कुलगोत्र न जाणणारे पुरुषहि तिचे गायन व कलेने मुग्ध होऊन तिचकडेस आकर्षित केले जातात. अशा सुकवींच्या चरणीं आम्ही प्रणाम करतो.

# महाप्रभुंची अलौकिक क्षमा

क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषण क्षमा ।
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न सिद्धयति ॥

महापुरुषांच्याजवळ निरनिराळ्या प्रकृतीचे भक्त असतात. पुष्कळसे तर असे असतात कीं, ते त्यांचे गुण-अवगुण समजतच नाहीत, महापुरुषांचे सर्वच कांही योग्य अशीच त्यांची समजूत असते. कांही असेहि असतात कीं, जे गुणदोष विवेचन करतात, परन्तु त्यांच्या दोषांकडे लक्ष देत नाहीत, ते अवगुणांची उपेक्षा करून गुणच तेवढे घेतात. कित्येक असे असतात कीं, ते अन्तःकरणापासून त्यांच्या गुणांबद्दल श्रद्धा ठेवितात, परन्तु कोठे कांही मर्यादेच्या विरुद्ध वर्तन दिसले तर ते आलोचना करतात व त्या दोषापासून त्यांना दूर करण्याचा प्रयत्न करतात. कांही असेहि कुभक्त असतात कीं, जे मनांतले मनांत त्यांचा द्वेष करतात व त्यांची दृष्टि सदैव छिद्रान्वेषणी असते. उपर्युक्त तीन प्रकारचे भक्त तर महापुरुषांचे संगतीपासून यथाशक्ति लाभ घेतात, परन्तु चौथे निन्दक महाशय स्वताच नाश करून महापुरुषांचे कल्याण करतात.

महाप्रभुंच्या सभागृहामध्ये पहिले व दुसरे प्रकारच्या भक्तांची संख्या मोठी होती, परन्तु आलोचक म्हणजे चिकित्सक व निन्दकांचा अगदीच अभाव होता असेहि नाही. प्रभु अशांच्या गोष्टीकडेस लक्षच देत नव्हते. दामोदर पंडिताचे आलोचनाची एक घटना ऐका.

महाप्रभु मन्दीराचे समीपच राहात होते. तेथे जवळच एका विधवा ब्राह्मण स्त्रीचे घर होते. तिचा एक तेरा चौदा वर्षांचा मुलगा प्रभुच्याकडे येत असे. तो मुलगा फारच रूपवान होता. स्वाभाविक बालचापल्यहि

त्या मुलांत होते. नेत्र आकर्षक होते. प्रभु त्याच्यावर अत्यधिक प्रेम करीत, त्याचेशी गोड-गोड भाषण करीत व त्यास केव्हा केव्हा प्रसादहि देत. लहान बालकाचे मनहि फारच सरल व सरस असते. त्यांचेवर प्रेम करणाराचेच ते होतात. प्रभुच्या प्रेमामुळे त्या मुलाचेहि असेच झाले कीं, प्रभुच्या दर्शनावाचून त्यालाहि चैन पडत नसे. तो दिवसांतून दोन-दोन तीन-तीन वेळा प्रभुकडे येऊ लागला.

दामोदर पंडित प्रभुंच्या जवळच राहात होते. त्या मुलाचे प्रभुंच्याकडे येणे ह्यांना आवडत नसे. त्यांना त्याचा राग येई. त्याला पाहताच ते सारखे जळत. एके दिवशी त्यांनी त्या मुलास प्रभुंचे जवळ बसलेला पाहिला. प्रभुहि त्याचेशी हसत हसत गोष्टी बोलत होते. त्यावेळीं तर त्याने प्रभुंना कांही म्हटले नाही, परन्तु तो मुलगा उठून गेल्यावर ते रोषांत परन्तु प्रेमाने प्रभुस म्हणाले–'प्रभो! आपण दुसऱ्यासच उपदेश करता, परन्तु स्वताचे आचरणास लोक काय नांवे ठेवितील त्याचा विचार करीत नाही'.

प्रभुंनी कांहीसे संभ्रमाने म्हटले–'काय, काय, पंडितजी! मी असे कोणते पाप-कृत्य केले?'

रागानेच दामोदर पंडित म्हणाले–'ह्या मुलाचे येथे आपणापाशी इतके निस्संकोचपणे येणे मला बरे वाटत नाही. आपणास समजत नाही, लोक मनांत काय म्हणत असतील? जन विचित्र आहे, आज सर्व 'गुसाई-गुसाई' आपणास म्हणत आहेत. आपले ह्या आचरणाने सर्व आपली निन्दा करू लागतील, तेव्हा आपण ईश्वरपणा विसरून जाल'.

प्रभुंनी सरलतेने म्हटले–'दामोदर! ह्या मुलांत मला तर कांही दोष दिसत नाही. फारच सरल, भोळा, गाईच्या वासरासारखा सीधा आहे तो'.

दामोदर पंडितांनी सांगीतले–'आपणास माहीत नाही, हा विधवेचा पुत्र आहे, ह्याची माता युवती आहे. तसे ती मोठी तपस्विनी सदाचारिणी व भगवत्परायणा आहे. तरीहि तिच्यांत तीन दोष आहेत. ती युवती आहे, फार सुन्दर आहे व विधवा आहे आणि घरांत एकटीच आहे. आपण अद्याप युवान् आहात, रूपलावण्ययुक्त आहात. आम्ही तर आपले मनोभाव समजलो आहोत. परन्तु लोक कोणास सोडणार आहेत का! जरासे छिद्र पाहताच ते निन्दा करण्यास सुरुवात करतात. आम्ही लोकांच्या तोंडास थोडेच हात देणार आहोत. इतके दिवसांची मिळविलेली प्रतिष्ठा धूळींत जाईल'.

दामोदर पंडिताच्या म्हणण्याने प्रभुंना मनांतून सन्तोष वाटला, कीं, हा माझे पवित्रतेसाठी इतके काळजीपूर्वक लक्ष देत आहे, परन्तु त्याचे भोळपणाचे हसू आले. त्यावेळीं ते त्यांना कांहीच बोलले नाही. दुसरे दिवशीं एकान्तात त्यांना सांगीतले–'दामोदर पंडित! मी म्हणतो तुम्ही नवद्वीपांतच राहिल्याने बरे पडेल. तेथे तुमचे भयाने भक्त-वृन्द मर्यादेचे विरुद्ध आचरण करणार नाही व तुम्ही मातोश्रीची देखरेख करीत राहाल. तेथेच जाऊन मातेच्या सन्निध राहा व मधून मधून मला पाहण्यासाठीं येथे येत जा. माताजींच्या चरणीं माझा प्रणाम सांगा व त्यांना समजावून सांगा कीं, मी नेहेमी त्यांचे हातचे पदार्थ खाण्यासाठी नवद्वीपांत येतो व प्रत्यक्ष रीतीने भगवन्ताचा नैवेद्य ग्रहण करतो'. इतके सांगून जगन्नाथाचा प्रसाद देऊन त्यांना विदा केले. ते नवद्वीपांत येऊन शचीमातेचेजवळ राहू लागले. त्यांच्या भयाने नवद्वीपांतील भक्त मर्यादातिक्रमण करीत नव्हते. त्यांचे आलोचन फारच खरे व तीव्र असे.

# निन्दकाचे प्रतिहि सन्मानाचे भाव

क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वन्हिः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

महात्मा दादू दयालजींनी निन्दा करणारास आपला गुरू म्हणून त्याची पुष्कळ स्तुति केली आहे. पाठशाळेंतील परिक्षक ज्याप्रमाणे परिक्षा घेण्याचेच काम करतात त्याप्रमाणे हे निन्दकहि समजावे. जे छात्र विद्वान् होण्याच्या इच्छेने पाठशाळेंत पढतात, त्यांचीच परिक्षक परिक्षा घेतात. जो बालक शिकतच नाही, जो उत्पन्न होताच, जनावराप्रमाणे खाण्या-पिण्याच्या चिन्तेंत लागतो, त्याची परिक्षा परिक्षक करणारच कशाची? तो तर निरक्षरतेचे परिक्षेंत पहिल्यापासून उत्तीर्ण झालेला आहेच. त्याप्रमाणे निन्दक, जे इहलौकिक व पारलौकिक उन्नति करण्याची इच्छा करतात, त्यांचीच निन्दा करतात, वा जे श्रेष्ठ पदावर अरूढ होण्यासाठी उन्नतिचे पाठशाळेंत प्रवेश करतात त्यांची. ज्याचे जीवनांत कांही विशेषताच नाही, जो आहार, निद्रा, भय व मैथुनादि धर्मांत अन्य प्राण्याप्रमाणे व्यवहार करतो, त्याची निन्दा, स्तुति दोन्हीहि समानच.

इहलौकिक उन्नतींत निन्दा प्रसंगीं विघ्न उत्पन्नहि करू शकेल, किन्तु पारलौकिक उन्नतींत तर निन्दा सहायताच करते. निन्देचे दोन भेद आहेत—एक अपवाद व दुसरा प्रवाद. वाईट कृत्य केल्याकारणाने होणारे निन्देस अपवाद म्हणतात. ह्यापासून दूर राहाण्याचा प्रयत्न सर्वांनी प्राण-पणास लावून केला पाहिजे. परन्तु निन्दित असे कोणतेहि कृत्य केलेले नाही, व उगीचच लोक द्वेषाने वा भ्रमाने निन्दा करू लागतात, त्यास प्रवाद म्हणतात. उन्नतीच्या पथाकडेस जाण्याची इच्छा

करणारे व्यक्तिने प्रवादाची परवा न केली पाहिजे. उन्नतीचे कण्टकाकीर्ण शीखरावर चढविण्यास प्रवादच काठीप्रमाणे टेका देतो. जे लोकांचे समाधानासाठी प्रवादाकडे दुर्लक्ष न करता, त्याची अयथार्थता लोकांना पटवून देतात, ते तर ईश्वरच आहेत. ईश्वराचे वचनच सत्य मानावे, त्यांचे आचरणाप्रमाणे आचरण करू नये. धोब्याचे प्रवादावर श्रीरामचन्द्रांनी जगन्माता सीतादेवीचा त्याग केला. लोकांनी दोष लावला म्हणून भगवान् स्यमन्तकमणी शोधता-शोधता थकले. ही कार्ये त्या अवतारी पुरुषासच शोभा देतात. आम्ही साधारण कोटींतील जीव जर अशा प्रकारचे प्रवादाची परवा बाळगू लागलो तर, आम्हा लोकांस पाऊल ठेवण्यासहि जागा मिळणार नाही, कारण जगत् प्रवादप्रिय आहे. त्यास दुसऱ्याचे खोटे निन्दॅत मजा वाटते. अशाच प्रकारचे एक निन्दक स्वामी–रामचन्द्रपुरी–प्रभुंच्याजवळ कांही काल राहिले होते. आता त्यांचा वृत्तान्त श्रवण करा.

श्रीमन् माधवेन्द्रपुरी श्रीशंकराचार्यांचे दशनामी संन्याशामध्ये असूनहि ते भक्तिभावाचे उपासक होते. ते व्रजविहारीसच सविशेष, निर्विशेष, साकार-निराकार तथा देशकाल व कार्यकारणपासून पृथक् सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म समजत होते. ते निर्विशेष ब्रह्माची निन्दा करीत नसत. ते म्हणत असत–'भाई, ज्यांना निर्गुण निर्विशेष ब्रह्माचे ध्यानाने आनन्द वाटत असेल, ते भले बापडे, ध्यान व अभ्यासाचेद्वारा त्या निराकार ब्रह्माचे ध्यान करोत, परन्तु आमचे मन तर त्या यमुना तटी गाईंच्या मागे धावणाऱ्या कोण्या एका शाम रंगाचे मुलाने हरण केलेले आहे. आमचे नेत्रांत तर तोच भरलेला आहे. त्यावाचून दुसरे रूप आवडतच नाही. विश्व आम्हास नीळेच–नीळे दिसत आहे'.

हे रामचन्द्रपुरीहि त्याच माधवेन्द्रपुरीचेच शिष्य होते. त्यांच्या शिष्यांत पुष्कळ नांवे आढळतात. त्यांतील ईश्वरपुरीच आपले गुरुचे ठायीं अत्यधिक श्रद्धा ठेवीत होते व त्यांची अगदी क्षुद्र सेवाहि ते स्वतःच करीत होते. त्या कारणाने त्यांचेवर गुरु-महाराजांचा प्रसाद अधिक झाला व त्याचेच फल म्हणून श्रीगौराङ्गप्रभुना मन्त्रदीक्षा देऊन त्यांचे गुरु होण्याचे लोकविख्यात पद ह्यांना प्राप्त झाले. हे रामचन्द्रपुरी प्रथमपासूनच चमत्कारिक स्वभावाचे व गुरुनिन्दक होते. जेव्हा भगवान् माधवेन्द्रपुरीचा अन्तिम समय प्राप्त झाला, तेव्हा श्रीकृष्णविरहाने काकुळतीस येऊन ते रुदन करू लागले-रडत रडत विकलतेने स्वास घेत वेदनेचे स्वरांत ते म्हणत-'हा नाथ! माझे मनमोहन! ह्या अधमाचा सुद्धा उद्धार करा, मी आपले विरहजन्य दुःखाने जळून खाक होत आहे'. त्यांचे हे दुःख, विकलता, आर्त-भाव खरा भगवत् रसीकच समजू शकला असता. शुष्क प्रकृतीचे, आपलेच अभिमानांत असणारे, ज्ञानाभ्यासी रामचन्द्रपुरी ह्या व्यथेचे मर्म कसे समजू शकणार! त्यांनी त्याच ऐकलेल्या ज्ञानाच्या बाता झोकण्यास सुरुवात केली. त्यांच्या हेहि ध्यानांत नाही आले कीं, ज्या महापुरुषापासून आपण दीक्षा घेतली, ते ह्या गोष्टी जाणत असतीलच. ते गुरुजीस उपदेश करू लागले-'महाराज, आपण कसे ह्या मोहांत पडलेल्या मनुष्यासारख्या भलत्या भलत्या गोष्टी करीत आहा, हे हृदयच मथुरा आहे. आपणच ब्रह्म आहा, त्रिकालीहि जगत् उत्पन्न झाले नाही, आपण हा शोक करणे सोडा व आपणा स्वतःसच ब्रह्म समजा'. क्षीण स्वरांत त्यांही आपले प्रिय शिष्य ईश्वरपुरीस बोलाविले व सांगीतले कीं, ह्या रामचन्द्रपुरीस येथून पलीकडे घेऊन जा. गुरुची असन्तुष्टता पदरांत घेऊन रामचन्द्रपुरी बाहेर गेले. भगवान् माधवेन्द्रपुरींनो 'श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण'

म्हणत व अंतीम समयीं ह्या श्लोकांचे उच्चारण करीत, ह्या पांचभौतिक नश्वर शरीराचा त्याग केला—

अयि दीनदयार्द्र नाथ हे ! मथुरानाथ कदावलोक्यसे ।
हृदयं त्वदवलोककातरं दयित ! भ्राम्यति किं करोम्यहम् ॥

पुरीच्या निधनानंतर ईश्वरपुरी गौडदेशास निघून गेले व रामचन्द्रपुरी तीर्थांत भ्रमण करीत करीत प्रभुंची कीर्ति ऐकल्याने जगन्नाथपुरीस आले. प्रथम ते आपले गुरु-भ्राता परमानन्दपुरी ह्यांना भेटले व त्यांचे चरणीं प्रणाम केल्यावर प्रभुंना भेटण्यास आले. प्रभुंनी ह्यांचा परिचय करून घेतल्यावर गुरुभावनेच्या श्रद्धेने प्रभुंनी ह्यांना प्रणाम केला व तेथे उपस्थित असलेले सर्व भक्तांनी प्रभुचेच अनुकरण केले. प्रभुकडे येणारे अतिथींचा भार ह्याच सर्व विरक्त वैष्णवावर पडत असे. प्रभुंच्या भिक्षेचा नियम असा कांहीच नव्हता. ज्यांचेकडेस बोलावतील तिकडे वा ज्याचेकडून भिक्षा येईल ती प्रभु सेवन करीत असत. ह्या व्यतिरिक्त कोणाकडून प्रेमाने कांही मिष्टान्न आदि पदार्थ आल्यास प्रभु त्याची अवहेलना करीत नसत. भक्तहि प्रभुंना आग्रह कर-करून खुप जेवू घालीत असत व प्रभुहि त्यांचे आग्रहास मान देऊन इच्छा नसताहि थोडे अधिक खात असत.

त्या दिवशीं नवागत रामचन्द्रपुरीना जगदानन्दांनी निमन्त्रण केले. मंदीरांतून प्रसाद आणवून त्यांही त्यांना प्रेमपूर्वक भिक्षा करविली. ते प्रेमी होते. प्रभुंना ज्याप्रमाणे ते प्रेमाने आग्रह करून भिक्षा करवीत होते, त्याचप्रमाणे आग्रह करून त्यांनी ह्यांनाहि पुष्कळ खाऊ घातले. आग्रहाने त्यांही पुष्कळ अतिरिक्त भोजन तर केले, परन्तु जाताच त्यांही जगदानन्दाची निन्दा करण्याचे सुरू केले. म्हणू लागले–'खरोखर आम्ही

जे ऐकले होते कीं, श्रीकृष्णचैतन्याचे सर्व भक्त खादाड आहेत, ती गोष्ट अगदी यथार्थ आहे. अहो, साधु होऊन जो इतके खाईल, तो भजन-पूजन कसे करणार?' ह्याप्रमाणे पुष्कळशी बडबड केली. हे स्वता त्यागरूपी अभिमानाने भिक्षा मागून आणून निर्वाह करीत असत. कोठे तरी एकान्तस्थानीं अथवा झाडाचे खाली पडून व महाप्रभुंची लोकांचे जवळ निन्दा करीत असत. त्यांचा स्वभावच असा होता कीं, त्यांना प्रभुंचा हा इतका भारी प्रभाव अगदी डाचत होता. त्यांच्यातच काय विशेष आहे कीं, लोक त्यांचीच पूजा करतात. ते संन्यासी असूनहि गृहस्थाच्या घरीं राहतात. आम्ही तर विरक्ताप्रमाणे एकान्तांतच वास करतो. ते दररोज उत्तमोत्तम पदार्थ संन्यासी धर्मा-विरुद्ध अनेक वेळा खातात. आम्ही यतिधर्माचे पालन करून ओल्या सुक्या भिक्षेवरच निर्वाह करतो. त्यांच्या भोवतीं सदैव लोकांचा गराडा असतो, आम्ही लोकांपासून अगदी पृथक् राहातो. असे असताहि मूर्ख लोक आमचा सत्कार न करता, त्यांचाच सर्वांत विशेष सत्कार करतात. असे म्हणावे लागते कीं, लोक यतिधर्माचे अनभिज्ञ आहेत. आम्ही त्यांना तो धर्म समजावून त्यांचा भ्रम दूर करून टाकू. असा विचार करून प्रभुंच्या आचरणाची ते निन्दा करू लागले व यतिधर्माच्या ढोंगाने स्वताची प्रशंसा करू लागले.

भक्तांनी ह्या सर्व गोष्टी प्रभुस सांगीतल्या. ते तर कोणाची निन्दा ऐकण्यासच तयार नव्हते, म्हणून त्यांही ह्याकडे दुर्लक्षच केले. रामचन्द्रजी आपले स्वभानुस्वार प्रभुंची व त्यांचे भक्तांची कडक रीतीने पाहणी (आलोचना) करीत होते.

एके दिवशीं प्रातःकालीं ते प्रभुकडे आले. त्यावेळीं प्रभु समुद्र स्नान करून येऊन भगवन्नामाचा जप करीत होते. एका बाजूस सुन्दर

कमन्डलु ठेवलेला होता, दुसरे बाजूस श्रीमद्भागवताचे पुस्तक ठेविलेले होते. रात्रीच्या प्रसादी मालाहि तेथे टांगलेल्या होत्या. पुरीस पाहताच उठून प्रभुंनी त्यांना सादर प्रणाम केला व बसण्यास एक आसन दिले. ज्याप्रमाणे मिष्ट पदार्थ व विष्टा जवळजवळ असल्या तरी विष्टेच्या माशीची दृष्टि विष्टेवरच जाते व ती मिष्ट-पदार्थ सोडून विष्टेवरच बसते, त्याप्रमाणे छिद्रान्वेषणी स्वभावाचे श्रीरामचन्द्रपुरीची दृष्टि समोरच्या भिंतिवर चढत असलेल्या मुंग्यावर गेली. ह्यांत वास्तवीक कांही विशेष होते असे नाही, परन्तु ते तर छिद्र पाहण्यासाठीच आले होते. तेव्हा म्हणाले–'कां, हो, आम्ही ऐकतो कीं, तुम्ही गोड फार खाता, म्हणून तर तुमचे येथे मुंग्या फार दिसत नाही ना?'.

प्रभुंनी ह्या गोष्टीचा अस्वीकार न करता सरल उत्तर दिले– 'भगवन्! भगवानाचे प्रसादांत गोड खारटाचा मी विचार करीत नाही'.

पुरींनी आपला गुरुपणा दाखवीत म्हटले—'हे बोलणे ठीक नाही, असे आचरण यतिधर्माचे विरुद्ध आहे. संन्याशाने स्वादिष्ट पदार्थ तर कधीहि खाता कामा नये. भिक्षेंत जे कांही ओले–वाळले मिळेल त्यावरच उदर पूर्ति केली पाहिजे. साधुंना स्वादाचे काय प्रयोजन? तुमची सर्व भक्तमंडळी चापून खातात व धोतर ताणून निजतात. विचार करा, इतके अधीक जेवल्यावर भजन कसे ते करणार? ऐकले आहे, तुम्हीहि पुष्कळच खाता'.

प्रभुंनी अत्यन्त दीनपणाने म्हटले–'आता आपण जो उपदेश कराल, त्याप्रमाणे करीन'.

कांहीशा गर्वाच्या स्वरांत पुरी म्हणतात—'आम्ही काय उपदेश करणार, तुम्ही स्वता समजूतदार आहात, संन्यासी होऊन संन्याशासारखे आचरण करा, ही दुकानदारी सोडा, लोकांचे मनोरंजन करण्यात काय लाभ? संन्याशाचे जीवन खडतर तितिक्षा'. हे ऐकल्यावर प्रभु चुप झाले व रामचन्द्रपुरी उठून गेले. तेव्हा प्रभुंनी गोविन्दास हाका मारून सांगीतले–'गोविन्द! आजपासून माझेसाठी एक 'चोटी' भात व भाज्या आणि इतर मिळून चार-पाच जिनसा हेच भिक्षेत आणीत जा. जगन्नाथाचा भात सर्वांना माहीतच आहे कीं, मातीच्या भांड्यांत (हंडीत) शिजविण्यांत येतो. एक चोटी म्हणजे एका हंडीची चौथाई. अशी माहिती मिळते कीं, त्यावेळीं एक हंडी भात दोन-तीन पैशांत मिळत होता व दोन पैशांत इतर पदार्थ; आणि ह्या चार पैशाचे प्रसादांत चार पाच मंडळी उत्तम रीतीने पोटभर जेवीत असत. ह्याप्रमाणे आता एक पैशांतच भिक्षा म्हणजे भोजन करण्याचे प्रभुंनी ठरविले. काशीश्वर व गोविन्दास सांगीतले–'तुम्ही अन्यत्र जाऊन भिक्षा आणीत जा'. गोविन्द उदास मनाने परतला. प्रभुंच्या ह्या इतके कडक आज्ञेचा त्यास कांही उमज पडला नाही. परन्तु दिलेली आज्ञा प्रभु फिरवीत नाही हे गोविन्दास उत्तम प्रकारे माहीत असल्याने त्याने कांहीच हो, ना, केली नाही. त्या दिवशीं एका ब्राह्मणाने प्रभुस निमन्त्रण केले होते. त्याने प्रसादांत पुष्कळसे पदार्थ आणले होते, परन्तु गोविन्दाने त्यांतील प्रभुच्या आज्ञेप्रमाणेच पदार्थ ठेवून शेष त्यास परत दिले. त्या ब्राह्मणास त्यामुळे फार वाईट वाटले; परन्तु प्रभुंनी जास्तीचा स्वीकारच नाही केला.

थोडेच दिवसांत ही गोष्ट भक्त-मंडळींत झाली. सर्व रामचन्द्रपुरीस बोलू लागले. सर्वजण प्रभुंना प्रार्थना करू लागले, परन्तु प्रभुंनी

कोणाचेहि ऐकले नाही. रामचन्द्रपुरींनीहि येऊन सांगीतले कीं, 'तुम्ही आमचे सांगण्यावरून आहार कमी केला आहे, हे बरे नाही. आमचे सांगण्याचा हेतू इतकाच कीं, आहारविहार युक्त असावा. इतका अधीकहि नसावा कीं, भजन करवणार नाही व इतका कमी पण नसावा कीं, शरीर कृश होईल. युक्तिपूर्वक भोजन करावे. शरीर क्षीण करण्याचा काय उपयोग?'

प्रभुंनी हळूच म्हटले–'मी आपले मूल आहे. आपण गुरुजन जशी आज्ञा कराल त्याप्रमाणेच मी करीन'.

प्रभुंनी आपला आहार कांही वाढविला नाही. तेव्हा भक्तांनी ही गोष्ट परमानन्दपुरींना सांगीतली. परमानन्दपुरी प्रभुचे जवळ गेले व त्यांना फार क्षीण झालेले पाहून ते म्हणाले–'आपण इतके कृश झाला आहात, ऐकले आहे कीं, आपण आपला आहार अति सूक्ष्म केला आहे; ह्याचे कारण काय?'

प्रभुंनी सरलपणे सांगीतले–'श्रीपाद! रामचन्द्रपुरींनी मला तसे सांगीतले'.

कांहीसे रोषाने परमानन्दपुरी म्हणाले–'आपणहि हे कोणाचे ऐकले? आपण नाही जाणत, दुसऱ्याची निन्दा करणे हाच त्यांचा स्वभाव आहे. अशाचे उपदेशाप्रमाणे चालल्यास सर्वच रसातलास जाईल. आपली तर गोष्ट राहोच, पण तो स्वताच्या गुरुचीहि निन्दा केल्या-वाचून राहिला नाही. त्याचे सांगण्यावरून आपण शरीर कृश करीत आहा. खरोखर आम्हास यामुळे फार दुःख होत आहे. आम्ही सांगतो आपण येथेष्ट भोजन करीत जावे'.

प्रभु म्हणाले–'आपणहि गुरु आहात, आपली आज्ञा पालन करून आजपासून कांही थोडे अधिक खात जाईन'. असे सांगीतल्यावर पुरी आपले स्थानीं गेले. त्या दिवसापासून प्रभुंनी आहार कांहीसा वाढविला, हे खरे, परन्तु पहिल्या इतका त्यांचा आहार पुन्हा केव्हाच झाला नाही. सर्वजण रामचन्द्रपुरीच्या नांवाने मनातले मनांत शिव्याशाप देऊ लागले व भगवन्तापाशी प्रार्थना करू लागले कीं, 'ह्यांची ही श्वेत पावले पुरीचे पावन भूमीचा परित्याग करून अन्यत्र जावोत'. भक्तांची प्रार्थना भगवन्ताने ऐकली व थोडेच दिवसांत रामचन्द्रपुरी पुरी सोडून कोठे अन्यत्र निघून गेले.

# महात्मा हरिदासाचे गोलोक गमन

विनिश्चितं वदामि ते न चान्यथा वचांसि मे।
हरीं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥

ज्याचे भाग्यवान् जिव्हेवर श्रीहरिचे सुमधूर नाम सदोदित विराजमान असते, नामसंकीर्तनद्वारा ज्याचे रोमरोमांत राम रमलेला आहे, ज्याने श्रीकृष्ण-कीर्तनद्वारा ह्या कलुषित कलेवरास चिन्मय करून टाकले आहे, असे नामप्रेमी सन्त समय-समयावर जगास कित्ता घालून देण्यास ह्या अवनितलावर अवतरित होऊन लोकांचे सन्मुख नाममहात्म्य प्रकट करतात. ते नित्य सिद्ध व अनुभव-सृष्टिचे जीव असतात. न तर त्यांना जन्म वा त्यांना मृत्यु. त्यांची कोणती जात नाही, कुटुंब-परिवार नाही. ते वर्णाश्रमाचे पलिकडे, मत-मतान्तरहित व यावत् भौतिक-पदार्थ-संबंधापासून पृथक् असतात. आपले अलौकिक आचरणद्वारा जगतास साधन पथाकडे घेऊन जाण्याचे निमित्तानेच अशाचे अवतरण होत असते. ते वरून ह्याच कार्यासाठी उतरतात व कार्य समाप्तीनन्तर वर परत जातात. आम्हा संसारी लोकांच्या दृष्टिने त्यांची जन्म-मरणादि कार्ये होतातशी दिसतात. ते जन्मतात, वाढतात, राहातात, खातात-पितात व उठतात-बसतातसेहि दिसतात. वृद्धहि होऊन ह्या पांचभोक्ति शरीराचा त्याग करून मृत्युसहि प्राप्त करतात. आम्ही समजणारच काय, आमची बुद्धिच अशी तयार झालेली आहे. ह्या धर्मांचे रहित व्यक्तिचे अनुमानच तिला आकलन करता येत नाही. गोल छिद्रांत गोलच वस्तु बसेल, तुम्ही त्यांत त्या मापाची चौकोनी वस्तु घालण्याचा प्रयत्न कराल तर, तो व्यर्थ होणार आहे. छिद्राप्रमाणेच त्यांत वस्तु घातली पाहिजे. ह्याचसाठी

कधी न मरणारे अमर महात्म्याच्याहि शरीर त्यागाचे वर्णन केले जाते. वास्तवीक तर श्रीहरिदासजी जसे तेव्हा होते, तसे आजहि आहेत. नामामृताने त्यांना चिरकालिक जरा, व्याधि तथा मरणाचे रहीत बनवून अमर करून ठेविलेले आहे. जो अमर झाला, त्याला मृत्यु कोठला. त्याचे संबंधाने शोक कां ? त्याचा मृत्यु ही एक प्रकारची लीला आहे व श्रीचैतन्य त्या लीलेचे सुचतुर सूत्रधार आहेत. ते दुःख रहीत असूनहि दुःख करतातसे दिसतात. ममता-मोहापासून पृथक् असताहि त्यांत गुरफटलेले दिसतात. शोक, उद्वेग व सन्ताप ह्यापासून अलग असूनहि ते शोकयुक्त, उद्वेगयुक्त व सन्तापयुक्तसे पाहण्यांत येतात. त्यांची माया तेच जाणे! आम्ही तर दर्शक आहोत. जसे पाहातो आहो, तसेच दाखविणार, जसे ऐकू, तसेच सांगणार. लीला आहेत, कृत्रिम आहे, छद्म आहे, नाटक आहे, या सत्य आहे, ते तेच जाणतात.

दुपार झाली होती, प्रभुचा सेवक गोविन्द नित्याप्रमाणे प्रसाद घेऊन हरिदासाकडे आला. रोज तो हरिदासांना आसनावर नामजप करीत बसलेले पाहात असे. आज त्यांही पाहिले, समोरच्या लाकडी फलकावर हरिदासजी आडवे झालेले असून त्यांचे नेत्र मिटलेले होते व मुखावाटे आपोआपच निघून राहिले होते—

हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

गोविन्द हळूच म्हणाला–'हरिदास, उठा, आज असे सुस्त पडून कां आहात?'

कांहीसे चकीत झाल्यासारखे व भ्रमांत व खोल आवाजाने हरिदास म्हणाले–'कोण आहे?'

गोविन्दाने म्हटले–'मी गोविन्द आहे. कां काय होते आहे? पडून कां आहात? प्रसाद आणलेला आहे, तो घ्या'.

कांहीसे क्षीण स्वरांत हरिदास म्हणतात–'प्रसाद आणला आहे? प्रसाद कसा घेणार?'

कांहीसे प्रेमाने गोविन्द म्हणाला–'कां, कां, काय झाले आहे ते सांगा तर खरे, तबीयत तर बरी आहे ना?'

हरिदासांनी पुन्हा तशाच स्वरांत विषण्णतेने उत्तर दिले–'हो, तबीयत बरी आहे, परन्तु आज नामजपाची संख्या पुरी झाली नाही. संख्या पुरी केल्यावाचून प्रसाद कसा घेऊ? तुम्ही आणलाच आहे तेव्हा प्रसादाचा अपमानहि करता येत नाही'. असे म्हणून त्यांही प्रसादास प्रणाम केला व त्यांतील एक कण तोंडांत टाकला. गोविन्द निघून गेला, त्याने ही हकीकत प्रभुंना सांगीतली.

दुसरे दिवशीं नित्याप्रमाणे प्रभु समुद्र-स्नान करून हरिदासांचे आश्रमीं गेले. त्यावेळीहि हरिदासजी जमीनीवर डोळे मिटूनच पडलेले होते. एका मातीचे चंबूत जल भरलेले होते. चहुकडे केरकचरा तसाच पडलेला होता, माशा घण–घण करीत होत्या. आज आश्रम झाडलेला नव्हता. प्रभुंनी विचारले–'हरिदासजी! तबीयत कशी काय आहे? शरीर स्वस्थ आहे ना?'

हरिदासांनी डोळे उघडून प्रभुंना प्रणाम केला व क्षीण स्वरांत म्हटले–'शरीर तर स्वस्थ आहे. मन स्वस्थ नाहीं'.

प्रभुंनी विचारले–'कां, मनाला काय दुःख आहे, कशाची चिन्ता आहे?'

त्याच करूणस्वरांत हरिदासजी म्हणाले-'हीच चिन्ता आहे, प्रभो! कीं, आता नाम-संख्या पुरी होऊ शकत नाही'.

प्रेमपूर्वक प्रभुंनी म्हटले-'पाहा, तुम्ही आता फार वृद्ध झाला आहात. विशेष हट्ठ चांगला नाही. नाम-जप कांही कमी करा. तुम्हा सारख्यास संख्येशी काय कर्तव्य आहे? तुम्ही तर नित्य सिद्ध पुरुष आहा, तुमची सर्व कार्ये केवल लोक शिक्षणार्थच होत असतात'.

हरिदास म्हणाले-'प्रभो! आता तितका जप होऊ शकत नाही. आपसुखेच कमी झाला आहे. बरे, आपले चरणापाशी मला एक निवेदन करावयाचे आहे'.

आसन जवळ सरकवून प्रभु बसले व ममतेने म्हणतात-'सांगा, काय सांगण्याची इच्छा आहे?'

अत्यन्त दीनपणे हरिदास सांगू लागले-'आपले लक्षणावरून मला समजून चुकले आहे कीं, आपण लवकरच लीलासंवरण करण्याची इच्छा करीत आहा. प्रभो! माझी श्रीचरणाजवळ हीच प्रार्थना आहे कीं, ते दुःखप्रद दृश्य मला माझे डोळ्यांनी पाहण्याचा प्रसंग न यावा. प्रभो! माझे हृदय फाटून जाईल. अशा रीतीने हृदय फाटून येणारा मृत्यु मला नको. माझी तर मनोकामना हीच आहे कीं, नेत्रांच्या समोर आपली मनमोहिनी मूर्ति आहे, अन्तःकरणांत आपले सुवर्ण वर्णाची गोड छबी साठवलेली आहे, जिव्हेवर मधुरातिमधुर श्रीकृष्णचैतन्य हे त्रैलोक्य पावन नाम आहे व आपले चारु चरित्राचे चिन्तन करीत करीत, ह्या नश्वर शरीराचा त्याग करावा, हीच माझी उत्कठ अभिलाषा व साध्य आहे, आपण स्वतन्त्र ईश्वर आहात, आपण सर्व कांही करण्यास समर्थ आहात, हीच भिक्षा आपण मला घालावी'.

पाण्याने डबडबलेल्या नेत्राने प्रभुंनी म्हटले–'ठाकुर हरिदास! असे वाटते कीं, आता लीलासंवरण करावे, अशी तुमची इच्छा आहे. मला हे ठीक वाटत नाही. पाहा, पुरींत मला दुसरे कोण आहे? तुमचे संगतींत मी येथे पड़न आहे. आम्ही तुम्ही बरोबरच राहिलो, बरोबरच कीर्तन केले. आता तुम्ही मला एकट्यासच टाकून जाता, हे ठीक नाही!'

प्रभुंच्या पायांवर स्वताचे मस्तक घासीत हळूहळू हरिदास म्हणू लागले–'प्रभो! अशी गोष्ट आपण पुन्हा आपले मुखांतून काढू नका. माझा जन्म म्लेच्छ कुलांत झाला, जन्माचा अनाथ, निरक्षर व अनाश्रित, लोकांनी तिरस्कारिलेला आणि हीन कर्मामुळे अत्यन्त अधम, असे असूनहि आपण मला आपला म्हटले, नरकांतून काढून मला स्वर्गात नेऊन बसविले, मोठमोठ्या श्रोत्रिय ब्राह्मणाकडून सन्मान देवविला, त्रैलोक्य-पावन पुरुषोत्तम क्षेत्राचा देवदुर्लभवास प्रदान केला. प्रभो! ह्या दीन-हीन भिकाऱ्यास चक्रवर्ति बनविले, हे आपलेच सामर्थ्य आहे. असाध्य साध्य करणे हे आपले शक्तींत आहे. आपले महिम्याचा पार कोणास लागणार आहे? माझे प्रार्थनेचा स्वीकार करावा व आपले मनोवांच्छित वरदान मला द्यावे'.

प्रभुनी सद्गदीत कण्ठाने म्हटले–'हरिदास! तुमचे इच्छेविरुद्ध जाण्याचे बरे, सामर्थ्यच कोणांत आहे? ज्यांत तुम्हास सुख होईल, तेच करा'.

इतके सांगून प्रभु आपले स्थानीं निघून गेले. त्यांही गोविन्दास सांगीतले–'हरिदासाची नीट देखरेख ठेवा, आता ते हे पांच भौक्तिक शरीर सोडण्याची इच्छा करीत आहेत'. गोविन्द प्रसाद घेऊन रोज

जात होता; परन्तु हरिदासांना आता भूक राहिलीच नव्हती. फुटलेल्या फोडावर पोटीस बांधण्यापासून काय उपयोग? फुटलेल्या घड्यांत पाणी भरून ठेविण्यांत काय अर्थ? त्यांत आता पाणी राहाणारच कसे?

महाप्रभु नित्य हरिदासास पाहण्यासाठी जात होते. एके दिवशीं त्यांही पाहिले, हरिदासाच्या शरीराची दशा अत्यन्त शोचनीय झालेली आहे. ते त्याच वेळीं आपले निवास स्थानीं गेले व गोविन्दास लागलीच पाठवून आपले अन्तरंगांतील भक्त बोलावून घेतले. सर्वांना घेऊन प्रभु हरिदासाच्या आश्रमांत आले. हरिदास जमीनीवर पडल्या पडल्या हळूहळू—

हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

ह्या महामन्त्राचा जप करीत होते. प्रभुंनी विचारले—'काय हरिदास, सांगा, काय हाल आहे?'

'सर्व आनन्द आहे प्रभो!' म्हणून हरिदासांनी कूस बदलली. महाप्रभु त्यांच्या मस्तकावरून हळूहळू हात फिरवू लागले. राय रामानन्द, सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूपदामोदर, वक्रेश्वर पंडित, गदाधर गोस्वामी, काशीश्वर, जगदानन्द पंडित आदे सर्व अन्तरंग भक्त हरिदासाच्या चहुबाजूस घेरा देऊन बसले. भक्तांनी हलके हलके संकीर्तनास आरम्भ केला. भट्टाचार्य जोरांत येऊन उठून उभे राहून जोर-जोराने नृत्य करू लागले. थोडे वेळाने सर्वच भक्त मंडळी उभे राहून हरिदासाचे भोवती नृत्य करू लागले. संकीर्तनाचा कर्णप्रिय ध्वनि ऐकताच पुष्कळ लोक तेथे एकत्र झाले. कांही वेळाने प्रभुंनी संकीर्तन थांबविले व सर्वजण हरिदासांच्या जवळ बसले. प्रभुंचे नेत्र पाण्याने भरून आले, कण्ठ दाटून आला

होता, मोठ्या कष्टाने ते रामानन्द व सार्वभौम आदि भक्तांना उद्देशून म्हणू लागले–'हरिदासांच्या भक्तिची वाखाणणी सहस्रमुखाचा शेषहि करू शकणार नाही. त्यांची सहिष्णुता, जागरुकता, तितिक्षा आणि भगवन्नामीं अनन्य भावाची निष्ठा आदि सर्व गोष्टी परम आदर्श व अनुकरणीय आहेत. त्यांचे इतके वैराग्य सर्वांत असणे शक्य नाही. त्यांही आपले आचरण असम्भाव्यच करून ठेविले होते'. हे सांगून प्रभु वेतांचा मार, वेश्याची घटना, नागांची घटना व ह्यांचे संबंधी अशाच दैवी घटनांचे वर्णन करू लागले. ह्यांचे हे अनुपमेय गुण वर्णन भक्तांनी श्रवण केल्यावर, ह्यांचीं पदधूलि भक्त मंडळी आपले मस्तकावर धारण करू लागले. त्याच वेळीं हरिदासांनी प्रभुंना आपले समोर येण्याचा संकेत केला. भक्तवत्सल चैतन्य त्या महापुरुषाचे समोर बसले. हा वेळ पावेतो त्यांचे नेत्र बन्द होते, आतां त्यांही दोन्ही नेत्र उघडले व पापणीहि न हलविता ते प्रभुचे श्रीमुखाकडे निरखून पाहू लागले. असेच समजाना कीं, ते आपले दोन्हीहि मोठमोठ्या डोळयांनी महाप्रभुचे मुखारविन्दांच्या मकरन्दाचे तन्मयतेने पान करीत आहेत. महाप्रभुंच्या मुखारविन्दावरून त्यांची दृष्टि क्षणभरसुद्धा इकडे-तिकडे सरकत नव्हती. सर्व अगदी मौन असून, चहुकडे नीरवता, स्तब्धता पसरली होती. हरिदासजी अत्यन्त पिपासुच्याप्रमाणे प्रभुचे मकरन्दमाधुरीचे पान करून राहिले होते, आता त्यांही जवळ बसलेल्या भक्तांची पद-धूलि घेऊन आपले शरीरास लावली. त्यांचे दोन्ही नेत्रांच्या कोपऱ्यांतून अश्रु-बिन्दु गळूनगळून पृथ्वींत जिरून जात होते. जणु काय ते पाताललोकीं हरिदास-विजयोत्सवाचा संदेश देण्यास जात आहेत. त्यांच्या पापण्या मिटतच नव्हत्या. जिव्हेने 'श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीकृष्णचैतन्य' ह्या नावाचे उच्चारण सुरू होते. पाहता पाहता त्यांचे प्राण-पाखरू ह्या

जीर्ण-शीर्ण कलेवराचा परित्याग करून कोण जाणे कोणत्या लोकीं निघून गेले! त्यांचे डोळे उघडेचेउघडेच होते, पुन्हा त्यांच्या पापण्या मिटल्याच नाही. माशाप्रमाणे, जणु काय, ते पलकहीन नेत्र, निरंतर रूपाने त्रैलोक्यास शीतलता प्रदान करणारे चैतन्यरूपी जलाचा आश्रय घेऊन त्याचेकडे टक लावून अविच्छिन्नभावाने पाहात आहेत. सर्व भक्तांनी एकदम हरिध्वनि केला. महाप्रभु त्यांचे प्राणहीन कलेवर आपले दोन्हीं हातांत घेऊन नृत्य करू लागले. सर्व भक्त 'हरि बोल, हरि बोल' म्हणत अश्रु ढाळीत होते. हरिध्वनीने सर्व आकाश मण्डल निनादित झाले. जणू काय ह्या ध्वनीने हृदयाचे होणारे तुकड्यावरोबर आकाशाचेहि तुकडे होत आहेत. त्या वेळचे ते दृश्य फारच करुणाजनक होते. जेथे चैतन्य हरिदासाचे प्राणहीन शरीर घेऊन नृत्य करीत होते, तेथे अन्य भक्तांची काय दशा झाली असेल, त्याचे पाठकांनीच अनुमान करावे. त्याचे कथन करणे आमचे शक्तिचे बाहेर आहे.

ह्याप्रमाणे पुष्कळ वेळपावेतो कीर्तन केल्यावर श्रीजगन्नाथाचे वस्त्र मागविण्यांत आले. एक विमानामध्ये हरिदासांचे शरीर त्या वस्त्रामध्ये बांधून ठेविण्यांत आले. शेकडो भक्त भजन करीत पुढें चालले होते. आळीपाळीने विमानास भक्त मंडळी खांदा देत होती. विमानाच्या पुढे महाप्रभु नृत्य करीत चालले होते. ह्याप्रमाणे मोठ्या थाटाने त्यांनी हरिदासाचे शव समुद्र किनारी आणले.

तेथे पोचल्यावर हरिदासाचे शवास समुद्र-स्नान घातले. प्रभु म्हणतात–'समुद्र आज पवित्र झाला, हरिदासाचे अंग स्पर्शाने हे महातीर्थच झाले'. सर्वांनी हरिदासाचे पादोदक पान केले. वाळूमध्ये एक मोठा खाडा खोदला व त्यांत हरिदासाचे शरीरास समाधि दिली. प्रभुंनी आपले हाताने त्या खाड्यांत वाळू टाकली व त्या समाधीवर

एक उंच ओटा केला. सर्वांनी त्या समाधि भोवती भजन कीर्तन केले व सर्वजण पुरीकडेस परत निघाले. रस्त्याने प्रभु हरिदासांच्या गुणांची प्रशंसा करीतच होते. सिंहद्वारावर पोचल्यावर प्रभु आपला पदर पसरून अश्रुयुक्त नेत्राने दुकानदाराजवळ भिक्षा मागून म्हणू लागले–'भैया! मी माझे हरिदासांचा विजयोत्सव करतो आहे, मला त्यांचे नावाने भिक्षा घाला'. दुकानदार सर्व प्रसाद प्रभुंच्या झोळींत टाकू लागले. तेव्हा स्वरूपदामोदराने प्रभुंचा हात धरून म्हटले– 'प्रभो! आपण हे काय करीत आहात, भिक्षा मागण्यास आम्ही आपले सेवक येथे तयार आहोत, आपणास असे भिक्षा मागताना पाहून आम्हास वाईट वाटत आहे. आपणास पाहिजे असेल तितका प्रसाद आम्ही मागून मागून घेऊन येतो'. याप्रमाणे समजावून स्वरूपदामोदराने प्रभुंना आपले स्थानीं पाठवून दिले आणि दहापांच भक्तांना बरोबर घेऊन ते दुकानदारापाशी महाप्रसाद मागण्यासाठी गेले. त्यादिवशीं दुकानदारांनीहि शिकस्त केली. त्यांच्याजवळ असलेला सर्व प्रसाद त्यांही देऊन टाकला. इतक्यांत वाणीनाथ, काशीमिश्र आदि भक्त मंडळीहि प्रसाद घेऊन प्रभुंच्या स्थानीं पोचली. चहुकडे महाप्रसादाचा ढीग लागला. ज्यास समजले तो हरिदासाचे विजयोत्सवांत सम्मिलीत होण्यासाठी धावत आला. ह्याप्रमाणे हजारो लोक तेथे एकत्र झाले. महाप्रभु स्वयं आपले हाताने सर्वांना प्रसाद वाढीत होते. 'जो पावेतो प्रभु येऊन प्रसाद घेणार नाहीत तो पावेतो कोणीहि प्रसाद घेणार नाही'. असे सांगीतल्याने प्रभुंनी वाढणे बन्द केले व पुरी, भारती आदि संन्याशाचे बरोबर बसून काशीमिश्राकडून आलेला प्रसाद घेण्यास सुरूवात केली, कारण त्या दिवशीं त्यांचेकडील निमन्त्रण होते. प्रभुंनी सर्वांना पुष्कळ आग्रह कर-करून भोजन घातले. सर्वांचे भोजन झाल्यावर

सर्वांनी एकदम हरिध्वनि केला. तेव्हा प्रभु वर हात करून म्हणाले– 'हरिदासांचा ज्यांनी संग केला, ज्यांनी त्यांचे दर्शन घेतले, ज्यांनी त्यांच्या खाड्यांत वाळू लोटली, त्यांचे पादोदक पान केले, त्यांच्या विजयोत्सवांत प्रसाद घेतला, ते सर्व कृतार्थ झाले. त्यांना श्रीकृष्णप्रेमाची प्राप्ती अवश्यमेव होईल'. असे म्हणून प्रभुंनी हरिदासाच्या नावाने जय-गोष केला. 'हरिदासजीकी जय' ह्या ध्वनीने आकाश दुमदुमून गेले. 'हरि हरि' च्या ध्वनींत हा हरिदासांचा विजयोत्सव समाप्त झाला.

श्रीक्षेत्र जगन्नाथपुरींत टोटा गोपीनाथाचे रस्त्यांत समुद्रतीरावर आजहि हरिदासांची सुन्दर समाधि दिसत आहे. तेथे एक जुनाट बकुल वृक्ष आहे, त्यास 'सिद्ध बकुल' म्हणतात. अशी आख्यायिका आहे कीं, हरिदासांनी दातवण करून ते जमीनींत पुरले होते, त्याचा हा वृक्ष झाला आहे. आजहि प्रतिवर्ष अनन्त-चतुर्थीच्या दिवशीं हरिदासांचा विजयोत्सव होत असतो. अशा हरिदासांना सहस्रशः प्रणाम करून आम्ही हा त्यांचा विजयोत्सव–प्रसंग समाप्त करतो.

# भक्त कालीदासावर प्रभुची परमकृपा

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमांघ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किंचनानां न वृणीत यावत् ॥

वैष्णव-सांप्रदायाचे ग्रन्थांत 'भक्त-पद-रज', 'भक्त-पादोदक' व भक्तोच्छिष्ट द्रव्य' ह्या तिहीचे अत्यधिक महात्म्य वर्णन केलेले आहे. श्रद्धालु भक्तांनी ह्या तिहीसही साधन-बल मानले आहे. खरोखर ह्या तिहिविषयी ज्यांचे अन्तःकरणांत पूर्ण श्रद्धा बाणली, भक्ताविषयी भेद-भाव राहिला नाही, जो सर्वभक्त भगवत्-स्वरूप मानून त्यांची पद-धूली आपले शिरावर धारण करू लागला व भक्तांचे पादोदक भक्तिभावाने प्राशन करू लागला, तो कृत-कृत्य झाला; अशांना मग भगवन्त दूर राहातच नाही. त्यांच्या पद-धूलीचे लालसेने भगवान ह्यांच्या मागेमागे फिरतात; परन्तु ह्या तिहीचे ठायीं श्रद्धा बाणणेच फार कठीण. असा विश्वास ठेवणारा भगवत्-कृपापात्र कोणी एकादाच विरळा महापुरुष असतो. तसे तर दुधाचे कटोरे (वाडगे) गट्ट करणारे कृत्रिम भोंदु पुष्कळच फिरताना आढळतात. एक कटोरा (वाडगा) भर रक्त माग-ताच अशांची परिक्षा होण्यास वेळ लागत नाही. धन्य आहेत ते महा-पुरुष कीं, जे भक्तांची जात-गोत विचारीत नाही, ईश्वराचे ठायीं अनुराग ठेवणारे खरे भगवत-भक्तांना ते ईश्वर-तूल्यच समजून त्यांची सेवा-पूजा करतात. भक्त प्रवर श्रीकालीदास असेच परम भागवत भक्तां-

मध्ये एक जगत्-वन्द्य श्रद्धालु भक्त होते. त्यांची अद्वितीय भक्ति निष्ठा ऐकून सर्वांना परम आश्चर्य वाटेल.

कालीदास जातीने कायस्थ होते. श्रीरघुनाथदासांचे गावापासून दोन तीन कोसावर असून त्याचे नांव 'भेदा' असे होते. भगवन्नामाचे ठिकाणी त्यांची अत्यन्त निष्ठा होती. सदा सर्वकाल भगवन्नाम ह्यांचे जिव्हेवर विराजमान असे. त्याचप्रमाणे भगवत्-भक्तांचेवरहि ह्यांची अद्भुत् निष्ठा होती. भक्तांना नानाप्रकारचे सुस्वादु पदार्थ खाऊ घालण्यांत ह्यांना परमानन्दाचा अनुभव वाटे. भक्तांचा उच्छिष्ट प्रसाद हे ग्रहण करीत असत. ह्या अतिरिक्त ते योग, यज्ञ, तप, पूजा, पाठ, अध्ययन व अभ्यास आदि कांहीहि करीत नसत. ह्याच साधनाने आपणास प्रभु-पादपद्माची प्राप्ती होईल असा त्यांचा दृढ विश्वास होता.

ह्याच गावामध्ये झाडू नावाचे भूमिमाली जातीचे शूद्र भगवत्-भक्त होते. त्यांची पत्निहि अत्यन्त पतिपरायण सती-साध्वी स्त्री होती. दोघेहि मोठ्या भक्ति-भावाने श्रीकृष्ण-कीर्तन करीत असत. एके दिवशीं भक्त कालीदास त्या उभयता भक्त-दंपतीचे दर्शनासाठी गेले. त्यावेळीं आंब्याची मोसम असल्याने त्यांचे भेटीसाठी फारच उत्कृष्ट आंबे त्यांही बरोबर नेले होते. प्रतिष्ठित कुलोद्भव कालीदासांना आपले मोडक्या-तोडक्या झोपडींत येत असलेले पाहताच त्या भक्त-दंपतीचे आश्चर्यास ठिकाणा राहिला नाही. त्या उभयतांनी कालीदासांचे स्वागत केले व बसण्यासाठी फाटके-तुटके आसन दिले. ते बसल्यावर अत्यन्त लज्जितपणाने व कृतज्ञता प्रकटवीत झाडू भक्त म्हणाले– 'महाराज! आपण आपले पद-धूलीने ह्या शूद्राधमाची ही कुटी फार पावन केली. आपणासारखे श्रेष्ठ पुरुषाचे येथे येणे साक्षात् ईश्वर येथे

येण्याप्रमाणेच आहे. आम्ही एकतर शूद्र असून धनहीन, तेव्हा आपणासारख्याची सेवा आम्ही कोणते प्रकारे करणार? आपणा समान अतिथि आमचे येथे कशासाठी येणार? आज्ञा झाल्यास कोणा ब्राह्मणाकडून कांही करवून आणवितो?'

कालीदासांनी कृतज्ञतेने म्हटले–'आपले दोघांच्या शुभ दर्शनानेच माझा सर्वश्रेष्ठ सत्कार होऊन चुकला. कृपा करून कांही करावे अशीच आपली इच्छा असल्यास, हेच करा कीं, आपले चरण माझे मस्तकावर ठेवून त्या योगे मला पवित्र करा, हीच माझी प्रार्थना आहे. या योगाने सर्व कांही मला मिळणार आहे'.

घाबरून फार दीनतेने झाडू भक्त म्हणतात–'स्वामी! आपण हे काय भलतेच म्हणत आहा! आम्ही जातीने शुद्र, धर्म-कर्म-हीन, आपणास स्पर्शसुद्धा करण्याचा आम्हास अधिकार नाही, तेव्हा आम्ही आमचे पाय आपणास कसे लावू शकणार? आमची आपणास हीच प्रार्थना आहे कीं, अशी आम्हास पापांत टाकणारी गोष्ट आपण आपले मुखाने पुन्हा काढू नका. ह्यायोगे आमचे सर्वस्वाचा नाश होईल'.

कालीदासांनी म्हटले–'जो भगवन्ताचा भक्त आहे, त्याची कांही जातच असत नाही. तो जातीबन्धनाच्या पलीकडे असतो. त्यापेक्षा श्रेष्ठ कोणी असू शकत नाही. तोच सर्वश्रेष्ठ असतो. म्हणून आपण जातिकुलाचा भेद-भाव मानू नका. आपण परम भागवत आहात. आपले पद-धूलीने मी पावन होईन, आपण मजवर अवश्य कृपा करावी.

झाडू भक्तांनी सांगीतले–'महाराज! आपले हे म्हणणे मला मान्य आहे कीं, भगवत्-भक्त वर्ण व आश्रमाच्या पार असतात. तो सर्वांचा

गुरु व पूजनीय आहे, त्यापेक्षा विशेष कोणीहि नाही. परन्तु तो भक्त असला पाहिजे. आम्ही अधम, बरे, भक्तिभाव काय समजणार! मला तर भगवानाचे ठिकाणी तिलप्रायहि प्रेम नाही. मी तर संसार-गर्तेत अडकलेला नीच असा विषयी पुरुष आहे'.

कालीदास म्हणतात–'खरोखर, खरे भक्त तर आपणच आहात. जो स्वतास भक्त म्हणवून सर्वाकडून आपली पूजा करवितो, आपले भक्तिभावाचा डांगोरा पिटवीत फिरतो, तो तर भक्त नसून दुकानदार म्हणावा. भक्तिचे नावावर पूजा-प्रतिष्ठा खरेदी करणारा-(विकत घेणारा) बनिया आहे. खरा भक्त तर आपलेसारखा, सदैव अमानी, अहंकार-रहीत व दुसऱ्यास मान देणारा असतो. अशास स्वप्नांतहि असा अभिमान नसतो कीं, मी भक्त आहे. हीच तर त्याची महानता आहे. आपण गुप्त असे खरे भगवद्भक्त आहात. हीन कुलांत उत्पन्न होऊन आपण आपणा स्वतास गुप्त ठेविले आहे, परन्तु भक्ति अशी अलौकिक कस्तुरी आहे कीं, ती कोणत्याही प्रकारे लपवून ठेविण्याचा प्रयत्न केला तरी, खरा परिक्षक तिला ओळखल्यावाचून राहाणारच कसा? कृपा करून आपले चरण धूलीने मला माझे शरीर पवित्र करू द्या'.

ह्याप्रमाणे पुष्कळ वेळ पावेतो आग्रह करूनहि झाडु भक्ताने ह्यांचे म्हणणे मान्य केले नाही. शेवटी त्या उभयता पति-पत्निना प्रणाम करून हे तेथून निघून गेले. शिष्टाचारानुसार झाडुभक्त त्यांना पोचवण्यासाठी घरापासून कांहीसे दूर आला, नंतर जेव्हा कालीदासांनी त्यास परत जाण्यास सांगीतले तेव्हा तो परत गेला. कालीदास तेथेच उभे राहिले, झाडुभक्त जेव्हा आपले झोपडींत शिरला तेव्हां त्याची पदधूलि ह्यांनी उचलून तिचा आपले शरीरास लेप केला आणि त्या झोपडीच्या बाहेर एका बाजूस ते लपून बसले.

रात्रीची वेळ होती, झाडु भक्ताच्या स्त्रीने आपले पतीस म्हटले– 'कालीदासजी हे प्रसादी आंबे देऊन गेले आहेत, ते भगवत्–अर्पण करून त्याचा प्रसाद घेऊ, भक्तांनी दिलेला तो प्रसाद आहे, तो घेतल्याने कोटी जन्माची पातके भस्म होतात'.

झाडू भक्ताने मोठ्या उल्लासाने म्हटले–'हो, हो, ते आंबे अवश्य खाल्ले पाहिजेत'.

पतिची आज्ञा होताच तिने ती आंब्याची टोपली उचलून आणली. मनानेच झाडू भक्ताने ते आंबे भगवन्तास समर्पण केले व तो ते प्रसाद म्हणून चोखू लागला. त्यांही चोखल्यावर जे राही ते त्याची पतिव्रता स्त्री चोखीत होती व कोय आणि साल बाहेर टाकीत होती. लपून बसलेले कालीदास त्या कोई उचलून चोखू लागले व त्यांत त्यांना अमृततुल्य स्वाद वाटू लागला. ह्याप्रमाणे भक्ताचा उच्छिष्ट प्रसादाचे सेवनाने ते स्वतास कृतार्थ मानून बरीच रात्र झाल्यावर घरी गेले.

ह्याप्रमाणे ह्यांची भक्तांचे ठायीं अनन्य श्रद्धा होती. एकदा हे गौडीय भक्तांच्या बरोबर नीलाचल येथे प्रभुंच्या दर्शनासाठी आले. ह्यांच्या अशा भक्ति-भावाच्या गोष्टी ऐकून प्रभुंना फारच आनन्द झाला व ह्यांना त्यांही सन्मानपूर्वक आपले जवळ ठेऊन घेतले.

महाप्रभु जेव्हा जगन्नाथाच्या दर्शनास मंदीरांत जात तेव्हा सिंहद्वाराचे समीप एका खाड्यांत पाय धूत असत. एकदा भक्त कालीदास ह्यांचे बरोबरच होते. भक्ताचे पादोदक व भक्तभुक्त-उच्छिष्ट-अन्न ज्याचे साधनाचे बल होते, ते ही संधी थोडेच फुकट जाऊ देणार होते? ते एकदम प्रभुच्या समीप आले, आणि त्यांही पाय धुतलेले जल पान

करण्यास सुरूवात केली. एक अंजली प्याले, प्रभु गुपचुपपणे त्यांचे मुखाकडेस पाहात राहिले, दुसरी अंजली प्याले, प्रभु कांहीसे हंसले, तिसरी अंजली प्याले, प्रभु मोठ्याने हंसले. पुन्हा त्याही हात बुडविताच प्रभुंनी त्यांचा हात धरला व म्हणाले–'बस, पुरे झाले, ह्या पुढे असे भलतेच केव्हाहि करू नका'. ह्याप्रमाणे स्वतःस महाभाग्यवान् मानीत जगन्नाथाचे दर्शन करून प्रभुचे बरोबर निवासस्थानी आले. महाप्रभुंनी भिक्षा ग्रहण केल्यावर प्रभुंच्या संकेताने गोविन्दाने सांगीतल्याप्रमाणे प्रभुंचे उच्छिष्ठ कालीदासास दिले. पादोदक व उच्छिष्ठ प्रसाद मिळाल्याने कालीदासांचे प्रसन्नतेस पारावारच राहिला नाही. धन्य आहे असा भक्ति भाव !!

# जगदानन्दांच्या बरोबर प्रेम-कलह

अनिर्देयोपभोगस्य रूपस्य मृदुनः कथम् ।
कठिनं खलु ते चेतः शिरीषस्येव बन्धनम् ॥

प्रेम-कलहांत किती गोडी आहे, ह्याचा अनुभव प्रेमीच करू शकतो. जर प्रेमांतून कलह विभक्त केला गेला तर, त्याचा स्वाद अशाच प्रकारचा असेल कीं, साखरेवाचून तयार केलेला शिरा. प्रणय कलह प्रेमास नित्य नाविन्य आणीत असतो. परन्तु हा कलह मधुर भावाचे उपासकासच भूषणावह दिसतो. अन्य भावांत तो दूषणच म्हणावा लागेल.

पंडित जगदानन्दांना पाठक विसरले नसतीलच. ते नवद्वीपांत श्रीवासांचे येथे प्रभुंच्या बरोबर नेहेमी कीर्तनांत सम्मीलित होत असत. प्रभुंनी संन्यास घेतल्यावर जेव्हा ते पुरीस आले तेव्हा त्यांचे बरोबर हे एकादे सेवकाप्रमाणे प्रभुंचा दण्ड घेऊन त्यांचे मागे-मागे चालत व मार्गांत भिक्षा मागून प्रभु व अन्य सर्व भक्तांना स्वयंपाक करून भोजन करवीत असत. प्रभु पहिल्याने वृन्दावनास गेल्यावेळीं हेहि त्यांचे बरोबर गेले होते व नंतर रामकेलीहून प्रभुंच्या बरोबर परत आले. प्रभु नीलाचल येथे स्थायी राहू लागल्यापासून हेहि तेथेच राहात असत. मधून-मधून हे शचीमातेसाठी जगन्नाथाचे वस्त्र व महाप्रसादी घेऊन प्रभुचे आज्ञेने नवद्वीपास जात असत. प्रभुंच्या ठिकाणीं ह्यांचा अत्यन्तिक मधुर-भाव होता म्हणून ह्यांना सत्यभामेचा अवतार म्हणत असत. हे प्रभुंच्या संन्यासदीक्षेची मुळीच परवा न करता असे म्हणत असत कीं, प्रभुंनी चांगले चांगले सुग्रास अन्न खावे, सुन्दर वस्त्रे परिधान करावी, मऊ आसनावर शयन करावे. परन्तु यतिधर्माविरुद्ध प्रभु ह्या वस्तुंचे सेवन करण्यास तयार नव्हते. ह्याच कारणाने ह्या उभयतांमध्ये कलह

होत होता. प्रभु-प्रेमाचे कारणाने जगदानन्द प्रभुंना प्रसंगीं कडक भाषेंतहि सांगण्यास कमी करीत नसत व प्रभुहि ह्यामुळे त्यांना कांहीसे भीत असत.

एकदा हे नवद्वीपाहून परत येताना शिवानन्द सेनांच्या घरीहून सुगंधित चन्दनादि तैल प्रभुंच्यासाठी घेऊन आले. भावावेशांत येऊन नृत्य केल्याने प्रभुंचे अंग दुखते व नसाहि ढिल्या होतात, तेव्हा ह्या तेलाचे मर्दनाने प्रभुंचा हा त्रास कमी होईल. पंडित असून प्रेमान्धत्वाने त्यांच्या हे लक्षांत आले नाही कीं, संन्याशास तैलमर्दन शास्त्रतः निषिद्ध आहे. प्रेमांत युक्तायुक्त विचार राहात नाही तो हाच. जगदानन्दांनीं तेल आणून गोविन्दास दिले व ते प्रभुचे शरीरास मर्दन करीत जा असे सांगीतले.

गोविन्दाने प्रभुस निवेदन केले–'प्रभो! जगदानन्द पंडितांनी गौड देशाहून चन्दनादि तैल आणले असून ते आपले अंगास चोळण्यास सांगून गेले आहेत. आपली आज्ञा होईल, तसे करीन'.

प्रभुंनी म्हटले–'एक तर जगदानन्द वेडे आहेतच व त्यांचे बरोबर तूंहि वेडा झाला आहेस. अरे, संन्याशास कोठे तैल मर्दन सांगीतले आहे कां? रस्त्याने जाणारे सुद्धा हंसतील व म्हणतील–'हा पाहा संन्यासी कसा विलासी आहे. माझी लोक निन्दा करतील'. गोविन्द हे बोलणे ऐकून स्वस्थ बसला.

दोन चार दिवसांनी जगदानन्दांनी गोविन्दास विचारले–'गोविन्द! तूं ते तेल प्रभुंच्या अंगास लावले का?'

गोविन्दाने उत्तर दिले–'ते लावू देतील तेव्हा ना लावणार? ते तर मला दटावतात'.

जगदानन्द सावकाश म्हणतात–'अरे! तूं त्याकडेस लक्ष देतोसच कां? ते तर असे म्हणणारच, तूं लाव आपले, सांग माझे नाव'.

गोविन्द म्हणाला–'पंडितजी! असे मला करता येणार नाही. हां, आपण सांगता तर, एक वेळ पुन्हा सांगून पाहीन'.

गोविन्दाने पुन्हा सांगीतल्यावर प्रभुंनी त्याचा चांगलाच समाचार घेतला, तेव्हा त्याने ही सर्व हकीकत जगदानन्दांना सांगीतली. दुसरे दिवशी जगदानन्दजी रागाने तोबरा फुगलेले प्रभुचे समीप आले. प्रभुंनी त्यांचे हे स्वरूप ओळखून मधुर वचनाने जगदानन्दांना ते म्हणतात–'जगदानन्दजी! आपण गौडदेशाहून फारच उत्तम तैल आणले आहे, थोडेसे अंगास लावावे असे मला वाटते, परन्तु काय करू, संन्यास-धर्मामुळे मी अगदी विवश आहे. आपण स्वयं पंडित आहा, संन्याशास तैल मर्दन महापाप आहे, हे आपण जाणतच आहा, म्हणून मी तेल लावू शकत नाहीं. आपण असे करा, हे तेल जगन्नाथास भेट अर्पण करा, तेथे ते दीपकांत जाळण्यांत येईल व आपले सर्व परिश्रम सफल होतील'.

जगदानन्द कांहीसे रोषाने म्हणाले–'आपणास हे कोणी सांगीतले, मी तेल केव्हा आणले?'

प्रभु हंसतहंसत म्हणाले–'आपण खरे, मी खोटा. हा तैल-कलश येथे कोणी देवदूत ठेवून गेला?'

हे ऐकताच जगदानन्दांनी उठून तो तैलकलश उचलून रागाने अंगणांत भिरकावून दिला. अंगणांत कलशाचे तुकडे तुकडे फैलावले व तेल चहुकडे वाहू लागले. जगदानन्द लागलीच आपले घरीं गेले व दारे बन्द करून पडून राहिले. दोन दिवस अन्न-पाण्यास स्पर्श केला नाही. प्रणय-कोपांतच पडून राहिले.

तिसरे दिवशीं प्रभु स्वता त्यांचे घरीं गेले व दार खडखडवून म्हणाले–'पंडित! पंडित! आंत काय करता आहा, बाहेर तर या, आपणास

कांही सांगावयाचे आहे'. परन्तु पंडित ऐकतच नाही, असे जेव्हा प्रभुंनी पाहिले, तेव्हा प्रभु म्हणतात-'पाहा, मी आपले दारीं भिक्षेसाठी उभा आहे व आपण दार उघडीत नाही. अतिथि निराश होऊन ज्याचे आश्रमांतून विन्मुख जातो, त्याचे तो सर्व पुण्य घेऊन जातो. पाहा, मी आपले येथे आज भिक्षेस आलो आहे, आपण तयारीस लागा, मी समुद्र-स्नान व भगवन्ताचे दर्शन करून आताच येतो'. प्रभु इतके म्हणून निघून गेले.

'प्रभुंच्यासाठी भिक्षा तयार केलीच पाहिजे', हा विचार मनांत येताच त्यांचा राग पार नाहीसा झाला. ते लागलीच उठले, शौचमुख मार्जनादि आटोपून त्यांही स्नान केले व रघुनाथ, रमाई पंडित आदि भक्तांना बोलावून प्रभुंचेसाठी भिक्षेचा प्रबन्द करण्यास सुरूवात केली. त्यांही निरनिराळे प्रकारचे पदार्थ प्रभुसाठी तयार केले. ते तयार होत आहेत तोच प्रभु आले व त्यांही स्वतःच आसन घेतले व बसले. जगदानन्दांनी आता उठून प्रभुंचे पाद-प्रक्षालन केले व नंतर सर्व पदार्थ नीट व्यवस्थित रीतीने प्रभुंना वाढले. प्रभु कांहीच बोलले नाही. जगदानन्दांना आता मौन भंग करावाच लागला. आपले हासू आंतले-आंत दाबीत मधुरवाणीने परन्तु आपलेपणा गाजवीत ते म्हणाले-'प्रसाद ग्रहण कां करीत नाही?'

प्रभु म्हणाले-'मी नाही प्रसाद घेणार'.

जगदानन्द त्याच रीतीने खाली पाहात म्हणाले-'मग आलात कशाला, कोणी बोलावण्यास आला होता थोडाच'.

'प्रभुंनी म्हटले मी होऊनच आलो व मी होऊनच जेवीत नाही'.

जगदानन्दांनी हंसत हंसत म्हटले-'बरे, जेवा, जेवा, पाहा, भात थंडा होत आहे'.

प्रभुंनी म्हटले–'वाटेल तर थंडा होवो वा गरम, जो पावेतो आपण मजबरोबर भोजनास बसणार नाही तो पावेतो मी जेवणार नाही. आपणासाठी एक पात्र आणखी वाढा'.

जगदानन्द मानमिश्रित हास्य-स्वरांत म्हणाले–'आपण सुरू करा, मी मग बसतो. प्रभो! मी व रमाई पंडित, रघुनाथ आदि सर्वांनी मिळून स्वयंपाक केलेला आहे, तेव्हा त्यांचेवाचून मी कसा जेवणास बसू? नाहीतर मी आपले आज्ञेचा भंग केला नसता'.

हे ऐकताच प्रभुंनी भोजनास प्रारंभ केला. त्या दिवशी जगदानन्दांनी प्रभुंना खुप जेवू घातले. तेव्हा प्रभु म्हणाले–'अहो, बाबा, आता दया कराल कां? रोजच्या पेक्षा आज दसपट खाल्ले आहे, या पुढे आता किती तरी खाऊ घालणार?' इतके म्हणून प्रभुंनी भोजन समाप्त केले. जगदानन्दांनी मुखशुद्धीसाठी लवंग, वेलदोडे दिले. प्रभुंनी ते खाऊन तेथेच आसन ठोकले व म्हटले–'जो पावेतो आपण माझे सन्मुख प्रसाद घेणार नाही, तो पावेतो मी येथून हलणार नाही'.

जगदानन्द हंसून म्हणाले–'आता आपण इतकी चिन्ता करण्याचे प्रयोजन नाही. आता तर सर्वांच्याबरोबर मला भोजन करावेच लागणार आहे, आपण जाऊन आराम करा'. हे ऐकून प्रभुंनी गोविन्दास म्हटले–'गोविन्द! तूं येथेच थांब व हे भोजन करणार नाही, तो पावेतो मजकडे येऊ नको'. हे सांगून प्रभु एकटेच कमण्डलु घेऊन आपले निवासस्थानीं गेले.

प्रभुंचा उच्छिष्ठ प्रसाद दिल्यावर सर्वजण भोजनास बसले. गोविन्दाने हे प्रभुस जाऊन निवेदन केले व नंतर परत येऊन तो भोजनास बसला.

ह्यानंतर सर्वजण आप-आपले स्थानीं गेले.

ह्याप्रमाणे प्रेम-कलह जगदानन्द व प्रभु ह्यांच्यामध्ये प्रायः होतच होता. ह्यांत दोघांनाहि आनन्द होत असे.

# जगदानन्दांची एकनिष्ठा

अर्चायामेव हरये पूजां यःश्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

शास्त्रामध्ये भक्तांचे उत्तम, मध्यम व प्राकृत रूपाने तीन भेद दाखविले आहेत. जो भक्त आपले इष्टदेवास सर्वव्यापक समजून प्राणिमात्राचे प्रति श्रद्धेचे भाव ठेवितो, व सर्व वस्तुंचे ठायीं इष्ट बुद्धि ठेवून त्यांचा आदर करतो, त्यास सर्वोत्तम भक्त म्हणतात. जो आपले इष्टाचे ठायीं प्रीति ठेवतो, व आपले समान इष्टबन्धुंच्याप्रति श्रद्धेचे भाव ठेवतो, असाधकाचे ठायीं कृपायुक्त भाव, विद्वेषकाचे व भिन्नमतांचे लोकांचेठायीं उपेक्षेचे भाव असतात, अशाच मध्यम भक्त म्हणावे, व आपले इष्टदेवतेच्याच विग्रहांत श्रद्धेचे भाव ठेवून त्याच श्रीहरीची पूजा करतो व भगवत्भक्तांची व अन्य पुरुषांची उपेक्षा करतो, तो प्राकृत भक्त होय. प्राकृत भक्त वाईट असतो असे नाही. खरे विचाराल तर, खरा श्रीगणेश तर येथूनच होतो. जो प्रथम प्राकृत भक्त होत नाही तो उत्तम व मध्यम भक्त होणारच कसा? खालची पायरी सोडून सर्वांत उंच पायरीवर योगेश्वरेश्वराचे कृपेवाचून कोणी चढूच शकणार नाही.

महाप्रभु नेहेमी केळीच्या पानावर निजत असत. ते रात्रंदिवस श्रीकृष्णविरहाने दुःखी असत. आहारहि त्यांही अगदी कमी केला होता. त्यामुळे त्यांचे शरीरहि फार क्षीण झाले होते. असे ते क्षीण शरीर केळीच्या पानावर पडलेले पाहून सर्व भक्तांना अपार दुःख होत होते, परंतु प्रभुंचे सन्मुख बोलण्याची हिम्मत कोणाची होत

नव्हती. जगदानन्दांचे सर्व प्रयत्न निष्फळ होत होते, तरीपण ते आपले सरल स्वभावानुसार प्रभुंना सुखी करण्याचे हेतूने जे प्रयत्न करावयाचे ते केल्यावाचून राहात नसत. प्रभुंना केळीच्या पानावर निजण्याने त्रास होतो म्हणून एक वस्त्र आणून त्यास भगवा रंग दिला व त्याची लहानशी गादी करविली व ती त्यांनी गोविन्दास देऊन सांगीतले कीं, ही प्रभुंना आंथर व त्यावरून त्यांचे वस्त्र चादरी-सारखे टाक. त्याप्रमाणे गोविन्दाने भीत भीत केले. महाप्रभुंनी जेव्हा बिछान्यावर पाय ठेवला, तेव्हा त्यांचे पायास कांही नरम लागले. वरील वस्त्र उचलून पाहतात तो गादी व त्याच रंगाची एक उशी पाहताच प्रभुंस क्रोध आला. त्यांही लागलीच जोराने गोविन्दास हाक मारली. गोविन्द भीत भीत दाराच्या मागे दडून उभा राहिला. प्रभुंनी पुन्हा हाक मारली–'गोविन्द! कोठे गेला आहे? ऐकत नाही!'

कांपत कांपत हळूच गोविन्दने म्हटले–'प्रभो! मी हा येथे आहे, काय आज्ञा आहे?'

प्रभु स्नेहभावाने परन्तु कांहीसे रागांत म्हणाले–'तुम्ही सर्व मिळून मला धर्मभ्रष्ट करण्यास संधी पाहात आहा, मी माझे शरीर तुम्हास सोपले आहे. मी विषय भोगांत आसक्त व्हावे असे कां तुम्हास वाटते? विषय-भोगासाठीच तर मी घर-दार सोडून संन्यास घेतला आहे. घरीं मला विषय-भोग भोगता येत नव्हते? कां, असेच ना?'

गोविन्दाने कांहीच उत्तर दिले नाही, तो खाली तोंड घालून गुपचुप उभा होता. स्वरूप गोस्वामीहि एका बाजूस गुपचूप उभे होते. प्रभुंनी पुन्हा म्हटले–'हे सर्व भजन-पूजन इत्यादि केवल शरीर सुखा-साठीच करीत असतात कीं काय, कोण जाणे? रात्रं-दिवस माझे शरी-

राचीच काळजी ! बाबांनो ! चैतन्य तर ह्या शरीराहून निराळे आहे. ते तर नित्य सुखमय, आनन्दमय व प्रेममय आहे. त्यास हे संसारी पदार्थ, बरे, काय सुख देऊ शकणार आहे ? ज्यास चैतन्य समजून तुम्ही सुखी करण्याची इच्छा करीत आहा ते तर अचैतन्य आहे, नश्वर आहे, क्षणभंगुर आहे, विनाशी व सदैव बदलणारे आहे, अशास सुखी करण्याचा प्रयत्न करणे मूर्खपणा आहे '.

स्वरूप गोस्वामी गुपचुपपणे ऐकत उभे होते. पुन्हा प्रभु तशाच क्रोध-स्वरात म्हणाले–' कां रे गोविन्द ! तुला हे काय सूचले ? तुला असे वाटले कीं, मी गादीतक्यावर आराम करीत पडावे ? तूं खरेखरे सांग, तूं हे पैसे कोठून आणले ? हे वस्त्र कोणाकडून मागून आणले ? शिलाई कोठून दिली ?

तसेच खाली तोंड केलेले असता गोविन्दाने उत्तर दिले–' प्रभो ! जगदानन्द पंडित हे मला देऊन गेले व त्यांच्याच आज्ञेने हे मी आंथरले '. जगदानन्दाचे नाव ऐकताच प्रभु कांहीसे नरमले. त्यांचा रोष कापुराप्रमाणे कोण जाणे कोठे उडून गेला. हृदयभाव जाणण्यांत प्रवीण स्वरूप गोस्वामी महाप्रभुचे मनोभाव समजून गेले. ते हळूच म्हणाले--' प्रभो ! त्यांत बिघडले कोठे ? जगदानन्दांना वाईट वाटेल, त्यांही प्रेमाने स्वतःच हे सर्व तयार केले आहे. सावरीचा कापूस आहे, आपले शरीरहि फार अशक्त आहे. मलासुद्धा केळीच्या पानावर आपणास निजलेले पाहून वाईट वाटते. बरे नसल्यावेळीं गादीचा उपयोग करण्यास काय हरकत आहे ? रुग्णावस्थेसच आपत्ति काल म्हणतात. त्यांत नियमाचे पालन होत नाही. 'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति '.

प्रभु हळूच गोस्वामीना समजावीत प्रेमाने म्हणू लागले–' स्वरूप,

तुम्ही चांगले जाणते आहा, विषयाचा कांही अन्त आहे कां? एकाचे पश्चात दुसरी इच्छा होणार, एकदा नियमापासून भ्रष्ट झाला कीं, त्याचे पतनच होत जाणार. आज गादी आहे. उद्या पलंग हवासा वाटेल, परवा एक पाय दाबण्यासाठी नोकर ठेविण्याची आवश्यकता वाटेल. काय, ह्याचसाठी कां, मी संन्यास घेतला आहे कीं, येथेच सर्व सुख भोगीत राहू'.

ह्यावर स्वरूप गोस्वामी कांही बोलले नाही व ती गादी व उशी काढून टाकण्यास गोविन्दास संकेताने सूचविले. गोविन्दाने तसे केल्यावर प्रभु त्याच केळींच्या पानावर पडले. केळीच्या सोपटाच्या गादीवर निजण्याचे प्रभुंनी कबूल केले व त्याप्रमाणे स्वरूप गोस्वामीनी तजवीज केली.

गोविन्दाचे द्वारा जगदानन्दांना जेव्हा हा समाचार समजला तेव्हा ते फार क्षुब्ध झाले, परन्तु त्यांही तो प्रभुंचे सन्मुख प्रकट होऊ दिला नाही. प्रभुंनीहि पुन्हा ती गोष्ट काढली नाही.

जगदानन्दांचे मनांतून बहुत दिवसांपासून वृन्दावन जाण्याचे होते परन्तु ह्यांच्या ह्या उतावळे व रागीट स्वभावामुळे त्यांही ह्यांना वृन्दावनास जाण्याची आज्ञा आजपर्यन्त दिली नव्हती. आता पुन्हा एकदा प्रभुंना विनंती करण्याचे स्वरूप गोस्वामीच्या सम्मतीने निश्चित केले व त्याप्रमाणे एके दिवशीं एकान्तांत प्रभुंची वृन्दावनास जाण्यासाठी आज्ञा मागीतली.

बरेचशे आढेवेढे घेत शेवट प्रभु म्हणाले–'ठीक आहे, आपली उत्कठ इच्छाच आहे तेव्हा जा. परन्तु पाहा, सावधपणे वागा. येथून काशीपर्यंत तर कांही भीति नाही. पुढे लुटारू भेटतात, ते तुम्हास बंगाली समजून मारून टाकण्यासहि कमी करणार नाहीत. तेव्हा तेथून पुढे कोणी एकादे धर्मात्मा क्षत्रीयाचे बरोबर जावे. वृन्दावनांत सनातनाच्या बरोबर रहा, त्यांच्याच बरोबर तेथील तीर्थे व वनांची यात्रा

करा, साधु-महात्म्यांना लांबूनच प्रणाम करीत जा. त्यांचे संगतींत विशेष राहू नका. ह्याप्रमाणे व्रजाची यात्रा करून लौकरच परत या. सनातनास सांगा कीं, मी व्रजांत येईन, माझेसाठी एकादे ठिकाण पाहून ठेवा'. ह्याप्रमाणे त्यांना नीट समजावून वृन्दावनास जाण्यास आज्ञा दिली.

सर्व भक्तांना वन्दन करून व महाप्रभुंचे चरण-रज मस्तकावर धारण करून जगदानन्द झाडीखंडाचे मार्गाने वृन्दावनास जाण्यास निघाले. भिक्षा मागत मागत ते काशी, प्रयाग करून वृन्दावनास पोचले. तेथे रूप-सनातन ह्या दोघा बन्धुनी ह्यांचा योग्य सत्कार केला. हे नेहेमी सनातनाच्याच बरोबर राहात असत. त्यांचेबरोबर ह्यांनी व्रजांतील सर्व यात्रा केल्या.

शेवट हे गोकुळांत आले व तेथे यमुनेच्या तटाकीं एका गुफेंत राहिले. दोघेहि एकत्रच राहात होते, परन्तु जगदानन्द एका मंदीरांत जाऊन तेथे हातांनींच स्वयंपाक करून भोजन करीत होते. सनातनजी माधुकरी मागून आणीत असत. गोकुल त्यावेळीं फारच लहान असल्याने त्यांना रोज कोस दीडकोस जावे लागत असे.

एके दिवशीं जगदानन्दांनी सनातनजीना आमंत्रण केले. ते समानदृष्टि ठेवणारे होते. ते संन्यासी मात्रास चैतन्यांचाच विग्रह समजून तसा भाव ठेवीत असत. त्यांना एका मुकुन्द सरस्वती नावाचे संन्याशाने आपले जुने वस्त्र प्रसाद म्हणून दिले होते. ते एका गोदडी-शिवाय दुसरे वस्त्र स्वतःजवळ बाळगीत नव्हते. जगदानन्दाच्याकडे जातांना त्यांही ते प्रसादी वस्त्र आपले डोक्यास बान्धून ते गेले. त्यांच्या डोक्यावर ते भगवे वस्त्र पाहताच जगदानन्दजी मोठ्या प्रेमाने विचारू लागले–'सनातनजी! आपणास हे प्रभुचे प्रसादी वस्त्र केव्हा मिळाले?'

सनातनजींनी सरलपणे सांगीतले–'हे प्रभुचे प्रसादी वस्त्र नाही,

मुकुन्द सरस्वती नामक एका चांगल्या संन्याशाने मला हे दिलेले आहे. जगदानन्दांना ह्याचा फारच राग आला व जणु काय ते मारण्यासच धावले, परन्तु पुन्हा क्रोध आवरून म्हणाले-'आपण महाप्रभुंच्या प्रधान पार्षदगणांतील असताना दुसऱ्या संन्याशाचे वस्त्र आपण मस्तकावर धारण केलेले कोणा गौर-भक्तास सहन होईल?'

हे ऐकून हसतच सनातन म्हणाले-'आपले एकनिष्ठतेच्या गोष्टी मी दुरूनच ऐकत होतो, परन्तु आज त्याचा मला प्रत्यक्ष अनुभव आला. श्रीचैतन्यचरणीं आपलेप्रमाणे दृढ अनुरागाचा लेशमात्र आमचेंत नाही. आपली धन्य आहे! मी तर केवल आपणास दाखविण्यासाठीच हे वस्त्र डोक्यास गुंडाळले होते. तसे वर भगवे वस्त्र धारण करण्याचा मला अधिकारच नाही. वैष्णवास ते ग्राह्यहि धरलेले नाही'. ह्याप्रमाणे त्यांची समजूत घालून ह्यांना त्यांही शान्त केले.

जगदानन्दजी कांही काल व्रजांत राहून परत जाण्याचे तयारीस लागले. प्रभुसाठी रासलीलास्थळीची रज, गोवर्धन पर्वतावरील शिला, गुंजाच्या माला व सुकविलेले पिलू, ह्या वस्तु सनातनजींनी दिल्या. ते अकिंचन दुसरे देणारच काय? पिलू व टैटी ही दोन फळेच व्रजांत पुष्कळ होतात व दोन्हीहि कडू असतात. व्रजांत गोपालबाल हेच चोखतात. श्रीकृष्ण भगवन्तास सुद्धा हीच फार आवडत असत.

अस्तु, जगदानन्दजी सनातनांनी दिलेला प्रसाद व त्यांचा निरोप घेऊन पुरीस आले. सकुशल परत आलेले त्यांना पाहताच प्रभुंना फार सन्तोष झाला. सनातनांनी दिलेल्या सर्व वस्तु प्रभुंनी मस्तकावर धारण केल्या व पिलू भक्तांना वाटून दिले. एकतर वृन्दावनांतील मेवा व तो प्रभुंच्या हातून मिळालेला तेव्हा कांही जणांनी लागलीच ते तोंडांत

टाकून चावण्यास सुरुवात केली परन्तु ज्याना अनुभव होता ते सावधान होते. ज्यांनी एकदम खाण्यास सुरुवात केली, त्यांची तोंडे कडू जहर झाली. तोंडांत टाकल्यावर थुकता येईना व कडु असल्याने घशाचे खाली उतरेना. जेमतेम पाण्याचे बरोबर तो प्रसाद गिळला. प्रभु हसत हसत म्हणाले–'व्रजांतील प्रसादी भक्षण करणे कांही सोपे नाही. विषय-भोगासच सर्वस्व समजणारे व्रजांत निवास करण्यास वा व्रजांतील महा-प्रसाद ग्रहण करण्यास अधिकारी नाहीत'.

ह्याप्रमाणे जगदानन्दजी आल्याने सर्वांना फार आनन्द झाला, ते पूर्वीप्रमाणे सुखाने प्रभुचे समीप राहू लागले. जगदानन्दांचे अन्तःकरण सात्विक होते. त्यांचे प्रभुंच्या ठिकाणी प्रगाढ प्रेम होते. ते प्रभुंच्या शरीरावरच विशेष प्रेम करीत होते. ज्या कागदावर चित्र रेखाटलेले आहे, त्या कागदावर जर कोणी प्रेम करीत असेल तर कालान्तराने त्यावरील चित्रावरहि प्रेम करू लागेल हे निश्चित. जो सौन्दर्यासच सर्वस्व समजून कागद निरुपयोगी म्हणून फेकून देईल, तर कागद तर त्याच्या हातून जाईलच परन्तु त्याबरोबर त्यावर रेखाटलेले चित्र व त्याचे सौन्दर्य यांसहि तो अंचावतो. असे होणे कसे शक्य आहे कीं, आम्ही घृतावर प्रेम करावे व ज्या पात्रांत ते ठेविले आहे त्याची उपेक्षा करावी. पात्राशी घृताचा आधाराधेय भावाचा संबन्ध आहे. आधेयावर प्रेम करण्याने आधारावर आपले-आपुणच प्रेम होते. आधाराचे प्रेमानेच आधेयाचे प्रेम स्वाभाविकपणे प्राप्त होते. हाच सर्व शास्त्रांचा सिद्धान्त आहे.

# श्रीरघुनाथ भटास प्रभुंची आज्ञा

दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥

परमहंस रामकृष्णदेव एक कथा सांगत होते–'एका बगीचांत पुष्कळसे साधु एकत्र बसले होते. एक सुन्दर स्त्री तेथे त्यांचे दर्शनास आली. सर्व साधु परम विरक्त होते. ह्या सर्वांचे गुरुहि आजन्म ब्रह्मचारीच होते, व त्यांही शिष्यहि असेच केले होते कीं, ज्यांनी जन्मापासून केव्हाहि संसारी सुख भोगलेले नाही. हे सर्व स्त्रीसुखाचे अनभिज्ञ होते, ह्यामुळे त्या मातेच्या दर्शनाने त्यांचे मनांत कोणत्याहि प्रकारे विकार उत्पन्न झाला नाही. त्यांतील एकाने प्रथम स्त्रीसुख भोगलेले होते, त्याकारणाने त्या मातेच्या दर्शनाने त्याची कामवासना जागृत झाली'. ही कथा सांगून ते म्हणत–'पाहा, ज्या पात्रांत एकवेळ दही जमविण्यांत येते, त्यांत दूध ठेविल्यास ते फाटण्याची भीति असते. जो घट कोरा आहे त्यास कांहीच भीति नाही. ह्याप्रमाणे जे विषयसुखापासून बचलेले आहेत, ते कोरे घड्याप्रमाणे असतात'. ह्याच्या उदाहरणांत ते आपले भक्त मंडळींतून नरेन्द्र (विवेकानन्द) आदिचा दृष्टांत देत म्हणत–'सर्वोत्तम तर तोच कीं, जो विषय बन्धनापासून अगदी अलिप्त राहिलेला आहे. विषयच बन्धनाचा हेतु आहे'. महाप्रभु चैतन्यदेवहि ज्यास वासनारहीत अधिकारी समजत असत, त्यास संसारांत प्रवेश करण्यास मना करून आजन्म ब्रह्मचारी राहून श्रीकृष्ण कीर्तन करीत राहाण्याचाच उपदेश करीत असत. विरक्त भक्तांना स्त्रियांचे संसर्गात न येण्यासाठी बजावीत आणि स्वता ते कधी

स्त्रियांचेकडे वर दृष्टि उचलून पाहात नसत वा कधी त्यांचा अंग-स्पर्श होऊ देत नसत.

एके दिवशीं महाप्रभु टोटा यमेश्वरास जात होते. त्यावेळीं एक देवदासी रस्त्यांत आपले कोकिलकूजित कमनीय कण्ठाने महाकवि जयदेवाचे अमरकाव्य गीतगोविन्दांतील पद म्हणत चालली होती. वसन्ताचा आल्हादकारी समय होता, नारीकण्ठांतील मधुरिमा मिश्रित ते त्रैलोक्यपावन पद ऐकताच प्रभुचा मनमयूर नृत्य करू लागला. त्यांचे कानीं—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली ।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली ॥

ही पदावली एक प्रकारे मादकतेचा संचार करू लागली. आपले प्रियतमाचे, आवडत्याचे अशा सुन्दर स्वरूपाचे वर्णन ऐकताच ते प्रेमाने अगदी कासावीस झाले व कर्णद्वारा सुधा-श्राव करविणारे त्या व्यक्तिस आलिंगन देण्यासाठी ते धावले. प्रेमोद्रेकांत त्यांना स्त्री-पुरुष भेद समजून आला नाही, वाटेंत काट्यांचे कुंपण होते, तेहि ध्यानांत आले नाही, पायांत कांटे बोचत होते, परन्तु भानरहीत स्थितींत त्यांचे तिकडे लक्षच नव्हते. ते त्या पदाकडेस खेचले जात होते. मागून येणारे गोविन्दाने धावत येऊन प्रभुंना थांबवीत म्हटले–'प्रभो! हे आपण काय करीत आहा, पाहात नाही, ही स्त्री आहे'.

'स्त्री आहे' हे ऐकताच प्रभु थांबले व तेथेच बसून करुणस्वरांत अधीरपणे म्हणू लागले–'गोविन्द! ह्या उपकारामुळे मी तुझा सदैव ऋणीच राहीन, तूं आज मला स्त्री-स्पर्शरूपी पापापासून वाचविले. खरोखर

मी चुकीने कां होईना स्त्री-स्पर्श केला असता तर समुद्रांत उडी घेऊन आजच मी आपला प्राणत्याग केला असता'.

प्रभुचे असे दीनपणाचे भाषण ऐकून गोविन्द प्रेमाने म्हणाला– 'प्रभो! आपले रक्षण करणारा मी कोण, जगन्नाथच आपले रक्षण करीत आहेत'.

महाप्रभु नन्तर पुढे गेले नाहीत व परत येऊन ही गोष्ट त्यांही आपले विरक्त भक्तांना सांगीतली व गोविन्दाची प्रशंसा केली व गोविन्दास पुन्हा सांगीतले–'गोविन्द! तुम्ही सदैव मजबरोबरच असत जा'.

काशीवासी पंडित तपनमिश्रास पाठक विसरले नसतीलच. त्यांचे पुत्र रघुनाथ भट्टाचार्य प्रभुंचे अनन्य सेवक होते. प्रभु काशीस गेल्या-वेळीं ह्या रघुनाथ भट्टाचार्यांनी प्रभुंचे चरणीं आत्मार्पण केले होते. प्रभु पुरीस आल्यानंतर ते पुन्हा प्रभुचे दर्शनासाठी पुरीस आले. रस्त्यांत ह्यास साथीदारहि रामदास विश्वास ह्या नावाचे फारच सूज्ञ गृहस्थ लाभले. हे उभयता योग्य समयीं पुरीस पोचले व शोध करून हे प्रभुचे निवास-स्थानीं गेले व त्यांच्या पादपद्मी ह्यांनी साष्टांग प्रणिपात केला. ह्यांना पाहून प्रभुंना फार आनन्द झाला व त्यांही तपनमिश्र व चन्द्रशेखर आदि भक्ताचे कुशल विचारले. रघुनाथजीनी सर्वांचे कुशल कळवून प्रणामहि निवेदन केला. त्या दिवशीं प्रभुंनी तेथेच प्रसाद देवविला व आपले जवळच राहाण्यासाठी एक स्थान निश्चित करून देवविले. हे आठ महिने प्रभुजवळ राहिले व प्रायः ते प्रभुंना आपले-कडेस भिक्षेस आमन्त्रित करीत. प्रभुंना ह्यांचे हातचे पदार्थ फार

आवडत. आठ महिन्यानंतर ह्यांना प्रभुंनी बोलावून सांगीतले-'पाहा भट्टाचार्य! तुमचे मातापिता वृद्ध आहेत, तुम्ही त्यांचे एकच आपत्य आहा, तुमचा विवाह करून तुम्हास गृहस्थाश्रमी करावे अशी त्यांची स्वाभाविकच इच्छा असणार, परन्तु तुम्ही ह्या गृहस्थाश्रमाच्या जंजाळांत पडू नका, ब्रह्मचारीच राहा. वृद्ध मातापित्यांची सेवा करणे तुमचा धर्म आहे, कारण त्यांना दुसरा पुत्र नाही. ते परलोकवासी झाल्यावर तुम्ही विरक्तपणे भगवद्भजनांतच आपला समय व्यतीत करीत राहा, नंतर मला एकदा पुरीस येऊन भेटा'. ह्याप्रमाणे सांगून त्यांना विदा केले. त्यांही प्रभुंची आज्ञा घेऊन मोठे कष्टाने काशीचा रस्ता धरला.

चार पाच वर्षांत त्याची माता व पिता स्वर्गस्थ झाले. उत्तरकार्य आटोपल्यावर ते पुरीस आले व प्रभुंना सर्व गोष्टी निवेदन केल्या. पुन्हा त्यांना प्रभुंनी आठ महिने जवळ ठेवून घेऊन त्यांना भक्तितत्वाची शिक्षा दिली व शेवटी त्यांना वृन्दावनांत रूप व सनातनाजवळ जाऊन राहाण्यास आज्ञा केली. प्रभुंची आज्ञा शिरोधार्य करून ते वृन्दावनास जाण्यास निघाले.

सर्व भक्तांची पदधूलि स्वताचे मस्तकावर धारण करून रघुनाथ भट्टाचार्य हात जोडून प्रभुचे समीप आले. प्रभुंनी त्यांना वारंवार आलिंगन देत सांगीतले-'पाहा, श्रीवृन्दावनाचे पवित्र भूमीचा त्याग करून कोठे अन्यत्र जाऊ नका, वैराग्ययुक्त होऊन निरन्तर श्रीमद्भागवताचा पाठ करीत जा, रूप-सनातन ह्या उभयतांना आपले वृद्ध समजा, कांही शंका उत्पन्न झाल्यास त्यांना विचारीत जा. निरन्तर नाम-जप करीत राहाल तर केव्हा-ना-केव्हा कृपालु श्रीकृष्ण कृपा करतीलच. मंगलमय भगवान् तुमचे मंगल करो, तुम्हास लवकरच श्रीकृष्ण प्रेमाची प्राप्ति होवो; आता जा, सर्व वृन्दावनवासी भक्तांना

माझे स्मरण द्या'. ह्याप्रमाणे प्रभुंचा शुभ आशिर्वाद घेऊन, हे काशी, प्रयाग आदि ठिकाणाहून वृन्दावनास पोचले. तेथे रूप-सनातन ह्या दोघा बन्धुनी ह्यांचा फारच सत्कार केला व ह्यांना आपले जवळच ठेवून घेतले. हे रूप गोस्वामीचे सत्संगाने श्रीमद्भागवताचा पाठ करीत होते. ह्यांची आवाजी फारच सुरेली होती. हे एक एक श्लोक निरनिराळ्या प्रकाराने म्हणत व म्हणता म्हणता ह्यांचे अन्तःकरण भरून येई, हे अचकत व अश्रु ढाळीत. हे सदैव वृन्दावन बिहारीचे प्रेमांतच गढलेले असत. हृदयांत गोविन्दाचे ध्यान व जिव्हा सारखी हरिरसाचे पान करीत होती. साधुंचा सत्संग व ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करण्यापेक्षा संसारांत-जगतांत महत्वाचे व सुखकर असे दुसरे जीवन कोणते असू शकणार? मनीषियांनी-ज्ञान्यांनी जगतांतील सर्व वस्तु भयप्रद म्हणून वर्णन करून केवल एक वैराग्यच भयरहीत म्हणून सांगीतले आहे. असे जीवन व्यतीत करणेच सर्वश्रेष्ठ वैराग्य आहे. राजर्षि योगिराज भर्तृहरि म्हणतात —

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम्॥

अर्थात् 'भक्तभयहारी भगवन्ताचे पादपद्माचे ठायीं प्रीति आहे, हे शरीर नाशवन्त समजून त्याचे ठायीं अप्रीति आहे, संसारी भाऊबन्धु व कुटुंब परिवाराचे ठिकाणीं ममता नाही व अन्तकरणांत कामजन्य वासनांचा अभाव आहे, कामिनिचे कमनीय कलेवर पाहून त्याचे ठायीं आसक्ति उत्पन्न होत नाही, आणि संसारी लोकांचे संसर्गजन्यदोषरहित

पवित्र व शान्त-विजन वनांत निवास आहे. तेव्हा ह्यापेक्षा वांच्छनीय असे सर्वोत्तम-सर्वश्रेष्ठ असे वैराग्य असणारच कसे?'

खरोखर जो स्त्रीसंसर्गरहित होऊन एकान्तस्थानीं वृन्दावनांत ब्रह्मचर्यपूर्वक वृन्दावनविहारीचे ध्यान करीत आपला समय व्यतीत करीत आहे, तो देवतांनाहि वन्दनीय आहे. त्याची पदधूलि ह्या समस्त पृथ्वीस पावन करून टाकील. तो नररूपी साक्षात् नारायण आहे, शरीरधारी ब्रह्मा व वैकुण्ठपतिचा परम प्रिय प्रधान पार्षद आहे.

# गम्भीरा मन्दिरांत श्रीगौराङ्ग

प्रेमानामाद्भुतार्थः श्रवणपथगतः कस्य नाम्नां महिम्नः
को वेत्ता कस्य वृन्दावनविपिनमहामाधुरीषु प्रवेशः ।
को वा जानाति राधां परमरसचमत्कारमाधुर्यसीमा-
मेकश्चैतन्यचन्द्रः परमकरुणया सर्वमाविश्चकार ॥

महाप्रभु गौराङ्गदेव चोवीस वर्षांचे अल्पावस्थेंत कठोर-खडतर-संन्यास-धर्माची दीक्षा घेऊन पुरीस आले. सहा वर्षे तर ते भारतवर्षा-तील विविध तीर्थांत भ्रमण करीत राहिले व शेवट त्यांही वृन्दावनाची यात्रा केली. महाप्रभुंची हीच अन्तीम यात्रा झाली. वृन्दावनाहून परत आल्यावर शेवटची आठरा वर्षे हे अविच्छिन्नभावाने सचल जगन्नाथाचे रूपांत पुरी अथवा नीलाचल येथेच (अव) स्थित राहिले. नंतर त्यांही पुरीची पावन भूमीचा परित्याग करून कोठेहि जाण्यासाठी पाऊल उचलले नाही. गौडदेशाहून रथयात्रेच्यावेळीं प्रतिवर्ष पुष्कळसे भक्त येत असत व ते पावसाळ्यांत चार महिने तेथेच प्रभुंच्या पादपद्मासन्निध राहून आप-आपले ठिकाणीं परत जात असत. सहा वर्षपर्यन्त तर प्रभु ह्यांच्याबरोबर क्रीडा, संकीर्तन व उत्सव आदि करीत होते. शेवटीं ह्यांचा प्रेमोन्माद साधारण सीमेचे उल्लंघन करून पराकाष्टेस पोचला, तशा अवस्थतेंत ह्या प्राकृतिक शरीराचे भान कोठचे? ही तर प्रकृतिच्या पलीकडील गोष्ट आहे. सत्व, रज व तम ह्या तिन्ही गुणांचा तेथे प्रवेश नाही. हे सर्व तर त्रिगुणातीत विषय आहेत. ह्यांत भेटी-गाठी, बोलणे-चालणे, खाणे-प्रिणे, अथवा अन्यान्य कार्यांचे सम्पादन करणे शक्यच नाही. शरीर स्वयं यन्त्राप्रमाणे ही कार्ये अवश्यकतेनुसार करीत राहाते; चित्ताशी ह्या कामाचा कांहीहि संबन्ध नाही. चित्त तर

अविच्छिन्नभावाने त्या प्रियतमाचे रूपमाधुरीचे पान करण्यांत निमग्न असते. महाप्रभुचे चित्तहि बारा वर्षेपर्यन्त शरीर सोडून वृन्दावनांतील कोणा एका कृष्ण-वर्ण गोपाल-बालकाचे संगतींत रत झाले होते. त्यांचे मनरहीत शरीर पुरींत काशीमिश्राचे विशाल घरांतील एका निर्जन गम्भीरा मन्दीरांत पडलेले होते. ह्याचे पूर्वी म्हणजे आम्ही महाप्रभुंच्या ह्या दिव्योन्मादकारी प्रेमावस्थेचे संबन्धाने कांही सांगण्याचे पूर्वी, हे समजण्याची अवश्यकता आहे कीं, हे गंभीरा मन्दिर हे वास्तविक काय आहे?'

श्रीजगन्नाथांचे मन्दीरासमीपच उडीसाधिपति महाराज प्रतापरुद्रांचे कुलगुरु पण्डित काशीमिश्रांचे विशाल घरांत प्रभु निवास करीत होते. मिश्रांचे ते भवन फारच विस्तृत होते. अनुमानाने असे वाटते कीं, त्यांत तीन चौक असून शेकडो माणसे सुखाने राहात असली पाहिजेत. कारण तेव्हातर त्यांत गौडीय सर्व भक्त मंडळी चार महिने आनन्दाने राहात असत. परमानन्द पुरी, ब्रह्मानन्द भारती, स्वरूपदामोदर, रघुनाथदास, जगदानन्द, वक्रेश्वर पंडित व आणखी कांही भक्त निरनिराळे ठिकाणीं राहात होते. महाप्रभु सदैव एकान्त प्रिय होते, त्यांना फारशी गर्दी असली म्हणजे आवडत नसे. त्याच भवनांत एकांतात एक गुफेसारखे लहानसे स्थान होते. ते कोलाहल शून्य, अगदी निभृत व नीरव मन्दीर होते. महाप्रभुंना अगदी एकान्ताची इच्छा होई तेव्हा ते ह्या ठिकाणीं जाऊन विश्राम करीत. त्याचे द्वार इतके लहान होते कीं, त्यांतून एक मनुष्य सुद्धा मोठ्या संकोचाने आंत शिरत होता. महाप्रभु जेव्हा थकून जात वा गर्दीला अगदी उबून जात तेव्हा ह्यांत जाऊन निजत असत.

महाप्रभु ज्याप्रमाणे भक्तवत्सल व कृपालु होते, तसाच त्यांना खरा

स्वामिभक्त गोविन्द नामक सेवकहि प्राप्त झाला होता. गोविन्दाचा प्रभुंच्या ठिकाणीं वात्सल्याभाव होता; तो निस्वार्थभावाने प्रभुचे शरीराची फार तत्परतेने काळजी घेत होता. एके दिवशीं प्रभु प्रभु-संकीर्तनोत्तर श्रान्त होऊन गंभीराचे दरवाजांतच पडून झोपले हे ते. नियमानुसार गोविन्द आला व त्याने म्हटले-'प्रभो! मी अंग दाबून देतो, मला आंत येऊ द्या'. प्रभु तर भावावेशांत भानरहीत होते, त्यांना शरीर मर्दनाचे कोठे ध्यान? दोनचार वेळा प्रार्थना केल्यावर त्यांही पडल्या-पडल्याच सांगीतले-'आज नको, जा निजून राहा'.

गोविन्द म्हणाला-'प्रभो! माझा नित्याचा नियम आहे. मला आज सेवेपासून वंचित करू नका'.

प्रभु गुंगीतच म्हणाले-'नाही, आता हे कांही नाही, माझे सर्व अंग दुखते आहे, माझेच्याने उठवत नाही, तूं जाऊन निजून राहा'.

गोविन्दाने पुन्हा फारच विनीतपणे म्हटले-'प्रभो! आपण थोडे पलिकडे सरका, मी एक पाय देऊनच आंत येईन. मला झोप येणार नाही'.

प्रभुंनी स्नेहपूर्वक म्हटले-'भैया गोविन्द! माझेंत हलण्याचेहि सामर्थ्य नाही'. सेवा परायण स्वामिभक्त सेवक काय करतो? सेवा करणे हेच त्याचे प्रधान कर्तव्य. प्रभुंना ओलांडून जाणे पाप आहे, किन्तु त्यांची सेवा न करणे हे त्यापेक्षाहि अधिक पाप आहे. तेव्हा त्याने असा विचार केला की, 'मला पाहिजे तर नरकवास भोगावा लागो, मी सेवा करण्यांत प्रमाद करणार नाही'. तो प्रभुंना उल्लंघून आंत गेला व तेथे जाऊन त्याने प्रभुंची चरणसेवा केली व सर्व शरीर हळूहळू दाबले. बरेच वेळाने प्रभुंना चैतन्य प्राप्त झाले. तेव्हा गोविन्दास जवळच

बसलेला पाहून त्यांही विचारले–'अरे गोविन्द! तूं अद्याप बसलाच आहेस, निजलास कां नाही?'

गोविन्द म्हणाला–'प्रभो! निजण्यास कसा जाऊ? आपण तर दरवाजाच अडविला आहे'.

प्रभुंनी विचारले–'मग तर आलास कसा?'

गोविन्दाने कांहीसे बिचकत बिचकत उत्तर दिले–'प्रभो! मी आपणास ओलांडूनच आलो. ह्यासाठी जी कांही शिक्षा यमराज देतील ती सहर्ष भोगण्यास मी तयार आहे. आपले शरीराची सेवा करण्यासाठी मी सर्व कांही करीन. स्वता मला निजावयाचे आहे म्हणून हे असे पातक मी करण्यास तयार नाही'. त्याची अशी निष्ठा पाहून प्रभुंनी त्यास छातीस दाबून धरले व कृष्ण-प्रेम-प्राप्तीचा आशीर्वाद दिला.

ह्या घटनेवरूनहि असे अनुमान निघते कीं,गंभीरा मन्दीर फारच लहान असले पाहिजे. प्रथम तर महाप्रभु ह्यांत कधी-कधीच शयन करीत असत. जशी जशी त्यांची एकान्तनिष्ठा वाढत गेली, व प्रेमोन्माद वाढत गेला, तस-तसे ते गंभीरा मन्दीरांत आपला अधीक वेळ व्यतीत करू लागले. अन्ताची बारा वर्षे तर त्यांची ह्याच गंभीरा मन्दीरांतच व्यतीत झालेली आहेत. ह्या स्थानाचे प्रथमपासूनच गंभीरा नाव होते वा प्रभुंच्या गंभीरभावाने त्यास हे नाव लोकांनी दिले, ह्याचा नीट तपास लागत नाही. अनुमान तर असेच करण्यांत येत आहे कीं, प्रभुंनी ह्या अन्तःपुरा-सारख्या ठिकाणीं आपले अन्तरङ्ग भक्तांसह स्वताचे रागमय एकान्तिक जीवन व्यतीत केले, ह्याच कारणाने ह्या स्थानास 'गंभीरा' ह्या नावाने लोक संबोधु लागले. प्रभुंनी गंभीरा मन्दीरांत राहून जी बारा वर्षे व्यतीत केली व त्या अवस्थेत त्यांही लीला केल्या, त्यास भक्त 'गंभीरा लीला'

ह्या नावाने ओळखतात व म्हणतात. गौडीय वैष्णवग्रन्थांत सर्वत्र 'गंभीरा लीला' हा शब्द वापरलेला पाहण्यास मिळतो.

ह्या बारा वर्षांत प्रभुंच्या शरीरामध्ये जे जे प्रेमाचे भाव उत्पन्न झाले, त्यांची जशी जशी अलौकिक दशा झाली, तशी कोणत्याहि महापुरुषाचे शरीरांत प्रत्यक्ष प्रकट झालेली पाहण्यांत नाही. त्यांही प्रेमाची पराकाष्ठा करून दाखविली, मधुर रसाचे आस्वादन कसे रीतीने केले जाते, त्याचे त्यांही साकार स्वरूप दाखवून दिले. त्यावेळीं स्वरूपदामोदर व राय रामानन्द हेच ह्या प्रभुचे भावांचे प्रधान ज्ञाते होते. महाप्रभु निरन्तर वियोगिनी श्रीराधेच्याच भावांत भावान्वित असत. स्वरूप गोस्वामीस व राय रामानन्दास ते आपल्या ललिता व विशाखा सख्या समजत. ह्यांच्याचमुळे त्यांना कांहीशी शान्ति लाभत होती. वास्तविक मधुर भावाचे हे मर्मज्ञ उभयता महानुभाव ललिता व विशाखेप्रमाणे प्रभुंच्या विरह वेदना कमी व्हाव्या म्हणून नानाप्रकारे त्यांना सहायता करीत व नेहेमी प्रभुंच्या सेवा-सुश्रुषेंत तत्पर असत. स्वरूप गोस्वामीचा गळा फारच सुस्वर व कोमल होता. ते आपले गायनाने-मधुरभावाची पदे गाऊन-गाऊन प्रभुंना आनन्दवीत असत. महाप्रभुंना भागवताचे दशम स्कन्धांतील गोपीगीत, श्रीजयदेवाचे गीतगोविन्द व चण्डिदास तथा विद्यापति ठाकुरांची पदे फार आवडत असत. स्वरूप गोस्वामी हीच पदे ऐकवीत असत, आणि राय रामानन्दजी श्रीकृष्ण-कीर्तन करीत असत. अशा प्रकारे रात्रीच्या रात्री वितून जात व सूर्योदय झाला म्हणजे प्रातःकाल झाला आह हे समजे. त्यावेळीं प्रभुची जी व जशी दशा होत होती, ती सर्व स्वरूपदामोदर आपले 'कडचा' मध्ये म्हणजे टिपणीमध्ये लिहीत असत. खरोखर ह्याच महाभावांच्या कृपेने आज जगास श्रीचैतन्यदेवाचे प्रेमाच्या

अलौकिकी दशांची माहिती मिळते आहे, नाही तर ते भाव प्रत्यक्ष रूपाने जगतांत प्रकट झालेच नसते आणि ते भाव मानवीय भाषेंत व्यक्त केलेच गेले नसते. हे भाव व्यक्त करण्याची तर भाषाच निराळी आहे व तिचे नाव 'मूक-भाषा' असे आहे. कोणी रसमर्मज्ञ लोकातीत भावांचा पुरुष यत्किंचित ह्याचे वर्णन करू शकेल. ह्याचसाठी स्वरूपदामोदरजींनी जगावर उपकार करून ह्याचे थोडे-बहुत वर्णन केले. वास्तवीक चैतन्य-भावाचे नीट रीतीने तेच वर्णन करू शकले असते. त्यावेळीं प्रभु शरीर-ज्ञानशून्यच असत. त्यांचे अन्तरंगभक्तच त्याचे शरीराची सेवा-सुश्रुषा व देखरेख करीत असत. त्यांत गोविन्द, जगदानन्द, रघुनाथदास, स्वरूपदामोदर व राय रामानन्द हेच मुख्य होते. स्वरूपदामोदर जे कांही लिहीत ते रघुनाथदास कण्ठस्थ (पाठ) करीत. ह्याप्रमाणे स्वरूपदामोदरजींचा 'कडचा' म्हणजे टिपणी, रघुनाथदासाचे गळ्यांतील हार होऊन राहिला होता. महाप्रभु व स्वरूपदामोदरांचे तिरोभावा (अन्तरधान म्हणजे लौकिकी शब्दांत मृत्यु) नंतर रघुनाथदास पुरी सोडून श्रीवृन्दावनास गेले व तेथेच एकान्तांत वास करू लागले. 'श्रीचैतन्यचरितामृता'चे लेखक गोस्वामी कृष्णदास कविराज त्यांचे परमप्रिय शिष्य होते, अर्थात् 'स्वरूप-दामोदरजींचा कडचा' त्यांचेपासून कविराजांना प्राप्त झाला. कवीराजांनी त्याच कडचाचे आधारावर आपले 'श्रीचैतन्यचरितामृत' नामक ग्रन्थाचे शेवटचे सात अध्याय लिहिले. 'स्वरूपदामोदरजींचा कडचा' म्हणून निराळा ग्रन्थ आता उपलब्ध नाही. ह्या सात अध्यायांनाचा त्याचे सार समजले पाहिजे.त्या महापुरुषाने त्या अलौकिक दिव्य ग्रन्थाचा जनतेंत प्रचार व प्रसार कां होऊ दिला नाही, ते तर तेच स्वता जाणतात. आम्ही पामर प्राणी हे कसे, बरे, समजु शकणार? जगतास ह्या इतके अधिक दिव्य

रसाचे अनधिकारी ते समजले असतील. प्रायः असे पाहण्यांत येते कीं, महापुरुष आपले सम्पूर्ण प्रेम कोणाचेहि ठायीं प्रकट करीत नाही. जर ते दुर्बल जीवावर एकदमच आपले अमोघप्रेम प्रकट करतील तर त्याचे अन्तःकरण भंगून जाईल, साधारण लोक महापुरुषाचे असे प्रेम सहन करू शकत नाही म्हणून महापुरुष हळू-हळू पात्र प्रेमाचा जस-जसे अधिकारी होत जाते, तितकेच प्रेम त्यांचे ठायीं प्रकटवितात, कारण प्रेमाची अमोघ शक्ति त्यांना परिचित असते.

गोस्वामी कृष्णदास कविराज कविहृदयाचे प्रेममर्मज्ञ व उच्च कोटीचे रसमर्मज्ञ होते. त्यांही आपले बंगाली भाषेतील 'प्यार' नामक छन्दांत ज्या खूबीने महाप्रभुंच्या ह्या अन्तिमभावांचे वर्णन केले आहे, ते वाचून असा कोण सहृदय रसीक पुरुष असेल कीं, त्याचे नेत्रांतून 'प्यार' म्हणत असताना अश्रुप्रवाह होणार नाही. त्या अमर कवीचे लेखणींतून प्रेमाचे जसे सजीव, सुन्दर व चालते-बोलते वर्णन निघाले आहे, तसे दुसरे साधारण कवींच्या लेखणींतून निघणे असंभव आहे. प्रेमाचा प्रसंग तसे पाहिल्यास फारच कठीण (जटिल) आहे व त्याचे मानवी भाषेतील कवीतेंत वर्णन करणे तर खरोखरच महान् प्रतिभा व फारच साहसाचे काम म्हणावे लागेल. कविराज महाशय स्वयं म्हणतात–

प्रेमार विकार वर्णिते चाहे येई जन,
चांद धरिते चाहे येन हय्या वामन।
वायु जैछे सिंधु-जलेर हरे एक 'कण,'
कृष्णप्रेम-कण तैछे जीवेर स्पर्शन॥
क्षणे क्षणे उठे प्रेमार तरंग अनंत,
जीव छार काहां तार पाइबेक अंत।

श्रीकृष्णचैतन्य याहा करेन आस्वाहन,
सबे एक जाने ताहा स्वरूपादि 'गण' ॥

अर्थात् 'जो पुरुष प्रेम-विकाराचे वर्णन करण्याचा प्रयत्न करतो, त्याचा प्रयत्न त्या ठेंगू (वामन) समान समजावा कीं, जो सर्वांत ठेंगणा असूनहि आकाशस्थ चन्द्रमा धरण्याची इच्छा करतो. ज्याप्रमाणे अनन्त, अथांग महासागरांतून वायु एक कण उचलून आणतो, त्याच-प्रमाणे श्रीकृष्णप्रेमार्णवपयाचा एक कण जीवास प्राप्त होऊ शकतो. क्षणोक्षणी प्रेमाचे अनन्त तरंग उद्भवतात, त्याचा साधारण जीव पार कसा लावू शकणार. श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ज्या प्रेम-रसाचे आस्वादन करीत आहेत, ते तर त्यांचे परम प्रियगण श्रीस्वरूपदामोदर तथा राय रामानन्द आदिच जाणू शकतात'. असे म्हणून त्यांनीहि स्वतःस प्रेम-तत्वाचे वर्णन करण्यास असमर्थच गणले आहे, आणि त्याचे समर्थन करीत स्वीकार करतात कीं—

लिख्यते श्रीलगौरेन्दोरत्यद्भुतमलौकिकम् ।
यैर्दृष्टं तन्मुखाच्छ्रुत्वा दिव्योन्माद विचेष्टितम् ॥

अर्थात् 'श्रीगौरांग महाप्रभुंच्या अत्यद्भुत अलौकिक दिव्योन्माद-कारक चेष्टा-ज्यांनी (श्रीरघुनाथदासांनी) आपले नेत्रांनी त्या लीला प्रत्यक्ष पाहिल्या आहेत, त्यांचे मुखाने ऐकूनच मी लिहित आहे'. ह्या गोष्टीवरून आता शंकेस तर स्थानच राहात नाही. कोणी एकादा साधारण मनुष्य त्यांना ह्या गोष्टी सांगता तर त्यांही त्यावर विश्वासच ठेविला नसता, परन्तु जेव्हा साक्षात् रघुनाथदासच त्यांना सांगत आहेत, जे बारा वर्षेपर्यन्त निरन्तर प्रभुंचे समीपच होते, तेव्हा त्यांना विश्वास ठेवणेच भाग पडले. ते ही गोष्ट स्वता सांगतात—

शास्त्रलोकातीत येइ येइ भाव हय,
इतर लोकेर ताते ना हय निश्चय ।
रघुनाथदासेर सदा प्रभु संगे स्थित,
तार मुखे सुनि लिखि करिया प्रतीति ॥

अर्थात् 'महाप्रभुंच्या ह्या दिव्योन्मादकारी भावाचे जर दुसरा कोणी पुरुष वर्णन करता तर, खात्रीच पटली नसती. परन्तु सदा सर्वकाल महाप्रभुचे संगतींत रहाणारे रघुनाथदासांनीच आपले मुखांनीच हे सर्व मला कथन केले, तेव्हाच मी ते माझे ग्रन्थांत समाविष्ट केले. तेव्हा आता यांत शंकेस स्थानच नाही'. ह्याप्रमाणे ठिकठिकाणीं त्यांही हे भाव अवर्णनीय म्हटलेले आहे व सात अध्यायांत अगदी सुन्दर वर्णन करून शेवट सांगीतले आहे—

प्रभुर गंभीरा लीला ना पारि बूझिते ।
बुद्धि प्रवेश नाहि ना पारि वर्णिते ॥

अर्थात् 'महाप्रभुंच्या गंभीरा लीलांची कांही उमज पडत नाही, बुद्धिचा तर त्यांत प्रवेशच होऊ शकत नाही, तेव्हा वर्णन कसे होऊ शकणार?' ज्या प्रेमोन्मदकारी लीलांचे वर्णन करण्यांचे कामीं, प्रेमाचे एकमेव उपासक, गौरकृपेचे पूर्णपात्र व आयुभर वृन्दावनांतच निवास करून प्रेमाची साधना करणारे कविराज गोस्वामी आपले वृद्धावस्थेंत कापणारे लेखणीने लिहिण्यास असमर्थ म्हणून समजतात, तेव्हा आमचे सारखे आजकालचे छोकरे, ज्यांचा प्रेमपथांत प्रवेश तर काय, परन्तु जे त्याकडेस वळलेलेहि नाहीत, असे साधारण कोटीचे जीव त्याचे वर्णनच काय करू शकणार? आमचे सारख्यास सरल मार्ग तर हाच आहे कीं, हा

प्रसंग अगदी सोडून देणे. परन्तु हा प्रसंग सोडून देणे म्हणजे ज्याप्रमाणे दूध दोहून आणावे, तापवून, जमवून, त्याचे दही करावे व दिवसभर मन्थन केल्यावर ऐन लोणी निघण्याचे वेळीं सोडून देण्यासारखेच म्हणावे लागेल. महाप्रभुंच्या जीवनाचे हेच तर सार सर्वस्व आहे. येथेच प्रेमाची पराकाष्ठा होत आहे. हाच तर त्यांचा जीवास अन्तिम उपदेश आहे. ह्यासच ध्रुवलक्ष्य करून साधक पुढे पाऊल टाकू शकतो. तेव्हा सोडून देणे, ह्याचा अर्थ हा वेळ पावेतो जे सर्व कांही केले-करविले त्याचा सार न समजता सोडून देण्यासारखे आहे. म्हणूनच आम्ही आमचे क्षुद्र बुद्धिचे अनुसार, त्याच कविराज गोस्वामीच्या चरण-चिन्हाचे अनुसरण करून वर्णन करीत आहोत. अन्य स्थळींतर आम्ही आमचे स्वाभाविक स्वतन्त्र-बुद्धिस अनुसरून काम चालवून घेतले आहे, परन्तु ह्या विषयांत मात्र आम्ही, होईल तो पावेतो, त्याच पूर्व पुरुषांचे प्रणालीकेचेच अनुकरण करणार आहोंत. **अक्षरांचा अनुवाद करणे तर आमचे प्रकृतीस प्रतिकूल आहे,** हे अभिमानपूर्वक म्हणू शकतो, परन्तु हा विषय वर्णन करताना, कांही झाले तरी, त्याच महानुभावांचा आश्रय घेऊन हा दुर्गम-पथ पार करणार आहोत. ह्याच करीता, श्रीचैतन्यदेवाचे दिव्योन्मादाचे वर्णन करण्याचे पूर्वी, आम्ही पाठकगणास अतिसंक्षेपाने हे दाखवून देणे अवश्यक समजतो कीं, प्रेमाचे भाव, महाभाव व विरहदशा कशा असतात व त्यांचे वास्तवीक स्वरूप काय असते, ह्या विषयावर मधुररतिचे उपासक वैष्णवानी अनेक ग्रन्थ लिहिलेले आहेत व विस्तारपूर्वक ह्या विषयाचे वर्णन केले आहे, ते सर्व दर्शविण्यास येथे स्थानहि नाही व आम्हांत तितकी योग्यताहि नाही. विषय ध्यानांत यावा म्हणून फार संक्षेपाने ह्याचे दिग्दर्शन करून देण्याची आमची इच्छा आहे कीं,

ज्या योगाने पाठकांना महाप्रभुंचे दिव्योन्मादकारी दशेचा उमज पडण्यास सुगमता व्हावी. तसे तर ही दशा समजून कोणी प्रेमी थोडाच होऊ शकणार आहे? ज्याचे अन्तःकरणांत प्रेम उत्पन्न होते, त्याची दशा आपले-आपुणच तशी होऊन जाते. पिङ्गल पाठ करून वा वाचून कोणी कवी थोडाच होतो. स्वाभाविक कवीची कविताच पिंगलानुसारच स्वयं बनून जाते. म्हणून हे सर्व वर्णन प्रेम प्राप्त करण्याचे निमित्ताने नसून प्रेमाची दशा प्रेमावस्था समजावी म्हणून करीत आहोत.

---

# प्रेमाच्या अवस्थांचा संक्षिप्त परिचय

**कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके ।**
**यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति ॥**

लोकमर्यादा बाजूस सारून मोहनाचे ठायीं मन लावणे यास मनीषियांनी-ज्ञान्यांनी-प्रेम म्हटलेले आहे. प्रेमाचे लक्षणांत इतकेच म्हटले असता पुरे आहे कीं—

**प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।**

अर्थात् 'गोपींच्या शुद्ध प्रेमासच 'काम' ह्या नावाने संबोधण्याची प्रथा पडलेली आहे'. या योगे हेच तात्पर्य निघते कीं, प्रेमामध्ये इन्द्रिय-सुखाचे इच्छेचा अत्यन्तभाव होतो. गोपींच्या 'कामां'त कोणत्याहि प्रकाराने स्वतःचे शरीरसुखाची इच्छा नव्हती. त्या जे कांही करीत होत्या ते केवल श्रीकृष्णाचे प्रसन्नतेसाठीच. यास्तव शुद्ध प्रेम इन्द्रिये व त्यांचे धर्म, या पलीकडली वस्तु आहे. ह्यास 'राग' असेहि म्हणतात. ह्या 'काम', 'प्रेम' अथवा 'रागा'चे तीन भेद पडतात-पूर्वराग, भेट व वियोग वा विरह.

ज्याचे अन्तःकरणांत प्रेम उत्पन्न होते, त्यास घर-दार, कुटुंब-परिवार, संसारी विषयभोग, हे त्यांस कांहींच रुचकर लागत नाही. तो सदैव आपले प्याऱ्याच्याच-आवडत्याच्याच चिन्तनांत निमग्न असा असतो. प्रेमी मनुष्याची दशा-ज्याचा आपले प्राणावर अत्यन्त मोह आहे व अशास फांशीची शिक्षा होऊन त्यांस फांशीच्या कोठडींत बन्द करून ठेविलेले आहे, ज्याप्रमाणे प्राण-नाशाचे भीतीने त्याच्या क्रिया व चेष्टा होतात-तद्वत होते. रागमार्गाचे उपासक वैष्णवांनी आपले ग्रन्थांत ह्या

सर्व अवस्थांचे फार विस्ताराने वर्णन करून ठेविलेले आहे. अशा संकुचित स्थलीं त्यांचा उल्लेख होणेहि शक्य नाही वा त्याचे प्रयोजनहि दिसत नाही. ह्या संबंधाने अष्ट सात्विक विकारांचा फार उल्लेख येतो व ते फार प्रसिद्धहि आहेत, तेव्हा ह्या ठिकाणीं फार संक्षेपाने त्याच आठ विकारांचे वर्णन करतो. ते आठ विकार हे–स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक व प्रलय. हे भय, शोक, विस्मय, क्रोध व हर्ष या अवस्थेंत उत्पन्न होतात. प्रेमाचेसाठी ह्या भावांना 'सात्विक विकार' म्हटले आहे. आता ह्यांच्या संक्षिप्त व्याख्या ऐका—

स्तम्भ—शरीर स्थब्ध होणे. मन व इंद्रिये जेव्हा हालचाल न करता निश्चल होतात, त्यास 'स्तम्भ' म्हणतात.

कम्प—शरीर कंपायमान होते, कापते त्यास 'वेपथु' वा 'कम्प' म्हणतात. अर्जुनाची युद्धारम्भीं भयाने अशी दशा झाली होती. त्याने स्वता म्हटले–'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते' अर्थात् माझे शरीर कापते आहे, रोमांचित झाले आहे'.

स्वेद—शरीरास घाम सुटणे वा घामाने सर्व शरीर ओलेचिंब होणे यास 'स्वेद' म्हणतात.

अश्रु—प्रयत्नावाचून शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षाचे कारणाने नेत्रांतून जे जल पडते त्यास 'अश्रु' म्हणतात. हर्षांत निघणारे अश्रु थंड असतात व ते प्रायः डोळ्यांच्या कोरांतून खाली पडतात. शोकाचे अश्रु उष्ण असून ते मधून निघतात.

स्वरभंग—मुखांतून अक्षरोच्चार स्पष्ट न होणे, त्यास 'स्वरभंग' या 'गद्गद' वा 'स्वरभेद' म्हणतात.

वैवर्ण्य—वरील कारणाने मुखांवर जी एक प्रकारे उदासीनता, पिवळेपणा वा फिकेपणा येतो, त्यास 'वैवर्ण्य' म्हणतात. त्याचे मूळ स्वरूप आकृतींत बदल होणे हे आहे.

पूलक—शरीर रोमांचित होते, त्यास 'पुलक' या 'रोमांच' म्हणतात.

प्रलय—जेथे शरीरास बरे-वाईटाचे भानच राहात नाही, त्यास 'प्रलय' म्हणतात. ह्याच सर्व कारणांनी भान राहात नाही. ह्या अवस्थेंत प्राय: मनुष्य जमीनीवर तोल सुटून पडतो.

हे सर्व उपर्युक्तभाव हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोक आदि सर्व कारणांनी उद्भवतात, परन्तु प्रेम-पक्षांतच ते प्रशंसनीय आहेत.

पूर्वी आम्ही पूर्वराग, भेट व वियोग वा विरह या तीन प्रेमाच्या सांगीतल्या आहेत. आता तत्संबंधाने कांही श्रवण करा--

पूर्वराग—प्याऱ्याचा वा प्याऱ्याशी साक्षात्कार झालेला नाही, परंतु चित्त मात्र त्याचेसाठी तळमळून राहिले आहे, ह्यासच संक्षेपाने पूर्वराग म्हटले जाते. रात्रंदिवस त्याचेच ध्यान, त्याचेच चिन्तन, त्याचेच संबंधाची जाणीव घोळत असणे व भेटीची उत्तरोत्तर इच्छा वाढतच जाते, ह्याचेच नाव पूर्वराग. ह्या अवस्थतेंत शरीर, घरदार तथा जीवनासंबंधानेहि वैराग्य उत्पन्न होते. उदाहरण म्हणून हाच श्लोक देतो—

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण नयनाभिराम
हा! हा! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥

ह्या श्लोकांत परम करुणापूर्ण संबोधनद्वारा मोठ्या मार्मिकतेने प्याऱ्याच्या दर्शनाची प्रार्थना केली आहे. खरोखर अनुराग ह्यासच म्हणतात. इतका दृढतर भाव असेल तेव्हाच तो निगोडा' (निर्दय, हट्टी, निर्लज्ज) इकडेस दृष्टिपात करतो. अति निर्दय आहे.

मिलन—हा विषय वर्णनातीत आहे. सम्मिलनांत काय सुख आहे, ही गोष्ट तर अनुभवगम्य आहे, हे तर प्रेमी व प्रेमपात्र यावाचून दुसरा कोणी जाणूच शकत नाही म्हणून कवींनी ह्याचे विशेष वर्णन केलेले नाही. संम्मिलन सुख तर दोघे एकत्र होऊनच अनुभवू शकतात. ते स्वता त्याचे वर्णन करण्यास समर्थ नसतात. तेव्हा ह्याचे वर्णन होणारच कसे? अनुभवानंतर वर्णन करण्याचे सामर्थ्य राहात नाही व अनुभवावाचूनचे वर्णन व्यर्थ आहे. श्रीमद्भागवतादिमध्ये वर्णन आहे. परन्तु ते पिठांत मिठासारखेच. सर्वांनी विरहाच्या वर्णनांतच आपले पाण्डित्याचा व्यय केला आहे. यदाकदाचित् वर्णन होऊ शकलेच तर ते यत्किंचित् विरहाचेच होणे शक्य आहे. त्याच वर्णनांत मजा आहे. सम्मिलन सुख तर दोघेच आस्वादितात. ह्याचे दूर उभे राहून केलेले वर्णन फारच अल्प आहे. परन्तु वर्णन करण्यांत अगदी कमाल केली आहे. एक सखी दुसरे सखीजवळ श्रीराधा व श्रीकृष्णाचे सम्मिलनाचे वर्णन करीत आहे. सखी सांगते—

ऐ री! आज काल्हि सब लोकलाज त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसायबो।
यह 'रसखान' दिन द्वैमें बात फैलि जैहैं,
कहाँ लौं सयानी! चंद हाथन छिपायबो॥

आज हौं निहार्‌यो बीर, निकट कालिंदी-तीर,
दोउनको दोउनसौं मुख मुसकायबो।
दोउ परैं पैयां दोउ लेत हैं बलैयां, उन्है,
भूल गई गैयां, इन्है गागर उठायबो॥

किती सजीव वर्णन आहे! तेही कालीन्दी-तटावर एकान्तांत झाले होते, म्हणून त्या सखीने लपून ऐकले होते.

'दोउ परैं पैयां दोउ लेत है बलैयां, उन्हैं,
भूल गई गैयां, इन्है गागर उठायबो॥'

हे म्हणून त्या सखीने अगदी कमाल केली आहे. धन्य आहे! विरह-ह्या तिहीमध्ये उत्तरोत्तर एक दुसरीहून श्रेष्ठ आहे. पूर्वानुरागापेक्षा मिलन श्रेष्ठ आहे व मिलनापेक्षा विरह श्रेष्ठ आहे. प्रेमरूपी दुधाचे विरह हेच लोणी आहे. कबीरदास म्हणतात—

बिरहा बिरह मत कहौ, बिरहा है सुलतान।
जेहि घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान॥

विरहाचे पण तीन भेद आहे. भविष्य विरह, वर्तमान विरह व भूत विरह. ह्यांतहि उत्तरोत्तर उत्कृष्टता आहे. भावी विरह फारच करुणोत्पादक आहे. त्याहीपेक्षा दुःखदायक वर्तमान विरह आणि भूत विरह तर दुःख-सुखाचे पराकाष्टेच्या पलीकडेस आहे.

प्रथम भावी विरह ऐका--'प्यारा आवडता उद्या निघून जाणार' ह्या भावनेचा उदय होताच जीव एक प्रकारे कासावीस होतो, अन्तःकरणांत त्याच प्रकारे कालवाकालव सुरू होते ह्यासच 'भावी विरह' हे

नाव आहे. एकटे नाईकेच्याच अन्तःकरणांत ह्याचा उदय होतो, असे नाही. आपले आवडत्याचे वियोगाने सर्वांच्याच अन्तःकरणांत विरह-वेदना उत्पन्न होतात.

ज्या कन्येस आज पंधरा-वीस वर्षांपासून पुत्राप्रमाणे लालनपालन करून वाढविले, ती कन्या आश्रम सोडून आपले पतीचे घरीं जाणार, ह्याच्या स्मरणानेच शकुन्तलेचे धर्मपिता कण्वऋषि ह्यांचे अन्तःकरण थरथरले. हाय! हाय! आता शकुंतला पुन्हा दृष्टीस पडणार नाही? ह्या विचाराने ते शोकाकुल होऊन बसले आहेत. कितीहि सहृदय ते असले तरी ज्ञानोपासक ते होतेच. त्या अन्तःकरणांतील स्वाभाविक प्रवृत्तिवर विचार करीत करीत ते म्हणाले–त्या ऋषिंच्या ह्या वाक्यांत किती करुणा, किती वेदना आहेत! पुत्री-विरहाचा हा संस्कृत-भाषेंत सर्वोत्कृष्ट श्लोक समजला जात आहे. ऋषि म्हणू लागले—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तंभितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैकृव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीऽयन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

'शकुन्तला आज पतिगृही जाणार' हा विचार येताच माझे हृदय कांपण्यास लागले आहे, मन उत्कण्ठित झाले आहे, गळा आपले आपुणच दाटून आला आहे, अश्रु आप-सुकच गळत आहेत, एक प्रकारे शरीरास जडत्व आले आहे, कोण जाणे मन कां घाबरते आहे. माझेसारखे वनवासी वितराग मुनींची अशी दशा झाली आहे, तेव्हा गृहस्थाश्रमाच्या मोहांत फसलेल्या गृहस्थाची पुत्रीवियोगाची कोण जाणे काय दशा होत असेल?'

ह्या वाक्यांत भगवान् कण्वाची छपून बसलेली वेदना भरलेली आहे. ते आपले मोठे ज्ञानाच्या योगाने ती छपवू पाहात होते.

जो हा वेळ आपले बरोबर होता, ज्याचे संगतींत राहून नानाप्रकारे सुखोपभोग भोगले, तोच आज एकदम जाण्यास तयार झाला आहे. त्यावेळीं अन्तःकरणांत जी एक प्रकारची धडकी भरते, हृदयाला कोणी शेकडो सुया बोचाव्या, अशी जी दशा होते, त्यास 'वर्तमान विरह' म्हणतात.

शकुन्तला आपले धर्मपिता कण्वाचे पाया पडून व प्रियंवदा आदि सख्यांना भेटून हळूहळू पर्णकुटींतून बाहेर निघाली. आदिवेदीचे ओट्याजवळ एका झाडास टेकून उभी राहिली. सर्व शिष्यवर्ग डोकी खाली घालून इकडेतिकडे उभा आहे, शकुन्तलेच्या सख्या हुंदके देत उभ्या आहेत, बरोबर जाणारे शिष्य बगलेंत गाठोडी मारून एका बाजूस उभे आहेत, भगवान् कण्वाचे हृदय कांपत आहे, जणु काय ते कोणी बाहेर खेचीत आहे. येवढे मोठे कुलपति आपल्या विरह-वेदना बाहेर कशा प्रस्फुटित करणार? जो ऐकेल तो हसेल, या भीतीने ते दुसरे कोणाशी न बोलतां वृक्षास म्हणू लागले—

**पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या**
**मादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।**
**आदौ वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः**
**सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥**

'वृक्ष हो! ही शकुंतला आपले पतिगृहीं चालली आहे, पाहा! तुमचे ठायीं हीचा अत्यन्त स्नेह होता, तुम्हास पाणी पाजीत नव्हती

तो पावेतो ती स्वता पाणी पीत नसे. तिला फुले घालण्याची पुष्कळ आवड होती तरी ती तुमचे स्नेहामुळे फुले वा पाने तोडीत नव्हती. वसन्तांत ती मोठा उत्सव करीत असे. हाय! हाय! तीच तुम्हा सर्वांची काळजी घेणारी शकुन्तला आज जात आहे, तुम्ही सर्व मिळून तिला जाण्याची आज्ञा द्या'.

महर्षिच्या एक एक शब्दांत करुणा अगदी ठासून भरलेली आहे. मूकवृक्षांना आपली हृदय-वेदना प्रकट करून ती अधीक हृदय-ग्राही केली आहे. परन्तु ह्यांत मनोगत-भाव लपविण्याचा प्रयत्न केलेला आहे, लोक-लज्जेची परवा बाळगलेली आहे. प्रेमांत नेम कसला. तेथे सर्व सोडले पाहिजे. ह्या प्रकारची गंभीरता प्रेमांत दूषणच समजली जाते, प्रेमाची न्यूनताच अशा ठिकाणीं मानली जाणार. ह्याच कारणाने कविनी नायिकांच्याच द्वारा हे भाव प्रकट करविले आहेत. सत्यतः हे भाव नारी हृदयांतूनच पूर्णरीतीने प्रकट होऊ शकतात. गोपीवाचून ह्या भावनांचा अधिकारी दुसरा कोण होणे शक्य आहे? रथावर बसून मथुरेस जात असलेल्या कृष्णाचे विरहाने वृजांगनांची काय दशा झाली, ते भगवान् व्यासांच्याच अमर वाणीने ऐका—

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
वृजस्त्रियः कृष्णविसक्तमानसाः।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

श्रीशुकदेव परीक्षितास सांगत आहेत—'राजन्! ज्यांचे चित्त श्रीकृष्णाचे ठायीं अत्यन्त आसक्त झालेले आहे, पुढे होणाऱ्या दुःखामुळे ज्या घाबरलेल्या आहेत, नानाप्रकारे आर्तवचनाने विलाप करीत व

लोकलज्जा आदि सर्वांचा त्याग करून त्या व्रज-स्त्रिया मोठमोठ्याने 'हे गोविन्द! हे माधव! हे दामोदर! म्हणून रुदन करू लागल्या'. हेच वर्तमान-विरहाचे उत्तम उदाहरण.

प्यारा-आवडता निघून गेला, आता पुन्हा कधी भेट होईल वा नाही, ह्याच द्विविधेचे नाव 'भूत-विरह'. ह्यांत आशा-निराशा अशा दोहीचे संमिश्रण आहे. पुन्हा भेट होण्याची अगदी आशाच नसल्यास मग ह्या जीवनाचे कामच काय? एका क्षणांत ते भस्म करून टाकावे. भेट होण्याची आशा आहे, परन्तु केव्हा होईल ते अनिश्चित. ही आशा पुरी होईल किंवा नाही, हे निश्चित नाही. एकच वेळ, लांबून कां होईना, दर्शन व्हावे, ह्याच एक लालसेने वियोगिनी स्वताचे शरीर धारण करून राहाते. त्यासमयीं तिची दशा विचित्र झालेली असते. ह्या विरहाच्या दहा दशा असतात––

**चिन्तात्र जागरोद्वेगो तानवं मलिनाङ्गता।**
**प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥**

चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृतशा, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह व मृत्यु ह्या विरहाच्या दहा दशा अथवा अवस्था आहेत. आता त्यांचे संक्षिप्त विवरण ऐका.

चिन्ता—आपले प्याऱ्याच्याच संबंधाने जागता-निजता, उठता-बसता, प्रत्येक समयीं विचार करीत राहाणे ह्याचेच नाव 'चिन्ता'. मनांत दुसरे विचारास स्थानहि राहिले न पाहिजे. 'सूर'ने ह्याचे किती सजीव वर्णन केलेले आहे—

**नाहिन रह्यो मनमे ठौर!**
**नंद-नंदन अछत कैसे आनिये उर और॥**

चलत चितवन दिवस जागत, सुपन सोवत रात ।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात ॥
स्याम गात सरोज आनन ललित-गति मृदु-हास ।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन-प्यास ॥

तान्हेल्यास निद्रा कशाची ? झोप नेत्रानाच येते व नेत्र तर रूपासाठी तान्हेले, अशा दशेंत झोप कोठे ? म्हणून विरहाची दुसरी दशा 'जागरण'.

जागरण—न निजणे, झोप न येणे ह्याचेच नाव 'जागरण'. विरहिणीस क्षणभर जरी निद्रा आली तर स्वप्नांत ती प्रियतमाच्या दर्शनाचा आनन्द अनुभवील. परन्तु तिला निद्रा कोठली ? राधिकाजी आपले प्रिय सखीस म्हणत आहे—

याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः ।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणि ॥

'प्रिय सखे ! ज्यांना प्रियतमाचे स्वप्नांत दर्शन होते त्या स्त्रिया खरोखर धन्य होत. मज दुःखिताचे भाग्यांत तेहि सुख नाही. माझी तर वैरिणी निद्राहि श्रीकृष्णाचे बरोबरच मथुरेस निघून गेली. ती मजजवळ येतच नाही'. धन्य आहे, निद्रा कशी येणार ? नेत्रांत तर प्रियतमाच्या रूपाने अड्डा दिलेला आहे. एका म्यानांत दोन तलवारी कशा समावणार ?

उद्वेग—अन्तःकरणांत एक प्रकारे होणारे व्याकुलतेस 'उद्वेग' म्हणतात. भारतेन्दु हरिचन्द्राने उद्वेगाचे किती सुन्दर वर्णन केले आहे—

व्याकुल ही तडपौं बिनु प्रीतम,
कोऊ तौ नेकु दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तनु रूप-सुधा बिनु,
पानिय पीको पपीहै पिआओ॥
जीवमें हौस कहूं रहि जाय न,
हा! 'हरिचंद' कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पियारो अरे!
कोउ हाल तौ जाइकै मेरो सुनाओ॥

वेडेपणाची हद्द झाली! आता चौथी दशा ऐका.

कृशता—प्याऱ्याचेच स्मरणांत खाण्या-पिण्यावाचून रात्रं-दिवस चिन्तेंत असणे व त्या योगे शरीर दुबळे होते, यास 'कृशता' म्हणतात. त्याचे उदाहरण घ्या. गोपींची दशा पाहून उद्धव मथुरेस परत आले, ते अत्यन्त करूण-स्वरांत राधिकेच्या अवस्थेचे वर्णन करतात—

चित दै सुनौ स्याम प्रबीन।
हरि! तुम्हारे बिरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाढ भुज गहि लीन॥
जब संदेसो कहन सुंदरि, गमन मोतन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी, गिरिधरनि बलहीन॥
कंठ वचन न बोल आवै, हृदय आंसुनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि संभारि भट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहि आसा लीन॥

'कृशता' हेच एक पद विरहाच्या सर्व अवस्थांसाठी उद्धृत केले तर संपूर्ण विरह-वेदनाचे चित्र पुरे होण्यास पुरेसे आहे. विरहिणी राधिकेची 'कृशता', 'मलिनता', 'चिन्ता', 'उद्वेग', 'व्याधि', 'मोह' व मृत्यु पर्यन्तच्या दाहहि दशांचे वर्णन ह्याच एका पदामध्ये केले गेले आहे. मृत्युस शास्त्रकारांनी साक्षात् मृत्यु न म्हणता 'मृत्यु-तुल्य अवस्था'च म्हटलेली आहे. राधिकेची ह्यापेक्षा विशेष मृत्युतुल्य अवस्था ती काय असू शकणार?

मलिनाङ्गता—शरीराचे भान नसल्याने शरीरावर मळ बसतो, केश चिकटून जातात, वस्त्रांना घाण येते, यासच 'मलिनता' वा 'मलिनाङ्गता' म्हणतात. वरील पदांत आलेच आहे कीं—

**तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।**

प्रलाप—शोकाचे आवेशांत जो आप-पर विसरून वेड्याप्रमाणे वाटेल ते बरळतो, ह्यास 'प्रलाप' म्हणतात. सीतेच्या शोधांत लक्ष्मणासह श्रीराम वनांत भटकत आहेत, विरहाने अन्तःकरण व्याकुल झालेले आहे, आप-परतेचे ज्ञान नाही, शरीराची शुद्ध नाही, ते एकदम चकीतसे उभे होतात व प्रलाप करू लागतात—

**कोऽहं ब्रूहि सखे स्वयं स भगवानार्यः स को राघवः**
**के यूयं बत नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।**
**कान्तारे किमिहास्महे बत सखे देव्या गतिर्मृग्यते**
**का देवी जनकाधिराजतनया हा जानकि क्वासि हा॥**

भगवान् लक्ष्मणास चकीत होऊन विचारतात–'लक्ष्मणा! मी कोण आहे, हे तर मला सांग?'

लक्ष्मण म्हणतात-'प्रभो ! आपण साक्षात् भगवान् आहात'.

पुन्हा विचारतात-'कोण भगवान् ?'

लक्ष्मण सांगतात-'रघुमहाराजांच्या वंशांत उत्पन्न होणारे श्रीराम'.

पुन्हा चहुकडे दृष्टिपात करीत विचारतात-'बरे, तुम्ही कोण ?'

हे ऐकताच फारच अधीरतेने लक्ष्मण म्हणतात-'हे स्वामिन्! हे दयालो! हे आपण काय बोलत आहा, मी आपले चरणाचा सेवक लक्ष्मण'.

भगवान् पुन्हा तशाच रीतीने विचारतात-'तेव्हा, आम्ही येथे वनांत कां भटकत आहोत ?'

लक्ष्मण शान्तपणे म्हणतात-'आम्ही देवीचे शोधासाठी फिरत आहोत'.

पुन्हा भगवान् चकीत होऊन विचारतात-'कोण देवी ?'

लक्ष्मण उत्तर देतात-'जगत्वन्दिनी, जनकनन्दिनी, श्रीसीतादेवी'.

झाले, सीतेचे नाव ऐकताच 'हा सीते! हा जानकी ! तूं कोठे गेलीस' म्हणता म्हणता भगवान् मूर्छित होतात, ह्याच आदि-अन्ता-वाचूनच्या गोष्टीसच 'प्रलाप' म्हणतात.

व्याधि—शरीरांत कोणत्याहि कारणाने ज्या वेदना होतात त्यास 'व्याधि' म्हणतात व मनाचे वेदनास 'आधि' म्हणतात, विरह-व्याधिहि एक दशाच आहे. उदाहरण घ्या. श्रीराधिका आपले प्रिय सखी ललीतेस सांगते आहे—

**उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो**
**दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि ।**

तीव्र प्रौढविसूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः ॥

'हे सखी! गोकुलपति त्या गोपालाचा विच्छेदज्वर मला फार पीडा देत आहे. एकादे पात्रांत तापवून ठेविलेल्या सुवर्णापेक्षाहि अधिक तापदायी आहे. पृथ्वीवरील सर्व विषांपेक्षाहि अधिक क्षोभकारक आहे, वज्राहूनहि दुःसह, हृदयांतील शल्यापेक्षाहि अधिक कष्टदायी व तीव्र विसूचिकादि रोगापेक्षाहि विशेष तापदायी आहे. प्यारे सखी! हा ज्वर माझे मर्मस्थान भेद करीत आहे', ह्याचे नाव 'विरहव्याधि'.

उन्माद—स्वाभाविक व्यवहारांच्या ऐवजी विरहिणी जेव्हा वाटेल ते करू लागते, तेव्हा त्यास 'उन्माद' म्हणतात. उदाहरण म्हणून—उद्धवजी मथुरेस पोचल्यावर राधिकेच्या स्थितीचे वर्णन करीत आहेत—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ति
प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु ।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
विषमविषयखेदोद्गारिविभ्रान्तचित्ता ॥

'हे कृष्णजी! राधिकेची दशा काय म्हणून विचारावी, त्यांची तर दशाच विचित्र आहे. घरांत वेड्यासारखी फिरत असते, कारणावाचून खदखदा हसते, शुद्धीत असो वा गैरसावध असो तुमच्याच गोष्टी बोलते, कधी धुळीतच लेटते, केव्हा थरथर कापू लागते, हे मुरारे! मी काय सांगू, ती चन्द्रवदना राधा तुमचे विरह खेदाने भ्रमिष्ठ होऊन विचित्र वर्तन करीत आहे'.

मोह—वियोगावस्थेत अंग शिथिल होऊन जी एक प्रकारे मूर्छासी

येते त्यास 'मोह' म्हणतात, ही मृत्युचे जवळची दशा आहे. ह्याचे चित्र आमचे रसिक हरिचन्दच उत्तम प्रकारे रेखाटतात. घ्या, मोहांत मग्न असलेल्या एका विरहिणीचे साक्षात् दर्शन करा—

थाकी गति अंगनकी, मति पीरे गई मंद,
सूख झांझरी-सी व्है कैं देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई, हंसी काहू छीन लई,
सुखके समाज, जित तित लागे दूर जान॥
'हरिचन्द' रावरे विरह जग दुखमयो,
भयो कुछ और होनहार लागो दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहू अथान लागे,
आयो प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

खरोखर जर प्राणनाथांच्या परत येण्याची अशा नसती, तर हे कोमेजलेले नेत्र व थकलेले हृदय केव्हाच पाषाणवत् होऊन गेले असते. अगदी कण्ठगत प्राण प्राणनाथांचे आशेनेच अटकून राहिलेले आहेत. मोहाच्या दशेचे आणखी उत्तम उदाहरण कोठे मिळणार?

मृत्यु—मृत्युची आता आम्ही व्याख्याच काय करणार! मृत्यु झाला, झगडा मिटला, रात्रंदिवसांच्या दुःखांतून सुटका झाली. परन्तु हे मधुररसाचे उपासक रागानुयायी भक्त कवि इतक्यानेच विरहिणीचा पिण्ड सोडीत नाही. मृत्युचा ते अर्थ करतात 'मृत्युचे समान अवस्था होणे' ह्याचा दृष्टान्त ऐका. बंगाली प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददास म्हणतात—

माधव! तुहु यब निरदय भेल।
मिछई अवधि दिन, गणि कत राखब व्रजबधू-जीवन-शेल॥ १॥

कोइ धरानितल, कोइ यमुनाजल, कोइ कोइ लुठइ निकुंज ॥ २ ॥
एतदिन विरहे, मरणपथ पेखलु तोहे तिरिबध पुनपुंज ॥ ३ ॥
तपत सरोवर, थोरि सलिल जनु आकुल सफरी परान ॥ ४ ॥
जीवन मरन, मरण वर जीवन 'गोविन्ददास' दुख जान ॥ ५ ॥

दूती सांगते आहे–'प्यारे माधव ! हे तुम्ही इतके निर्दय व्हावे, हे बरे, नीट म्हणता येईल कां ! दुनियाभरचा खोटा, उद्याचे सांगून आलास, आज ह्यास किती दिवस होऊन गेले. आता अशा रीतीने खोट्या खोट्या थापा देऊन त्या सर्वांना किती दिवस झुलवीत ठेवणार ! तुम्हास व्रजाची दयाजनक दशा काय सांगू ! तेथील दृश्य फार करुणोत्पादक आहे. कोणी गोपी तर पृथ्वीवर लोळण घेत आहेत, कोणी यमुनेंत पडल्या, कोणी एकान्त उद्यानांत लांब लांब उसासे टाकीत बसल्या आहेत. ह्याप्रमाणे फार कष्टांत त्या रात्रंदिन व्यतीत करीत आहेत. तुझे विरहाने त्या आता मृत्युचे समीपच पोचल्या आहेत. त्या जर सर्व मेल्या तर शेकडो स्त्री-वधाची हत्या तुमचे शिरावर बसणार आहे. थोडे जल असलेल्या खाड्यांत पडलेल्या माशासारखी त्यांची स्थिती झालेली आहे. खाड्यांत थोडे असलेले जल सूर्याच्या तापाने शोसले जावे व तो मासा त्या सूर्य-किरणाने तापलेल्या चिखलांत तडफडत असावा, त्याप्रमाणे त्या तुझे विरहाने तडफडत आहेत. हे जीवंत असतांना मरणच आहे, इतकेच नाही, यापेक्षा मरण लाखपटीने चांगले. गोविन्द म्हणतो–'त्यांचे दुःख असेच समजा'.

नियमानुसार तर येथे विरहाचा अन्त व्हावयास पाहिजे. परन्तु वैष्णव कवि मृत्युचे नंतरहि त्यास सचेतन करून मृत्युचे पुढे जातात. रागमार्गीय ग्रन्थांत ह्याच्या पुढील भावाचे वर्णन आहे.

अनुरागास शुक्लपक्षाचे चन्द्राप्रमाणे (प्रतिक्षणवर्द्धमान) प्रवर्द्धनशील म्हणण्यांत येते. अनुराग हृदयांत वाढता-वाढता जेव्हा सीमेच्या अगदी समीप पोचतो, तेव्हाच त्यास 'भाव' म्हणतात. वैष्णवगण ह्याच अवस्थेस प्रेमाचा 'श्रीगणेश' म्हणतात. जेव्हा भाव परम सीमेप्रत पोचतो, तेव्हा त्यास 'महाभाव' म्हणतात. महाभावाचेहि 'रूढ महाभाव' व 'अधिरूढ महाभाव' असे दोन भेद आहेत. अधिरूढ महाभावाचेहि 'मोदन' व 'मादन' अशी दोन रूपे आहेत. 'मादन'च 'मोहन'च्या भावांत परिणत होतो. तेव्हा पुन्हा 'दिव्योन्माद' होतो. 'दिव्योन्माद' च 'प्रेम' या रतिची पराकाष्ठा वा सर्वाहून अन्तिम स्थिती आहे. त्यांचे पुन्हा उद्घूर्णा, चित्रजल्पादि पुष्कळसे भेद आहेत. हा दिव्योन्माद श्रीराधिकेच्या शरीरांत प्रकट झाला होता. दिव्योन्मादावस्थेंत कशी दशा होते, त्याचे अनुमान श्रीमन्भागवतांतील उक्त श्लोकाने कांहीसे करता येते—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय–
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

ह्यांत उन्मादावस्थेचे वर्णन नाही. हे झाले 'उन्मादकासारख्याच्या अवस्थे'चे वर्णन. उन्मादावस्था तर ह्याहीपेक्षा विचित्र असली पाहिजे. ही झाली सांसारिक उन्मादाची गोष्ट. तेव्हा दिव्योन्माद तर ह्याहीपेक्षा विशेष असणार. हा अनुभवगम्य विषय आहे. राधिकेवाचून दुसरे कोणाचेहि शरीरांत हा प्रकटरूपाने पाहण्यांत वा ऐकण्यांत नाही.

भावाच्या चार दशा सांगीतल्या आहेत–भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य व भावशान्ति.

कांही कारण विशेषाने जो अन्तःकरणांत भाव उत्पन्न होतो, त्यास 'भावोदय' म्हणतात, जसे सायंकाल होताच श्रीकृष्ण येण्याचा भाव उदेत झाला. हृदयांत दोन भाव जेव्हा येऊन मिळतात, तेव्हा त्या अवस्थेचे नांव 'भावसन्धि'. जसे–मांदे होऊन पति घरीं येतात, ह्या वार्तेने पत्निचे अन्तःकरणांत हर्ष व विषाद ह्या दोन्ही भावांचा सन्धि होतो. पुष्कळसे भाव एकदमच उत्पन्न होतात, त्यास भावशाबल्य म्हणतात. जसे–पुत्रोत्पत्तिचे समाचाराबरोबरच पत्निच्या भयंकर दशेचे वा पुत्रास प्राप्त होणारे त्याचे निपुत्रिक मातामहाची संपत्ति व त्याची व्यवस्था करणे आदि भाव एकदमच उत्पन्न होणे. त्याचप्रमाणे इष्ट वस्तुचे प्राप्ति नंतर जी एक प्रकारे संतुष्टता उत्पन्न होते त्यास 'भावशान्ति' म्हणतात. जसे रासलीलेंतून अन्तर्धान पावलेले श्रीकृष्ण सख्यांना एकाएकी भेटले, तेव्हा त्यांचे अदर्शनरूप जो विरहभाव होता तो शान्त झाला.

ह्याप्रमाणे निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, तम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, क्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औसुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा व बोध ह्या सर्वांना व्यभिचारीभाव म्हणतात. वैष्णवशास्त्रांत ह्याचे विशदरूपाने वर्णन केलेले आहे.

ह्या सर्व गोष्टीचे खरे तात्पर्य हेच आहे कीं, हृदयांत त्याविषयी अतुरता लागलेली आहे. अन्तःकरणांत तोच शिरला आहे, त्याचीच रूपमाधुरी नेत्रांत समाविष्ट झालेली आहे, त्याचेचसाठी उत्कठ अनुराग उद्भवला आहे, अशी अवस्था झाली म्हणजे सर्व साध्य झाले असेच समजावे. एकदा त्या लाडक्याचे ठायीं आतुरता लागली कीं, मग भाव, महाभाव, अधिरूढभाव तथा सात्विक विकार व विरहाची दशा तर आपले-

आपुणच उदित होईल. पाण्याची इच्छा झाली पाहिजे. पाण्यावाचून जोजो गळा सुकु लागेल तोतो तडफड आपले-आपुणच वाढत जाईल. ती वाढण्यासाठी प्रयत्नाचे कांहीच प्रयोजन नाही. परन्तु हृदय कोणास स्थान देईल तेव्हा ना ? त्याने तर काम-क्रोधादि चोरांना स्थान देऊन ठेविलेले आहे. तेथे मग महाराज प्रेमदेव कसे येणार. खरे पाहिले तर आमचे हृदय वज्राचे आहे. स्तम्भ, रोमांच, अश्रु आदि आठ विकारांतून एकहि आमचे शरीरांत स्वेछेने उदित होत नाही. भगवान् वेदव्यास म्हणतात—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥

अर्थात् 'त्या पुरुषाचे हृदय वज्रासमान-पोलादासारखे म्हटले पाहिजे कीं, ज्याचे नेत्रांतून हरिनाम स्मरण मात्रे करून जल भरून येत नाही, शरीर रोमांचित होत नाही व हृदयांत कोणत्याहि प्रकारचा विकार उत्पन्न होत नाही'. खरोखर आमचे तर हृदय असेच आहे. काय करावे, काय करण्याने नेत्रांतून जल व हृदयांत प्रेम विकृति उत्पन्न होईल ! महाप्रभु चैतन्यदेवहि सद्गदित होऊन म्हणतात—

नयनं गलदश्रुधारया
वदनं गद्गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा
तव नामग्रहणं भविष्यति ॥

अर्थात् 'हे नाथ ! तुमचे नाव घेताच केव्हा आमचे उभय नेत्रांतून जलधारा वाहू लागतील, केव्हा आम्ही गद्गद कण्ठाने 'कृष्ण-कृष्ण'

म्हणता म्हणता रोमांचित होऊ !' ते महाभाग तर आपले साध्य साधून गेले. आठरा वर्षे नेत्रांतून इतकी जलधारा वहात राहिली कीं, कोणीहि मनुष्य इतके रक्ताचे जल केव्हाहि करूच शकला नसता. गौरभक्तांचे म्हणणे आहे कीं, महाप्रभु गरुडस्थंभाचे समीप जगमोहन सभा मंडपाचे अलिकडे जेथे उभे राहून दर्शन करीत असत, तेथे एक खाली लहानसे कुण्ड होते. महाप्रभु दर्शन करताना इतका अश्रुपात करीत कीं, ते कुण्ड अश्रुजलाने भरून जाई. एक दोन दिवस नाही, वर्ष-दोन वर्षे नाही, पुरी आठरा वर्षे ह्याप्रमाणे त्यांही अश्रुप्रवाह केला. उन्मादावस्थेतहि त्यांचे श्रीजगन्नाथाचे दर्शनास जाणे बन्द पडले नव्हते. हे काम त्यांचे अन्तापर्यन्त अक्षुण्णभावाने चालूच होते. वैष्णव भक्तांचे कथन आहे कीं, महाप्रभुंच्या शरीरांत हे प्रेमाचे सर्व भाव प्रकट झाले. कां होणार नाही, ते तर चैतन्यस्वरूपच होते. महाप्रभुंचा तो दिव्योन्माद पाठकांना पुढील अध्यायांत वाचण्यास मिळेल. अन्ती श्रीललित किशोरीजींचे अभिलाषेत आमची अभिलाषा मिळवून आम्ही हे वक्तव्य समाप्त करतो—

जमुना पुलिन कुंज गव्हरकी
कोकिल व्है द्रुम कूक मचाऊं।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप है
मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊं॥
कूकर व्है बन बीथिन डोलौं
बचे सीथ रसिकनके खाऊं।
'ललितकिसोरी' आस यहि मम
ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊं॥

# महाप्रभुंचा दिव्योन्माद

सिंचन् सिंचन् नयनपयसा पान्डुगण्डस्थलान्तं
मुंचन् मुंचन् प्रतिमुहुरहो दीर्घनिःश्वास जातम् ।
उच्चैः क्रन्दन् करुणकरुणोद्गीर्णहाहेति रावो
गौरः कोऽपि व्रजविहरिणीभावमग्नश्चकास्ति ॥

पाठकांना सम्भवतया स्मरण असेलच, आम्ही प्रथमच सांगीतले आहे कीं, श्रीचैतन्यदेवाच्या शरीरांत प्रेमाचे सर्व भाव क्रमशः हळूहळू प्रस्फुटित झाले. जर खरोखर हे प्रेमाचे उच्च भाव एकदमच एकाचवेळीं त्यांचें शरीरांत उदित झाले असते तर त्यांचे अन्तःकरण फाटून गेले असते. त्यांचेच काय, कोणाहि प्राण्याचे शरीर एकाचवेळीं ह्या भावांचा वेग सहन करू शकले नसते. गयेंत ह्यांना छोटेसे मुरली वाजवित असलेले श्याम दिसले, त्यांचे दर्शन पुन्हा व्हावे म्हणून हे रुदन करू लागले. तेव्हापासून ह्यांचे भावांमध्ये वृद्धि होऊ लागली. शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य व मधुर ह्या भावांमध्ये मधुरभावच सर्व श्रेष्ठ म्हटला जात आहे. पुरीमध्ये प्रभु ह्याच भावांत गुंग असत. मधुरभावांमध्ये राधाभाव सर्वोत्तम आहे. सम्पूर्ण रस, सम्पूर्ण भाव व अनुभाव राधाभावांतच जाऊन परिसमाप्त होतात. ह्या कारणाने शेवटची बारा वर्षे प्रभु स्वतास राधा समजूनच श्रीकृष्ण विरहांत तळमळत असत. कविराज गोस्वामी म्हणतात—

राधिकार भावे प्रभुर सदा अभिमान ।
सेई भावे आपनाके हुय 'राधा' ज्ञान ॥

दिव्योन्माद ऐछे हुय, कि इहा विस्मय ?।
अधिरूढ भावे दिव्योन्माद-प्रलाप हय ॥

अर्थात् 'महाप्रभु राधाभावांत भावान्वित होऊन त्या भावानेच सदा स्वतास 'राधाच' समजत असत. तेव्हा त्यांचे शरीरांत 'दिव्योन्माद' प्रकट होत असल्यास त्यांत विस्मय करण्यासारखे काय आहे ? अधिरूढ भावांत दिव्योन्माद प्रलाप होतच असतो'. ह्यास्तव ह्यांच्या सर्व क्रिया त्याच विरहिणीप्रमाणे होत असत.

एके दिवशीं स्वप्नामध्ये हे रासलीला पाहू लागले. प्याऱ्यास आज पुष्कळ दिवसांचे पाश्चात् वृन्दावनांत पाहिले आहे. तीच सुन्दर अलकावलि, तेच मधुर मंदहास्य, तेच हाव-भाव, कटाक्ष, त्याचप्रमाणे रासक्रीडेमध्ये थै थै नाचणे, सख्यांचे गळ्यांत हात घालणे, कसे सुख हे! किती आनन्द!! सख्यांच्यामध्ये थै थै श्याम नाचतात आहेत, व मुरली वाजवीत आहेत. महाप्रभु विसरले कीं, हे स्वप्न आहे या जागृति! ते तर ह्या रसांत अगदी मग्न झाले होते. गोविन्दास आश्चर्य वाटले कीं, प्रभु आज इतका वेळ कां निजून राहिले आहेत. रोज तर अरुणोदयींच उठतात, आजतर बराच दिवस वर आला आहे. म्हणून तो हळूहळू प्रभुचे पाय दाबू लागला. प्रभु एकदम उठले–'कृष्ण कोठे गेले', हे म्हणत जोराने रुदन करू लागले. गोविन्द म्हणाला–'प्रभो! दर्शनाची वेळ होऊन गेली आहे. नित्यकर्म आटोपून दर्शनास चलावे'. इतके ऐकताच तशाच स्थितींत यन्त्राप्रमाणे शरीराचे स्वभावानुसार नित्यकर्मांतून निवृत्त होऊन प्रभु श्रीजगन्नाथाचे दर्शनास गेले.

महाप्रभु गरुडस्तंभाच्या आधाराने तासन्-तास दर्शन करीत उभे राहात असत. दर्शन करीत उभे असत तो पावेतों त्यांचे नेत्रांतून

अश्रुंच्या दोन धारा सारख्या वाहात असत. आज प्रभुंनी जगन्नाथांचे सिंहासनावर त्याच मुरली मनोहराचे दर्शन केले. ते त्याच प्रकारे मुरली वाजवून-वाजवून प्रभुंच्याकडे मन्द हास्य करीत पाहात होते. प्रभु अनिमेष-भावाने त्या रूपमाधुरीचे पान करीत होते. इतक्यांतच एक उडीसा प्रांतांतील वृद्धा श्रीजगन्नाथाचे दर्शन न झाल्याने गरुडस्थंभावर चढली व प्रभुंच्या खांद्यावर पाय ठेवून दर्शन करू लागली. मागेच उभे असलेल्या गोविन्दाने तिचा निषेध केला. त्यावर प्रभु म्हणाले– 'ही आदिशक्ति महामाया आहे. तिचे दर्शन सुखांत विघ्न करू नको, तिला यथेष्ठ दर्शन करू दे'.

गोविन्दाने म्हटल्यावर ती वृद्धा लवकर-लवकर खाली उतरली व प्रभुंचे पाय धरून पुनः पुनः प्रणाम करीत आपले अपराधाची क्षमा मागू लागली. प्रभुंनी गद्‌गद कण्ठाने म्हटले–'मातेश्वरी! जगन्नाथजींच्या दर्शनासाठी तुम्हास जशी तळमळ लागली आहे, तशी विकलता जगन्नाथांनी मला दिली नाही! अरेरे! माझे जीवनास धिक्कार असो! जननी! तुमचे असे एकाग्रतेस अनन्त धन्यवाद आहेत! तुम्ही माझे खांद्यावर पाय ठेविला व तुम्हास त्याचा मागमुसहि नाही?' इतके म्हणता म्हणता पुन्हा प्रभुंचा कण्ठ दाटून आला. 'भावसन्धि' झाल्याने स्वप्नांतील भाव निघून गेला व आता त्यांना जगन्नाथाचे सिंहासनावर सुभद्रा, बलरामसहीत जगन्नाथाचे दर्शन होऊ लागले. या योगे कुरुक्षेत्रांतील भाव प्रभुंचे ठायीं उदित झाला कीं, जेव्हा ग्रहणयात्रेचे समयीं श्रीकृष्ण आपले परिवारासहीत गोपीकांना भेटले होते. या योगे खिन्न होऊन प्रभु आपले निवासस्थानीं परत आले. ह्यावेळीं ह्याची दशा एकादे विरहिणीसारखी झाली होती. ते सारखा प्रलाप करीत होते. राय रामानन्दांनी अर्धी रात्र झाल्यावर गंभीरा मन्दीरांत

प्रभुंना निजवून ते निघून गेले. स्वरूप गोस्वामी तेथेच गोविन्दाच्या समीप पडून राहिले. महाप्रभु जोराने भगवन्ताच्या ह्या नामाचे उच्चारण करीत होते—

**श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे ! हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !**

ह्या नावाचा मधुर ध्वनी गोविन्द व स्वरूप गोस्वामीचे कानांत सारखा भरून गेला व त्यांतच त्यांना झोप लागली. परन्तु प्रभुंना झोप कोठली ! त्यांची सर्व रात्र प्रायः 'हा नाथ! हा प्यारे !' असे करीतच उलटत असे. थोडे वेळाने स्वरूपदामोदरांचा डोळा उघडला, तेव्हा त्यांना प्रभुंचा शब्द ऐकू आला नाही. शंका आल्याने हे उठले व गंभीरामध्ये जाऊन पाहिले तो प्रभु नाहीत. ते फारच घाबरले व कसा तरी दिवा लावला. गोविन्दास जागे केले. दोघांनीहि त्या विशाल भवनाचे कोने-कोपरे शोधून पाहिले, परन्तु प्रभुंचा कोठेहि ठिकाणा लागला नाही. सर्व घाबरून इकडे तिकडे दवडू लागले. गोविन्दाचे बरोबर ते सरल मन्दीराकडे गेले. तेथे गेल्यावर पाहतात तो, सिंहद्वाराचे समोर एका गलिच्छ जागेंत प्रभु पडलेले आहेत. त्यांची आकृति विचित्र झालेली होती, त्यांचे शरीर बरेच लांब दिसत होते. हात-पायांचे सांधे अगदी सुटे झालेले होते. जणु काय तुटलेली हडके चामड्याचे पिशवींत भरलेली आहेत. शरीर अस्ताव्यस्त पडलेले होते. श्वास-प्रश्वास अगदी बन्द पडलेले होते. कविराज गोस्वामी वर्णन करतात—

**प्रभु पडि आछेन दीर्घ हात पाच छय ।**
**अचेतन देह नाशाय श्वास नाहि बय ॥**

**एक एक हस्त-पाद-दीर्घ तीन हात ।**
**अस्थि ग्रंथिभिन्न, चर्मे आछे मात्र तात ॥**

हस्त, पाद, ग्रीवा, कटि, अस्थि-संधि यत।
एक एक वितस्ति भिन्न हय्या छे तत॥
चर्ममात्र उपरे, संधि आछे दीर्घ हय्या।
दुःखित हेला सवे प्रभुरे देखिया॥
मुखे लाल-फेन प्रभुर उत्तान-नयन।
देखिया सकल भक्तरे देह छाडे प्रान॥

अर्थ स्पष्ट आहे. भक्तांना वाटले प्रभुंचे प्राण शरीर सोडून निघून गेले. तेव्हा स्वरूप गोस्वामीनी प्रभुंचे कानांत जोराने श्रीकृष्ण नामाचा ध्वनि उच्चारला. तो सुमधुर व कर्णप्रिय ध्वनि ऐकून प्रभुंना कांहीसे बाह्य-ज्ञान होऊ लागले व लागलीच ते चकीतसे 'हरिबोल', 'हरिबोल', म्हणत म्हणत उठून बसले. प्रभु उठून बसल्यावर अस्थिच्या सन्धि आपले-आपुणच जुळून गेल्या.

# गोवर्धनच्या भ्रमाने चटकगिरीकडेस गमन

समीपे नीलाद्रेश्चटकगिरिराजस्य कलना-
दये गोष्ठे गोवर्धनगिरिपतिं लोकितुमितः ।
व्रजन्नस्मीत्युक्त्वा प्रमद इव धावन्नवधृते
गणैः स्वैर्गौराङ्गे हृदय उदयन्मां मदयति ॥

प्रायः आता महाप्रभुंच्या तीन दशा पाहण्यांत येत असत–'अन्तर्दशा', अर्धबाह्यदशा व बाह्यदशा. अन्तर्दशेंत ते गोपीभावाने वा राधाभावाने श्रीकृष्ण विरहांत नानाप्रकारे विलाप करीत होते. अर्धबाह्य दशेंत आपणास कांही तरी समजून कांही पाहिले असेल, ते आपले अन्तरंग भक्तांना ऐकवीत असत, व तो भाव बदलला म्हणजे पश्चाताप करून रुदन करू लागत. बाह्यदशेंत उत्तम प्रकारे सर्वांशीं बोलत असत व सर्व भक्तांचा यथायोग्य सत्कार करीत, मोठ्यांना प्रणाम व लहानास कुशल प्रश्न विचारीत. ह्याप्रमाणे ह्यांच्या तीन प्रकारच्या दशा वा अवस्था भक्तांच्या पाहण्यांत येत होत्या. तिसरे दशेंत ते फारच कमी पाहण्यांत येत. नाही तर ते सदोदित अन्तर्दशा वा अर्धबाह्यदशेंतच मग्न राहात असत. स्नान, भोजन, शयन, दर्शन हे तर शरीरस्वभावानुसार होतच असत. अर्धबाह्य दशेंतहि ह्या कामासकांही व्यत्यय येत नसे. ह्यांचा अधिकांश अन्तर्दशेंतच व्यतीत होत असल्याने प्रलाप व अश्रुधारा सारख्या सुरू असत व त्या कारणाने ह्यांचे नेत्र वर चढलेले व वक्षस्थळ सदैव ओलेच असे. विरह-वेदनाच्या वेळीं हे राय रामानन्द व स्वरूप गोस्वामी ह्यांना ललिता व विशाखा सख्या समजत. स्वरूप

गोस्वामी आपले कोकिल-कूजित कण्ठाने ह्यांना कविता श्रवण करून ह्यांचे चित्त शान्त करीत.

एके दिवशीं प्रभु समुद्राकडेस जात होते, दुरूनच ह्यांना वाळुंचा चटक नावाचा पाहाड दिसला. झाले ! त्यासच गोवर्धन समजून जोराने ह्यांनी त्याकडेस धुम ठोकली. हे पाहून भक्तहि होते त्याच स्थितींत ह्यांचे मागे धावले. हे थोडेच कोणाचे हाती सापडणारे होते. आवेशांत वायुवेगाने उडत चालले होते. त्यावेळीं त्यांचे शरीरांत सर्व सात्विकभाव उत्पन्न झालेले होते. फारच विचित्र व अद्भुत दशा दिसत होती. कविराज गोस्वामी आपले ओजस्विनी भाषेंत म्हणतात—

प्रति रोमकूपे मांस व्रणेर आकार !
तार उपरे रोमोद्गम कदंब प्रकार ॥
प्रतिरोमे प्रस्वेद पडे रुधिरेर धार ।
कंठ घर्घर, नाहि वर्णेर उच्चार ॥
दुई नेत्रे भरि, अश्रु बहये अपार ।
समुद्रे मिलिला येन गंगा-यमुना धार ॥
वैवर्ण शंख प्राय, स्वेद हेल अंग ।
तवे कंप उठे येन समुद्रे तरंग ॥

अर्थात्–' प्रत्येक रोमकूप मांसाचे फोडच उठलेले असून त्यावरील रोम कदंबाच्या कळ्यासारखे दिसत होते. प्रत्येक रोमकूपांतून रक्तश्रावाप्रमाणे घाम वाहात होता. कण्ठ घर्घर शब्द करीत होता, एकहि वर्ण

स्पष्ट ऐकू येत नव्हता. दोन्हीहि नेत्रांतून अपार अश्रु-धारा सुरु होत्या, जणु काय, गंगा-यमुना समुद्रास भेटण्यास धावत आहेत. वैवर्णामुळे मुख शंखासारखे पांढरे पडले होते. सर्व शरीर घामाने अगदी ओले चिंब झाले होते. शरीरावर वारंवार अशा रीतीने कंप उठत आहे कीं, जणु समुद्रावर लाटा उठत आहेत'.

अशी दशा झाल्यावर प्रभु आणखी पुढे जाऊ शकले नाहीत. ते थरथर कांपत एकदम जमीनीवर पडले. गोविन्द मागे दौडत येतच होता. त्याने प्रभुंची अशी दशा पाहून त्यांचे मुखांत पाणी घातले व तो आपले वस्त्राने त्यांना वारा घालू लागला. इतक्यांतच जगदानन्द पंडित, गदाधर, गोस्वामी, रमाई व स्वरूपदामोदर आदि भक्तहि येऊन पोचले. प्रभुंची ही दशा पाहून सर्व विस्मित झाले. सर्व प्रभुंना घेरून बसले व सर्वांनी संकीर्तनास सुरूवात केली. प्रभु आता थोडे थोडे हुशार होऊ लागले व थोडे वेळाने उठून बसले आणि चकीत झाल्यासारखे आपले चहुबाजूस पाहू लागले. नंतर अश्रुपात करीत हे स्वरूपदामोदराना म्हणाले–'अहो! येथे आम्हास कोणी आणीले? गोवर्धनावरून येथे मला कोणी उचलून आणीले? अहाहा! तेथील काय वर्णन करावे? तेथे त्या नीरव निकुंजनांत नन्दलालानी आपली तीच वंशाची बांसरी वाजविली! राधाराणीहि आपले सख्यांसह तेथे आल्या. त्या सांवळ्याने किती सुन्दर मन्द हास्य केले! त्याचे हंसण्यांत जादू होती. तो सांवळा आपले राधाराणीस घेऊन एकदम कोठे गडप झाला! मला येथे कोणी आणीले?' इतके म्हणून प्रभु जोराने 'हा कृष्ण! हा प्राणवल्लभ! हा हृदयरमण!' असे म्हणून जोराने रडू लागले.

प्रभुंची ही अद्भुतदशा ऐकून श्रीपरमानन्दपुरी व ब्रह्मानन्द भारतीहि

दौडत आले. आता प्रभु एकदम बाह्यदशेंत आले व त्यांही ह्या दोन्हीहि पूज्य संन्याशांना प्रणाम केला व संकोचाने म्हणतात–'आपण कां कष्ट घेतलेत ? उगीच कशाला इतके दूरवर आलात ?'

पुरी गोस्वामी हंसत म्हणाले–'आम्हीहि म्हटले, चला जाऊ व तुमचे नृत्य पाहू'.

इतके ऐकताच प्रभु कांहीसे लज्जित झाले. भक्तवृन्द महाप्रभुंना बरोबर घेऊन त्यांचे निवासस्थानीं आले.

# श्रीकृष्णान्वेषण

पयोराशेस्तीरे स्फुरदुपवनालीकलनया
मुहुर्वृन्दारण्यस्मरणजनितप्रेमविवशः ।
क्वचित् कृष्णावृत्तिप्रचलेरसनो भक्तिरसिकः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दशोर्यास्यति पदम् ॥

एके दिवशीं महाप्रभु समुद्र-स्नानास चालले होते. दुरूनच समुद्र-तटाची शोभा पाहून ते मुग्ध झाले. ते उभे राहून ती अद्‌भुत शोभा निहाळु लागले. अनन्त जलराशींनी पूर्ण सरितापति सागर आपले नील-रंगाचे जलाने विहार करीत असलेला कांहीसा गंभीर शब्द करीत होता. समुद्राच्या किनाऱ्यावर खजूर, ताड, नारळ व आणखीहि निरनिराळ्या जातीचे उंच उंच वृक्ष आपले लांब पल्लवरूपी हातांनी पांथस्तांना आपले-कडेस जणु काय बोलावितच आहेत. वृक्षाना जोराने आलिंगन दिलेल्या त्यांच्या प्राणप्रिया लता हळूहळू आपले कोमल कर हलवीत संकेताने त्यांना कांही सांगत आहेत. पृष्ठ भागावर एक प्रकारची नीलवर्ण घास, आपले हिरवे पिवळे व अन्य रंगाच्या पुष्पांनी त्या वन्यस्थलीची शोभा आणखी विशेष वाढवित होते. जणु काय श्रीकृष्णाची गोपींच्या सहीत होणारे रासक्रीडेसाठी हा विचित्र रंगाचा गालीचाच पसरला आहे. महाप्रभु हे मनमोहक दिव्य दृश्य पाहून आत्मविस्मृत झाले. आपण प्रत्यक्ष वृन्दावनांतच उभे आहोत असे त्यांना वाटले. समुद्राचे नीले जल त्यांना यमुना जलाप्रमाणे भासले. अशा ह्या क्रीडास्थलीमध्ये सख्यांचे सहीत श्रीकृष्ण क्रीडा करीत नसलेले पाहताच, ह्यांना रासक्रीडेतील भगवान् अन्तर्धान होण्याच्या लीलेचे स्मरण झाले. झाले, मग काय, लागले वृक्षांना श्रीकृष्णाचा ठिकाणा विचारू! हे आपणास गोपी समजून

वृक्षांच्या समीप जाऊन अत्यन्त करूणस्वराने त्यांना संबोधन करीत विचारतात—

हे कदम्ब! हे निम्ब! अंब! क्यों रहे मौन गहि।
हे बट! उतंग सुरंग वीर कहु तुम इत उत लहि॥
हे असोक! हरि-सोक लोकमनि पियहि बतावहु।
अहो पनस! सुभ सरस मरत-तिय अमिय पियावहु॥

इतके म्हणून पुन्हा आपणच म्हणतात–'अहो सख्यांनो! हे पुरुष जातीचे वृक्ष तर त्या सांवळ्याचे साथीदारच आहोत. पुरुष जात तर निर्दय असते. चला, आपण लतांना विचारू. स्त्रीजात असल्याने त्यांचे चित्त दयामय व कोमल असते. त्या आम्हास अवश्यमेव त्या सांवळ्याचा ठिकाणा सांगतील'. असे म्हणून हे स्वताच अश्रु विमोचन करीत सद्गदित कण्ठाने विचारतात—

हे मालति! हे जाति! जूथके! सुनि हित दे चित।
मान-हरन मन हरन लाल गिरिधरन लेखे इत॥
हे केतकि! इततें कितहूं चितये पिय रूसे।
कै नंन्दनन्द मन्द मुसुकि तुमरे मन मूसे॥

पुन्हा स्वताच म्हणतात–'अहो सख्यांनो! ह्या तर कांही उत्तरच देत नाहीत. चला, आणखी कोणास विचारू'. असे म्हणून हे पुढे सरकले. पुढे फलांनी बहरलेले वृक्ष दृष्टिस पडले. त्यांना पाहून हे म्हणतात–'सखे! हे वृक्ष तर अन्य वृक्षाप्रमाणे निर्दय नसावेसे वाटतात पहा, संपत्तिशाली असूनहि किति नम्र आहेत. ह्यांनी इकडून जाणा-या प्राणप्रीयाचा अवश्य सत्कार केला असला पाहिजे. कारण जे संपत्तिवान

असूनहि नम्र असतात, त्यांना कसाहि अतिथि असला तरी तो प्राणापेक्षाहि प्रिय असतो'. असे म्हणून त्या वृक्षास विचारतात—

हे मुक्ताफल ! बेल धरे मुक्ताफल माला ।
देखे नैन-विशाल मोहना नंदके लाला ॥

हे मन्दार ! उदार वीर करबीर ! महामति ।
देखे कहुं बलबीर धीर, मन-हरन धीर-गति ॥

नंतर चन्दनाकडेस पाहात हे म्हणू लागले–'हा मागीतल्यावांचून सर्वांना शीतलता व सुगन्ध प्रदान करतो. हा आमचेवर अवश्य दया करील'. असे म्हणून हे म्हणतात—

हे चन्दन ! दुखदन्दन ! सबकी जरन जुडावहु ।
नन्दनन्दन, जगवन्दन, चन्दन ! हमहि बतावहु ॥

पुन्हा पुष्पांनी बहारलेल्या लतांकडे पाहात, आपल्या सख्यांना हे म्हणतात—

पूछो री इन लतनि फूलि रहि फुलनि जोई ।
सुन्दर पियके परस बिना अस फूल न होई ॥

'हे सख्यानो ! मला वाटते आपल्या प्रिय सख्यांना प्रसन्न करण्यासाठी प्रियाने ह्यावरील फुले तोडून घेतलेली आहेत, म्हणून तर ह्या इतक्या सुप्रसन्न दिसतात. प्रियाच्या स्पर्शावाचून इतकी प्रसन्नता येणारच नाही'. इतके म्हणून त्यांचेकडे हात करून हे म्हणतात—

हे चम्पक ! हे कुसुम ! तुम्हैं छबी सबसों न्यारी ।
नेंक बताय जु देहू जहां हरि कुंज-बिहारी ॥

इतक्यांत कांही मृग तिकडून दौडत आले, त्यांना पाहातांच हे एकदम म्हणाले—

**हे सखि! हे मृगवधू! इन्हें किन पुछहु अनुसरि।**
**डहडहे इनके नैन अबहिं कहुं देखे हैं हरि॥**

ह्याप्रमाणे महाप्रभु गोपीभावामध्ये अधीरसे होऊन चहुकडे भटकत होते. त्यांना शरीराचेहि भान नव्हते. नेत्रांतून सारखा अश्रुपात सुरू होता. अशा स्थितींत हे पृथ्वीवर पडले व तिचेकडेस पाहात म्हणू लागले—

**हे अवनी! नवनीत-चारे, चित-चोर हमारे।**
**राखे कतहुं दुराय बता देउ प्रान पियारे॥**

तेथे जवळच तुलसीचे झाड पाहिले, त्यास पाहाताच मोठे प्रेमाने वन्दन करीत हे म्हणतात—

**हे तुलसी! कल्यानि! सदा गोविन्द-पद-प्यारी।**
**क्यों न कहो तुम नन्द-सुवन सों बिथा हमारी॥**

इतके म्हणून हे समुद्राकडेस धावले व समुद्राचे जलास यमुना समजून म्हणू लागले—

**हे जमुना! सब जानि बूझि तुम हठहिं गहत हो।**
**जो जल जग उद्धार ताहि तुम प्रकट बहत हो॥**

थोडेच वेळाने ह्यांना दिसले कीं, शेंकडो कामदेवांचे सौन्दर्य फिके पाडणारे श्रीकृष्ण कदम्बाच्या तळीं उभे राहून मुरली वाजवीत

आहेत. त्यांना पाहताच प्रभु त्यांचेकडेस धावले व मध्येच मूर्च्छा आल्याने भान रहीत होऊन खाली पडले. त्याचवेळीं राय रामानन्द, स्वरूप गोस्वामी, शंकर, गदाधर व जगदानन्द आदि तेथे येऊन पोचले. प्रभु ह्यावेळीं अर्धबाह्य दशेंत होते व ते डोळे ताण-ताणून चहुकडेस श्रीकृष्णाचा शोध करीत होते व स्वरूप गोस्वामीचे कण्ठास मिठी मारून रडत रडत हे म्हणतात–'आता तर होते, आता, आताच, मी त्यांचे दर्शन केले, इतके अवकाशांत ते मला ठकवून कोठे निघून गेले! आता मी प्राण ठेवणार नाही, प्याऱ्याचे विरहांत मरून जाईन. हाय! हाय! दुर्भाग्य माझे, माझा पिच्छा सोडीत नाही. अहो! भेटलेल्यावरहि मी गमावून बसले'. राय रामानन्द निरनिराळ्या कथा सांगू लागले. कांही पद म्हणण्यास प्रभुंनी स्वरूप गोस्वामीस सांगीतले. आपले सुरेल आवाजाने स्वरूप गोस्वामी गीतगोविन्दांतील हे पद म्हणू लागले—

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे ॥

विहरति हरिरिह सरस वसन्ते ।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥१॥

उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे ।
अलिकुलसंकुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे ॥२॥

हे पद ऐकताच प्रभुचे सर्व अंग प्रत्यंग उडु लागले. ते डोके हलवीत म्हणू लागले–'अहा, विहरति हरिरिह सरसवसन्ते,' उत्तम, स्वरूप पुढे ऐकवा, पुढे म्हणा, माझे कर्णांत हे अमृत ओता. तुम्ही गुप का झालात!

हा अनुपम रस माझे अन्तःकरणांत भरून टाका कीं, तो कर्ण-द्वारांतून वाहु लागेल. आणखी पुढे बोला, बोला पुढे, मग काय झाले?' स्वरूप पद पुढे म्हणू लागले—

मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले ।
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले ॥३॥

मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेसरकुसुमविकाशे ।
मिलितशिलीमुखपाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे ॥४॥

महाप्रभुंनी म्हटले—'अहाहा! धन्य आहे, थांबू नका, पुढे चालु द्या, हं, 'स्मरतूण विलासे,' ठीक आहे, पुढे?' स्वरूप गोस्वामी पुन्हा गाऊ लागले—

विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणवरुणकृत हासे ।
विरहिनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकिदन्तुरिताशे ॥५॥

माधविकापरिमललिते नवमालतिजातिसुगन्धौ ।
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ॥६॥

महाप्रभु म्हणु लागले—'धन्य, धन्य, 'अकारणबन्धौ,' खरोखर वसन्त युवक-युवतींचा अकारण सखा आहे! पुढे म्हणा, पुढे!' स्वरूप त्याच स्वरांत पुढे गाऊ लागले—

स्फुरदति मुक्तलतापरिरंभणमुकुलितपुलकितचूते ।
वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ॥७॥

श्रीजयदेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम् ।
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम् ॥८॥

महाप्रभु हे पद ऐकताच नाचू लागले. नंतर त्यांना आत्मविस्मृति झाली. ते वारंवार स्वरूप गोस्वामीचा हात धरून पुन्हा पुन्हा तेच पद म्हणण्याचा आग्रह करू लागले. प्रभुंची ही अवस्था सर्वत्र भान रहीत झाली. स्वरूपदामोदर प्रभुंची ही अशी दशा पाहून पद म्हणण्यास तयार नव्हते, प्रभु त्यांना वारंवार आग्रह करीत होते. कसेतरी करून रामानन्दांनी त्यांना खाली बसविले. त्यांचे अंगावर थोडेसे पाणी शिंपडले व त्यांना ते आपले वस्त्राने वारा घालू लागले. प्रभु कांहीसे भानावर आले. तेव्हा रामानन्दांनी त्यांना सर्वांसह समुद्रतटीं नेले. तेथे सर्वांनी स्नाने केल्यावर त्यांही प्रभुना त्यांचे निवासस्थानीं आणले. आता प्रभुंना कांहीसे बाह्यज्ञान आले. नंतर सर्व भक्त आप-आपले घरीं निघून गेले*

---

* रासक्रीडेवर अधुनिकांचे बरेच अक्षेप आहेत व त्यांतच गीतगोविन्द हे महाकाव्य गोवण्यास हे तयार होतील; तेव्हा अशा विचारांचे सूज्ञांस मात्रा हीच विनंती आहे कीं, 'कल्याण' ह्या हिंदि मासिकांतील 'रासक्रीडारहस्य' ही लेखमाला शक्य असल्यास वाचून पाहण्याचा प्रयत्न करावा वा ते शक्य नसल्यास सन १९३४ मध्ये श्री. रा. चि. श्रीखंडे ह्यांनी गीतगोविन्दाचा 'सुश्लोकगोविन्द' ह्या नावाने जो मराठींत श्लोकबद्ध अनुवाद प्रसिद्ध केला आहे त्याची प्रस्तावना वाचावी व त्यांतील विशेषता कै. भारताचार्य चिन्तामणराव वैद्य ह्यांचा श्रीमहाभारत-उपसंहारांतील जो महत्वाचा भाग उद्धृत केला आहे तो तरी अवश्य पाहावा. वरील जयदेव कवीची आठहि पदे संस्कृतामध्ये असून ती साधारणतः समजण्यासारखी नसल्याने श्री. श्रीखंडे ह्यांचे सुश्लोकगोविन्दांतून ह्या श्लोकांचे अनुवादात्मक जे श्लोक आहेत तेच देतो—

किती मधुर विराजे, राधिके! हा वसन्त,
परि विरहि मनाला ताप देई अनंत
प्रियतम ललनांना एकला गांठुनिया,
मुदित हृदय नाचे कृष्ण वृन्दावनी या ॥

हा मंद गंधयुत दक्षिणवायु येतो
साऱ्या लवंगलतिकेवरुनी वहातो;
या कोकिळा कलरवें श्रुतिरम्य गाती,
गुंजारवासि करि सप्रति भृंगपंक्ति ॥

येता वसन्त हृदयीं स्मर हा उदेला,
बाला विलाप करि, वल्लभ दूर गेला!
झाले पहा बकुलपुष्परसांत दंग,
अत्यन्त नीलतनु हे मदमंद भृंग ॥

जो गन्ध हा नव तमालदलासि येतो,
कस्तूरिकापरिमलासिहि लाजवी तो
आरक्त रम्य कुसुमें पळसांसि आलीं,
कीं त्या नखीं युवहृदीं स्मर धाय घाली ॥

सम्राट् रतीश भगवान् पृथवीपतीचें
हें केशरी सुम असे नृपचिन्ह साचें,
त्याचेचि हे दिसति पाटलिपुष्प भाते,
कृष्णांग भृंग जणुं सायक त्यांतले ते! ॥

पाहोनिया गलित लज्जित लोक सारे
'कांहो!' असें करुणपाद हांसणारे!

नोहेत केतकिसुमें, परि गौरबाले !
हे, राधिके ! विरहकृंतनयोग्य भाले ! ॥

या गंधयुक्त बहु शोभति रम्य केली
जाई, जुई, मधुर, माधविका, चमेली;
कामीजनांप्रति अकारण बंधु झाला,
तो हा वसंत भुलवी मुनि मानसाला ॥

आम्राप्रति कवळिते अतिमुक्त वेल
रोमांच कीं मुकुल ते प्रकटी रसाल !
पावित्र्यमूर्ति यमुना जवळींच वाहे,
वृन्दावनांत हरि त्या, सखि ! खेळताहे ॥

वासंत काल–वनवर्णन–भारतीचा
उच्चार कीं, हृदयींकांत उभा रतीचा;
भक्तिप्रदा कवि पदा जयदेव गाई
तत्सारलेशहि पितां, मन धन्य होई ॥

# उन्मादावस्थेची अद्भुत आकृति

अनुद्घाट्य द्वारत्रयमुरु च भित्तित्रयमहो
विलंघयाशैः कालिंगिकसुरभिमध्ये निपतितः ।
तनुद्यत्संकोचात् कमठ इव कृष्णोरुविरहा—
द्विराजन् गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥

महाप्रभुची दिव्योन्मादवस्था फारच अद्भुत होती. जेथे त्यांना शरीराचेसुद्धा भान नव्हते, तेथे शरीरस्वास्थाची क्षितीच कशी असणे शक्य आहे? स्वतःस शरीरापासून पृथक् समजूनच सर्व व्यवहार सुरू होते. हृदयास हलवून सोडणाऱ्या त्यांच्या अपूर्व गोष्टी श्रवण करताच आमचे रोमांच ताठ उभे राहतात. एकादा शरीरधारी प्राणी ह्याप्रमाणे शरीराची शुद्धी विसरून असे भयंकर प्रकार करू शकता कीं, जे ऐकताच प्रत्यक्ष भीति पुढे उभी राहाते; परन्तु चैतन्यदेवाने तर हे सर्व केले असून रघुनाथदास गोस्वामींनी ते प्रत्यक्ष आपले नेत्रांनी अवलोकिले आहे. इतक्यावरहि कोणी अविश्वास करील तर, करो बापडा! महाप्रभुंची गंभीरांतील दशा वर्णन करीत कविराज गोस्वामी म्हणतात—

गंभीरा-भितरे रात्रे नाहि निद्र लव,
भित्ते मुख शिर घषे क्षत हय सब।
तीन द्वारे कपाट प्रभु यायेन बाहिरे,
कभू सिंहद्वारे पडे, कभू सिन्धु नीरे ॥

अर्थात्-' गंभीरा मंदीरामध्ये प्रभु एक क्षणभरहि निजत नव्हते. कधी कधी तोंड व मस्तक भिंतीवर सारखे घासल्याने रक्ताच्या धारा

वाहू लागत व सर्व मुख छिन्न-बिछिन्न होई. कधी कधी दारे बन्द असूनहि बाहेर येत असत. केव्हा सिंहद्वाराशी येऊन पडत तर केव्हा समुद्रात उडी घेत'. किती हृदय हलवून सोडणारे वर्णन आहे.

केव्हा केव्हा अत्यन्त करुणस्वरांत जोराने रुदन करू लागत, हे क्रन्दन ऐकून दगडासहि पाझर फुटु लागे व वृक्षहि रडतातसे दिसत. हे अत्यन्त करुणस्वरांत म्हणत—

कहां मोर प्राणनाथ मुरलीवदन,
कहां करों कहां पाओं व्रजेन्द्रनन्दन।
कहारे कहिब, केवा जाने मोर दुःख,
व्रजेन्द्रनन्दन बिना फाटे मोर बुक॥

'हाय हाय! माझा प्राण-प्यारा कोठे आहे? ज्याचे मुखांत मनोहर मुरली विराजमान आहे, असे माझे मनमोहन मुरलीधर कोठे आहे? अग, मी काय करू? कोठे जाऊं? मी माझे आवडत्या व्रजनन्दनास कोठे भेटू शकेन? मी माझ्या विरह वेदना कोणास सांगू? आणि सांगीतल्या तरी माझे दुःख समजू शकणार कोण? दुसऱ्याचे दुःख समजण्याचे सामर्थ्यच कोणात आहे? त्या व्रजेन्द्रनन्दन प्राणधनावाचून माझे अन्तःकरण फाटून जात आहे?' ह्याप्रमाणे हे सदैव व्याकुल असत. मासा ज्याप्रमाणे चिखलांत तडफडतो, मुडके तोडल्यावर बकऱ्याचे मुंडके ज्याप्रमाणे थोडा वेळ इकडे तिकडे तडफड करीत राहाते, त्याचप्रमाणे हे रात्र-दिवस सारखे तळमळत असत. रात्रीच्या वेळी ह्यांच्या विरह वेदना जास्तच वाढत. अशा स्थितींतच हे निवास-स्थान सोडून इकडे-तिकडे कोठेतरी पळून जाऊन भानरहीत स्थितींत पडून राहात. एके दिवशीची अद्भुत घटना ऐका—

नित्याप्रमाणे स्वरूप गोस्वामी व राय रामानन्द ह्यांनी प्रभुंना कृष्ण-कथा व पदे इत्यादि ऐकल्यावर अर्ध रात्रीनन्तर हे उभयता आप-आपले निवासस्थानीं गेले.

गोविन्द सदैव प्रभुंची काळजी घेत असे. प्रभु रात्रभर जोरजोराने—

**श्रीकृष्ण ! गोविंद ! हरे ! मुरारे !**
**हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !**

हा नामोच्चार करीत असत व हे शब्द गोविन्दाच्या कानांत भरून गेले होते. जेव्हा हे शब्द बन्द होत तेव्हा तो जागा होई. स्वरूप गोस्वामी व राय रामानन्द गेल्यावर प्रभु जोरजोराने नाम-संकीर्तन करीत होते. गोविन्द द्वारापाशीच निजला होता. रात्रीं त्याचे नेत्र एकाएकी उघडले. गोविन्दास प्रभुंचा आवाज ऐकू आला नाही. तो घाबऱ्या घाबऱ्या गंभीराचे आंत गेला, दिवा लावला व पाहातो तो, प्रभु तेथे नाहीत, त्याने जोराने स्वरूप गोस्वामीस हाका मारली व म्हटले कीं, 'प्रभु येथे दिसत नाही'. दोघांनीहि ते विशाल भवन तपासले परन्तु त्यांना त्यांत प्रभु कोठेच आढळले नाहीत. दरवाजे तर बन्दच होते. प्रभु बाहेर गेले कसे, ह्याचेच सर्वांना आश्चर्य वाटू लागले. गोविन्द हाताने जमीनीवर चाचपडून पाहू लागला. गोस्वामी थोडेसे हसतच म्हणाले—'गोविन्द ! काय, तूंहि वेडा तर झाला नाही ना ? अरे, महाप्रभु म्हणजे कांही सुई तर नाहीना कीं, तूं ह्याप्रमाणे चाचपडून पाहात आहेस ? लवकर मशाल पेटीव, समुद्रावर जाऊन पाहू, संभव आहे, तेथे असतील. दारे बन्द असल्याने ते बाहेर कसे पडले हा विचार सोडून दे. कसेहि गेले असतील, बाहेरच असणार'. गोविन्दाने लवकर लवकर मशाल पेटवली व सर्वजण महाप्रभुंना शोधण्यासाठी बाहेर पडले. प्रथम मंदीरांत तपास करण्यास हे सर्व सिंहद्वारापाशी आले. तेथे त्यांना तैलगणांतील मोठ-

मोठ्या गाई उभ्या असलेल्या दिसल्या. वेडावलेला गोविन्द एकदम जोराने ओरडला–'येथेच असतील'. प्रथम ह्याचे बोलण्याकडेस कोणीच लक्ष दिले नाही. परन्तु विक्षिप्त गोविन्द गाईच्या मध्यंतरी शिरून पाहू लागला. तेथे त्याच्या दृष्टीस कांही पडले व ते पाहताच तो भ्याला व जोराने गागला–'गुसाई! इकडे या, हे पहा, येथे काय पडले आहे'. सर्व त्याकडे धावले, हे गाईच्यामध्ये काय जनावर पडलेले आहे, हे कोणासहि ओळखता आले नाही. गाई त्यास मोठे प्रेमाने चाटीत होत्या. गोविन्दाने मशाल जवळ नेऊन जोराने म्हटले–'महाप्रभु आहेत'. भक्तांनीहि लक्ष देऊन पाहिले. खरोखरच महाप्रभु आहेत. त्यावेळीं त्यांची आकृति कशी झाली होती, ते कविराज गोस्वामीच्या शब्दांत श्रवण करा—

पेटर भितर हस्त-पाद कूर्मेर आकार ।
मुखे फेन, पुलकांग नेत्रे अश्रुधार ॥
अचेतन पड़िया छेन येन कूष्माण्डफल ।
बाहिरे जड़िमा, अन्तरे आनन्दविव्हल ॥
गाभि सब चौदिके शुंके प्रभुर अंग ।
दूर कैले नाहि छाडे प्रभुर अंगसंग ॥

अर्थात् प्रभुंचे हात-पाय पोटांत शिरुन गेले होते, त्यांची आकृति कांसवासारखी झालेली होती. तोंडातून सारखा फेस निघत होता. अंग रोमांचित झालेले होते. दोन्ही नेत्रांतून अश्रुप्रवाह वाहात होता, कुष्माण्डफलासारखे ते अचेतन पडले होते, बाह्यतः जडता प्रतीत होत होती, परन्तु अन्तरंगीं ते आनन्दांत निमग्न होते. गाई चहुकडून प्रभुंना घेरून उभ्या होत्या व त्यांचे श्रीअंग सुंघीत होत्या. त्यांना हटविण्याचा पुष्कळ प्रयत्न केला तरी त्या पुन्हा पुन्हा जवळ येत होत्या.

अस्तु, भक्तांनी सर्वांनी मिळून संकीर्तन केले, जोराने कानाशी हरिनाम ऐकविले, पाणी शिंपडले, वारा घातला, असे नानाप्रकारचे उपचार केले तरी प्रभु शुद्धीवर आले नाहीत. तेव्हा भक्तांनी निरुपायांनी प्रभुंना तशाच दशेत उचलून निवासस्थानीं नेले. तेथे पोचल्यावर प्रभु कांहीसे भानावर येऊ लागले. त्यांचे हात-पाय पोटांतून बाहेर निघून सरळ होऊ लागले. थोडेच वेळांत हे अर्धबाह्य अवस्थेत येऊन इकडे-तिकडे पाहात आक्रोश करू लागले–'हाय ! हाय ! मला येथे कोणी आणले ? माझा तो मनमोहन श्याम कोठे गेला ? इत्यादि म्हणत शेवट म्हणाले–'तो नटवा माझेकडेस पाहून हंसत होता'. पुन्हा चकीतपणे म्हणतात–'स्वरूप ! मी कोण आहे ? मला येथे कोणी आणले ? आता-आता मी वृन्दावनांत होते, येथे कोठे ?'

प्रभुंची ही अवस्था पाहून स्वरूप गोस्वामी श्रीमद्भागवतांतील त्याच प्रसंगाचे श्लोक गाऊ लागले. त्यामुळे प्रभुंचा उन्माद वाढू लागला. पुन्हा पुन्हा तेच तेच श्लोक स्वरूपांना म्हणण्यास सागत. स्वता व्याख्या करीत व म्हणत–'हां, ऐकवा, बरोबर आहे, ह्याचेच नाव तर अनुराग !' पुन्हा स्वताच ह्यांनी म्हणण्यास सुरुवात केली—

**प्रेमच्छेदरुजोऽवगच्छति हरिर्नार्थं न च प्रेम वा**
**स्थानास्थानमवैति नापि मदनो जानाति नो दुर्बलाः।**
**अन्यो वेद न चान्यदुःखमखिलं नो जीवनं वाश्रवम्**
**द्वित्राण्येव दिनानि योवनमिदं हा हा विधेः का गतिः॥**

ह्या श्लोकांची स्वतःच व्याख्या करीत म्हणतात–'हाय, हाय ! दुःख किती असह्य व प्रेम कसे निर्दयी असते. मदन आमचेवर दया करीत नाही. किती विकलता, किती विवशता, कोण मनांतले जाणणार ? आपले दुःखाचा अनुभव आपणासच येणार. प्याऱ्यास रिझविण्याची

तर कांहीच वस्तु आमचे जवळ नाही. समजा कीं, आमचे नवयौवनावर तो मुग्ध होऊन आमचेवर प्रेम करील, असे क्षणभर धरून चालले तर, हे यौवनहि स्थायी नाही. जलावरील बुडबुड्यांप्रमाणे हे क्षणभंगुर आहे. दोन चार दिवसानंतर पुन्हा अंधारच-अंधार. हाय! विधात्याची गति कशी विचित्र आहे! हे इतके अपार दुःख आम्हा अबलांच्याच भाग्यांत लिहिलेले आहे. आम्ही एक तर जातीने अबला व राहिले-साहिले बल हा विरह-कूकर खाऊन गेला. आता आम्ही दुर्बल-अतिदुर्बल होऊन कशा रीतीने हे असह्य दुःख सहन करू शकणार?' ह्याप्रमाणे प्रभु अनेक श्लोकांची व्याख्या करू लागले, विरहाच्याकारणाने तत्संबंधी श्लोक त्यांचे मुखांतून आपले-आपुणच निघत होते. शेवट अत्यन्त करुणस्वरांत प्रार्थना करू लागले—

हा हा कृष्ण प्राणधन, हा हा पद्मलोचन ।
हा हा दिव्य सद्‌गुण-सागर!
हा हा श्यामसुन्दर, हा हा पिताम्बर-धर ।
हा हा रासविलास-नागर!
काहां गेले तोमा पाई, तुमि कह, ताहां याई ।
एत कहि चलिला धाय्या!

हे कृष्ण! हा प्राणधन! हा पद्मलोचन! हे दिव्य सद्‌गुणसागर! हे श्यामसुन्दर! प्यारे, पिताम्बरधर! हे रासविलास नागर! कोठे गेल्याने तुम्हास भेटू शकेन? तुम्ही सांगाल तेथे जाईन. इतके म्हणत म्हणत प्रभु उठून बाहेर जाण्यास धावले. तेव्हा स्वरूप गोस्वामींनी त्यांना धरून खाली बसविले. नंतर हे अचेतन झाले. पुन्हा चेतना आल्यावर स्वरूप गोस्वामींना कांही म्हणण्यास सांगीतले. त्यांही आपले सुरेल कण्ठाने गीतगोविन्दांतील सुन्दर-सुन्दर पदे गाण्यास सुरुवात केली.

# लोकातीत दिव्योन्माद

स्वकीयस्य प्राणार्बुदसदृशगोष्ठस्य विरहात्
प्रलापानुन्मादात् सततमतिकुर्वन् विकलधीः ।
दधद्भित्तौ शश्वद्वदनविधुघर्षेण रुधिरं
क्षतोत्थं गौराङ्गे हृदय उदयन्मां मदयति ॥

महाप्रभुच्या दिव्योन्माद अवस्थेचे वर्णन करणे कठीण तर आहेच, त्याबरोबर हे फार हृदयविकारकहि आहे. आमचेसारखे वज्राप्रमाणे कठीण हृदयाची माणसे सोडून द्या; परन्तु जे सहृदय आहेत, भावुक आहेत, सरस आहेत, ज्यांचे अन्तःकरण परपीडा श्रवणानेहि भरून येते, ज्यांचे अन्तःकरण फारच कोमल आहे, शीघ्र द्रवित होणारे आहे, ते तर ही प्रकरणे वाचूच शकणार नाहीत. खरोखर हे अपठनीय अध्याय लिहिण्याचे नशीबी आले आहे. काय करावे, आम्ही अगदी विवश आहोत. आमचे हातांत बलपूर्वक ही लोखंडाची लेखणी दिलेली आहे. इतके लिहिल्यावरहि अद्यापपावेतो ही डाकण जशीच्या तशीच आहे, थोडीहि घासली गेली नाही. कोण जाणे, कोणत्या यन्त्रालयांत ही खास रीतीने आमचेसाठीच घडविली आहे. अरे! ज्याचे मुखकमलाचे वर्णन करण्यांत ह्या लेखणीने ठिक-ठिकाणीं कौशल्य दाखविले, आज त्याच मुखकमलाचे संघर्षणाची करुण-कहाणी ह्याच लेखणीस लिहावी लागणार आहे! ज्या श्रीमुखकमलाच्या शोभेचे स्मरण करून लेखणी आपला लोहपणाहि विसरून जात होती, तीच आज आपले काळे तोंडाने त्या रक्ताने माखलेल्या मुखाचे वर्णन करील! ह्या लेखणीचे मुखच काळे आहे असे नाही, हीच्या पोटातहि काळी शाई भरलेली असून ही स्वयं काळीच आहे. अशा इजला मोह कसा, ममता कशी, थांबणे तर हीला

माहीतच नाही. लेखणे! तुझे ह्या क्रूर कर्मास वारंवार धिक्कार असो!

महाप्रभुंची विरह-वेदना आता सारखी अधिकाधिक वाढत जात होती. सदैव राधाभावांत स्थित होऊन हे प्रलाप करीत असत. कृष्णास कोठे शोधू, श्याम कोठे भेटेल, हेच ह्यांचे पालुपद होते. हाच ह्यांचा अहर्निश व्यापार होता. एके दिवशी ह्याच स्थितींत ह्यांना श्रीकृष्णाचे मधुरागमनाची स्फूर्ति झाली. हे त्याच क्षणी करुण स्वरांत राधेसमान हे श्लोक गाऊ लागले—

क नन्दकुलचन्द्रमाः क शिखिचन्द्रिकालंकृतः
क मन्दमुरलीरवः क नु सुरेन्द्रनीलद्युतिः ।
क रासरसताण्डवी क सखि जीवरक्षौषधि-
र्निधिर्मम सुहृत्तमः क बत हन्त हा धिग्विधिम् ॥

ह्याप्रमाणे विधात्यास धिक्कारीत महाप्रभु भागवतांतील श्लोक म्हणत होते व त्यांच्या व्याख्या करीत होते.

अर्धरात्र वितून गेल्यावर स्वरूप गोस्वामींनी प्रभुंना गंभीरामध्ये निजविले व राय रामानन्द आपले घरीं निघून गेले. महाप्रभुंचे नाम-संकीर्तन सारखे जोरजोराने सुरूच होते. आज प्रभुंच्या वेदना पराकाष्ठेस पोचल्या होत्या. त्यांचा जीव सारखा तळमळत राहिला होता. कोणा प्याऱ्याच्या आलिंगनासाठी अंग अगदी उताविळ झालेसे दिसत होते. आपले मुखावर दुसरे मुख पाहण्यासाठी मुख सारखे हलून राहिले होते. ओष्ठ, मधुमय, प्रेममय, शीतलपूर्ण अधरस्पर्शासाठी आपो-आपच हलत होते, प्रभु ह्या आपले आवेशास थांबविण्यास अगदी असमर्थ झाले. ते आपले श्रीमुख जोराने भिंतिशी घासू लागले, ह्यामुळे त्यांतून

रक्त वाहू लागले. प्रभुंचा गळा रुद्ध झाला होता, श्वास मोठ्या कष्टाने निघत होता, कण्ठ घरघर शब्द करीत होता, रक्त पडत असल्याने जमीन लाल झाली होती. ते दीर्घश्वास घेऊन गों गों असा शब्द करीत होते. त्या दिवशीं स्वरूप गोस्वामीस रात्रभर झोप आली नाही. त्यांही हा प्रभुंचा दबलेला आवाज ऐकला. आता ही गोष्ट कविराज गोस्वामींचे शब्दांत ऐका—

विरहे व्याकुल प्रभुर उद्वेग उठिला ।
गम्भिरा-भितरे मुख घर्षिते लागिला ॥
मुखे, गण्डे, नाके, क्षत, हइल अपार ।
भावावेशे ना जानेन प्रभु पडे रक्तधार ॥
सर्वरात्रि करेन भावे मुखसंघर्षण ।
गों गों-शब्द करेन, स्वरूप सुनिल तखन ॥

गों-गों शब्द ऐकताच स्वरूप गोस्वामी त्याच क्षणीं प्रभुच्या जवळ आले. दिवा लावून पाहताच ते आश्चर्याने अगदी चकित झाले. प्रभु आपले मुख भिंतीशी घाशीत होते. भिंत लाल झाली होती, जमीनीवर रक्त पडले होते, ह्यांचे भगवे वस्त्र भिजून चिंब झाले होते. प्रभुचे दोन्ही नेत्र वर चढलेले होते. नाकहि सोलवले होते. त्यांची दशा विचित्र दिसली—

रोमकूपे रक्तोद्गम दंत सब हाले ।
क्षणे अंग क्षीण हय क्षणे अंग फूले ॥

ज्याप्रमाणे साळुंकी नावाच्या जनावराच्या अंगावर लांब लांब कांटे असतात व ते रागावले म्हणजे हे कांटे ताठ उभे होतात, त्याप्रमाणे प्रभुंच्या शरीरावरील रोम ताठ उभे झाले, त्यांतून रक्त प्रवाह सुरू

होता, दांत हलत होते व त्यांतून करकर शब्द होत होता, अंग एकादवेळीं फुलत होते, तर एकादवेळीं क्षीण होत होते. स्वरूपांनी त्यांना धरून ते करतांना थांबविले, तेव्हा प्रभुंना कांहीसे बाह्यज्ञान झाले. स्वरूप गोस्वामीनी अत्यन्त दुःखाने विचारले–'प्रभो! आपण हे काय करीत आहा, तोंड काय म्हणून घाशीत आहा?'

त्यांचा प्रश्न ऐकून महाप्रभु स्वस्थ झाले व म्हणतात–'स्वरूप! मी अगदीच वेडा झालो आहे. कोणास ठाऊक रात्री मला फार कष्टमयस्थितींत काढाव्या लागतात. रात्रीं माझ्या वेदना फारच वाढतात. मी बाहेर जाण्यासाठी झटत होतो. अंधारांत दरवाजाच सांपडला नाही म्हणून भिंतीस दार पाडण्याचे हेतूने तोंड घाशीत होतो. हे रक्त निघाले वा तोंडावर घाव पडले ह्याची मला कांहीच माहिती नाही'.

ह्या प्रकाराने स्वरूप गोस्वामीस फारच चिन्ता उत्पन्न झाली. त्यांही ही गोष्ट भक्तांना कळविली. त्यांतील एका शंकर नावाचे भक्ताने म्हटले–'प्रभुंना हरकत नसल्यास, मी त्यांचे चरण माझे छातीवर घेऊन सदैव शयन करीत जाईन'. त्यांही प्रभुंना प्रार्थना केली, प्रभुंनी कांही हरकत घेतली नाही. ह्यानंतर शंकर सदैव प्रभुंचे चरण आपले वृक्षःस्थलावर धारण करून निजत असे. प्रभुंनी कुस बदलली तरी, शंकर जागा होत असे. रात्रभर जागूनहि हा प्रभुंचे चरण दाबीत असे. या योगे प्रभु बाहेर जाण्याचे थांबले. त्या दिवसापासून ह्या शंकराचे नाव–'प्रभुपादोपाधान' असे पडले. खरोखर ते प्रभुच्या पायाच्या उशाच होते. अशा सर्वांना आमचे शतशः प्रणाम आहेत.

# शारदीय निशीथेमध्ये दिव्य-गंधाचे अनुसरण

कुरंग मदजिद्वपुःपरिमलोर्भिकृष्टांगनः ।
स्वकांगनलिनाष्टके शशियुताब्जगन्ध प्रथः ॥
महेन्दुवरचन्दनागरुसुगन्धिचर्चाचितः ।
स मे मदनमोहनः सखि तनोति नासास्पृहाम् ॥

विरहव्यथेने व्यथित व्यक्तीचे दृष्टिने प्राकृतिक यावत् सौन्दर्यपूर्ण वस्तु अत्यन्त दुःखदायी असतात. सर्व ऋतुंमध्ये श्रेष्ठ वसंतऋतु, शुक्ल-पक्षांतील प्रवृद्ध (पूर्ण) चन्द्र, शीतलमन्द सुगन्धित मलय वायु, मेघांची घनघोर गर्जना, अशोक, तमाल, कमल, मृणाल, आदि शोक-नाशक व शीतलता प्रदान करणारे वृक्ष, तथा अनेक नवपल्लव, मधुकर हंस, चकोर, कृष्णसार, सारंग, मयूर, कोकिल, शुक, सारिका, आदि अल्हाददायक व सुन्दर आणि सुमधुर शब्द बोलणारे पक्षी, हे सर्व विरहाचा अग्नि अधीक वाढविण्यासच कारणभूत होतात. विरहिणीस सुख कोठे, आनन्द कशाचा ? प्रकृतीचा कोणताहि प्रिय पदार्थ तिजला प्रसन्नता प्रदान करू शकत नाही. सर्व तिला झुलवितात, तिला खिजविण्यांतच ह्या सर्वांना आनन्द वाटतो. पपीया पक्षी पीपी म्हणून तिचे अन्तःकरणांत तृष्णा उत्पन्न करतो, वसन्त तिजला उन्मादी बनवितो, फुललेले वृक्ष तिला हसतात, मलयाचलावरील मन्द-मन्द वायु तिचे हळूहळू चुंबन घेतो. असे वाटते कीं, हे सर्व प्रपंच वा भेद विधात्याने विरहिणीस सन्तप्त करण्यासाठीच उत्पन्न केले आहेत. बिचारी, हे सर्व सहन करते, रात्रंदिवस शोक करते व ह्याच सर्वांना आपले प्रियतमाचा ठिकाणा विचारते. किती विलक्षण आहे ! कां आहे ना ? सहृदय पाठक अनुभव तर घेत असतीलच ! !

वैशाखाची पौर्णिमा होती, निशानाथ आपली सहचरी निशादेवीशी खदखदा हसत होते, त्यांचे सुमधूर श्वेत हास्याचा प्रकाश दिशा-विदिशा मध्ये व्याप्त झाला होता. प्रकृति हे पति-पत्निचे सम्मेलन दुरून पाहून मन्द हास्य करीत होती. वायु पाऊल न वाजविता मन्द-मन्द वाहात होता. शोभा सजीव होऊन प्रकृतीचे आलिंगन करीत होती. समुद्र तटाकीचे जगन्नाथवल्लभ नामक उद्यानांत प्रभु विरहिणीचे अवस्थेंत विचरण करीत होते. स्वरूपदामोदर, राय रामानन्द प्रभृति अन्तरंग भक्त त्यांचेबरोबर होते. महाप्रभुंच्या उभय नेत्रांतून सारखा अश्रुप्रवाह वाहात होता. मुख कांहीसे म्लान होते, चन्द्रमांची चमकणारी किरणे त्यांच्या श्रीमुखाचे मन्द मन्द चुंबन करीत होती, त्या प्रकाशांत त्यांचे अरुण रंगाचे अधर जास्त शोभायमान दिसत होते. महाप्रभुचा तोच उन्माद, तीच विकलता, तोच तळमळाट, रुदन, प्रार्थना, प्रियतमाचा शोध, सुरूच होता. ह्याप्रमाणे चालु असता ते करुणस्वरांत हा श्लोक म्हणू लागले—

तच्छैशवं त्रिभुवनाद् भुतमित्यवेहि
मद्वापलञ्च तव वा मम वाधिगम्यम् ॥
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासि
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम् ॥

'हे प्यारे, मुरलीविहारी ! तुमचे शैशवावस्थेतील मनोहर माधुर्य, त्रिभुवन विख्यात आहे. जगतांत त्याची मधुरिमा सर्वत्र व्याप्त आहे, त्या व्यतिरिक्त आवडती अशी दुसरी वस्तुच विश्वांत नाही व माझी चपलता, चंचलता उच्छृंखलता तुम्हास विदित आहेच. तुम्हास माझी चपलता पूर्णरीत्या परिचित आहे. वास्तविक तुमचे माझेशिवाय तिसरा

कोणी हे जाणत नाही. आवडत्या ! खरोखर, एकच अभिलाषा आहे, व त्याच अभिलाषेने हे प्राण मी धरून आहे. ती ही कीं, जे मनोहर मुखकमल पाहून व्रजवधु, भानशून्य होऊन भटकतात, सर्वस्वसे ज्यास समजतात, तेच कमलमुख आपले उभय नेत्रांनी अगदी अनिमिषपणे एकान्तांत पाहण्याची इच्छा आहे. हृदय रमणा! काय, कधी देखू शकेन ? प्राणवल्लभा ! काय कधी असा सुयोग प्राप्त होईल ?' ह्याप्रमाणे प्रेम-प्रलाप करीत हे त्या जगन्नाथवल्लभ नामक उद्यानांत परिभ्रमण करीत होते. ते प्रत्येक वृक्षास आलिंगित, त्यास आपले प्याराचा ठिकाणा विचारित व पुढे सरकत. प्रेमाने लतेप्रमाणे वृक्षांना बिलगुन पडत. केव्हा केव्हा मूर्छित होऊन खाली पडत, नंतर पुन्हा उठून तिकडे धावत. अशा समयीं त्यांही पाहिले कीं, अशोक वृक्षाचे खाली उभे राहून तो मुरलीमनोहर आपली मादक मुरली मन्द-मन्द हास्य करीत वाजवीत आहे, त्या मुरलींत एक प्रकारे सुन्दर गीत गात आहे, त्यांचेबरोबर कोणी सखा वा गोपिका कोणीहि नाही. एकटेच हे आपले स्वाभाविक तिरपेपणाने उभे आहेत. बासाची ती पूर्वजन्मीची तपस्विनी मुरली, अरुण रंगाचे अधरांतील अमृतपान ढळूढळू करीत आहे. महाप्रभु ही मनोहर मूर्ति पाहून तिच्याकडेस धावले. प्याऱ्यास आलिंगन द्यावे म्हणून ते शीघ्रतेने चालले होते. हाय ! हाय ! झाला, सर्वनाश झाला ! प्रलयच तो ! प्राणप्रीय एकदम अदृश्य ! त्यांचा ठाव-ठिकाणहि नाही. महाप्रभु तेथेच मुर्छित होऊन पडले.

थोडे वेळाने ते इकडे तिकडे सुं सुं करीत कशाचा वास घेऊ लागले. त्यांना श्रीकृष्णाचे शरीराचा दिव्यगन्ध येत होता. सुवास तर येत होता, परन्तु श्रीकृष्ण दिसत नव्हते. तेव्हा त्याच सुवासाचे अनु-रोधाने ते श्रीकृष्णाचा शोध करीत चालले. प्याऱ्याचे शरीराचा दिव्य-

गन्ध कसा मनोहारि असेल, हे तर कोणी रतिसुख-प्रविणा नाइकाच जाणू शकेल. आमचेसारखे अरसिकांचा त्यांत प्रवेश कोठला? हा दिव्यगन्ध घोर मादकता उत्पन्न करणारा आहे. ज्याप्रमाणे मद्यप्याचे दृष्टिआड उत्तमोत्तम गन्धयुक्त सुरा ठेवावी, तिचा गन्ध येतो आहे, परंतु दिसत मात्र नाही, तेव्हा ज्याप्रमाणे त्या आसवासाठी तो विकल होऊन तडफड करीतो, त्याप्रमाणे प्रभु त्या दिव्यगन्धाचे वासाने तळमळत होते. त्या गन्धाचे उन्मादतेचे वर्णन कविराज गोस्वामीचे शब्दांत ऐका—

सेहे गन्धवश नासा, सदा करे गन्धेर आशा।
कभू पाय कभू ना पाय॥
पाइले पिया पेट भरे, पिउं पिउं तबू करे।
ना पाइल तृष्णाय मरिजाय॥
मदन मोहन नाट, पसारि चांदेर हाट।
जगन्नारी-ग्राहक लोभाय॥
विना-मूल्ये देय गन्ध, गन्ध दिया करे अन्ध।
घर याइते पथ नाहि पाय॥
एइ मत गौरहरि, गन्धे कैल मन चुरि।
भृंग प्राय-इति उति धाय॥
जाय वक्ष लता पाशे, कृष्ण-स्फुरे सइ आशे।
गन्ध न पाय, गन्ध मात्र पाय॥

श्रीकृष्णाच्या अंगाचे त्या दिव्यगन्धास नासिका तर वश झालीच आहे, ती तर त्या गंधाची सदैव आशा करीत असते. केव्हा केव्हा तो गन्ध प्राप्त होतो तर केव्हा नाही. जेव्हा तो गन्ध मिळतो तेव्हा ती तो

पोट भरून पिते व पुन्हाहि सारखी 'पिऊं पिऊं' म्हणून सारखी ओरडत असते. न मिळाल्यास ही तान्हेने मरते.ह्या नटवर मदनमोहनाच्या रूपाचा बाजारहाट लावून ठेवलेला आहे. विकत घेणाऱ्या जगतांतील ज्या स्त्रिया आहेत, त्यांना तो बाजार हाट लोभवितो. हा विचित्र व्यापारी आहे कीं, कांहीहि मूल्य घेतल्यावाचून हा दिव्यगन्ध देऊन टाकतो व हा गन्ध देऊन त्यास अन्ध करतो व त्या कारणाने त्या गरीब बापड्या स्त्रियांना आपले घराचा रस्ता दिसत नाही व त्या तो विसरतातहि. ह्या प्रकारे ह्या गन्धद्वारा ज्यांचे मन चोरले गेले आहे, असे हे गौरहरि भ्रमराप्रमाणे इकडे तिकडे धावत फिरत आहेत. ते वृक्ष आणि लताचे समीप जातात व कोठे श्रीकृष्ण भेटेल कां म्हणून पाहातात, परन्तु तेथे त्यांना श्रीकृष्ण दिसत नाही. केवल त्यांचे शरीराचा हा दिव्य-गन्ध मात्र प्राप्त होतो.

ह्याप्रमाणे श्रीकृष्णाचे दिव्यगन्धाचे मागे फिरता-फिरता संपूर्ण रात्र व्यतीत झाली. निशा आपले प्राणनाथाचे वियोग दुःख-स्मरणाने कांहीशी म्लान झाली, तिचे मुखावरील तेज अस्पष्ट होत चालले. भगवान् भुवनभास्कराचे आगमनाचे भयाने भगवान् निशानाथहि हळू-हळू अस्ताचलाकडेस जाऊ लागले. स्वरूप गोस्वामी व राय रामानन्द प्रभुना त्यांचे निवासस्थानीं घेऊन आले.

# श्रीअद्वैताचार्याची पहेली (सन्देश--पत्रिका)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥

मातृभक्त श्रीगौराङ्ग उन्मादावस्थेतहि आपले स्नेहमयि जननीस अगदीच विसरले नाहीत. जेव्हा ते अन्तर्दशेंतून केव्हा केव्हा बाह्यदशेंत येत तेव्हा तेव्हा ते आपले प्रिय भक्तांचे व प्रेममयि मातेचे कुशल-क्षेम विचारित. त्यांचेकडील समाचार समजावा म्हणून जगदानन्दांना प्रतिवर्ष गौडदेशास पाठवीत असत. जगदानन्द गौडदेशीं जाऊन सर्व भक्तांना भेटत, त्यांना प्रभुच्या सर्व गोष्टी सांगत व सर्वांचे कुशल-क्षेम विचारून परत जात. शचीमातेसाठी प्रभु जगन्नाथाचा प्रसाद पाठवीत व नानाप्रकारे आश्वासनयुक्त प्रेम-संदेशहि देत असत. कविराज गोस्वामीचे शब्दांत प्रभुंचा सन्देश ऐका—

तोमार सेवा छांडि आमि करिनूं संन्यास।
'बाउल' हय्या आमि कैलूं धर्म नाश॥

एइ अपराध तुमि ना लइह आमार।
तोमार अधीन आमि-पुत्र से तोमार॥

नीलाचले आछि आमि तोमार आज्ञाते।
यावत् जीव तावत् आमि नारिब छाडिते॥

अर्थात् 'हे माता, मी तुमची सेवा सोडून वेडेपणाने संन्यास ग्रहण केले, हे मां धर्माच्या विरुद्ध आचरण केले, हा माझा अपराध तुम्ही मनांत आणु नका; मी आताहि तुमचेच आधीन आहे. निमाई आजहि

तुमचा पूर्वीचाच पुत्र आहे. नीलाचल येथे मी तुमचेच आज्ञेने राहातो आहे व जो पावेतो जीवांत जीव आहे तो पावेतो नीलाचल सोडून जाणार नाही'. ह्याप्रमाणे प्रेम सन्देश व प्रसाद प्रतिवर्ष पाठवित असत.

एकदा जगदानन्द पंडित प्रभुंच्या आज्ञेने नवद्वीपास गेले. तेथे जाऊन शचीमातेस प्रसाद दिला, प्रभुंचे कुशल-वृत्त कळविले व त्यांचा प्रेम-सन्देशहि ऐकविला. निमाईसच सर्वस्व मानणारी माता त्यांची अशी करुणामय दशा ऐकून फारच शोक करू लागली. त्यांचे अगोदरच क्षीण झालेले शरीर आता जास्त काल जीवीत धारण करण्यास सामर्थ्यवान नव्हते. माता स्वताचे जीवीताविषयीं अगदी निराश झाली. निमाईचे चन्द्र-वदन आता पाहण्यास मिळणार नाही, ह्यामुळे ती निराशा जास्तच वाढली. मातेने अश्रु गाळीतच पुत्रास आशिर्वादयुक्त निरोप पाठविला व जगदानन्दांना प्रेमपूर्वक विदा केले. जगदानन्दजी अन्यान्य भक्तांना भेटून श्रीअद्वैताचार्यांचे घरीं आले. आचार्यांनी त्यांचे अत्यधिक स्वागत केले व प्रभुंचा समाचार विचारला. आचार्यहि आता फारच वृद्ध झाले होते, त्यांची अवस्था नव्वद वर्षांची झाली होती, ते घराचे बाहेर क्वचित्च पडत. जगदानन्दांना पाहताच त्यांना नवजीवनाचा संचार झालासे वाटले व त्यांही सर्व भक्तांचा समाचार विचारला. जगदानन्दजी तीन-चार दिवस आचार्यांचे घरीं राहिले. परत जाण्याची त्यांही फारच उतावळ दर्शविली तेव्हा त्यांही त्यांना जाण्यास आज्ञा दिली व प्रभुंच्या-साठी एक पर्यायपर-सन्देशयुक्त पत्र दिले. जगदानन्दजी ते पत्र घेऊन प्रभुच्या समीप पोचले.

प्रभु जेव्हा बाल्यावस्थेत आले, तेव्हा त्यांही सर्व भक्तांचा कुशल-समाचार विचारला. सर्वांचे क्षेम सांगीतल्यावर अद्वैताचार्यांचे ते पत्र दिले.

प्रभुंच्या आज्ञेने ते, ते वाचू लागले. प्रभुंना प्रणाम केल्यावैर त्यांत पर्यायपर-सन्देश हा होता—

बाउलके कहिह–लोक हइल बाउल ।
बाउलके कहिह–हाटे ना बिकाय चाउल ॥
बाउलके कहिह–काजे नाहिक आउल ।
बाउलके कहिह–इहा कहिया छे बाउल ॥ *

हा विचित्र सन्देश श्रवण करून बसलेले सर्व भक्त हसू लागले. महाप्रभु मनांतले मनांत ह्याचे मर्म समजले व मन्द हास्य करीत, जशी त्यांची आज्ञा असे म्हणून चूप बसले. प्रभुंचे बाह्यप्राणच स्वरूप गोस्वामी ह्यांना हे मन्दहास्य कांहीसे विचित्र वाटले व त्यांही नम्रतेने विचारले– 'प्रभो! ह्या विचित्र सन्देशाचा अर्थ काय? आचार्य अद्वैतरायांनी हा कसा विचित्र सन्देश पाठविला आहे. आपण तो ऐकून असे कां हसलात?'

* श्रीचैतन्य प्राण्यांच्या जीवनाचा आधार असे तांदुळ, त्या तांदुळरूपीं हरिनामाचे व्यापारी आहेत. अद्वैताचार्य त्यांचे प्रधान आडतिये आहेत. जसा वेडा व्यापारी तसाच त्याचा आडतिया आहे व वेड्यासारखाच प्रलापपूर्ण पत्रहि पाठवितो. वेड्यावाचून ह्याचे मर्म कोण जाणू शकणार? वेडा आडतिया म्हणतो–'त्या वेड्या व्यापाऱ्यास सांगा, सर्व लोकांची कोठी-कोठारे हरिनामरूपीं तांदुळांनी भरून गेली, आता ह्या बाजारांत ह्या स्वस्त मालाची विक्रि होणार नाही, आता हा व्यापार साधारणसा झाला. तुम्हासारखे उत्तम श्रेणीच्या व्यापाऱ्याचे योग्य आता हा व्यापार राहिलेला नाही, तेव्हा आता हा बाजार बन्द करून टाका. वेड्या व्यापाऱ्यास वेड्या आडतियाने हा सन्देश पाठविला आहे'.

प्रभु गंभीरतेने हळूच म्हणाले–' अद्वैताचार्य कोणी साधारण आचार्य तर नाहीत; ते नावाचेच आचार्य नाहीत, तर ते आचार्य-पणाची सर्व कृत्ये उत्तम प्रकारे जाणत आहेत. त्यांना शास्त्रीय पद्धतीने पूजापाठ करण्याची सर्व पद्धती उत्तम माहिती आहे. पूजेंत प्रथम देवतांना सत्कारपूर्वक बोलाविण्यांत येते, नंतर त्यांची षोडशोपचार पूजा केली जाते व यथास्थान त्यांना स्थापित करण्यांत येते. ज्या मांगलिक कार्याचे निमित्ताने त्यांचे आवाहन केले जाते, ते कार्य समाप्त झाल्यावर, त्या देवतांची हात जोडून प्रार्थना करण्यांत येते–' गच्छ गच्छ परं स्थानम्'-अर्थात् आपण आता आपले परमस्थानीं गमन करावे. 'संभवतया' हाच त्यांचा अभिप्राय असावा. ते ज्ञानी पंडित आहेत, त्यांचा अर्थ बरोबर रीतीने समजणारच कोणास!' हे ऐकून स्वरूप गोस्वामी कांहीसे उदासीन झाले. सर्वांना कळून चुकले कीं, महाप्रभु आता लवकरच लीला-संवरण करतील. ह्या गोष्टीच्या जाणीवेने सर्वांचे अन्तःकरण दुभंग झाले. त्या दिवसापासून प्रभुंची उन्मादावस्था जास्तच वाढली. ते रात्र-दिन त्याच अन्तर्दशेंत निमग्न राहू लागले. प्रतिक्षण त्यांची दशा लोक-बाह्यशीच होत होती. कविराज गोस्वामी म्हणतात—

**स्तम्भ, कम्प, प्रस्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वर-भेद।**
**देह हैल पुलके व्यापित॥**

**हासे, कान्दे, नाचे, गाय, उठि, इति-उति धाय।**
**क्षणे भूमे पडिया मूर्छित॥**

'शरीर निचेष्ट पडते आहे, कंप सुटतो आहे, अंगांतून घामाच्या धारा वाहात आहेत, मुख म्लान पडते आहे, नेत्रांतून अश्रुधारा वाहू लागत आहेत, कण्ठ दाटून येतो, शब्दोच्चार नीट होऊ शकत नाही,

देह रोमांचित होतो, हसतात, रुदन करतात, नाचतात, गातात, उठून उठून इकडे-तिकडे धावतात, क्षणभरांत मूर्छित होऊन जमीनीवर पडतात–'प्यारे! वेड्या, दयालु चैतन्या! काय ह्या वेडेपणांत आमचा कांहीच वाटा नाही कां? हे दीनवत्सल! ह्या वेडेपणांतील थोडासा अंश जरी आम्हास प्राप्त झाला तरी, हे सार-हीन जीवन सार्थक होईल. हे माझे गौर! त्या मादक मदिरेचा एक प्याला मलाहि कां पाजित नाही? हे माझे वेड्या-शिरोमणि! तुझे चरणीं माझे शतशः प्रणाम आहेत'.

# समुद्रपतन व मृत्युदशा

शरज्ज्योत्स्नासिन्धोखकलनया जात यमुना-
भ्रमाद्धावन् योऽस्मिन् हरिविरहतापार्णव इव।
निमग्नो मूर्च्छातः पयसि निवसन् रात्रिमखिलां
प्रभाते प्राप्तः स्वैरवतु स शचीसूनुरिह नः॥

सर्व शास्त्रांत श्रीमद्भागवत श्रेष्ठ आहे, श्रीमद्भागवतांतहि दशम-स्कन्ध सर्वश्रेष्ठ आहे, दशमस्कन्धांत पूर्वार्ध श्रेष्ठ व पूर्वार्धांतहि रास-पंचाध्यायी सर्वश्रेष्ठ असून त्यांत 'गोपी-गीत' अतुलनीय आहे, त्याची तुलना कोणाशीहि होणे शक्य नाही, ते अतुलनीय आहे. महाप्रभुंना रासपंचाध्यायी अत्यन्त आवडत होती, ते नेहेमी त्यांतीलच श्लोक ऐकत असत व भावावेशांत त्याच भावांचे अनुकरणहि करीत असत.

एके दिवशीं राय रामानन्दांनी भागवतांतील तेहेतिसावे आध्यांतील भगवन्ताचे कालिन्दीकूलाच्या जल-क्रीडेची कथा ऐकविली. प्रभुंना दिवसभर तीच लीला स्फुरत होती. दिवस मावळला, रात्र पडली, प्रभुची विरह-वेदनाहि वाढू लागली. ते आज स्वतास संभाळू शकले नाही. भक्तांची दृष्टि चुकवून कोणास ठाऊक समुद्र किनाऱ्याकडेस ते कसे गेले? तेथे विशाल सागरांवर नील-तरंग जगतास हृदयाची विशालता, जगताची अनित्यता व प्रेमाच्या तन्मयतेची शिक्षा देत होते. प्रेमावतार गौराङ्गाचे हृदयांतून एक सुमधुर संगीत आपले-आपुणच स्फुरित होत होते. त्या संगीताच्या स्वराने वेडावून कांहीहि विचार केल्यावाचून ते समुद्राकडेस जात होते. अहाहा! समुद्र किनारीचे वृक्ष आपले शरद्कालिन शोभेने सागराची शुषमास आणखी विशेष शक्तिशालिनी करीत होते. शरद्कालची आनन्ददायिनी शर्वरी होती, आपले प्रिय पुत्र चन्द्रमाची

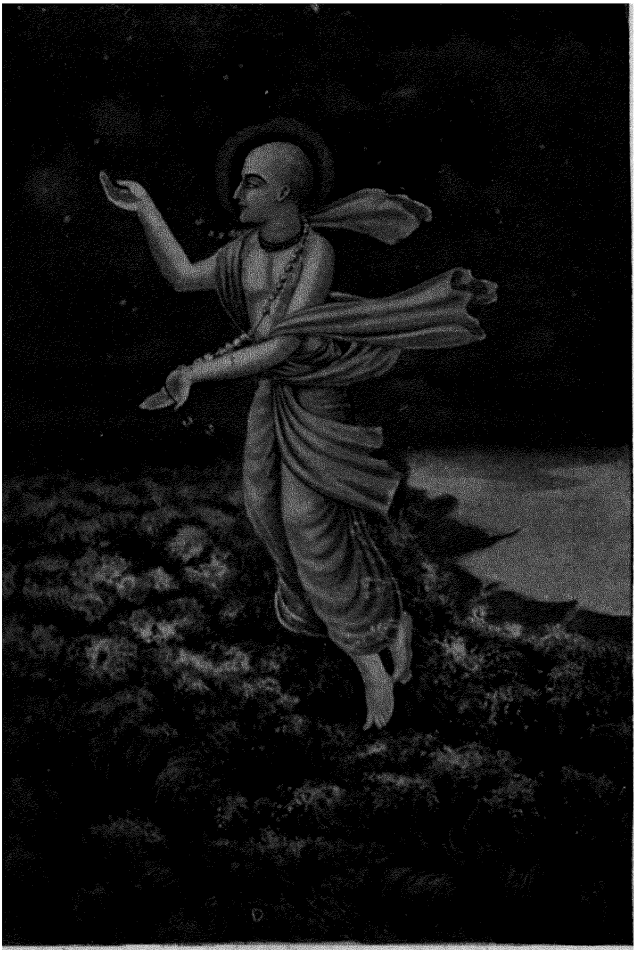

श्रीचैतन्य अथाह सागरके जलमें कूद पड़े

THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

श्रीवृद्धि व पूर्ण ऐश्वर्याने प्रसन्न होऊन पिता सागर आनन्दाने प्रफुल्ल झाला होता. महाप्रभु त्यांत कृष्णांगस्पर्शाने पुलकित व आनन्दित झालेले कालिन्दीचे दर्शन करीत होते. त्यांना समुद्राची एकदम विस्मृति झाली. ते कालिन्दींत गोपींच्यासह क्रीडा करीत असलेले श्रीकृष्णाचे प्रत्यक्ष दर्शन करू लागले. झाले, आणखी काय पाहिजे होते, हे क्रीडा सुखांमधून वंचित कसे राहू शकणार ? ते एकदम हुंकार मारून त्या अथांग सागरांत कुदुन पडले व आपले प्याऱ्याचेसह जलविहाराचा आनन्द घेऊ लागले. ह्याप्रमाणे जलांत बुडत व वर उसळी मारुन येण्यांत ह्यांची सर्व रात्र वितून गेली.

इकडे प्रभु स्थानावर नाही, हे पाहताच भक्त मंडळी घाबरली. स्वरूप गोस्वामी, गोविन्द, जगदानन्द, वक्रेश्वर, रघुनाथदास, शंकर आदि सर्वांना बरोबर घेऊन व्याकुलतेने प्रभुचा शोध करण्यास निघाले. श्रीजगन्नाथाचे सिंहद्वारापासून ते सर्व ठिकाणे शोधली. जगन्नाथवल्लभ उद्यान, गुंटिचा मंदीर, सुन्दराचलांतील इन्द्रद्युम्न सरोवर व समीपची सर्व उद्याने शोधली, परन्तु प्रभु कोठेहि सापडले नाही. सर्व आश्चर्याने अगदी थक्क झाले. सर्व ठिकाणे शोधून निराश झाल्यावर सर्वजण पुरींत परत आले. प्रातःकाल झाल्यावर स्वरूप गोस्वामी सर्वांना घेऊन समुद्र-किनारीं प्रभुंच्या शोधासाठी आले.

इकडे महाप्रभु सर्व रात्रभर पाण्यांत डुबक्या मारीत होते. त्याच-वेळीं एक धीवर जाळे टाकून मासे धरण्याचे काम करीत होता. महाप्रभुचे मृत्यु-अवस्थेप्रत प्राप्त झालेले ते विकृत शरीर त्या धीवराच्या जाळ्यांत अडकले. मोठा भारी मासा समजून त्याने ते जाळे किनाऱ्यावर ओढून आणले. मच्छ नसून शव पाहताच त्याने ते प्रभुचे शरीर उचलून

किनाऱ्यावरील वाळूंत टाकून दिले. त्यास महाप्रभुचा अंग स्पर्श होताच तो नाचू लागला. त्याचे अंगात सात्विक भावनांचा उदय झाला. केव्हा तर तो हसे, केव्हा रुदन करी, तर केव्हा गाऊ लागे व केव्हा नाचावयास लागे. तो भयभीत होऊन सैरावैरा धावू लागला. आपणास भूत लागले असा त्यास भ्रम झाला. इतक्यांत भक्त तेथे पोचले. त्याची अशी दशा पाहून स्वरूप गोस्वामींनी त्यास विचारले-' कायरे, बुवा, तूं येथे कोणा मनुष्यास पाहिले आहे कां? तूं असा भ्यालेला कां आहेस, भीतीचे कारण तर सांग?'

भीतीने कांपत तो धीवर म्हणतो-' महाराज! मनुष्य तर येथे मी कोणीच पाहिला नाही. नेहेमीप्रमाणे मी येथे मासे मारीत होतो, तोच एक शव माझे जाळ्यांत आला. त्याचे अंगांत भूत होते, तेच मला बिलगले. याच कारणाने भूत उतरविण्यासाठी मी पंचाक्षऱ्याकडेस चाललो आहे. आपण ह्या बाजूस जाऊ नका, ते फारच भयंकर शव आहे, असे विचित्र प्रेत मी आजपर्यन्त कधीहि पाहिले नव्हते'. त्यावेळीं मृत्यु-दशेस प्राप्त झालेले ते महाप्रभुंचे शरीर फारच भयानक दिसत होते. कविराज गोस्वामी त्या धीवराचे मुखाने जे प्रभुंच्या शरीराचे वर्णन करवितात ते त्यांचेच शब्दांत ऐका—

जालिया कहे-' इहा एक मनुष्य ना देखिल।
जाल बाहिते एक मृत मोर जाले आइल॥
बड मत्स्य बले, आमि उठाइलुं यतने।
मृतक देखिते मोर भय हैल मने॥
जाल खसाइते तार अंग-स्पर्श हइल।
स्पर्श-मात्रे सेइ भूत हृदये पशिल॥

भये कम्पहैल, मोर नेत्रे बहे जल।
गद्‌गद् वाणी मोर उठिल सकल॥
कि वा ब्रह्मदैत्य, कि वा भूत कहने ना याय।
दर्शनमात्रे मनुष्येर पशे सइ काय॥
शरीर दीघल तार-हात पांच सात।
एक हस्त पद तार-तिन तिन हात॥
अस्थि-सन्धि छूटि चर्म करे नड़-बड़े।
ताहा देखि, प्राण कार नाहि रहे धरे॥
मडा रूप धरि, रहे उत्तान-नयन।
कभू गों-गों करे, कभू देखि अचेतन॥

स्वरूप गोस्वामींनी विचारल्यावरून तो जाळेवाला धीवर म्हणतो- 'मनुष्य तर येथे कोणी मी पाहिला नाही. जाळे टाकताच एक मृत मनुष्य माझे जाळ्यांत आला. मोठा मासा समजून मी त्यास उचलले. जेव्हा पाहिले कीं, हा तर मुर्दा आहे, तेव्हा मला भय वाटले. जाळ्यांतून काढताना त्याचे अंगाचा माझे अंगाशी स्पर्श झाला. स्पर्शमात्रानेच त्याचे तील भूत मला बिलगले. भयाने माझे शरीर थरथर कांपू लागले, नेत्रांतून अश्रु वाहू लागले व कण्ठ दाटून आला. ते या तर ब्रह्मदैत्य आहे वा भूत आहे, हे मला नीट सांगता येत नाही. दर्शनमात्रानेच ते मनुष्याचे शरीरांत प्रवेश करते. त्याचे शरीर पाचसात हात लांब आहे. त्याचा एक एक हात-पाय तीन तीन हात लांब आहे. त्याच्या हडकाचे सांधे सुटलेले आहेत. त्याचे शरीरावरील चामडे लोंबत आहे. त्याला पाहताच कोणीहि मरणप्रायच होईल. फारच विचित्र दिसत आहे. दोन्ही नेत्र वर चढलेले आहेत. केव्हा गों गों शब्द करते आहे व केव्हा अचेतन होऊन जाते.

धीवराच्या तोंडून हे ऐकल्यावर स्वरूप गोस्वामी सर्व कांही समजून गेले कीं, ते महाप्रभुंचेच शरीर असले पाहिजे. त्यांच्या अंगस्पर्शानेच ह्याची ही अशी दशा झाली. तेव्हा ते त्यास म्हणाले–'तूं पंचाक्षऱ्याकडेस जाऊ नको, आम्ही स्वताच चांगले मांत्रिक आहोत, कसेहि भूत असले तरी आम्ही मन्त्र म्हणताच, त्याचक्षणीं ते पळून जाईल, क्षणभरहि थांबणार नाही'. असे म्हणून त्यांही उगीच कांही छुः छा केली. आपला हात त्याचे मस्तकावर ठेवला आणि जोराने त्याचे मुखांत तीन चपराका मारल्या. त्याला भूत थोडेच लागले होते, विश्वासाने त्याची भीति दूर झाली.

नंतर स्वरूप गोस्वामी त्यास म्हणाले–'तूं ज्यास भूत समजत आहे, ते महाप्रभु चैतन्यदेव आहेत, प्रेमाचे कारणाने त्यांची अशी दशा होत असते. ते कोठे आहेत, ते तूं आम्हास दाखीव. आम्ही त्यांचेच शोधासाठी आलेले आहोत.

ह्या योगाने तो आनन्दित होऊन सर्वांसह प्रभुंच्या समीप पोंचला. भक्तांनी पाहिले, सुवर्णा-समान प्रभुचे शरीर चांदीच्या चुऱ्यासारखे समुद्राच्या वाळूंत पडले आहे, नेत्र वर चढलले आहेत, पोट फुगले आहे, तोंडांतून फेस बाहेर निघत आहे. कोणत्याहि प्रकारचे हाल-चाली-वाचून त्यांचे शरीर ओल्या वाळूंत निश्चेष्ट पडलेले होते. सर्व प्रभुंना गराडा घालून बसले.

आम्ही संसारी लोक तर मृत्युसच अन्तिम दशा समजतो; म्हणून संसारी दृष्टिने प्रभुचे शरीराचा येथेच अन्त झाला. पुन्हा त्यास चैतन्यता प्राप्त झाली नाही. परन्तु रागानुगामी भक्त तर मृत्युचे पश्चात्हि विरहिणीस चैतन्य लाभ करवीत असतात. त्यांचे मताप्रमाणे मृत्युच अन्तिम दशा नाही. ह्या प्रसंगाचे संबंधाने आम्ही बंगाली

भाषेतील प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददास ह्यांचे एक पद उद्धृत करतो. त्या योगे पाठकास समजेल कीं, श्रीकृष्णनाम-श्रवणाने मृत्युदशेस प्राप्त झालेली राधिका फिरून चैतन्यदशेंत येऊन बोलू लागली—

कुंज भवने धनी। तुया गुण गणि गणि।
अतिशय दुरबली भेल॥
दशमीक पाहिल, दशा हेरि सहचरी।
धरे संगे बाहिर केल॥
शुन माधव कि बलब तोय।
गोकुल तरुणी, निचय मरण जानि।
राइ राइ करि रोय॥
तहि एक सुचतुरी, ताक श्रवण भरि।
पुन पुन कहे तुया नाम॥
बहु क्षणे सुंदरी, पाइ परान कोरि।
गद्‌गद्‌ कहे श्याम नाम॥
नामक आछू गुणे, शुनिले त्रिभुवने।
मृतजने पुन कहे बात॥
गोविन्ददास कह, इह सब आन नह।
याइ देखह मझु साथ॥

श्रीकृष्णास एक सखी राधिकेच्या दशेचे वर्णन सांगत आहे. सखी म्हणते–'हे श्यामसुन्दर! राधिका कुंजवनांत तुमचे नामाचा सारखा जप करता करता अत्यन्त अशक्त झाली. तेव्हा तिची मृत्युचे समीपची दशा मी पाहिली, तेव्हा तिजला त्या कुंजकुटीराचे बाहेर मी आणले. प्यारे माधव! आणखी तुम्हास काय सांगू, बाहेर

आल्यावर तिला मृत्यु आला, सर्व सख्या रडू लागल्या. त्यांत एक चतुर होती, ती तुमचे नाव तिचे कानांत वारंवार उच्चारू लागली. पुष्कळ वेळाने त्या सुन्दरीचे शरीरांत प्राणांचा कांहीसा संचार होऊ लागला. कांही वेळाने दाटलेल्या कण्ठाने ती 'श्याम' असे म्हणू लागली. तुमचे नावाचा त्रिभुवनांत असा महिमा ऐकण्यांत येतो कीं, मृत्युदशेप्रत प्राप्त झालेला प्राणी सुद्धा पुन्हा गोष्टी करू लागतो'. सखी म्हणते–'तुम्ही ही गोष्ट खोटी समजू नका. जर तुमचा यावर विश्वास बसत नसेल तर, माझे बरोबर येऊन तिजला स्वताच पाहून या'.

याप्रकारे भक्तांनीहि प्रभुंच्या कानांस हरिनाव ऐकवून त्यांना पुन्हा जागृत केले. ते अर्ध-बाह्य-दशेंत येऊन कालिन्दीतील त्या जल विहाराचे वर्णन करू लागले. 'ती क्रीडा फारच सुखकर होती'. नंतर चहुकडे पाहात प्रभु स्वरूप गोस्वामीस म्हणाले–'मी येथे कोठे आलो आहे? वृन्दावनांतून मला येथे कोणी आणीले?' तेव्हा स्वरूप गोस्वामींनी सर्व समाचार त्यांना कळविला व त्यांही त्यांना स्नान करवून भक्तांसह निवासस्थानीं आणले.

# महाप्रभुंचे अदर्शन अथवा लीलासंवरण

अद्यैव हसितं गीतं पाठतं यैः शरीरिभिः ।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते कष्टं कालस्यचेष्टितम् ॥

महाभारतांत ठिकठिकाणीं क्षात्रधर्माची निन्दा केली गेली आहे. युद्धामध्ये खड्ग घेऊन जे क्षत्रिय आपले भाऊ-बन्धास व सोयरे-संबंध्यास बोलता बोलता ठार करतात, असे कठोर क्षात्रधर्माची धर्मराज युधिष्ठिरांनी परम निन्दा करूनहि स्वता त्यांत प्रवृत्त झाल्याबद्दल स्वताची विवशता प्रकट केली आहे. परन्तु त्याहीपेक्षा कठोर असे कर्म आम्ही क्षुद्र लेखक करतो. त्यांचे हातांत बलपूर्वक वज्रासारखी कठीण अशी लोह-लेखणी देऊन सांगण्यांत येते कीं, त्या महापुरुषाची अदर्शनलीला लिहा. हाय! हाय! किती कठोर कर्म हे! हृदयास हलवून सोडणाऱ्या ह्या प्रसंगाचे वर्णन आमचेकडून कां करविण्यांत येत आहे? कालपर्यन्त ज्यांचे मुखकमल पाहून असंख्य भावुक भक्त भक्तिभागीरथीच्या सुशीतल व सुखकर सलीलरूपीं आनन्दांत निमग्न होऊन अवगाहन करीत होते, त्यांच्या नेत्रासमोरून ते आनन्दमय दृश्य दूर सारले जावे, हे किती गर्हणीय काम असणार! हे विधाता! तुझी सर्वच कामे निर्दयतापूर्ण असतात. निर्दयी! जगभरच्या निर्दयतेचा, जणू काय, ठेकाच तूं घेतलेला आहे! बाबारे! ज्यांचे मनोहर चन्द्रवदन पाहताच आमचे मनकुमुद प्रफुल्लित होते, त्यास आमचे दृष्टिआड करण्यांत तुला काय गम्मत वाटते? तुला ह्यांत काय लाभ? सदैव त्यास आमचे जवळच कां राहू देत नाही? परन्तु कोणी दयावान् असेल, त्यास कांही सांगता तरी येईल, जो प्रथमपासूनचाच निर्दयी, अशास सांगणे अरण्यांत रुदन करण्यासारखे आहे! हाय रे विधात्या!

खरोखर लीलासंवरणाचे वर्णन करण्याचे अधिकारी व्यास-वाल्मिकीच होत. त्यांचे अतिरिक्त जे नित्य-महापुरुषांचे लीला-संवरणाचा उल्लेख करतात, तो त्यांचा अनधिकारी प्रयत्न म्हटला पाहिजे. महाभारतांत जेव्हा अर्जुनाची त्रिभुवन विख्यात शूरता, वीरता व युद्धचातुर्य, ह्यांची ख्याती वाचण्यांत येते, तेव्हा शरीरावरील रोम ताठ उभे होतात. आमचे दृष्टीसमोर त्या विशाल व भव्य अर्जुनाची ती लांब भुजाची गांडिवधारी मूर्ति प्रत्यक्ष नृत्य करू लागते. त्यासच जेव्हा श्रीकृष्णाचे अदर्शनानंतर आभीर व भिल्ल लुटतात, तेव्हा हे सर्व दृश्य स्वप्न-प्रपंचवत् प्रतीत होते. या योगे असे प्रत्यक्ष अनुभवास येते कीं, हा सर्व त्या खेळकर श्रीकृष्णाचा खेळ आहे, लीलाप्रिय श्यामचे ललित लीलांशिवाय कांही नाही. पांडवांची सच्चरित्रता, कष्टसहिष्णुता, शूरता, कार्यदक्षता, पटुता, श्रीकृष्णप्रियता आदि गुणांचे वर्णन वाचले म्हणजे शरीर रोमांचित होते, हृदय भरून येते; परन्तु त्यांनाहि जेव्हा हिमालयांत गळताना-पिघळतांना पाहातो, तेव्हा छाती दुभंग होते. सर्वांच्या पूर्वी द्रौपदी बर्फांत पडते. त्या कोमलांगी अबलेस त्या बर्फांत तशीच तडफडती सोडून धर्मराज पुढे चढू लागतात, ते मागे वळूनहि तिजकडे पाहात नाही. नन्तर प्रिय नकुल-सहदेव खाली पडतात. धर्मराज त्याचप्रमाणे बर्फावर दृढपणे चढत होते. अरेरे! ज्यांचे पराक्रमाने ही सप्तद्वीपा वसुमति प्राप्त झाली होती, तो भीमहि बर्फावरून पाय घसरून पडतो व धडपडू लागतो. आता ते हृदय विदारक दृश्य आले. ज्याचे नाव ऐकताच मनुष्य तर काय, स्वर्गातील देवताहि थरथर कांपत होत्या, तो गांडीवधनुष्यधारी अर्जुन मूर्छित होऊन पडतो व 'हा, तात!' म्हणून ओरडू लागतो, परन्तु धर्मराज तोंड फिरवूनसुद्धा त्याचेकडेस पाहात नाहीत.

खरोखरच स्वर्गारोहणपर्व वाचता वाचता शरीर रोमांचित होऊन नेत्रांतून अश्रु-प्रवाह सुरू होतो. मजसारखे कठोर हृदयांतूनहि जेव्हा अश्रुबिन्दु पडतात, तेव्हा सहृदय पाठकांची काय दशा होत असेल ?

ह्याचप्रमाणे जेव्हा वाल्मीकीय रामायणांत श्रीरामाची सुकुमारता, ब्राह्मणप्रियता, गुरुभक्ति, शौर्य व पितृभक्तिच्या गोष्टी वाचतो, तेव्हा अन्तःकरण भरून येते. सीतेच्या ठिकाणीं त्यांचे कसे प्रागाढ प्रेम होते. अेरेरे ! ज्या वेळीं कामान्ध रावण जनकनन्दीनीस चोरून घेऊन गेला, तेव्हा त्या मर्यादापुरुषोत्तमाचीहि मर्यादा सुटली. ते एकट्या जानकीचे मागे विश्वब्रह्मांडाचे आपले अमोघ बाणाने भस्म करण्यास उद्यत झाले. त्यावेळचा त्यांचा प्रचण्ड क्रोध, दुर्धर्ष तेज व असहनीय रोष पाहाताच सर्व घाबरून गेले. दुसरेच क्षणीं ते साधारण कामुकाप्रमाणे नानाप्रकारे विलाप करीत लक्ष्मणास विचारतात-' भैया मी कोण आहे, तुम्ही कोण ? आम्ही येथे कां भटकत आहोत ? सीता कोण ? हा सीते ! हा प्राण-वल्लभे ! तूं कोठे गेलीस ?' असे म्हणत म्हणत भानरहीत होऊन मूर्छित पडतात. त्याचे अनुज ब्रह्मचारी लक्ष्मण खाण्या-पिण्यावाचून व भूक निद्रेचा परित्याग करून छायेप्रमाणे त्यांचे मागे-मागे फिरत आहेत व जेथे श्रीरामाचे घामाचा एक थेंब पडतो, तेथे हे आपले अन्तःकरण कापून त्यांतून एक पेलाभर रक्त काढून त्याने तो घर्मबिन्दु धुऊन टाकतात. त्याच लक्ष्मणाचा जेव्हा छद्मवेशधारी यमराजाचे म्हणण्यावरून श्रीरामचन्द्रांनी परित्याग केला व हेच श्रीरामाचे प्राणप्रिय बन्धु शरयूमध्ये निमग्न होऊन आपले प्राण सोडतात, तेव्हा काळीज फाटण्यास लागते, त्यांहीपेक्षा अधीक करुणापूर्ण दृश्य म्हणजे जेव्हा स्वता श्रीरामचन्द्रजी स्वताच शरयूमध्ये निमग्न होऊन आपले नित्यधामांप्रत जातात, त्या वेळचे ! ! खरोखर ह्या

दोन्हीहि महाकवींनी हे करुणपूर्ण प्रसंग लिहून कारुण्याची एक अविच्छिन्न धारा वाहण्यास लावली आहे, जी आजहि हे ग्रन्थ पठण करणारांच्या नेत्रावाटे वाहतच असते. महाभारत व रामायणांतील हीच दोन स्थळे मला अत्यन्त आवडतात. ही हृदयविदारक प्रकरणे जेव्हा वाचतो, तेव्हा कोठे अन्तःकरणास धाम येतो व श्रीराम-कृष्णांच्या लीलांची प्रतीति पटण्यास लागते.

हे झाले, आम्हासारख्या नीरस हृदयांचेसाठी. जे भगवत् कृपा-पात्र आहेत, ज्यांची अन्तःकरणे कोमल आहेत, जे सरस आहेत, भावुक आहेत, प्रेमी व श्रीराम-कृष्णाचे अनन्य-उपासक आहेत, अशांचेसाठी तर ही प्रकरणे फारच असह्यच आहेत. त्यांचे मताप्रमाणे श्रीराम-कृष्णाचे अदर्शन कधी झालेच नाही. ते नित्य आहेत, शाश्वत आहेत, आत्म्यानेच नाही, शरीरानेहि ते अद्याप जसेच्या तसेच विराजमान आहेत. ह्याच कारणाने श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणाचे पारायणामध्ये उत्तरकाण्ड सोडून देण्यांत येते. राजगादीवर आरूढ होताच वैष्णवगण रामायणाची समाप्ती समजतात व तेथेच रामायणाचा नवाह समाप्त होतो. गोस्वामी तुलसीदासांनी तर हे प्रकरण अगदी सोडूनच दिले आहे.

ह्याचप्रमाणे श्रीचैतन्यलेखकांनीहि श्रीचैतन्यांचे अन्तिम अदर्शन-लीलेचे वर्णन केलेले नाही. सर्वजण याविषयीं मौनच धारण करून आहेत. फक्त 'चैतन्यमंगल' काराने कांही थोडेसे वर्णन अवश्य केलेले आहे, ते तरी अर्दन दृष्टिने नाही. त्यांत श्रीचैतन्यदेवासंबंधीच्या सर्व अलौकिक चमत्कारपूर्ण घटनांचेच वर्णन केलेले आहे आणि म्हणून त्यांचे शरीर साधारण लोकांप्रमाणे शान्त झाले नाही, ह्या दृष्टिने अलौकिक घटनाच समजून त्याचे वर्णन केलेले आहे. नाहीतर सर्व वैष्णव हा दुःखदायक प्रसंग श्रवण करू इच्छित नाही. कोमल-प्रकृति

वैष्णव, खरोखर, हे ऐकूच कसे शकणार? याच कारणाने भौक्तिक घटनेसच सत्य व इतिहास मानणारे एका महानुभावाने लिहिले आहे कीं, 'श्रीचैतन्यदेवाच्या भक्तांनी अन्धभक्तीच्या कारणाने त्यांच्या मृत्युचे संबंधांत एकदम पडदा टाकून दिला आहे'. त्या भोळ्यास हे माहीत नाही कीं, चैतन्य तर नित्य आहे. अरे! चैतन्याचा कधी मृत्यु होणे शक्यं तरी आहे कां? ज्याप्रमाणे अग्नि केव्हाहि विझत नाही, त्याप्रमाणे चैतन्य केव्हाहि मरत नाही. अज्ञानीच ह्यास विझला वा मेला असे समजतात. अग्नि तर सर्वव्यापक आहे. विश्व त्यावर अवलंबित आहे. जगांतून अग्नितत्व काढून टाका, त्याचवेळीं प्रलय होईल. शरीरांतील अग्निस शान्त करून टाका, त्याचवेळीं शरीर थण्ड होईल. ह्याप्रमाणे चैतन्य सर्वत्रव्यापक आहे. त्याग, वैराग्य व प्रेमाचा अवलंब करा, चैतन्य प्रत्यक्ष तुमचे पुढे नृत्य करू लागेल. ह्या झाल्या ज्ञानाच्या गोष्टी. परन्तु भक्तांना इतका अवकाश कोठे आहे कीं, ते हा ज्ञानगाथा श्रवण करतील? ते तर चैतन्यचरित्रच ऐकण्याची इच्छा करतात. त्यांच्यांत इतका पुरुषार्थ कोठे आहे? त्यांचा पुरुषार्थ हाच कीं,ते भक्तरूपाने वा भगवानरूपाने श्रीकृष्णाने ज्या ज्या लीला केल्या त्याच वारंवार श्रवण करण्याची त्यांची इच्छा आहे. त्यांची इच्छा नाही कीं, सर्वच लीला ऐकाव्या. श्रीकृष्णांचे सर्व लीलांचा पार तर स्वयं त्यांनाहि नाही, तेव्हा दुसऱ्यास तो कसा असणार? भक्त तर हेच इच्छितो कीं, नदींतून, कुंड्यांतून घड्याने आणा वा तांब्याने आणा, त्याची तर एक प्यालाभर पाण्याचीच इच्छा आहे. समुद्राचे आपल्यास त्याच्याच्याने पिववणारहि नाही. तेव्हा कोमल हृदयाचे भक्त अदर्शन लीला श्रवण करू शकत नाही. ही झाली भावुक भक्तांची गोष्ट. परंतु आमचेसारखे वज्रासमान हृदय असणारे पुरुषांनी काय करावे? भगवन्नाम श्रवणमात्राने चन्द्रकांत

मण्याप्रमाणे जो द्रवतो तो भक्त. आंसूंतच श्रीकृष्ण लपून बसलेले आहेत. ज्या नेत्रांत आसूं नाहीत तेथे श्रीकृष्ण नाही. अशा स्थितींत आमचे सारख्याने कसे करावे? आमचे नेत्रांत तर आंसू येतच नाहीत. होय! अशा प्रकारची हृदय-विदारक प्रकरणे केव्हा केव्हा वाचावी तेव्हा दोन चार टिपू आपसुखेच गळतात, तेव्हा भक्तांना कष्ट द्यावे म्हणून नाही तर, आमचे नेत्र पवित्र करण्यासाठी, वज्राचेसमान असलेले आमचे अन्तःकरण पिघळावे यासाठी, येथे आम्ही अति संक्षेपाने श्रीचैतन्यदेवाचे अदर्शनाचा वृत्तान्त लिहितो.

चोवीस वर्षे नवद्वीपांत राहून गृहस्थाश्रमांत व चोवीस वर्षे संन्यास घेऊन पुरी आदि ठिकाणीं महाप्रभुंनी व्यतीत केली. संन्यास घेतल्यावर सहा वर्षे ह्यांनी तीर्थ-यात्रा केल्या आणि शेवटची आठरा वर्षे अचल जगन्नाथाचे रूपांत हे पुरीसच राहिले. बारा वर्षे ह्यांची केवल दिव्योन्माददशेंत गेली, त्याचा कांहीसा आभास पाठकांना मागील प्रकरणांतून प्रत्ययास आलेला आहेच. **ज्यांनी प्रार्थना करून प्रभुस बोलाविले होते--प्रभुचे आवाहन केले होते--त्यांहीच आता पर्यायपर सन्देश धाडून हा गौरहाट-गौरबाजार आटोपण्याची अनुमति देऊन टाकली आहे.** इकडे स्नेहमयी शचीमाताहि ह्या संसाराचा त्याग करून परलोकवासी झाल्या. श्रीचैतन्य ज्या कार्यासाठी अवतरित झाले होते, ते कार्यहि सुचारुरीतीने संपन्न होऊन गेले. ह्या कारणाने ह्यांनी आता लीलासंवरण करण्याचा निश्चय केला. प्रभुंच्या एकंदर रागरंगावरून त्यांच्या अन्तरंग भक्तांनी अनुमान बांधले होते कीं, प्रभु आता आमचे दृष्टिआड होण्याची इच्छा करीत आहेत. ह्यासाठी ते सदैव जाग्रतच असत.

शके १४५५ (संवत १५९०, इ. स. १५३३) चा आषाढ महिना होता. रथयात्रेकरिता कांही भक्त गौडदेशाहून आलेले होते.

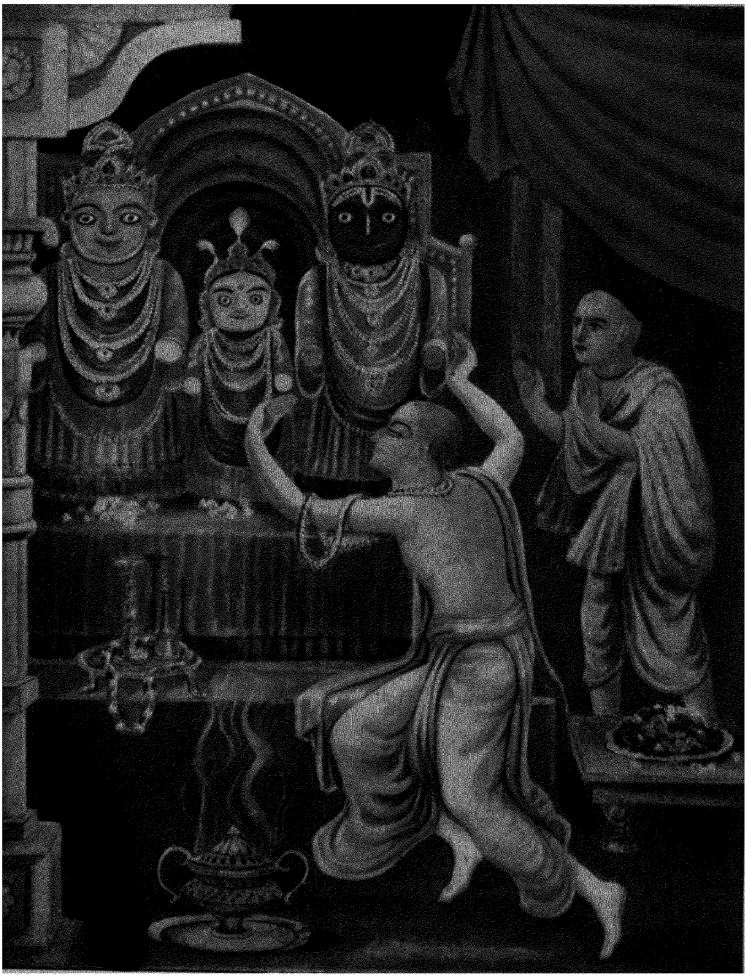

प्रभुने श्रीजगन्नाथजीके विग्रहका आलिंगन किया

THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

इतर दिवसापेक्षा आज महाप्रभु विशेष गंभीर होते. इतका गंभीरपणा भक्तांनी त्यांचे ठिकाणीं कधीच पाहिलेला नव्हता. त्यांचे मस्तकांतून एक अद्‌भुत तेज निघत होते. अत्यन्त दत्त-चित्त होऊन प्रभु स्वरूप गोस्वामींच्या मुखाने श्रीकृष्णकथा श्रवण करीत होते. ते एकदम उठून उभे झाले व एकटेच श्रीजगन्नाथाचे मन्दीराकडेस धावत सुटले. भक्तांना परम आश्चर्य वाटले. महाप्रभु ह्याप्रमाणे एकटेच मन्दीरांत कधीच जात नसत, म्हणून भक्तहि प्रभुंच्या मागे धावले. आज प्रभु नियमित स्थानावर-गरुडस्थंभाचे जवळ-थांबले नाहीत, ते सरळ मंदीराच्या दरवाजाचे समीप गेले. सर्व अगदी विस्मितच झाले. महाप्रभुंनी एकवेळा द्वारांतूनच वर दृष्टि करून श्रीजगन्नाथाकडेस पाहिले व लागलीच हे मंदीरांत घुसले. महान् आश्चर्य ! अघटित घटना ! पूर्वी असे कधीच झालेले नव्हते. मन्दीराची सर्व द्वारें आपले-आपुणच बन्द झाली, महाप्रभु एकटेच मन्दीराचे आंत होते. सर्व भक्त दरवाजाचे बाहेरच चकीत होऊन उभे होते. गुंजाभुवनांत एक पूजारी प्रभुची ही अन्तिम लीला प्रत्यक्ष पाहात होता, त्यांही पाहिले महाप्रभु जगन्नाथाचे सन्मुख हात जोडून उभे आहेत व गद्‌गद् कंठाने प्रार्थना करीत आहेत—

'हे दीनवत्सल प्रभो ! हे दयामय देवा ! हे जगत्पिता जगन्नाथा ! सत्य, त्रेता, द्वापार व कलि, ह्या चारीं युगांमध्ये कलियुगाचा एक मात्र धर्म श्रीकृष्ण-संकीर्तन हाच आहे. हे नाथ ! आज आपण जीवावर अशी दया करा कीं, ते निरन्तर आपले सुमधुर नामांचे कीर्तन करीत राहातील ! प्रभो ! आता घोर कलियुग प्राप्त झालेले आहे. ह्यांत जीवास आपले चरणांवाचून दुसरा आधार नाही. त्यांच्यावर-त्या-अनाश्रित जीवावर कृपा करून त्यांना आपले चरणकमलांचा आश्रय प्रदान करा'.

झाले, इतके म्हणता म्हणता प्रभुंनी श्रीजगन्नाथाचे श्रीविग्रहाचे आलिंगन केले व त्याचक्षणीं हे त्यांत लीन होऊन गेले.

पुजारी लवकर लवकर म्हणाला–'प्रभो! हे आपण काय करीत आहा, दयालो! ही आपली कशी लीला आहे?' तो प्रभुंना धरण्यासाठी धावला, परन्तु प्रभु आता कोठे तेथे आहेत? ते तर आपले मूळ स्वरूपांत प्रतिष्ठित झाले. पुजारी मूर्छित होऊन जमीनीवर पडला व 'हा देवा! हे प्रभो! हे दयालु!' म्हणून जोरजोराने ओरडू लागला. द्वाराबाहेर उभे असलेल्या भक्तांनी पुजाऱ्याचे करुणक्रन्दन ऐकून लवकर द्वार उघडण्यास ते त्यास ओरडून सांगू लागले, परन्तु त्याचे अंगांत कोठे शक्ति होती? जसे तसे त्याने द्वार उघडले. भक्त मंदीरांत शिरले व प्रभु तेथे न दिसताच अधीरपणे त्यांही पुजाऱ्यास विचारले–'प्रभु कोठे आहेत?' पुजाऱ्याने अडखळत सर्व वृत्तान्त सांगीतला हे ऐकताच भक्तांची जी दशा झाली, ती ही कृष्ण-मुख-लेखन वर्णनच कशी करू शकणार? भक्त मूर्छा येऊन पृथ्वीवर आपटले, कोणी भिंतीवर डोके आपटू लागले, कोणी पथरावर शिर फोडून घेऊ लागले, कोणी रडत रडत धुळींत लोळू लागले. स्वरूप गोस्वामी तर प्रभुचे बाह्यप्राणच, ते हा प्रभुचा वियोग कसा सहन करू शकणार! ते अगदी गुपचुप स्तंभितच झाल्यासारखे झाले. भक्तांनी पाहिले त्यांचे मुखांतून कांही धुरासारखे निघत आहे. त्याचवेळीं फट् म्हणून एक आवाज झाला. स्वरूप गोस्वामीचे हृदय फाटले व त्यांनीहि त्याचवेळीं प्रभुच्या पथाचे अनुसरण केले.

भक्तांना जगन्नाथपुरी आता उजाड झालीसे वाटू लागले. कोणी त्याचवेळीं समुद्रांत पडून प्राण गमविले, कोणी आणखी कांही केले व पुष्कळ पुरीचा त्याग करून दुसरे ठिकाणीं गेले. पुरीहून आता

गौरहाट-गौरबाजार उठला. वक्रेश्वर पंडिताने तो पुन्हा जमविण्याचा प्रयत्न केला, परन्तु त्याचा उल्लेख करणे विषयान्तर होणार आहे. कोणाच्या जमविण्याने थोडाच असा हाट जमत असतो! लाखो मठ आहेत व त्यांत लाखोंहि पाद-पूजा करून घेणारे महन्त आहेत, परन्तु त्यांच्यांत ते चैतन्य कोठले? साप तर निघून गेला, मागाहून त्याची पडलेली लकीर पिटीत रहा! त्याने काय होणार आहे? ह्याप्रमाणे अठ्ठेचाळीस वर्षेपर्यन्त ह्या धराधामावर प्रेमरूपी अमृताचा पर्जन्य पाडून पश्चात् महाप्रभु आपले सत्स्वरूपांत जाऊन अवस्थित झाले. म्हणा–'प्रेमावतार श्रीचैतन्यदेवकी जय! म्हणा त्यांच्या सर्व पार्षदांची जय! म्हणा भगवन्नामप्रचारक श्रीगौरचन्द्रकी जय!'

**नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।**
**प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥**

'ज्यांचे नामाचे सुमधुर संकीर्तन सर्व पातकांचा नाश करणारे आहे व ज्यांना प्रणाम करण्याने सकल दुःखाचा नाश होतो, त्या सर्वोत्तम श्रीहरिचे पादपद्मी मी प्रणाम करतो'.

अथवा

साधुवर्य तुकाराम महाराजांचे शब्दांत—

**हेचि दान देगा देवा, तुझा विसर न व्हावा।**
**गुण गाइन आवडी, हेचि माझी सर्व जोडी॥**
**नलगे मुक्ति धनसंपदा, सन्त सङ्ग देई सदा।**
**तुका म्हणे गर्भवासीं, सुखे घालावे आम्हासी॥**

॥ इति शम् ॥

# श्रीमती विष्णुप्रियादेवी

गौरशक्तिं महामायां नवद्वीपनिवासिनाम् ।
विष्णुप्रियां सतीं साध्वीं तां देवीं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥

हे विश्व महामाया शक्तिचाच अवलम्ब करून उपस्थित आहे. शक्तिहीन जगताची कल्पनाच होऊ शकत नाही. सर्व शक्तिमान् शिव सुद्धा शक्तिवाचून शव होतात. शक्ति प्रच्छन्न असते व शक्तिमान् प्रकट-रूपाने प्रसिद्धि पावतो. यथार्थतः त्या शक्तीचीच साधना फार बिकट असते. वनवासी, वितरागी, विरक्त तपस्वियांपेक्षा गुप्तपणे साधना करणारी सती-साध्वी, शक्तिरूपिणी देवीच्या तपस्येस मी अधिक श्रेष्ठ मानतो. शान्तपणे त्या सतीचे तपश्चर्येचा विचार तर करा जी संसारामध्ये असूनहि त्यांतून अगदी निराळी अशी असते. तिचा सर्व संसार पतिच्या मनोहर मूर्तीतच सन्निहित झालेला असतो. तिच्या सर्व इन्द्रियांचे व्यापार, चित्त व मनांच्या क्रिया एकमात्र पतिच्याचसाठी होत असतात.पति-रूपाचे चिन्तन हाच एकमात्र तिचे मनाचा आहार होऊन बसतो. अहाहा ! किती उच्च स्थिती होत असली पाहिजे, केवल शरीरास सुख देऊन तपस्या करणारा तपस्वी, ह्या भयंकर तपस्याचे अनुमान करू शकेल काय !

भगवान् बुद्धदेवाची सर्व प्रशंसा करतात, परन्तु त्या साध्वी गोपाचे नावहि कोणी जाणत नाही कीं, जी आपला पांच वर्षांचा पुत्र टाकून व स्वतःहि राजवाड्याचा त्याग करून आपले पति बुद्धदेवा-बरोबर भिक्षुकीणीचे वेषाने दारोदार भिक्षा मागत फिरली. रामकृष्ण परमहंस ह्यांचे वैराग्याच्या गोष्टी सर्वांना विदित आहेत, परन्तु त्या भोळी शारदा बालेचे नाव फारच थोडे जाणतात कीं, जिने पांच वर्षांचे अबोध बालिकादशेंत पितृगृह सोडून जी आपले वेडे पतीचे घरीं येऊन राहू लागली. परमहंस देवांनी जेव्हा प्रेमाचे वेडांत संन्यास

घेतला, तेव्हा ही जगन्माता पूर्ण युवती होती. आपले पतीच्या वेडेपणाच्या सर्व गोष्टी ऐकूनहि लोकलज्जेचा परित्याग करून ती आपले संन्यासी पतिचे बरोबर राहू लागली. कल्पना तर करा, युवावस्था, रूपलावण्ययुक्त परम रूपवान् पुरुषाची सेवा, तीहि एकान्तांत व तेहि पादसेवेसारखे कठिणतर कार्य! परम आश्चर्याची गोष्ट तर ही कीं, तीहि पुरुष परपुरुष नसून आपला स्वतःचा प्रत्यक्ष पति; अशा स्थितींतहि कोणत्याहि प्रकारे विकार मनांत न येऊ देणे. 'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' म्हणणारे त्या कविनी कल्पना करावी कीं काय, अशी घोर तपस्या, पंचाग्नि साधनापेक्षा वा शेकडो वर्षे जलांत उभे राहून करण्याचे तपस्येपेक्षा कांही कमी आहे कां? खरोखर अशा सति साध्वी देवींच्या चरणीं आमचे शतशः प्रणाम आहेत. महाप्रभुंच्या त्याग, वैराग्याचा वृत्तान्त मागील प्रकरणीं पाठकांनी वाचलेला आहेच. परन्तु त्यांच्याहिपेक्षा खडतर त्याग व वैराग्य श्रीमती विष्णुप्रियेचे होते. प्रभुंचे साधन सर्व भक्तांच्या समक्ष झाले व त्या कारणाने ते सर्व जगास विदित झाले. परन्तु विष्णुप्रियेची साधना घराच्या एका कोना-कोपऱ्यांत नर-नारिंच्या दृष्टिआड झाली, त्या कारणाने ती इतकी प्रसिद्धी पावू शकली नाही. त्यांच्या साधनांची जी कांही थोडी-बहुत माहिती मिळते आहे, ती ऐकताच रोमांच उभे राहातात. इतके कठीणतर व्रत कोणी तरी आचरील कां? अबला म्हणविल्या जाणाऱ्या नारी-जातीद्वारा इतकी तीव्रतम तपस्या संभवित आहे कां? परन्तु ह्यांत अविश्वासाची गोष्टच नाही. अद्वैताचार्याचे प्रिय-शिष्य ईशान नागराने प्रत्यक्ष पाहून आपला प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अद्वैत प्रकाश' ह्यांत ह्याचा उल्लेख केलेला आहे. तो कठोरपणा ऐकून कठोरतेचेहि अन्तःकरण फाटण्यास लागेल. अत्यन्त करुण कहाणी आहे!

महाप्रभुंनी संन्यास घेतला व ते गृहत्यागी वैरागी झाले. पतिप्राणा

विष्णुप्रियेस किती दुःख झाले असेल ते अवर्णनीय आहे. एक वेळ वृन्दावनास जाताना केवल विष्णुप्रियेच्याच समाधानासाठी प्रभु आपले जुने घरीं आले असता, विष्णुप्रियेने त्यांचे पदीं प्रणत होऊन जीवनालंबजीवनास आधार म्हणून कांही चिन्ह मिळावे म्हणून याचना केली. महाप्रभुंनी त्याचवेळीं आपल्या पुनीत पादुका त्यांना प्रदान केल्या व तद्वारा जीवन धारण करीत राहाण्याचा उपदेश केला. पतिपरायणा विष्णुप्रियेस ह्यायोगे परम आनन्द झाला व त्याच आधारावर त्या आपले हे पांच भौक्तिक शरीर टिकवून राहिल्या. पूजा गृहांत उच्चस्थानीं त्या पादुका स्थापित करून नित्यप्रति त्या त्यांची धूप, दीप, नैवेद्य आदिनी पूजा करीत असत. त्या निरन्तर—

हरे राम हरे राम! राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण! कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

ह्या महामन्त्राचा जप करीत असत. त्यांही आहार अगदीच कमी केला होता.

वृद्धा शचीमाता पुत्र शोकाने अगदी जर्जरित झाली होती. पुत्राची दिव्योन्मादकारी अवस्था ऐकून, जणू काय, तिचे घायाळ हृदयांत कोणी विषयुक्त बाण खुपसावा अशी स्थिती झाली. एके दिवशीं अधीर होऊन तिने भक्तांना म्हटले-'निमाईच्या विरह दुःखाची ज्वाला आता माझे अन्तःकरण अत्यन्त तीव्रतेने जाळू लागली आहे, तेव्हा आता माझे हे पार्थिव शरीर टिकाव धरू शकणार नाही, यासाठी मला तुम्ही भगवती भागीरथीच्या तटी घेऊन चला'. भक्तांनी त्यांना गंगाकिनारी आणले, मागाहून विष्णुप्रियाहि आल्या. मातेने आपले कापरे हाताने सुनेचा हात आपले हातांत घेतला व मोठ्या कष्टाने तिचे मस्तकाचे अवघ्राण केले व तिला कांही उपदेश करून त्यांही ह्या नश्वर शरीराचा

त्याग केला. त्यांच्या वैकुण्ठगमनाने सर्व भक्तांना फार दुःख झाले. सासूची क्रिया करवून विष्णुप्रिया घरीं परत आल्या. आता त्या अगदीच एकट्या पडल्या व त्यांचे वैराग्यहि फारच वाढले. त्या आपले प्राणनाथाचे वियोग-दुःखाने सारख्या जळत होत्या. अद्याप सासूच्या वियोगाचे दुःख हलके झाले नव्हते, तोच त्यांना हे हृदय विदारक वृत्त समजले कीं, श्रीगौराङ्ग आपल्या लीला-संवरण करून नित्यधामांप्रत प्राप्त झाले. हा दुस्सह समाचार श्रवण करून तपस्विनी ती विष्णुप्रिया जमीनीवर कापलेल्या वृक्षाप्रमाणे उन्मळून पडली. त्यांही अन्न-जलाचा सर्वस्वी परित्याग केला. भक्तांनी नानाप्रकारे विनविले तरीहि त्यांनी कोणाचे ऐकले नाही. जेव्हा श्रीगौराङ्गांनी स्वप्नांत येऊन आणखी कांही दिवस देह धारण करण्याची आज्ञा केली तेव्हा त्यांही अन्न-जल ग्रहण केले.

एके दिवशीं विष्णुप्रिया आंत निजलेल्या होत्या. त्यावेळीं स्वप्नांत त्यांही पाहिले कीं, श्रीगौराङ्गदेव येऊन त्यांना सांगत आहेत—'ज्या निंबाच्या वृक्षाखाली मी मातेचे स्तनपान केले, त्या खाली माझी काष्टमूर्ति स्थापित करा, मी त्यांत येऊन स्थित होईन'. विष्णुप्रिया लागलीच चकीत होऊन उठून बसली, प्रातःकाल होण्यास अद्याप अवधी होता. प्रातःकाल होताच त्याच निंबाच्या लाकडाची एक श्रीगौरांगाची सुन्दर मूर्ति सुताराकडून करवून पंधरा दिवसांत मूर्तीची प्रतिष्ठा करण्यांत आली. वस्त्रे-भूषणे घालून जेव्हा ती मूर्ति सिंहासनावर विराजित करण्यांत आली तेव्हा प्रत्यक्ष श्रीगौरांगाचेच दर्शन झालेसे लोकांना वाटू लागले. ही मूर्ति अद्यापहि नवद्वीपांत विराजमान आहे.

साध्वी विष्णुप्रियेचा असा नियम होता कीं, एका पात्रांत तांदुळ भरून ठेवावयाचे व दुसरे पात्र रिकामेच असावयाचे. प्रातःकालीं स्नान करून त्या महामन्त्राचा जप करण्यास बसत. एक वेळ—

हरे राम हरे राम! राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण! कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

हा सोळा नावाचा मन्त्र म्हणावयाचा व एक तांदुळाचा दाणा त्या रिकामे पात्रांत टाकावयाचा. ह्याप्रमाणे तिसरे प्रहरापर्यंत त्या निरन्तर जप करीत असत. जपाचे संख्येचे जितके तांदुळ होत तितकेच त्यानंतर त्या शिजवीत. त्यांत दाळ वा मिठ कांहीहि टाकीत नसत. ह्यांतील भगवंतास अर्पण करून तो प्रसाद त्या स्वतः सेवन करीत व शेष भक्तांना वाटून देण्यांत येई. पाठकांनी अनुमान करावे, बत्तीस अक्षरांचा हा मन्त्र जपण्याने तिसरे प्रहरापर्यन्त कितीसे तांदुळ एकत्रित होणार, त्यांतूनहि कांही अवशेष ठेवावयाचे व मिठ इत्यादि वाचून, त्याचे सेवन करणे, अल्पाहाराची येथे हद्द झाली! ईशान नागराने आपले 'चैतन प्रकाश' नामक ग्रन्थांत ह्याचे ह्याचप्रमाणे फार सुन्दर वर्णन केलेले आहे.

मध्यंतरी अवधूत नित्यानन्दजींच्या दोघीहि भार्या ह्यांना येऊन भेटल्या, त्याचप्रमाणे अद्वैताचार्याचे कुटुंब सीतादेवीहि ह्यांचे भेटीस आल्या होत्या.

विष्णुप्रिया आता फारच अधीर झाल्या होत्या. त्या रात्रंदिवस सारख्या अश्रुपात करीत असत. फाल्गुनांतील पौर्णिमा होती. चैतन्याचा जन्म दिवस होता. विष्णुप्रिया अन्यदिनापेक्षा आज विशेषच अधीर झाल्या होत्या. त्या श्रीगौराङ्गप्रभुचे दर्शनासाठी मन्दीरात गेल्या. मन्दीराचे आंतील गाभाऱ्यांत त्या शिरल्या व द्वारे बन्द करण्यास त्यांही सांगीतले. बराच वेळ झाल्यानंतर आचार्यांनी हळूच द्वारे उघडली व पाहतात तो विष्णुप्रिया आपले पतिचे रूपांत एकीभूत झाल्या. ह्यानंतर विष्णुप्रियेच्या ह्या भौक्तिक शरीराचे दर्शन कोणास झाले नाही!!

॥ इति शम् ॥

# श्रीचैतन्य--शिक्षाष्टकात्मक उपसंहार

प्रेमोद्भावितहर्षेणोद्वेगदैन्यार्तिमिश्रितम् ॥
लपितं गौरचन्द्रस्य भाग्यवद्भिर्निषेव्यते ॥

महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवाने संन्यास घेतल्यावर आपले हाताने कोणत्याहि ग्रन्थाची रचना केली नाही. त्यांना तितका अवकाशच कोठे होता, ते तर सदा-सर्वकाल प्रेम-वारुणी पान करून वेड्यासारखेच झालेले होते. अशा स्थितींत पुस्तक-प्रणयन करणे अशक्यच होते. परन्तु त्यांच्या भक्तांनी त्यांचे उपदेशामृताच्या आधारावर अनेक ग्रन्थांची रचना केली आहे. व्यास, वाल्मीकी, शंकर, रामानुज आदि पुष्कळसे महापुरुष आपले अमर कृतीनेच अन्ध-जगतास दिव्यालोक प्रदान करीत आहेत. दत्तात्रेय, जडभरत, ऋषभदेव, अजगर मुनि आदि आपले लोकातीत आचरणद्वारा जगास त्याग वैराग्य व भोगांच्या अनित्यतेचा पाठ पढवीत आहेत. बुद्धदेव, कबीरदास व परमहंस रामकृष्णदेवांच्यासारखे पुष्कळ परोपकारी महापुरुष आपले अमोघ वाणीने जगताचे कल्याण करीत आहेत. श्रीचैतन्यदेवांनी आपले जीवनासच प्रेमाचे साकाररूप देऊन ते मनुष्याचे सन्मुख ठेवून दिले आहे. चैतन्यचरित्राची मनुष्य जो जो अलोचना प्रत्यालोचना करील, तो तो शास्त्रीय सिद्धान्त सांप्रदायिक संकुचित सीमा ओलांडून जगाच्या सन्मुख सार्वदेशिक स्वरूप धारण केलेले आढळतील. चैतन्य देवाने कोणत्याहि नव्या धर्माची रचना केली नाही. संन्यासधर्म वा त्याग-धर्म, जो ऋषिंचा सनातन धर्म आहे, त्यासच ते शरणापन्न झाले व जगाच्या सन्मुख एक महान्-त्यागाचा सर्वोच्च आदर्श उपस्थित करून, जनास त्यागाचे यथार्थ त्यांही मर्म शिकविले. समयाचे-कालाचे-प्रभावाने ज्ञानमार्गात जी शुष्कता आली होती

व जगतास असार म्हणता म्हणता ज्यांचे हृदयहि सारहीन व शुष्क झाले होते, ती शुष्कता घालवून त्यागाबरोबर सरलतेचेहि संमिश्रण केले. त्या त्यागमय प्रेमाने सोन्यांत सुहागीचे कार्य केले. हेच श्रीचैतन्य-जीवनाचे सार सर्वस्व मी समजतो. परन्तु माझे मान्यतेंत दुसरे कोणास सहभागी करण्याची माझी इच्छा नाही. पाठक-वाचकांनी स्वता चैतन्यचरित्राचे अध्ययन करावे व यथामति त्यांतील सार सिद्धान्त स्वयं शोधून काढण्याचा प्रयत्न करावा. महाप्रभुंनी प्रसंगविशेषीं आठ श्लोक सांगीतले आहेत. वैष्णवमण्डलांत 'शिक्षाष्टक' ह्या नावाने हे फार प्रसिद्ध आहेत. ग्रन्थाच्या शेवटीं ते आठ श्लोक लिहून आम्ही हा ग्रन्थ समाप्त करतो.

जे 'श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली' आदिपासून अन्तापर्यन्त पठण करतील, ते परम भागवत तथा प्रेमी अवश्यमेव असणारच, यद्यपि नसले तरी, ते ह्या चारुचरित्राच्या पठण व चिन्तनाने खात्रीने प्रेमदेवाच्या मनमोहिनी मूर्तिचे अनन्य उपासक होतील. चैतन्य-चरितावलीरूपी रसभरीत प्रवाहाने आमचे व पाठकांच्यामध्ये एक प्रकारचा संबंध स्थापित केला आहे. चैतन्यचरित्राचे सर्व वाचकांशी आमचा प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष संबंध नसणारच, परन्तु मानसिक संबंध तर त्याच दिवशीं जोडला गेला कीं, ज्या दिवशीं त्यांही अचेतन जगतास सोडून चैतन्य-चरित्राचा शोध केला. त्या सर्व प्रेमी बन्धु-जनांचे चरणांजवळ अन्तःकरणपूर्वक ह्या हृदयहीन नीरस लेखकाची हीच प्रार्थना आहे कीं, त्यांही कृपा करून आपले प्रेमाचा एक एक कण ह्या दीन-हीन भिकाऱ्यास प्रदान करावा. भिक्षुक-भिकारी कांही गीत गाऊनच वा कांही म्हणूनच दात्यांचे चित्त आपलेकडेस ओढून घेतो. अतः आम्हीही चैतन्योक्त हे आठ श्लोक म्हणून पाठकापाशी भिक्षा मागतो—

[ १ ]

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्दिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

जो चित्तरूपी दर्पणाचा मळ मार्जन करतो, जो संसाररूपी महादावाग्नीस शान्तवितो, प्राण्यांना मंगलदायिनी कैरव चन्द्रिकांचे वितरण करतो, जो विद्यारूप-वधूचे जीवन स्वरूप आहे व आनन्दरूपी समुद्राची प्रतिदिनी वृद्धि करणारा आहे, त्या श्रीकृष्ण संकीर्तनाचा जय हो, जय हो!

[ २ ]

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पितानियमितः स्मरणेन कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥

प्रभो! तुमचे कृपेंत कांही कसर नाही व माझे दुर्भाग्यांत कांही सन्देह नाही. पहा तर खरे तुम्ही! 'नन्द-नन्दन', 'व्रजचन्द्र', मुरलीमनोहर', 'राधारमण' अशी किती तरी कर्णमधूर नावे प्रकट केली आहेत व ती नावे रीतीच आहेत, असेहि नाही. तुम्ही आपली सम्पूर्ण-शक्ति सर्व नामांत समानरूपाने भरून दिलेली आहे. वाटेल त्याचा आश्रय घ्या, त्यांत तुमची पूर्ण शक्ति संमीलित होईल. वैदिक क्रिया-

कलापाप्रमाणे तुम्ही त्यांत कांही निर्बन्धहि निर्धारित केलेले नाहीत. स्त्री, पुरुष, द्विज, अन्त्यज, शूद्र, अनार्य, कोणीहि कसा कां असेना, सर्व प्राणी शुचि-अशुचि आदिचा विचार न करता सर्व अवस्थांत सर्वकालीं, सर्वत्र, त्या सुमधूर नावांचे संकीर्तन करू शकतो. हे भगवन्! तुमची तर जीवावर इतकी मोठी कृपा, परन्तु मीच दुर्दैवी कीं, त्या सुमधूर नामांचे ठिकाणीं मला खराखुरा अनुराग उत्पन्न होत नाही!

[ ३ ]

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

हरिनाम संकीर्तन करणारे पुरुषांनी कोणत्या प्रकारचे गुरु करावे हे सांगतात-एक तर तृण व दुसरा वृक्ष. तृणापासून 'नम्रतेची' दीक्षा घ्यावी, ते बिचारे सदैव नम्रच असते. वृक्षापासून 'सहिष्णुता' शिकावी. त्याचे जीवन भेद-भाव शून्य परोपकारासाठीच असते. त्याच्या शीतल छायेंत बसून जो आपले श्रम-परिहार झाल्याचे अनुभवितो त्यास, वा जो त्याचे छेदन करतो त्यासहि, तो वृक्ष आपली शीतलताच प्रदान करतो.

मान तर मृग-जल आहे, त्याच्यामागे जो पडला, तो तान्हेल्या हरणाप्रमाणे तडफडतच मरणार. मानाचा कांही अन्त नाही. जोजो त्याचे मागे लागाल, तसतसे ते वालुकामयजल अधिकाधिक पुढे सरकत जाईल. तेव्हा वैष्णवाने मानाची इच्छा केव्हाच करू नये. परन्तु दुसऱ्यास सदैव मान देत असावे.

[ ४ ]

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये ।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

संसारांत सर्व सुखाची खाण 'धन' आहे. ज्याचेजवळ धन आहे, त्यास कांही कमी नाही. धनाहूनहि मोठी अशी 'शक्तिशालिनी जन-सम्पत्ति' म्हटली जाते. ज्याचे आज्ञेत दहा माणसे आहेत, ज्याचे शब्दाबरोबर अनेक लोक रक्तांची नदी वाहविण्यास तयार होतात, तो चांगल्या चांगल्या धनिकांचीहि परवा करीत नाही, लक्षाधिपतिहि त्यास थरथर कांपतात. ह्याहिपेक्षा मोठी आकर्षक 'सुन्दरी'. सुन्दरी जगतांत कोणाचे मनास आकर्षित करीत नाही? करोडोपतींचे युवक-कुमार, तपस्वी, धनी, गरीब, पंडीत, मूर्ख, शूरवीर, निर्बल, ज्याचेवर सुन्दरीचा नयनबाण पडला तो त्या योगे विद्ध झालाच म्हणून समजावे. 'कन्दर्पदर्प दलने विरला मनुष्याः' ह्याचेहि वर ताण कविता—कामिनीची. हिने एकाद्यास कान्त म्हणून एकदा कां वरिले कीं, त्याचे मनाने त्रैलोक्याची संपत्तिहि तुच्छ आहे. तो धनहीन असूनहि राजाधिराज असतो, प्रकृती त्याची जणू दासी म्हणूनच उभी असते. तो राजा, महाराजा, देव व विधाता काय वाटेल ते आहे. अशी कमनीय कवित्व-शक्ति कोणा एकादे विरळ्यासच प्राप्त होते. परन्तु हे प्यारे! मी तर धन, जन, सुन्दरी तथा कविता, ह्यांतील कोणाचीच आकांक्षा ठेवीत नाही! हे जगदीशा! कर्मबन्धन मिटवावे असेहि मी मागत नाही; माझी, हे प्रभो! हीच प्रार्थना आहे कीं, तुमची स्मृति हृदयांतून कधीहि न जावी, तुमचे ठिकाणी माझी अहैतुकी भक्ति सदैव राहावी.

[५]

अयि नन्दतनूज किंकरं
पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।

कृपया तव पादपंकज
स्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ॥

हे नन्दलाला ! ह्या अथाक भव-समुद्रांत पडलेल्या ह्या किंकरास कृपा करून आपले पाद-पद्माचे धूली समान समजून उद्धरा. तेथेच बसून मी आपले नामांचे गान करीत राहीन.

[ ६ ]

नयनं गलदश्रूधारया
वदनं गद्गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा
तव नामग्रहणे भविष्यति ॥

हे दयालो ! तुमच्या नामांचा सुमधूर ध्वनी कानीं पडताच दोन्ही नेत्रांतून अश्रुधारा सुरू झालेल्या आहेत, वाणी आपलेआपुणच रुद्ध झाली आहे, सर्व शरीर रोमांचित होत आहे, अशी स्थिति हे मन-मोहना ! माझी कधीतरी होईल कां ?

[ ७ ]

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे ॥

मला अनन्त आयु देऊन, हे प्यारे ! तुम्ही कोठे लपून बसलात कोण जाणे ! जरा माझी दशा तर पाहा. ज्यास 'निमेष' म्हणतात तो तर मजला युगाप्रमाणे वाटतो; वर्षाकाल चार महिन्यांचा परन्तु माझे नेत्र तर सदैव वर्षाकालच अनुभवितात; लोक वाटेल ते म्हणोत,

परन्तु मला तर हे जगत् शून्य भासत आहे व सर्वांचे एक मात्र कारण तुमचे अदर्शन-तुमचा विरह !

[ ८ ]

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥

हे सखे ! आता ह्या निरर्थक गोष्टींत काय आहे ? तूं त्यांचे गुण मला कां ऐकवीत आहेस ? तो दयामय असो वा विश्वासघातकी, प्रेमी वा निष्ठुर, रसीक वा दुष्कृत, कसाहि असला तरी मी तर त्या लंपटाचे पदरीं पडून चुकले आहे. माझे शरीर त्यास अर्पण केले आहे. तो पाहिजे तर त्यास हृदयाशीं आवळून प्रेमाने रोमांचित करील वा आपले विरह -जलांतून बाहेर काढलेल्या मच्छाप्रमाणे तडफडत ठेवील. तो ह्या शरीराचा स्वामी होऊन चुकला आहे, आता कोणी इतर पुरुष ह्याचे कडेस दृष्टिपात करू शकत नाही. त्याची अनन्त सुन्दर मनोहर नामे आहेत, त्यांतील ह्याच नामांचा उच्चार करीत राहीन—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

॥ इति शम् ॥

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली समाप्तोऽयं ग्रन्थः।